

“HINDI AUR ODIA KE CHAYANIT UPANYASON KA PRAVRITTIGAT ADHYAYAN (1980 SE  
ADYATAN)”

हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन (1980 से अद्यतन)

A Thesis submitted to the University of Hyderabad in Partial  
Fulfilment of the Requirement for the award of the degree of

**DOCTOR OF PHILOSOPHY**

In

**HINDI**

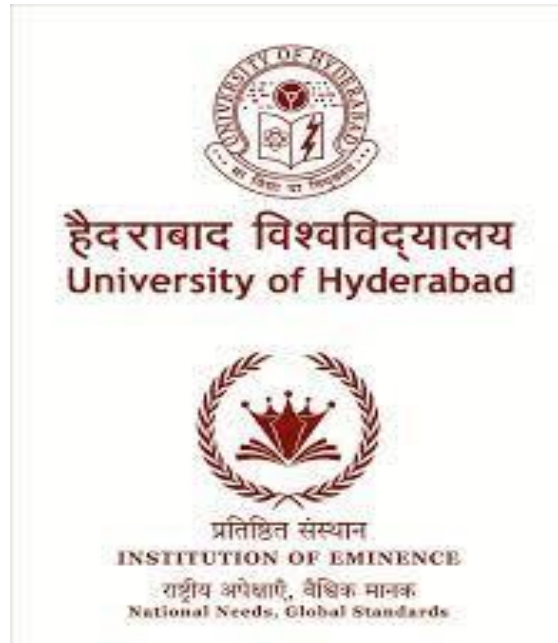
By

**ZINIT SABA**

(Reg. No. 16HHPH13)

Under the supervision of

**Dr. Bhim Singh**



Department of Hindi, School of Humanities  
University of Hyderabad  
Hyderabad-500046  
Telangana, India  
July, 2023

“हिंदी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन  
(1980 से अद्यतन)”

हैदराबाद विश्वविद्यालय की  
पी एच.डी. (हिंदी)  
उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)



शोधार्थी  
जिनित सबा  
16HHPH13

| शोध-निर्देशक                                                            | सह-शोध निर्देशक                                                                    | विभागाध्यक्ष                                                                   |
|-------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------|
| डॉ. भीम सिंह<br>हिंदी विभाग,<br>मानविकी संकाय<br>हैदराबाद विश्वविद्यालय | डॉ. सिद्धार्थ सत्पथी<br>अंग्रेजी विभाग,<br>मानविकी संकाय<br>हैदराबाद विश्वविद्यालय | प्रो. गजेन्द्र पाठक<br>हिंदी विभाग,<br>मानविकी संकाय<br>हैदराबाद विश्वविद्यालय |

हिंदी विभाग  
मानविकी संकाय  
हैदराबाद विश्वविद्यालय  
हैदराबाद- 500046



### DECLARATION

I, ZINIT SABA hereby declare that the thesis entitled “HINDI AUR ODIA KE CHAYANAIT UPANYASON KA PRAVRITTIGAT ADHYAYAN (1980 SE ADYATAN)” “हिंदी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन (1980 से अद्यतन)” submitted by me under the guidance and supervision of Dr. **Bhim Singh**, Is an original and a bonafide research work and is free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in ShodhGanga/INFLIBNET.

Date: 27 /07/2023

Place: Hyderabad

**Signature of the Student**

ZINIT SABA

Regd. No. 16HHPH13



**School of Humanities  
University of Hyderabad**

**CERTIFICATE**

This is to certify that the thesis entitled **“HINDI AUR ODIA KE CHAYANAIT UPANYASON KA PRAVRITTIGAT ADHYAYAN (1980 SE ADYATAN))”** **“हिंदी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन (1980 से अद्यतन)”** submitted by **ZINIT SABA** bearing Regd. No. 16HHPH13 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in School of Humanities is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance.

**As far as I know, this thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.**

Further, the student has the following publication(s) before submission of the thesis for adjudication and has produced evidence for the same in the form of acceptance letter or the reprint in the relevant area of his research:

**A. Published research papers in the following publications:**

1. ‘Alpasankhyak-Vimarsh aur Anwar Suhail ka Sahitya’, Apni Maati, 25<sup>th</sup> feb, 2017-2018, Ank-26 , (ISSN: 2322-0724)
2. ‘Odia Dalit Upanyason kii Chhavi’, ‘Apni Maati’ 31<sup>st</sup> july, 2021, Ank-35-36. (ISSN: 2322-0724)

**B. Research Paper presented in the following conferences:**

1. ‘Ikeesvin sadi ke chaynit upanyason mein muslim stri’, Organized by- Professor Shyamrao Rathode, English and foreign language University, Hyderabad, 500007, 10-11 October 2018 (National)
2. ‘**Swarnamrig**’ upanayas me vaishvikaran-sandarbh’, Organized by- Dr. D. Vidyadhar, shri Rajesh Agrawal, barduka vanijya evam kala mahavidyalay, Hyderabad, 14-15 December 2018(International)



Further the student has passed the following courses towards fulfilment of coursework requirement for Ph.D.

| <b>Course Code</b> | <b>Name</b>                                           | <b>Credit</b> | <b>Result</b> |
|--------------------|-------------------------------------------------------|---------------|---------------|
| HN801              | <b>Critical Approaches to Research</b>                | <b>4</b>      | <b>Pass</b>   |
| HN802              | <b>Project work-research paper</b>                    | <b>4</b>      | <b>Pass</b>   |
| HN826              | <b>The Ideological Background of Hindi Literature</b> | <b>4</b>      | <b>Pass</b>   |
| HN827              | <b>Practical Review</b>                               | <b>4</b>      | <b>Pass</b>   |

Dr. Bhim Singh  
Research supervisor  
Department of Hindi  
University of Hyderabad

Dr. Siddharth Sathpathy  
Co- Supervisor  
Department of English  
University of Hyderabad

Prof. Gajendra Pathak  
Head, Department of Hindi  
University of Hyderabad

Prof. V. Krishna  
Dean, School of Humanities  
University of Hyderabad

## भूमिका

विश्व के साहित्य में भारतीय साहित्य का अपना एक विशेष स्थान और योगदान भी है। भारतीय साहित्य समूचे भारत को एक धागे में पिरोने का कार्य करता है, जिसमें महत्वपूर्ण भूमिका तुलनात्मक साहित्य की रही है। तुलनात्मक साहित्य वह विद्या शाखा है, जो केवल दो या उससे अधिक भिन्न भाषाई, राष्ट्रीय या सांस्कृतिक समूहों के साहित्य का अध्ययन नहीं करता अपितु साहित्य और साहित्यकारों की मूल्यपरकता, विचारदृष्टि तथा योगदान को चित्रित कर पूरे विश्व से उसका साक्षात्कार करवाता है। यही कारण रहा है कि 'तुलनात्मक साहित्य' विदेशों में एक स्वतंत्र शाखा के रूप में अध्ययन और अध्यापन का विषय बन चुका है। इसके अध्ययन की आवश्यकता को देखते हुए विदेशों में तुलनात्मक साहित्य के लिए फ्रांसीसी, जर्मन स्कूल और अमरीकी स्कूल भी निर्मित किये गए हैं। इन्हीं स्कूलों ने 'तुलनात्मक साहित्य' को एक नया आयाम दिया है तथा तुलनात्मक अनुसंधान को अधिक प्रश्रय देने का भी कार्य किया है। भारतीय साहित्य में भी ऐसे अनुसंधान के प्रयास समय-समय पर होते रहे हैं। भारतीय साहित्य की लगभग सभी विधाओं में तुलनात्मक अध्ययन आज की जरूरत बन गया है। साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय या पसंद की जाने वाली विधा उपन्यास जो यथार्थ के निकट होकर सबके आकर्षण का केंद्र बना हुआ है, इस पर तुलनात्मक अध्ययन बहुत कम है तथा भारत जैसे बहुभाषी देश में जहां उपन्यास का अथाहसागर हो वहाँ यह कार्य निरंतर होते रहने की मांग भी करता है। इसी प्रक्रिया में मेरा यह शोध प्रबंध 'हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन (सन् 1980 से अद्यतन)' एक छोटा सा प्रयास है। प्रस्तुत शोध-विषय को 40 वर्षों के उपन्यास-साहित्य के सर्वेक्षण और विश्लेषण के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। अतः यह चयनित सामग्री और कालगत सीमा से बद्ध है। महामारी प्रसंग विशेषकर कोरोना से संबंधित उपन्यासों को इस शोध-सामग्री में समाहित नहीं किया गया है। यह इसकी सीमा है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध तुलनात्मकता का एक आधार 'प्रवृत्ति' पर ही आश्रित है। सन् 1980 के बाद हिन्दी और ओड़िया साहित्य में आयी नवीन प्रवृत्तियों ने किस प्रकार उपन्यास साहित्य को प्रभावित किया तथा यह प्रक्रिया कब और कैसे प्रारंभ हुई, उसके उभरने के पीछे क्या कारण रहे हैं, तथा प्रवृत्ति किन परिस्थितियों में, कैसे उपन्यास में विकसित या विलीन होती गई आदि को ढूँढने का प्रयास इस शोध में किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को अध्ययन के क्रम में भूमिका एवं उपसंहार के अतिरिक्त नौ अध्यायों में विभाजित किया गया है । जिसमें प्रथम अध्याय **‘हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों की पूर्व-पीठिका’** है । इस अध्याय के अंतर्गत ‘प्रवृत्ति’ की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए, उसके शब्दगत इतिहास को टटोलने का प्रयास किया गया है । इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य में प्रवृत्ति का विकास कैसे और किस रूप में हुआ तथा उसको लेकर आलोचकों के क्या मत रहे हैं, इसका भी विवेचन किया गया है । साथ ही सन् 1980 के पूर्व उपन्यासों में किस प्रकार की प्रवृत्ति का जन्म होता है तथा उसका विकास और विलय के साथ नवीन प्रवृत्तियों का आगमन कैसे और किस रूप में हुआ, इसका भी एक खाका प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । यह अध्याय एक तरह से सन् 1980 के पहले के उपन्यास-साहित्य की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने में सहायक है ।

द्वितीय अध्याय **‘सन् 1980 के बाद का भारतीय परिदृश्य’** है । इस अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि सन् 1980 के बाद ऐसी कौन सी परिस्थितियाँ रहीं जिससे प्रभावित होकर साहित्यकार साहित्य लेखन की ओर प्रवृत्त हुए । क्योंकि यह स्पष्ट है कि साहित्यकार अपने युग से प्रभावित होकर जो साहित्य गढ़ता है वही पाठक वर्ग के लिए एक नए रुझान को उत्पन्न करता है, अन्ततः वही उस समय की विशेष प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित होती है । इसलिए इस अध्याय में सन् 1980 के बाद की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा उससे उत्पन्न नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों को दिखाने का प्रयास किया गया है । यह अध्याय समकालीन पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के साथ-साथ अन्य अध्यायों को समझने में विशेष सहायक है ।

तृतीय अध्याय **‘हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का परिचयात्मक-विवेचन’** है । इस अध्याय के अंतर्गत सन् 1980 के बाद हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय तथा उनमें समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यह अध्याय हिन्दी-ओड़िया के 61 उपन्यासों की एक रूपरेखा भी प्रस्तुत करता है।

चतुर्थ अध्याय **‘हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों में आदिवासी और दलित जीवन’** है । इस अध्याय के अंतर्गत ओड़िया और हिन्दी भाषाओं के उपन्यासों में दलित और आदिवासी जीवन की प्रवृत्ति के विकास-क्रम तथा समय और परिस्थिति के अनुसार उनमें आए परिवर्तन का संक्षिप्त परिचय देते हुए, सन् 1980 के बाद दोनों भाषाओं में प्रवृत्तिपरक साम्यताओं तथा विषमताओं की तलाश कर दोनों भाषाओं के उपन्यासों में इन प्रवृत्तियों की दिशाओं की तलाश के साथ-साथ मूल्यांकन भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

पंचम अध्याय 'लैंगिक, बाल, वृद्ध जीवन पर आधारित विवेच्य उपन्यास' है । इस अध्याय के अंतर्गत लैंगिक आधार पर अर्थात् स्त्री तथा (LGBTIQ) एलजीबीटीआईक्यू से संबंधित हिन्दी और ओड़िया भाषाओं के उपन्यासों की पड़ताल करते हुए इस प्रवृत्ति की दिशाओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । क्योंकि दोनों भाषाओं में समान मात्रा में इससे संबंधित उपन्यासों की कमी देखी गई थी । सन् 1980 के बाद बाल और वृद्ध जीवन पर हिन्दी और ओड़िया दोनों ही भाषाओं में उपन्यासों की खोज एक कष्ट साध्य कार्य रहा । इस अध्याय पर विस्तार से बात करते हुए पूर्व में लिखे गए उपन्यासों की पड़ताल की भी कोशिश की गई है, जिससे इसके प्रवृत्ति निर्धारण में समस्या उत्पन्न न हो । इस अध्याय में लैंगिक और अवस्था विशेष को आधार बना कर उपन्यास साहित्य में उभरते नई प्रवृत्ति पर लिखे गए उपन्यासों का एक खाका प्रस्तुत कर उनका मूल्यांकन करने की भी कोशिश की गई है ।

षष्ठ अध्याय 'किसान जीवन पर आधारित विवेच्य उपन्यास' है । इस अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि किसान जीवन पर लिखित उपन्यासों की प्रवृत्ति कोई नई प्रवृत्ति नहीं है । स्वतंत्रता से पूर्व भी किसानों पर दोनों ही भाषाओं में प्रचुर उपन्यास साहित्य उपलब्ध है किन्तु समय के परिवर्तन ने किसानों के समक्ष नई चुनौतियाँ ला कर खड़ी कर दी हैं । सन् 1980 के बाद समाज में आए बदलाव ने सबसे ज्यादा किसानों को प्रभावित किया इसलिए किसानों की आत्महत्या जैसी निंदनीय घटना बढ़ती गई । इसी परिस्थिति ने उपन्यास साहित्य लेखन को बहुत हद तक प्रभावित किया जिसमें नए संदर्भ और समस्याओं को लेकर दोनों भाषाओं में लेखन कार्य हुआ । यही कारण रहा कि सन् 1980 के बाद यह एक विशेष प्रवृत्ति के रूप में हमारे समक्ष आया ।

सप्तम् अध्याय 'विवेच्य उपन्यासों में भूमंडलीकरण, विस्थापन, पर्यावरण संकट और प्रवासी-जीवन' है । इस अध्याय के अंतर्गत सन् 1980 के बाद आई नई आर्थिक नीति ने वैश्विक स्तर पर एक नए प्रयोग और परिवर्तन को अंजाम दिया, जिसके प्रभाव से भारत तक नहीं बच पाया । भारत में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण ने भारत की अर्थनीति को बहुत हद तक प्रभावित किया जिससे समाज में एक नई सोच और समझ का विस्तार होता है । इस परिवर्तन ने समकालीन साहित्यकारों को बहुत प्रभावित किया जिससे हिन्दी और ओड़िया में उपन्यासों की रचना धड़ल्ले से होने लगी । कई रचनाकार भारत में आए इस परिवर्तन को स्वीकार कर साहित्य में उसकी विशेषताओं का गुणगान करते नजर आते हैं, वहीं रचनाकारों का दूसरा वर्ग इस परिवर्तन के कारण आये सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बदलाव से आतंकित और आशंकित नजर

आता है। इस अध्याय में नई आर्थिक नीति ने कैसे सभी संबंधों की ऊष्मा को खत्म करते हुए संबंधों में बाजार की घुसपैठ को बढ़ावा दिया है, साथ ही इसका चित्रण उपन्यासों में किया गया है। वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण पर्यावरण में आए परिवर्तन तथा संकट को चित्रित कर संरक्षण की आवश्यकता तथा पर्यावरण का दोहन से भविष्य के लिए बढ़ती चिंता को भी इन उपन्यासों में व्यक्त किया गया है।

अष्टम अध्याय 'चयनित उपन्यासों में सांप्रदायिकता, शरणार्थी-प्रसंग, अल्पसंख्यक-अस्मिता और कश्मीर' है। इस अध्याय के अंतर्गत सांप्रदायिकता की अवधारणा, 1980 के बाद उपन्यासों में उभरी सांप्रदायिकता का उग्र रूप उससे उपजे शरणार्थी प्रसंग, तथा उनकी आंतरिक और बाहरी समस्याएं, अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की राजनीति, अल्पसंख्यक की अस्मिता, पहचान और विमर्श के पहलू, कश्मीर में जन्मे आतंकित माहौल तथा अल्पसंख्यक की स्थिति, कश्मीरियत पर गहराता संकट तथा उनकी सुरक्षा का प्रश्न आदि को इसमें चित्रित किया गया है।

नवम् अध्याय 'नव्य औपन्यासिक शैली' है। इस अध्याय में हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों में प्रयुक्त नवीन शैली और प्रयोग को चित्रित किया गया है। साथ ही उपन्यासों में आए नवीन विधागत समावेश से उपन्यास की प्रकृति और विषय में आए बदलाव को भी दिखाने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में उपसंहार के अंतर्गत इस शोध के निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए सन् 1980 के बाद हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों की प्रवृत्ति की दिशाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसके पश्चात संदर्भ ग्रंथ-सूची को रखा गया है, जिसमें आधार-ग्रंथ, सहायक-ग्रंथ, पत्र-पत्रिकाएं, कोश एवं वेब-सामग्री आदि सम्मिलित हैं।

**शोध प्रविधि :-** प्रस्तुत शोध विषय का सम्बन्ध साहित्यिक अनुसन्धान से है इसलिए साहित्यिक अनुसन्धान में प्रयुक्त आवश्यक पद्धतियों का इस शोध में प्रयोग किया गया है। मुख्य रूप से इस शोध की पद्धति और उपागम 'तुलनात्मक' है। इस शोध में तुलनात्मक प्रविधि, विश्लेषणात्मक पद्धति, सर्वेक्षणात्मक पद्धति और अनुवाद पद्धति आदि का प्रयोग करके दोनों भाषाओं के उपन्यासों की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

विभिन्न साहित्यिक समीक्षाओं और पूर्ववर्ती शोधों तथा ग्रंथों का अध्ययन कर तथ्य संकलन किया गया है। इस दौरान यह ध्यान रखा गया कि मूल विषय से भटकाव न हो और मौलिकता बरकरार रहे।

## शोध-कार्य

‘हिंदी और ओड़िया के उपन्यासों का प्रवृत्तिगत अध्ययन’ (1980 से अद्यतन) नाम से कोई शोध कार्य अभी तक नहीं किया गया है। तुलनात्मक दृष्टि से सन् 1979 तक ओड़िया और हिंदी के उपन्यासों पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से शोध कार्य हुए हैं। उपन्यास साहित्य को लेकर जो तुलनात्मक कार्य हुए हैं -

1. ‘फ़कीर मोहन और प्रेमचंद एक तुलनात्मक समीक्षा’
2. ‘निर्मला’ और ‘भ्रान्ति’ ओड़िया उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन
3. प्रतिभा राय और ममता कालिया के उपन्यासों में स्त्री विमर्श एक तुलनात्मक अध्ययन (गंगाधर मेहर यूनिवर्सिटी)

## शोध के दौरान आने वाली समस्याएं

- विषय चयन के बाद दोनों भाषाओं के उपन्यासों के चयन में समस्याएं देखी जा सकती हैं विशेषकर ओड़िया उपन्यासों के इतिहास की अनुपलब्धता तथा प्रवृत्ति पर विशेष जानकारी का अभाव देखा जा सकता है। हिन्दी और ओड़िया उपन्यास साहित्य के अथाह सागर में उपन्यासों का चयन एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है।
- दोनों ही भाषाओं के उपन्यासों में प्रवृत्तिपरक साम्यताएँ और विषमताओं को ढूँढने में भी काफी समस्याओं का सामना करना पड़ा। साथ ही कौन-से पैमाने पर प्रवृत्ति का चुनाव निश्चित किया जाये यह भी एक शोध संबंधी समस्या रही है। इसे दशकवार या विषय आधारित वर्गीकृत करें या लोकप्रियता के आधार पर देखें, यह एक गंभीर चुनौती रही है।
- ओड़िया के विभिन्न संपादकों से संपर्क साधने और पुस्तकों के न मिलने की समस्या भी एक प्रमुख समस्या रही है।

- ओड़िया साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कार प्राप्त पुस्तकों से हिन्दी के पुरस्कार प्राप्त उपन्यासों की प्रवृत्तिपरक समानताएँ ढूँढने की समस्या के कारण शोध में इस आधार को नहीं स्वीकार किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध की पूर्णता के लिए मैं आदरणीय शोध निर्देशक डॉ. भीम सिंह जी के प्रति आभार एवं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ, जिनके मार्ग दर्शन के बिना यह कार्य संभव नहीं हो सकता था । गुरु के सरल और सहज व्यक्तित्व एवं विद्वतापूर्ण सकारात्मक सोच के कारण ही मैं इस शोध को सम्पन्न कर पाई हूँ । गुरु का मार्गदर्शन सदा मेरे लिए कुंभार की तरह रहा है जिन्होंने मेरे खोट निकाल कर सदैव मेरा पथ प्रशस्त किया इसलिए तहेदिल से मैं सदा उनकी आभारी रहूँगी । साथ ही मैं मेरे सह-शोध निर्देशक डॉ. सिद्धार्थ सत्पथी जी, अंग्रेजी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय के प्रति आभार एवं कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने ओड़िया साहित्य की विशद् जानकारी मुझे दी तथा ओड़िया उपन्यासों के चयन में मेरा साथ दिया । मैं धन्यवाद ज्ञापन करना चाहती हूँ आलोचक रोहिणी अग्रवाल जी का जिन्होंने शोध-विषय और सामग्री को व्यवस्थित करने में मेरी विशेष सहायता की ।

हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय के सम्माननीय विभागाध्यक्ष प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक जी एवं मेरी शोध सलाहकार समिति के सदस्य प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी जी और प्रो. एम. श्याम राव जी के प्रति विशेष आभारी हूँ जिन्होंने मुझे शोध कार्य में आगे बढ़ने और समय से पूर्ण करने के लिए सदैव प्रेरित किया । हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन विभागाध्यक्ष प्रो. आर. एस. सर्राजू जी का भी मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ कि जिन्होंने इस विषय पर कार्य करने का सुझाव देते हुए मेरे अंदर की दक्षता और क्षमता से मेरा परिचय कराया ।

मैं अपनी अम्मी बेबी फरीदा एवं नानी रौशन आरा के समक्ष नतमस्तक हूँ जिनके आशीर्वाद, प्रेरणा एवं सहयोग के कारण नौकरी पेशे में रह कर भी, मैं इस शोध-कार्य को आकार दे पाई हूँ । मौसी नगमा परवीन, सास नजमा बेगम, ससुर सिराज खान, पति सर्फूद्दीन खान तथा घर के सभी सदस्यों का नाम न लेते हुए सभी के प्रति तहेदिल से कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ, जिनकी आत्मीयता एवं सहयोग ने मुझे हमेशा अपने कार्य को धैर्य के साथ पूरा करने के लिए प्रोत्साहित किया है ।

मैं आदरणीय गुरु डॉ. कविता पात्र, गुरु तुल्य डॉ. स्मिता रानी पंडा, डॉ. नंदिता दास, प्रिंसिपल डॉ. जीवानंद त्रिपाठी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ, जिनके सहयोग के बिना यह कार्य सुचारु रूप से नहीं हो पाता ।

मैं अपने मित्रों बर्नाली नाथ, पूजा तिवारी, चिन्मयी दास, मधुरा केरकट्टा, कृष्ण चंद्र सिंह, सतीस चंद्र सी, ईश्वर कान्ति मुर्मू, डॉ. सस्मिता कुमारी, पद्मा मलिक, बनश्री महंती, कुनिका दाश, सेतु तथा अनुजो गुलअप्शा खान, सुप्रभा, विजय कुमार, आशीष वर्मा आदि के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ, जिनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से निरंतर ऊर्जा मिलती रही है ।



## अनुक्रमणिका

क्रम

पृ.सं.

भूमिका

I-IX

प्रथम अध्याय : 'हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों की पूर्व-पीठिका'

01-68

1.1. 'प्रवृत्ति' का कोशगत अर्थ और परिभाषा

1.2. 'वृत्ति', 'प्रवृत्ति' और 'विशेषता' का अन्तःसम्बन्ध

1.3. साहित्यिक शब्दावली के रूप में प्रवृत्ति का विकास

1.3.1 काव्यशास्त्र, साहित्येतिहास और ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में प्रवृत्ति

1.3.2 पश्चिम में 'प्रवृत्ति' का विकास

1.4 हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों की पूर्वपीठिका

1.4.1 हिंदी उपन्यासों का विकास क्रम

1.4.1.1 प्रेमचन्द पूर्व-युग

1.4.1.2 प्रेमचंद-युग

1.4.1.3 प्रेमचंदोत्तर-युग

1.4.1.4 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास

1.4.1.5 समकालीन हिन्दी उपन्यास

1.4.2 ओड़िया उपन्यासों का विकास क्रम

1.4.2.1 प्रारंभिक-उपन्यास/पहला-पर्याय

1.4.2.2 फ़कीर मोहन-युगीन उपन्यास

1.4.2.3 फ़कीर मोहनोत्तर उपन्यास

1.4.2.4 सबुज-गोष्ठी से प्रभावित उपन्यास

1.4.2.5 स्वाधीनता-पूर्व-ओड़िया उपन्यास

1.4.2.6 स्वातंत्र्योत्तर ओड़िया उपन्यास

1.4.2.7 समकालीन ओड़िया उपन्यास

- 2.1 सामाजिक-परिस्थितियाँ
  - 2.1.1 पारिवारिक-व्यवस्था
  - 2.1.2 वर्ण और जाति आधारित-व्यवस्था
  - 2.1.3 वर्ग आधारित-व्यवस्था
  - 2.1.4 बाहरी-ढांचा
  - 2.1.5 औद्योगिक समाज
  - 2.1.6 उत्तर-औद्योगिक समाज
- 2.2 आर्थिक-परिस्थितियाँ
  - 2.2.1 उदारीकरण
  - 2.2.2 निजीकरण
  - 2.2.3 वैश्वीकरण
  - 2.2.4 भारत की वर्तमान स्थिति
- 2.3 राजनीतिक-परिस्थितियाँ
  - 2.3.1 राज्यों के स्तर पर गठबंधन
  - 2.3.2 अलगाववादी ताकतों का उभार
  - 2.3.3 प्रांतीय भावना का विकास
  - 2.3.4 राजनीतिक दंगे
  - 2.3.5 बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक की राजनीति
  - 2.3.6 राजनीतिक संगठन का उभार
  - 2.3.7 धर्म, जाति और राजनीति का गठजोड़
  - 2.3.8 सांप्रदायिकता का उभार
  - 2.3.9 भ्रष्टाचार
- 2.4 सांस्कृतिक-परिस्थितियाँ
  - 2.4.1 वैश्वीकरण का प्रभाव
  - 2.4.2 पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव
  - 2.4.3 नई भाषाई संस्कृति का उदय
- 2.5 धार्मिक-परिस्थिति
  - 2.5.1 बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक
  - 2.5.2 सामासिक संस्कृति बनाम सांप्रदायिक चेतना का उभार
  - 2.5.3 आतंकवाद का उदय और दंगों की राजनीति
  - 2.5.4 जाति, धर्म और आरक्षण की राजनीति
- 2.6 नव्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

3.1 हिन्दी के उपन्यासों का परिचयात्मक-विवेचन

- 3.1.1 पलास के फूल (1982)
- 3.1.2 झीनी झीनी बीनी चदरिया (1986)
- 3.1.3 डूब (1991)
- 3.1.4 छप्पर (1994)
- 3.1.5 कठगुलाब (1996)
- 3.1.6 चाक (1997)
- 3.1.7 मौसी (1997)
- 3.1.8 आवां (1999)
- 3.1.9 जंगल जहां शुरू होता है (2000)
- 3.1.10 दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता (2000)
- 3.1.11 दौड़ (2000)
- 3.1.12 पठार पर कोहरा (2003)
- 3.1.13 पाषाण-युग (2003)
- 3.1.14 वीरांगना झलकारी बाई (2003)
- 3.1.15 दस बरस का भँवर (2007)
- 3.1.16 आखिरी छलांग (2008)
- 3.1.17 ग्लोबल गाँव के देवता (2009)
- 3.1.18 पहचान (2009)
- 3.1.19 पासवर्ड (2010)
- 3.1.20 शिगाफ़ (2010)
- 3.1.21 तीसरी ताली (2011)
- 3.1.22 मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ (2012)
- 3.1.23 स्वर्ण मृग (2012)
- 3.1.24 उधर के लोग (2013)
- 3.1.25 नीला आकाश (2013)
- 3.1.26 शाल्मली (2013)
- 3.1.27 हवन (2014)
- 3.1.28 फांस (2015)

- 3.1.29 गुलाम मंडी (2016)
- 3.1.30 अकाल में उत्सव (2016)
- 3.1.31 दर्दजा (2016)
- 3.1.32 हलाला (2016)
- 3.1.33 कुइयांजान (2017)
- 3.1.34 गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान (2017)
- 3.1.35 उसके हिस्से की धूप (2018)
- 3.1.36 पिघले चेहरे (2018)
- 3.1.37 गिलिगडु (2019)
- 3.1.38 पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा (2019)
- 3.2 ओड़िया के उपन्यासों का परिचयात्मक-विवेचन
  - 3.2.1 नीलतृष्णा (1981)
  - 3.2.2 असवर्ण (1982)
  - 3.2.3 यज्ञासेनी (1985)
  - 3.2.4 आदिभूमि (1993)
  - 3.2.5 प्रतिबंदी (1999)
  - 3.2.6 चलापथे (2000)
  - 3.2.7 जटिल संपर्क (2002)
  - 3.2.8 कवर स्टोरी (2007)
  - 3.2.9 माटी र लुह (2007)
  - 3.2.10 भरसार भीटामाटी (2008)
  - 3.2.11 प्राची प्रतीची (2009)
  - 3.2.12 गलापुत्र (2010)
  - 3.2.13 भिन्न एक सिद्धार्थ (2010)
  - 3.2.14 भेद (2010)
  - 3.2.15 असामाजिक (2011)
  - 3.2.16 जंगली (2011)
  - 3.2.17 छाई आलुओर खेल (2011)
  - 3.2.18 धर्मयुद्ध (2011)
  - 3.2.19 पोड़ापोड़ी (2014)

3.2.20 सेई सबु दिन (2014)

3.2.21 अस्पृश्य (2015)

3.2.22 ओ एकाकी (2017)

3.2.23 चुप युद्ध चालिछी (2020)

चतुर्थ अध्याय : हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों में आदिवासी और दलित-जीवन

187-232

4.1 आदिवासी-जीवन पर आधारित उपन्यास

4.1.1 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

4.1.2 विवेच्य उपन्यास

4.2 दलित-जीवन पर आधारित उपन्यास

4.2.1 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

4.2.2 विवेच्य उपन्यास

पंचम अध्याय : लैंगिक, बाल, वृद्ध जीवन पर आधारित विवेच्य उपन्यास

233-336

5.1 लैंगिक-आधार

5.1.1 स्त्री-जीवन और स्त्री दृष्टि

5.1.2 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.1.3 विवेच्य उपन्यास

5.1.3.1 कवीर-वर्ग

5.1.3.2 किन्नर

5.1.3.3 समलैंगिकता

5.1.3.4 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.1.3.5 कानूनी संघर्ष और प्रावधान

5.1.3.6 विवेच्य कृतियों की समीक्षा

5.2 बाल-जीवन

5.2.1 बाल-साहित्य का ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.2.2 विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा

5.3 वृद्ध-जीवन

5.3.1 पृष्ठभूमि

5.3.2 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.3.3 साहित्यिक-साक्ष्य

षष्ठ अध्याय : किसान जीवन पर आधारित विवेच्य उपन्यास

337-376

6.1 पृष्ठभूमि

6.2 हिन्दी साहित्य में किसान

6.3 हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों में किसान

सप्तम अध्याय : विवेच्य उपन्यासों में भूमंडलीकरण, विस्थापन, पर्यावरण संकट और प्रवासी-जीवन

378-444

7.1 भूमंडलीकरण का वैश्विक-परिदृश्य

7.2 विवेच्य उपन्यास में भूमंडलीकरण का स्वरूप

7.2.1 उपभोक्तावादी जीवन-शैली

7.2.2 विज्ञापन, तकनीक और मीडिया का गठजोड़

7.2.3 महानगरीय जीवन-बोध

7.2.4 जिगालो-संस्कृति

7.3 विस्थापन संबंधी उपन्यास

7.4 पर्यावरण संबंधी उपन्यास

7.4.1 पर्यावरण की परिभाषा एवं कानूनी प्रावधान

7.4.2 साहित्य में पर्यावरण

7.4.3 विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा

7.5 प्रवासी जीवन संबंधी उपन्यास

7.5.1 प्रवासी साहित्य की संकल्पना और मुद्दे

7.5.2 साहित्यिक-साक्ष्य

अष्टम अध्याय : चयनित उपन्यासों में सांप्रदायिकता, शरणार्थी-प्रसंग, अल्पसंख्यक-अस्मिता और कश्मीर

445-496

8.1 सांप्रदायिकता संबंधी उपन्यास

8.1.1 सांप्रदायिकता की अवधारणा

8.1.2 उपन्यासों में सांप्रदायिकता का संदर्भ

8.2 शरणार्थी जीवन पर आधारित उपन्यास

8.3 अल्पसंख्यक-अस्मिता संबंधी उपन्यास

8.3.1 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

8.3.2 विवेच्य उपन्यास

8.4 विवेच्य उपन्यास में कश्मीर-संदर्भ

नवम् अध्याय : नव्य औपन्यासिक शैली

497-511

9.1 वर्णनात्मक-शैली

9.2 आत्मकथात्मक-शैली

9.3 जीवनीपरक-शैली

9.4 पत्रात्मक-शैली

9.5 ईमेल-शैली

9.6 ब्लॉग-शैली

9.7 डायरी-शैली

9.8 संवादात्मक-शैली

9.9 विश्लेषणात्मक-शैली

9.10 चित्रात्मक-शैली

9.11 मनोविश्लेषणात्मक-शैली

उपसंहार

511-534

संदर्भ ग्रंथ

535-544

आधार ग्रंथ

सहायक ग्रंथ

कोश

पत्र-पत्रिकाएं

वेब सामग्री

परिशिष्ट

(क) आलेख

1. 'अल्पसंख्यक विमर्श और अनवर सुहैल का साहित्य', अपनी माटी, 25 फरवरी, 2018, 2322-0724
2. 'ओड़िया दलित उपन्यासों की छवि', अपनी माटी, 31 जुलाई, 2021, 2322-0724

(ख) संगोष्ठी

1. 'इक्कसर्वी सदी के चयनित उपन्यासों में मुस्लिम स्त्री', राष्ट्रीय संगोष्ठी, इफ्लु (EFLU) यूनिवर्सिटी द्वारा आयोजित, हैदराबाद, 10-11 अक्टूबर, 2018
2. 'स्वर्णमृग' उपन्यास में वैश्वीकरण-संदर्भ, बदरुका वाणिज्य एवं कला महाविद्यालय द्वारा आयोजित, हैदराबाद, 14-15 दिसम्बर, 2018

## प्रथम अध्याय

### हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों की पूर्वपीठिका

- 1.1. 'प्रवृत्ति' का कोशगत अर्थ और परिभाषा
- 1.2. 'वृत्ति', 'प्रवृत्ति' और 'विशेषता' का अन्तःसम्बन्ध
- 1.3. साहित्यिक शब्दावली के रूप में प्रवृत्ति का विकास
  - 1.3.1 काव्यशास्त्र, साहित्येतिहास और ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में प्रवृत्ति
  - 1.3.2 पश्चिम में 'प्रवृत्ति' का विकास
- 1.4 हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों की पूर्वपीठिका
  - 1.4.1 हिन्दी उपन्यासों का विकास क्रम -
    - 1.4.1.1 प्रेमचन्द पूर्व-युग
    - 1.4.1.2 प्रेमचन्द-युग
    - 1.4.1.3 प्रेमचन्दोत्तर-युग
    - 1.4.1.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
    - 1.4.1.5 समकालीन हिन्दी उपन्यास
  - 1.4.2 ओड़िया उपन्यासों का विकास क्रम -
    - 1.4.2.1 प्रारंभिक-उपन्यास/पहला-पर्याय
    - 1.4.2.2 फ़कीर मोहन-युगीन उपन्यास
    - 1.4.2.3 फ़कीर मोहनोत्तर उपन्यास
    - 1.4.2.4 सबुज-गोष्ठी से प्रभावित उपन्यास
    - 1.4.2.5 स्वाधीनता-पूर्व-ओड़िया उपन्यास
    - 1.4.2.6 स्वातंत्र्योत्तर ओड़िया उपन्यास
    - 1.4.2.7 समकालीन ओड़िया उपन्यास



## भूमिका

‘प्रवृत्ति’ शब्द ही अपने आप में एक शोध का विषय है, क्योंकि प्रवृत्ति की कोई निश्चित परिभाषा निर्मित नहीं की गयी है। साथ ही इस शब्द का विकास कैसे और किस रूप में हुआ यह जिज्ञासा का विषय है। ज्ञान के अनुशासनों में प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अर्थ प्रचलित हैं। रसायन, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, कला, गणित, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र तथा साहित्य में प्रवृत्ति के अर्थ अलग-अलग हैं। जैसे - कभी प्रवृत्ति रहन-सहन, वेशभूषा, आचरण-व्यवहार तो कभी मनुष्य के गृहस्थ या सांसारिक कार्य से सम्बंधित है। कभी उसका प्रयोग मन का व्यापार या मनोवृत्ति के सन्दर्भ में किया जाता है। न्याय दर्शन में तो एक यत्न विशेष के लिए भी ‘प्रवृत्ति’ शब्द ही प्रचलित है। गणित में तो गुणक या गुणक अंक के रूप में भी इसका प्रचलन है। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि ‘प्रवृत्ति’ बहु-अर्थी शब्द है, जिसका प्रयोग विभिन्न अनुशासनों में बहुलता से होता रहा है।

साहित्य में भी ‘प्रवृत्ति’ शब्द का प्रचलन है। भारतीय परंपरा में इसका प्रयोग भरत के कार्य काल से लिखित रूप में मिलता है। ‘नाट्य शास्त्र’ इसका प्रमाण है। किन्तु प्राचीन समय में ‘प्रवृत्ति’ जिस अर्थ को लेकर चल रही थी अभी उसके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। अब साहित्य में हिंदी में प्रयुक्त ‘प्रवृत्ति’ शब्द अंग्रेजी ‘Trend’ शब्द का पर्याय है।

साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्ति ही ऐसा आधार है जो किसी काल खंड की विशेषताओं को अपने में समाहित किये हुए होता है। ये प्रवृत्तियाँ, समाज और इतिहास से निरपेक्ष नहीं होती हैं। इसलिए समाज और इतिहास में घटित, घटना-व्यापार के साथ साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध होता है। इस रूप में देखा जाये तो कविता से इतर उपन्यास आधुनिक समाज, इतिहास और लोक को अपने भीतर व्यापकता से समाहित किये हुए हैं। लोक और समाज की बदलती हुई तस्वीर और उसका मिज़ाज ही दूसरे रूप में प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को पकड़ने का कार्य उपन्यासकार की पैनी या तीक्ष्ण दृष्टि करती है।

### 1.1 प्रवृत्ति का कोशगत अर्थ :-

‘प्रवृत्ति’ शब्द ‘वृत्’ धातु में ‘प्र’ उपसर्ग और ‘क्तिन्’ प्रत्यय के योग से बना है।

1. ‘संस्कृत हिंदी कोश’ में ‘प्रवृत्ति’ शब्द का अर्थ -

i) निरंतर प्रगमन, प्रगति, आगे बढ़ना

- ii) उदय, मूल, स्रोत प्रवाह
  - iii) दर्शन, प्रकटीकरण
  - iv) उदय, आरंभ, शुरू
  - v) प्रयोग, व्यसन, झुकाव, रुझान, रुचि, प्रवणता
  - vi) आचरण, व्यवहार
  - vii) काम में लगाना, व्यवसाय, क्रियाशीलता
  - viii) प्रयोग, नियोजन, प्रचलन
  - ix) अनवरत प्रयत्न, धैर्य
  - x) सार्थकता, भावार्थ, स्वीकृति
  - xi) निरंतरता, स्थायिता, प्राबल्य
  - xii) सक्रिय सांसारिक जीवन, सांसारिक जीवन में भाग लेना
  - xiii) समाचार, खबर, गुप्त वार्ता
  - xiv) नियम की प्रयोजन-नियता या वैधता
  - xv) भाग्य, नियति, किस्मत
  - xvi) संज्ञान, सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान, समयबोध
  - xvii) हाथी का मद
  - xviii) उज्जयिनी नगरी का नामांतर”<sup>1</sup>
2. ‘राजपाल हिंदी शब्द कोश’ में ‘प्रवृत्ति’ से तात्पर्य -  
मन का झुकाव, बदलाव, आरम्भ, आन्दोलन, प्रवाह, बहाव, आचार-व्यवहार, अध्यवसाय आदि शब्द दिए गए हैं।<sup>2</sup>
  3. ‘WordMaster’ (वर्ड मास्टर) शब्दकोश के अनुसार-  
Trend (प्रवृत्ति) -A development or change in a situation or in the way in which people are behaving.<sup>3</sup>
  4. ‘Hindi OXFORD living dictionaries’ के अनुसार

<sup>1</sup> संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1986 पृ.सं.-675

<sup>2</sup> राजपाल हिंदी कोश, हरदेव बाहरी, पृ.सं.-322

<sup>3</sup> Word master, orient blackswan Privet Limited, 2009, Delhi, page no-793

- a. मन का झुकाव
  - b. आरम्भ
  - c. प्रवाह, बहाव
  - d. आचार-व्यवहार
  - e. अध्यवसाय
  - f. इन्द्रिय आदि का विषयों में निरत होना, सांसारिक आसक्ति ।<sup>4</sup>
5. 'Hindi2dictionary.com' में प्रवृत्ति शब्द का अर्थ है -
- i. स्वभाव, आदत
  - ii. झुकाव, रुझान, प्रवाह, बहाव
  - iii. आचार-व्यवहार
  - iv. अध्यवसाय
  - v. किसी कार्य को करने की तदनुकूल क्रिया-व्यापार, निरंतर बढ़ते रहने की क्रिया या भाव
  - vi. सांसारिक भोगों या विषयों के प्रति आसक्ति ।”<sup>5</sup>
6. 'समांतर कोश, हिंदी थिसारस' में 'प्रवृत्ति' का अर्थ  
अभिरुचि, आंचलिक प्रवृत्ति, आचरण, काव्य प्रवृत्ति, मनोवृत्ति, व्यवहार है ।<sup>6</sup>
7. 'मानक हिंदी कोश' के अनुसार
- i. निरंतर बढ़ते रहने की क्रिया या भाव ।
  - ii. किसी काम, विषय या बात की ओर अथवा किसी विशिष्ट दिशा में प्रवृत्त होने या बढ़ने की क्रिया या भाव ।
  - iii. मनुष्य के व्यक्तित्व का वह अंग जो इस बात का सूचक होता है कि वह अपने उद्देश्यों या कार्यों की सिद्धि के लिए किस प्रकार या किस रूप में सचेष्ट रहता है।
  - iv. मन की वह स्थिति जिसमें वह किसी ऐसे काम या बात की ओर अग्रसर होता है जो उसे प्रिय तथा रुचिकर होती है ।(टेन्डेंसी)

<sup>4</sup> <https://hi.oxforddictionaries.com/परिभाषा/प्रवृत्ति>

<sup>5</sup> <http://www.hindi2dictionary.com/प्रवृत्ति-meaning-hindi.html>

<sup>6</sup> समांतर कोश, हिंदी थिसारस, अरविन्द कुमार, कुसुम कुमार, पृ.सं.-1272

- v. दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्रों में जीवन-यापन का वह प्रकार जिसमें मनुष्य घर-गृहस्थी सांसारिक कार्यों, सुख-भोगों आदि में प्रवृत्त रहता है। निवृत्ति का विपर्याय।
  - vi. मनुष्यों का साधारण आचरण व्यवहार या रहन-सहन।
  - vii. वर्णन, वृत्तांत।
  - viii. उत्पत्ति, जन्म
  - ix. कार्य का अनुष्ठान या आरम्भ
  - x. यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य
  - xi. हाथी का मद<sup>7</sup>
8. 'हिंदी शब्द सागर' में प्रवृत्ति से तात्पर्य
- i. प्रवाह, बहाव
  - ii. झुकाव, मन का किसी विषय की ओर लगाव, लगन जैसे -उसकी प्रवृत्ति व्यापार की ओर नहीं है।
  - iii. वार्ता, वृत्तांत, हाल, बात
  - iv. यज्ञादि, व्यापार, दर्शन
  - v. न्याय में एक यत्न विशेष
    - वाणी, बुद्धि और शरीर से कार्य के आरंभ को प्रवृत्ति कहते हैं। राग द्वेष भले बुरे कामों में प्रवृत्त करते हैं। इष्टसाधनता ज्ञान प्रवृत्ति का और द्रष्टसाधनता ज्ञान निवृत्ति का कारण होता है।
  - vi. प्रवर्तन, काम का चलना।
  - vii. सांसारिक विषयों का ग्रहण, संसार के कामों में लगाव, दुनिया के धंधे में लीन होना। निवृत्ति का उलटा
  - viii. उत्पत्ति, आरम्भ
  - ix. शब्दार्थ-बोधक शक्ति
  - x. भाग्य किस्मत
  - xi. उज्जयिनी का एक नाम

---

<sup>7</sup> मानक हिंदी कोश, रामचंद्र वर्मा, पृ.सं.-637-638

- xii. (गणित में) गुणक, गुणक अंक  
xiii. हाथी का मद <sup>8</sup>

### 9. डिक्शनरी. कॉम में trend का अर्थ

1. "The general course or prevailing tendency; drift: *trends in the teaching of foreign languages; the trend of events.*
2. Style or vogue: *the new trend in women's apparel.*
3. The general direction followed by a road, river, coastline, or the like.
4. To have a general tendency, as events, conditions, etc.
5. To trend to take a particular direction; extend in some direction indicated.
6. To emerge as a popular trend; be currently popular: *words that have trended this year.*
7. *Digital Technology* to be widely mentioned or discussed on the Internet, especially in posts on social media websites: *news stories that are trending online.*
8. To veer or turn off in a specified direction, as a river, mountain Range, etc.: *The river trends toward the southeast.*<sup>9</sup>

### प्रवृत्ति की परिभाषा :

प्रवृत्ति को लेकर कोई निर्दिष्ट परिभाषा नहीं गढ़ी गयी है । किन्तु आलोचकों ने इसे 'सांस्कृतिक परंपरा' से ज्यादा जोड़ कर देखने का प्रयास किया है । डॉ. धीरेन्द्र वर्मा 'हिंदी साहित्य कोश' में प्रवृत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं -"प्रवृत्ति, आचार-व्यवहार वेश आदि, रहन सहन को प्रकट करने की पद्धति है ।"<sup>10</sup>

---

<sup>8</sup> हिंदी शब्द सागर, प्र.संपादक-श्यामसुंदर दास, पृ.सं.-3200

<sup>9</sup> <http://www.dictionay.com/browse/trend?s=t>

<sup>10</sup> हिंदी साहित्य कोश भाग-1, धीरेन्द्र वर्मा, पृ.सं.-412

वोकाबुलरी डिक्शनरी में भी इसकी परिभाषा इस तरह दी गयी है - 'एक प्रवृत्ति किसी खास समय पर किसी खास बिंदु पर लोकप्रिय है। हालांकि एक प्रवृत्ति आमतौर पर फैशन या मनोरंजन में एक विशिष्ट शैली को दर्शाती है। एक प्रवृत्ति केवल फैशन, पॉप संस्कृति और मनोरंजन को नहीं दर्शाती बल्कि आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि संकेतकों पर भी निर्भर है। अतः प्रवृत्ति किसी देश की वर्तमान मनोदशा को दर्शाने वाला सबसे प्रमुख कारक है।'<sup>11</sup>

कुलमिला कर यह कह सकते हैं कि प्रवृत्ति का प्रयोग भले ही अन्य अनुशासनों में 'विषय उपयोगी अर्थ' को समाहित किये हुए है किन्तु साहित्य में इसका प्रयोग बहु आयामी है। साहित्य में जिस तरह सभी अनुशासनों को समाहित करने की क्षमता रही है उसी तरह 'प्रवृत्ति' भी इसी की ही संवाहक है। जैसे -साहित्य में राजनीति, अर्थनीति, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, संस्कृति, इतिहास, दर्शन आदि का गठजोड़ है। उसी तरह प्रवृत्ति भी कभी एक फैशन के रूप में, कभी नवीनतम रुझान, कभी आचरण, व्यवहार, कभी प्रवाह या बहाव तो कभी योग शास्त्र में प्रयुक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति के रूप में प्रयुक्त होती है। कभी इसका रूप राजनीतिक होता है तो कभी सांस्कृतिक तो कभी दार्शनिक और साहित्यिक। प्रवृत्ति किसी समय में किसी खास बिंदु पर लोक-प्रिय होती है। साहित्य की प्रवृत्तियों में उत्थान और पतन तो होता ही रहता है। कभी कोई प्रवृत्ति प्रमुख होती है तो कभी गौण। प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। प्रवृत्तियाँ कभी स्थिर नहीं रहती देश में चल रही गतिविधियाँ या परिस्थितियाँ, उन्हें निर्मित करती हैं। समय और समाज की मांग ही प्रवृत्ति को निर्धारित करती है। "विभिन्न युगों में साहित्यिक प्रवृत्तियों की शुरुआत, उनका उतार-चढ़ाव उनकी सीमा का निर्धारण करती हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी काल विशेष में जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे एकदम खत्म हो जाती हैं या उनमें एक दम परिवर्तन आ जाता है। काल विशेष में चलने वाली प्रवृत्तियाँ कमोबेश कम होती हुई विलुप्त होने लगती हैं। और अन्य प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप धारण करने लगती हैं।"<sup>12</sup>

## **1.2 वृत्ति, प्रवृत्ति और विशेषता का अन्तःसम्बन्ध :**

---

<sup>11</sup> <https://www.vocabulary.com/dictionary/trend>

<sup>12</sup> [www.Vle.du.ac.in/mod/book/view.php?id=ggoo&chapterid=16146](http://www.Vle.du.ac.in/mod/book/view.php?id=ggoo&chapterid=16146)

‘प्रवृत्ति’ का शाब्दिक अर्थ सामान्यतया उसके संधि विच्छेद से समझ सकते हैं । जैसे - प्र+वृत्ति, ‘प्र’ का अर्थ अलग, भिन्न या पृथक् है । ‘वृत्ति’ का अर्थ है- मनःस्थिति या चित्तवृत्ति । अर्थात् प्रवृत्ति का अर्थ पृथक् मनःस्थिति या चित्तवृत्ति होता है । जिसका प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में हो रहा है । कुछ लोग वृत्ति और प्रवृत्ति को एक समझते हैं किन्तु इन दोनों में भेद है । “वृत्ति और प्रवृत्ति में यह अंतर है कि वृत्ति का मुख्य सम्बन्ध आंतर व्यापारों से और प्रवृत्ति का बाह्य व्यापारों से होता है । वृत्ति तो केवल शब्दों के द्वारा काम करती है, पर प्रवृत्ति आचार-व्यवहार के माध्यम से व्यक्त होती है । इसलिए वृत्ति तो काव्य, नाटक आदि सभी प्रकार की साहित्यिक कृतियों में होती है, परन्तु प्रवृत्ति केवल अभिनय या नाटक में होती है ।”<sup>13</sup> किन्तु वर्तमान के सन्दर्भ में प्रवृत्ति केवल नाटक तक सीमित न होकर साहित्य की सभी विधाओं में प्रचलित है । और सबसे प्रमुख बात तो यह रही कि ‘प्रवृत्ति’ शब्द का अब ‘अर्थ-विस्तार’ हो गया । अब प्रवृत्ति कहने पर एक समय में प्रचलित किसी शैली या विषय पर रुझान से है ।

कुछ विद्वान ‘प्रवृत्ति’ का आशय- गुण को समझते हैं और कुछ लोग ‘विशेषता’ को प्रवृत्ति का पर्याय मानते हैं किन्तु ‘प्रवृत्ति’ इसका दूसरा पड़ाव है । साहित्य में अचानक किसी गतिविधि, घटना, शैली पर रुझान जिसकी दिशा में परिवर्तन हो उसे हम ‘प्रवृत्ति’ कहते हैं । जो किसी एक समय में लोकप्रिय होती है । उदाहरण के लिए -कोई रचनाकार कोई रचना लिख रहा है जिसमें नए प्रयोग हो अर्थात् परंपरागत ढर्रे से भिन्न हो और अपनी नयी पहचान रखती हो, उसे हम विशेषता कह सकते हैं । साहित्य में प्रयुक्त यही नवीनतम प्रयोग जब सभी के लिए रुझान उत्पन्न करता है तब यह प्रवृत्ति का रूप लेता है ।

एक तरह से प्रवृत्ति को सामूहिक चिन्ताधारा का विकास कह सकते हैं । कोई रचनाकार जब किसी कालखंड में एक ऐसी रचना लिखता है जो अपने तरह की अकेली रचना हो । और उस तरह की रचना उस काल खंड में नहीं लिखी गयी हो तो उस एक रचना /शैली को प्रवृत्ति नहीं कह सकते । जैसे आदिकाल में एक रचनाकार भक्ति पर रचना लिखता है और वह आदिकाल की एक मात्र रचना है । उसे उस काल खंड की प्रवृत्ति नहीं कह सकते हैं । प्रवृत्ति उसे ही कह सकते हैं जिसे उस समय की जनता के द्वारा समझा,

<sup>13</sup> मानक हिंदी कोश, रामचंद्र वर्मा, पृ.सं.-637-638

सराहा और अपनाया गया हो अर्थात् जिस रचना की प्रसिद्धि हो । इतिहासकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रन्थ का काल विभाजन 'प्रवृत्ति' के आधार पर किया परन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है क्या यह (वीर गाथात्मकता) ही उस काल खंड की एक मात्र प्रवृत्ति थी ? ऐसा नहीं है, वीर गाथात्मकता उस समय की विशेष प्रवृत्ति थी जिसके आधार पर उन्होंने काल विभाजन किया । उस समय चारण कविताओं की प्रवृत्ति भी थी । इन सारी विशेषताओं ने प्रवृत्ति का रूप इसलिए लिया क्योंकि उस समय के रचनाकारों और लोगों ने इसे स्वीकार किया और अपनी रचनाओं में स्थान दिया । कहने का तात्पर्य कोई भी साहित्यिक गतिविधि प्रवृत्ति का रूप तभी लेती है जब वह सामान्य से भिन्न हो और उस युग की प्रमुख विशेषताओं में से एक हो ।

### **1.3 साहित्यिक शब्दावली के रूप में 'प्रवृत्ति' का विकास :**

पूर्वोक्त आलोचना से यह तो ज्ञात हो गया कि 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोगकाव्य शास्त्र और साहित्येतिहास में कब से हुआ । किन्तु प्रवृत्ति की आवश्यकता कब पड़ी ? यह आज भी जिज्ञासा का विषय है । किन्तु ग्रंथों के आलोक में इतना अवश्य स्पष्ट हो गया है कि साहित्य के अध्ययन के दौरान ही 'प्रवृत्ति' जैसी अवधारणा सामने आई होगी । कभी-कभी यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि प्रवृत्ति का जो रूप अभी हमारे समक्ष है वह आधुनिक युग की उपज है तो ऐसी कौन सी परिस्थितियों के कारण प्रवृत्ति के अर्थ में परिवर्तन हुआ होगा और कैसे ? बहरहाल इन सब प्रश्नों से इतर भी मन में यह प्रश्न बरबस बना रहता है कि क्या 'प्रवृत्ति' की अवधारणा साहित्यिक आलोचना का परिणाम है ? या रचनाओं के मूल्यांकन का । किन्तु हिंदी साहित्य के इतिहासों के अध्ययन के दौरान यह अवश्य लगने लगा कि प्रवृत्ति की उपज हिंदी साहित्य के इतिहास को समझने के दौरान ही उत्पन्न हुई ।

#### **1.3.1 भारतीय काव्यशास्त्र, साहित्येतिहास और ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में प्रवृत्ति**

प्रवृत्ति शब्द एक अर्थी नहीं बल्कि बहु-अर्थी है, जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया । इसका प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न प्रकार से होता रहा है । साहित्य में भी इसका प्रयोग द्विअर्थी रहा । एक अर्थ का प्रयोग भारतीय काव्य शास्त्रियों ने नाटक के सन्दर्भ में किया तो दूसरा अर्थ साहित्य में विशेष विषय के चलन से सम्बंधित रहा । जैसे - भरत मुनि प्रवृत्ति के सम्बन्ध में 'नाट्य शास्त्र' में लिखते हैं- "पृथिव्यां नाना देशवेशभाषाचारवार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः । अर्थात् पृथ्वी के विभिन्न देशों के वेश, भाषा तथा व्यवहार की बातों



को जो प्रकट करे, वह प्रवृत्ति है।”<sup>14</sup> इसलिए उन्होंने नाट्य प्रयोग में चार प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है- आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाल मध्यमा और औड्र-मागधी। ये विभाजन उन्होंने प्रदेशों की विशेषताओं के आधार पर किया था। अतः एक तरह से प्रवृत्ति से उनका आशय देश की सांस्कृतिक परंपरा से रहा, जिसको उन्होंने नाटक के सन्दर्भ में स्पष्ट करने का प्रयास किया। इनके बाद राजशेखर ने भी प्रवृत्ति को अपने आधार पर विश्लेषित किया। “राजशेखर के अनुसार रंगमंच पर अभिनीत नाटक में ‘वेश विन्यास क्रम’ को ‘प्रवृत्ति’ कहते हैं।”<sup>15</sup> अतः इसके माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि जो अर्थ काव्यशास्त्रियों ने प्रवृत्ति के सम्बन्ध में लगाया था उस अर्थ के इतर साहित्य में आधुनिक काल के आलोचकों ने प्रवृत्ति को देखा। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि भारत में ‘प्रवृत्ति’ शब्द का विश्लेषण करने का सर्वप्रथम प्रयास भरत मुनि ने अपने ‘नाट्य शास्त्र’ में किया। अतः इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ‘प्रवृत्ति’ शब्द का प्रचलन भारत में तीसरी शताब्दी से पूर्व हुआ है। प्रवृत्ति के अर्थ में परिवर्तन कब से हुआ यह हमारे सामने आज भी प्रश्न बनकर खड़ा है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है योगशास्त्र और अन्य शास्त्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति जैसी अवधारणा को तोड़ साहित्य में आया प्रभाव मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से ज्यादा निकट है, जिसका प्रभाव मनुष्य के समाज पर तो पड़ा ही लेकिन समाज से प्रतिफलित हो कर उसका प्रभाव साहित्य पर पड़ा।

हिंदी साहित्य लिखने के दौरान इस अवधारणा को अधिक स्पष्टता ग्रियर्सन के इतिहास ग्रन्थ ‘द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान’ से मिली। क्योंकि उन्होंने हिंदी साहित्य के काल-विभाजन के साथ समय-समय पर उठने वाली प्रवृत्तियों का भी हवाला दिया। डॉ. शिव कुमार शर्मा ‘हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ’ पुस्तक में लिखते हैं -‘उसने (ग्रियर्सन) अपने ग्रन्थ में काल-विभाजन के साथ समय-समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन करा दिया है। अतः ग्रियर्सन का प्रयास अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित व वैज्ञानिक है।’ साथ ही उनके द्वारा दिया गया -‘चारण काल’ और ‘रीति काव्य’ उनकी प्रवृत्त्यात्मक नामकरण का ही उदाहरण है। किन्तु यह भी स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि उन्होंने सिर्फ प्रवृत्तियों के आधार पर काल विभाजन नहीं किया था बल्कि उनके साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन का एक आधार नहीं था। किन्तु इससे यह इनकार नहीं किया जा सकता

<sup>14</sup> हिंदी साहित्य कोश भाग-1, धीरेन्द्र वर्मा, पृ.सं.-412

<sup>15</sup> हिंदी साहित्य कोश भाग-1, धीरेन्द्र वर्मा, पृ.सं.-412

कि उन्होंने 'प्रवृत्ति' को सही मायने में साहित्य के इतिहास को जानने के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया था ।

उनके बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने साहित्य-इतिहास ग्रन्थ में काल-विभाजन को प्रवृत्ति के आधार पर ही वर्गीकृत किया । 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आप लिखते हैं -'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है ।' इन्हीं चित्तवृत्ति के भिन्न होने से साहित्य के सृजन में विशेष परिवर्तन आता है । साहित्य में प्रयुक्त यही भिन्न चित्तवृत्ति लोगों की रुचि का जब हिस्सा बनता है और धीरे-धीरे इसकी प्रचुरता बढ़ती जाती है तब यह प्रवृत्ति का रूप लेती है । अतः रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में युगीन परिस्थितियों को महत्वपूर्ण माना है । इन्हीं की परंपरा को इतिहासकार गणपति चन्द्र गुप्त ने आगे बढ़ाया । किन्तु गणपति जी शुक्ल की किसी खास प्रवृत्ति पर किसी काल खंड के नामकरण करने के पक्षधर नहीं थे । उनका मानना था -'किसी युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति को आधार बना कर उसका नामकरण करने से उस समय की अन्य प्रवृत्तियाँ उपेक्षित रह जाती हैं । अतः हमें उस पद्धति का अनुसरण करना चाहिए जिसमें तत्कालीन समस्त प्रवृत्तियाँ सहज में समाविष्ट हो सके । क्योंकि एक ही युग में विभिन्न लोक-रुचियों की संतुष्टि के लिए शृंगार, भक्ति, वीररस, नीति आदि की प्रवृत्तियाँ समानांतर रूप से निरंतर चलती रहती हैं ।'

इतिहासकार गणपति चन्द्र गुप्त ने प्रवृत्ति के विकास की व्याख्या को सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर देखने की दृष्टि सुझाई है । उनका मानना था कि 'आधुनिक युग के अनेक समाज-शास्त्रियों विशेषकर स्पेंगलर, ए.जे.टवायनबी, पी. सोरोकिन ने विश्व-सभ्यता के इतिहास का अध्ययन करते हुए प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक जाति (या राष्ट्र) के सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों, प्रेरणाओं एवं प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति उसके साहित्य में होती है ।' इसलिए प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए गणपतिचन्द्र गुप्त का 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' अत्यधिक आवश्यक जान पड़ता है ।

गणपति चन्द्र गुप्त जी के शोधार्थी शिव कुमार शर्मा ने भी इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर 'हिंदी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ' नाम से पुस्तक की रचना की । इसी पुस्तक की भूमिका में गणपति जी इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखते हैं- "प्रत्येक काल की बाह्य परिस्थितियाँ, उनकी आन्तरिक प्रेरणाओं, उसकी महत्वपूर्ण रचनाओं एवं उनकी सूक्ष्म

प्रवृत्तियों का स्पष्ट विवेचन इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है।<sup>16</sup> इस पुस्तक में हिंदी साहित्य के विकासात्मक और प्रवृत्त्यात्मक दोनों रूपों को दिखाते हुए प्रतिनिधि लेखकों की समस्याओं को आलोचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अतः निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं साहित्य में प्रवृत्ति के विकास को समझने के लिए कुछ इतिहास की पुस्तकों को देखना अनिवार्य हो जाता है। प्रवृत्ति को समझने में सचमुच 'हिंदी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत में प्रवृत्ति के विकास को हमने ऊपर देखने की कोशिश की है किन्तु पश्चिम में इसके रूप पर दृष्टि देना भी आवश्यक जान पड़ता है।

### 1.3.2 पश्चिम में 'प्रवृत्ति' का विकास :

अंग्रेजी में प्रवृत्ति के लिए -Trend, Tendency, Movement, Aptitude आदि शब्द प्रचलन में हैं। किन्तु 'trend' शब्द सबसे ज्यादा प्रचलन में है। पश्चिम में प्रवृत्ति शब्द जो trend का पर्याय माना जाता है इसका प्रयोग सर्वप्रथम मिडिल इंग्लिश में 1590 में trendan के रूप में हुआ। 'ट्रेंड' शब्द की उत्पत्ति 'germanic' भाषा से मानी जाती है, जिसका सम्बन्ध trundle से रहा। मिडिल इंग्लिश में ट्रेंड से पूर्व 'trendan' शब्द प्रचलित था। जिसका अर्थ 'किसी विशेष दिशा में चलना या झुकना रहा (नदी और तट का प्रयोग)। ओल्ड इंग्लिश में भी यही trendan रूप ही प्रचलित रहा जिसका अर्थ 'turn round, revolve, roll' (लुढ़कना, घूमना) रहा। प्रोटो-जर्मनिक में trend के लिए 'trandijan' शब्द प्रचलित रहा जिसका अर्थ (round lump, ball) के रूप में रहा, जिसका अर्थ भी 'घूमना' था। swedish में trend के लिए trind शब्द प्रचलित रहा जिसका अर्थ भी 'घूमना' ही है। डच में trend के लिए trindel शब्द प्रचलित था, जिसका अर्थ परिधि (Circumference) रहा। अतः यह स्पष्ट हुआ कि प्रारंभिक दौर में ट्रेंड का अर्थ जहाँ घूमने के अर्थ तक सीमित रहा वहीं 16वीं शताब्दी के अंत तक 'एक विशिष्ट दिशा में परिवर्तन' होने के रूप में माना गया। 19वीं सदी तक आते-आते ट्रेंड का अर्थ 'सामान्य दिशा में विकसित' होना हो गया। सन् 1950 के बाद इसके अर्थ में फिर से परिवर्तन आया। ट्रेंड का अर्थ -

---

<sup>16</sup> हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, शिवकुमार शर्मा, भूमिका से

‘लोकप्रिय फैशन या संस्कृति’ के रूप में 1950 के बाद स्वीकार किया गया, जो आज तक प्रचलित है ।

#### **1.4 हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों की पूर्वपीठिका :-**

हिंदी और ओड़िया उपन्यासों का प्रारंभिक काल 19वीं शताब्दी रहा । यह परम्परा भले ही पहले हिंदी में और बाद में ओड़िया में देखने को मिलती हैं । किन्तु ओड़िया उपन्यास लेखन हिंदी से प्रभावित न होकर बाँगला उपन्यासों से प्रभावित हो कर लिखा गया । हिंदी की स्थिति भी इनसे भिन्न नहीं रही । इसलिए भी प्रारंभिक दौर में दोनों ही भाषाओं में बाँगला से अनूदित पुस्तकों की भरमार रही । इससे एक चीज़ यह स्पष्ट हो जाती है कि दोनों भाषाओं के उपन्यासों की प्रेरणा का स्रोत बाँगला उपन्यास ही रहा ।

ओड़िया और हिंदी के उपन्यासों की प्रवृत्तियों पर बात करने से पूर्व दोनों भाषाओं के उपन्यासों के विकास क्रम को स्पष्ट करना आवश्यक होगा ।

भारत में उपन्यास की शुरुआत आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण से होती है जिसे हिंदी में नवजागरण काल के नाम से अभिहित किया गया । तब से लेकर आज तक इस विधा का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है । कोई भी साहित्यिक विधा को समझने के लिए उसे वर्गीकृत करना आवश्यक है क्योंकि अगर ऐसा न हो तो समग्रता में किसी भी विधा को समझना सरल न होगा । अध्ययन की सुविधा से इसे इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है ।

##### **1.4.1.1 प्रेमचन्द पूर्व हिंदी उपन्यास :-**

भारतेंदु युग से हिंदी उपन्यास का उदय होता है । यह परंपरा कब और कैसे उत्पन्न हुई यह साक्ष्य भले ही भारतेंदु काल में मिलते हैं । किन्तु तभी यह प्रश्न भी हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है कि उपन्यास कब से लिखा गया और किसे हिंदी का पहला उपन्यास माना जाये । साथ ही यह भी प्रश्न खड़ा होता है कि प्रारम्भिक उपन्यासों को किन मानकों के आधार पर मूल्यांकन करें । क्योंकि प्रारम्भिक उपन्यासों में किसको पहला उपन्यास के रूप में चुना जाए इसके पीछे यही मानकीय समस्या उपस्थित होती है । ‘भाग्यवती’ को लेकर भी इसी तरह के विवाद देखने को मिलते हैं । ‘भाग्यवती’ भले ही अंग्रेजी ढंग का उपन्यास नहीं है किन्तु विषय वस्तु की नवीनता के आधार पर इसे पहला उपन्यास माना जाता है । आलोचकों ने इस सम्बन्ध में अपने मत भिन्न-भिन्न तरह से प्रस्तुत किये हैं । बहरहाल ब्रजरत्न दास ने भारतेंदु द्वारा लिखित ‘कुछ आप बीती कुछ जग बीती’ को

पहला उपन्यास माना है । गोपाल राय ने गौरीदत्त के द्वारा लिखित 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870) को, डॉ. विजयशंकर मल्ल ने श्रद्धाराम फिल्लौरी की 'भाग्यवती' (1877) और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' (1882) को पहला उपन्यास माना । किन्तु यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि आलोचकों के विभिन्न मतों के कारण अध्ययनकर्ता के लिए यह समस्या और भी जटिल रूप धारण करती है । इन सब का हवाला देने का तात्पर्य पहला उपन्यास के विवाद में पड़ना नहीं है बल्कि इससे इतर यह स्पष्ट करना है कि हिंदी में उपन्यास की परंपरा 1870 के बाद दिखाई देती है ।

प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यासों में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं जिस ने उस समय के उपन्यासकारों को प्रभावित किया है ।

1. कोरा मनोरंजनपरक उपन्यास
2. उपदेशात्मक और सुधारवादी उपन्यास/सामाजिक उपन्यास
3. ऐतिहासिक उपन्यास

इन तीनों प्रवृत्तियों के इतर, दूसरी भाषाओं से, अनूदित उपन्यासों की भी प्रवृत्ति देखने को मिलती है । किन्तु इसे प्रवृत्ति के रूप में देखना कितना सही होगा यह कहना उतना ही मुश्किल है । किन्तु अनुवाद को एक प्रवृत्ति के रूप में देखना इस लिए उपयुक्त लगने लगता है क्योंकि सबसे ज्यादा किसी काल खंड में अनुवाद हुए हैं तो वह भारतेंदु काल में हुए हैं । बहरहाल इससे इतर विषय के आधार पर उपन्यासों के प्रवृत्ति पर बात करना ज्यादा उचित होगा ।

#### **1. कोरा मनोरंजनपरक उपन्यास :**

इस श्रेणी के अंतर्गत वे उपन्यास आते हैं जिनका उद्देश्य केवल मनोरंजन करना है । इन उपन्यासों में विषयगत सर्जनात्मकता विशिष्टता नहीं होती और इसमें समाज के लिए कोई उपदेश नहीं होता है । मुख्यतः तिलस्मी, जासूसी और ऐयारी उपन्यास इस कोटि के अंतर्गत आते हैं । इस तरह के उपन्यासों का हिंदी जगत में प्रचार होना पश्चिम के अनुकरण जैसा लगने लगता है क्योंकि पश्चिम में ऐसे उपन्यास प्रमुख रूप से लिखे जाते रहे जिसमें घटना-वैचित्र्य की प्रमुखता रही । पश्चिम में एडलर वेल्लेस, ओपेनहैम जैसे उपन्यासकारों ने इस तरह के उपन्यास पर्याप्त मात्रा में लिखे थे ।

तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों में विस्मयकारी घटनाओं को आधार बनाया जाता है । इस तरह के उपन्यासों में अनेक तरह के करिश्मे दिखाई देते हैं । इन उपन्यासों में कथा

का कोई और छोर नहीं होता है। कथा कहीं से आरम्भ हो कर कहीं पर भी खत्म हो जाती है। इन उपन्यासों में बिना कोई कार्य-कारण सम्बन्ध होते हुए भी पाठकों को चमत्कृत करने की क्षमता है। इसमें कथा को कितना भी खींच-तान कर बड़ा कर दिया जाता है। इसमें कोई प्रतिबद्धता नहीं दिखाई देती है। इसलिए रामदरश मिश्र लिखते हैं-“इन उपन्यासों में पाठक की कौतूहल वृत्ति को रमाने और बहाने की अपार क्षमता है और यही इनका उद्देश्य भी है।”<sup>17</sup> देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, दुर्गा प्रसाद खत्री, देवी प्रसाद शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, हरेकृष्ण जौहर आदि उपन्यासकार तिलस्मी और ऐयारी परक उपन्यास लिखते रहे। देवकीनंदन खत्री का नाम इस क्षेत्र में ज्यादा चर्चित हुआ। उन्होंने ‘चन्द्रकान्ता’, ‘चंद्रकांता संतति’, ‘नरेंद्र मोहन’, ‘वीरेंद्र वीर’, ‘कुसुम कुमारी’, ‘काजर की कोठरी’, ‘अनूठी बेगम’, ‘गुप्त गोदना’, ‘भूतनाथ’ आदि तिलस्मी और ऐयारी परक उपन्यास लिखे।

जासूसी उपन्यासों में चोरी-डकैती तथा अन्य अपराधियों की खोज की जाती है। इसमें घटनाओं को इस तरह उलझाया जाता जिसमें पाठक स्वयं उलझ कर रह जाता है। पाठक को इस तरह के उपन्यासों में दिग्भ्रमित करने वाला कार्य किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों का मुख्य पात्र एक जासूस होता है जो विभिन्न प्रकार के समस्याओं को पार करते हुए अपराधी तक पहुँचता है। मूलतः इन उपन्यासों का मूल लक्ष्य विस्मयजन्य आनंद प्राप्त कराना है। गोपालराम गहमरी, शिवनारायण द्विवेदी, शेरसिंह, रुद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त आदि उपन्यासकारों ने जासूसी युक्त बहुत से उपन्यास लिखे हैं। इसमें गोपालराय गहमरी का नाम सर्व प्रमुख है। उनके द्वारा लिखित ‘अद्भुत लाश’, ‘सर कटी लाश’, ‘खूनी कौन’, ‘बेकसूर की फाँसी’, ‘बेगुनाह का खून’, ‘जासूस की भूल’, ‘अद्भुत खून’ आदि उपन्यास ‘जासूसीपरक उपन्यास’ हैं।

## **2. उपदेशात्मक और सुधारवादी उपन्यास या सामाजिक उपन्यास :**

प्रेमचंद-पूर्व हिंदी उपन्यासों की एक प्रवृत्ति सामाजिक उपन्यासों की रही। सामाजिक उपन्यास के केंद्र में उपदेशात्मकता या समाज सुधार जैसे विषय महत्वपूर्ण रहे। यह युग सांस्कृतिक पुनर्जागरण का युग रहा। इस दौर में सामाजिक और राष्ट्रीय जागृति के बीज बोये गए। यह बीज समाज की गतिविधियों की उपज रही। चिन्तक, आलोचक, लेखक

<sup>17</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-19

और रचनाकार इन गतिविधियों से अवगत थे । समाज में व्याप्त सामाजिक-धार्मिक-राष्ट्रीय उन्माद से विमुख हो कर रचनाकारों ने अपनी कलम चलाई । समाज में पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण उन्हें अन्दर तक आंदोलित करता रहा । वे भावी स्थिति के लिए सोच कर हतोत्साहित हो रहे थे कि लोगों के मध्य राष्ट्रीय जागृति की बहुत भारी कमी आ रही है, कहीं ऐसा न हो कि भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति हावी हो जाए और भारतीय संस्कृति का नामोनिशान मिट जाए, इसी सोच ने उन्हें यह निरंतर लिखने की प्रेरणा दी । इसलिए भारतेंदु युग से ही साहित्यिक विधाओं में राष्ट्रीय जागरण के स्वर उभरते हुए दिखाई देते हैं । किन्तु राष्ट्रीय जागरण से ज्यादा उनका उग्र स्वर सामाजिक जागरण में दिखाई देता है । इसलिए बाल विवाह, कलह-प्रियता, विधवा विवाह, आभूषण प्रियता, स्त्री आचरण शिक्षा, अनेक तरह की कुरीति जिसमें गोवध की समस्या, सती प्रथा, चाटुकारिता, शराबखोरी आदि को इन उपन्यासों का विषय बनाया । इन सब विषयों से यह स्पष्ट है कि उपन्यास की अन्य प्रवृत्तियों से ज्यादा ये प्रवृत्ति 'यथार्थ के ज्यादा निकट' है । आलोचकों ने इन उपन्यासों के मध्य कमियों को भी स्पष्ट किया है किन्तु 'प्रारम्भिक रचनाओं की अपनी एक सीमा होती है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इन उपन्यासों का उद्देश्य यही रहा कि किस तरह समाज में व्याप्त कुरीतियों से आम जन को अवगत करवाया जाए साथ ही इन सब से छुटकारा किस तरह से पाया जा सकता है । इस युग को पढ़ने के दौरान यह प्रश्न मन में खड़ा होता है कि अन्य सामाजिक उपन्यासों से इस युग के सामाजिक उपन्यास किस प्रकार भिन्न हैं ? इस युग के उपन्यासों पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि इस युग के सामाजिक उपन्यासों में मनोरंजनपरकता के साथ-साथ पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय जैसे विषय पर जोर है, जो अन्य उपन्यासों से इन्हें भिन्न बनाते हैं । उपदेश प्रधान उपन्यासों के सम्बन्ध में रामदरश मिश्र कहते हैं -“जो उपदेश-प्रधान कहानियाँ हैं उनका एक निश्चित अंत होता है और उसी अंत तक कथा आकर रुक जाती है, उसी अंत के लिए सारी कथा नियोजित होती है । उपदेश बड़ा स्पष्ट होता है, लेखक अपनी ओर से टिप्पणियाँ भी जोड़ता है । इस प्रकार उपदेश प्रधान कथाओं की सारी घटनाएँ मनोरंजनात्मक होती हैं, किन्तु उनका नियोजन किसी उपदेश के लिए होता है ।”<sup>18</sup>

<sup>18</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-17

इस प्रवृत्ति को आधार बना कर अनेक उपन्यास लिखे गए जो निम्नलिखित हैं -  
'पूर्णप्रकाश' और 'चंद्रप्रभा' (भारतेंदु), 'भाग्यवती' (श्रद्धाराम फिल्लौरी), 'परीक्षा गुरु' (श्रीनिवासदास), 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान : एक सुजान' (बालकृष्ण भट्ट ), 'निस्सहाय हिन्दू' (राधाकृष्ण दास), 'विधवा विपत्ति' (राधा चरण गोस्वामी), 'श्यामा स्वप्न' (ठाकुर जगमोहन सिंह), 'धूर्त रसिक लाल', 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' (लज्जा राम मेहता), 'अधखिला फूल', 'ठेठ हिंदी का ठाठ' (हरिऔध) आदि।

### 3. ऐतिहासिक उपन्यास :

इस दौर की तीसरी प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यास की रही । जैसा कि हम जानते हैं वर्तमान को देखने का नजरिया इतिहास से मिलता रहा है । हम विकट परिस्थितियों में सदैव अतीत की ओर मुड़े हैं, अतीत में ही हमने अपने समस्याओं का निदान ढूंढा, ज़िन्दगी की जिजीविषा के बीच निरंतर आगे बढ़ना सीखा है । इसी अतीत के मूल्य निधि को इतिहास ने संजो कर रखा । इतिहास से हमने हमारी परम्परा और संस्कृति को पहचाना । इसलिए सामाजिक और राष्ट्रीय असंतोष के बीच पनपे सांस्कृतिक विघटन के कारण ऐतिहासिक उपन्यास का लिखा जाना स्वाभाविक हो गया । इस दौर में ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जाना अपनी सांस्कृतिक विरासत का पुनः स्थापन करना था । लोगों के दिलों में अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम जगाना रहा । किन्तु इस से यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस दौर के ऐतिहासिक कथाओं के साथ ज्यादा छेड़ छाड़ की गयी है क्योंकि इस दौर के उपन्यासों में उपन्यासों को मनोरंजक बनाने के लिए कथाएँ जोड़ी गयी साथ ही उपदेश के तत्व भी जोड़े गए । इन उपन्यासों की विशेषता यह रही कि इन उपन्यासों ने विदेशी चकाचौंध में लिप्त लोगों के आँख में लगी धूल को साफ़ करने का प्रयास किया । साथ ही अपनी संस्कृति के प्रति लोगों के दिलों में जगह बनाने की कोशिश की । इन उपन्यासों की कमी को रामदरश मिश्र स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि- “इन उपन्यासों में अभिप्रेत काल के समाज का यथार्थ-बोध नहीं प्राप्त होता । इनमें उस काल की जटिल सामाजिक स्थितियों, मानव-मन की आकांक्षाओं, प्रश्नों, व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का तो सूक्ष्म निरीक्षण नहीं ही प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह भी नहीं लक्षित होता । कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नहीं होता । अर्थात् ये उपन्यास न तो इतिहास का जीता-जागता चित्र ही उपस्थित कर पाते हैं और न तो ये सफल साहित्यिक कृति बन पाते



।<sup>19</sup> रामदरश मिश्र का यह कथन उचित है, किन्तु ऐतिहासिक कथाओं की नींव इसी काल में पड़ी और अपने प्रारंभिक दौर में किसी उपन्यास से सारी पूर्णता के अंश को ढूँढना निराधार ही होगा ।

बहरहाल इस काल में ऐतिहासिक उपन्यास प्रचुर मात्रा में लिखे गए । जैसे -किशोरीलाल गोस्वामी कृत -‘हृदयहारिणी’ व ‘आदर्श रमणी’, ‘लवंगलता’ व ‘आदर्श बाला’, ‘तारा’, ‘राजकुमारी’ आदि; गंगा प्रसाद गुप्त कृत ‘पृथ्वीराज चौहान’, ‘कुमार सिंह सेनापति’, ‘हम्मीर’; श्यामसुंदर वैद्य कृत -‘पंजाब पतन’; ब्रजनंदनसहाय कृत ‘लाल चीन’; मिश्रबंधु कृत ‘वीरमणि’ आदि । इन ऐतिहासिक उपन्यासों में विषय या दिशा परिवर्तन समयानुकूल मांग रही जो इस प्रवृत्ति के उपन्यासों की अपनी विशेषता रही । आगे के रचनाकारों ने इसी प्रवृत्ति को आधार बना कर और भी उपन्यास लिखे ।

अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास में जो कोरे मनोरंजनपरक उपन्यास और उपदेश या सुधारवादी उपन्यास लिखे गए उनका सम्बन्ध भारतीय परंपरागत कहानियों से रहा । भले ही उपन्यास विधा, पश्चिमी साहित्य की देन रहा किन्तु भारत में उपन्यास का विकास यहाँ के परिवेश और परिस्थितियों के अनुरूप ही हुआ । कुछ विद्वान भारत में उपन्यास के जन्म को परम्परागत विकास का परिणाम के रूप में देखते हैं । उनका मानना रहा कि - ‘भारत वर्ष में कथा-साहित्य की धारा अनादिकाल से बहती हुई आ रही है । वेदों, ब्राह्मणों, रामायण, महाभारत, पुराणों, जैन गाथाओं, जातक गाथाओं, वीरतागर्भित रोमानी कविताओं, हितोपदेश, पंचतंत्र, वेताल पंचविंशति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुक सप्तति आदि में कथा का अनन्त भंडार भरा हुआ है ।’ इस तरह के आलोचकों के मतों को रामदरश मिश्र तर्क के साथ खंडित करते हुए नजर आते हैं । जैसे रामदरश मिश्र कहते हैं -“प्रश्न कथा का नहीं है, कथा तो प्रबंध-काव्य में भी होती है, नाटक में भी होती है और ‘हितोपदेश’, ‘पंचतंत्र’ जैसी उपदेशात्मक कहानियों में भी होती है । परन्तु कथा होने से ही प्रबंध और नाटक की अपनी विशिष्टताएँ नष्ट तो नहीं हो जाती । कथा के सूत्र का अस्तित्व होने से ही आज का उपन्यास प्राचीन भारतीय या पाश्चात्य या अरबी-फारसी के कथाश्रित साहित्य की उपज तो नहीं मान लिया जाएगा ...अर्थात् उपन्यास एक अलग विधा है जो ‘पंचतंत्र’, ‘हितोपदेश’, ‘कादंबरी’, ‘रामायण’, ‘महाभारत’, ‘जातक

---

<sup>19</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-22

कथाओं, 'वीरगाथाओं' और 'प्रेमगाथाओं' से अपनी प्रकृति में नितांत भिन्न है।<sup>20</sup> दरअसल उपन्यास को परंपरागत विकास के रूप में मानने वाले विद्वानों का इस प्रकार का कथन भारतीय परंपरा को ज्यादा विकसित और सर्वश्रेष्ठ साबित करना रहा। यह तर्क भले ही मन में आत्म संतोष का भाव पैदा करता हो किन्तु सच्चाई यही रही कि उपन्यास विधा का आगमन भारत में आये पूंजीवाद और पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप ही हुआ।

#### 1.4.2.1 प्रारम्भिक ओड़िया साहित्य/ पहला-पर्याय

हिंदी साहित्य में जिस तरह पहला उपन्यास किसे माना जाये इस पर विवाद है, उसी तरह ओड़िया साहित्य में पहला उपन्यास कौन सा है, यह विवाद का विषय है। कुछ आलोचकों ने 'पद्ममाड़ी'(1888) को पहला ओड़िया उपन्यास माना। यह उपन्यास उमेश चन्द्र सरकार ने लिखा। 2 मई, सन् 1889 को 'उत्कल दीपिका' में इसे 'पहला ओड़िया उपन्यास' के रूप में घोषित किया गया और इसे नॉवेल की संज्ञा भी दी गयी। प्रारंभिक उपन्यासों की यह विशेषता रही कि ये उपन्यास किसी-न-किसी पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते रहे हैं। कुछ विद्वानों ने 'सौदामिनी' उपन्यास को ओड़िया का पहला उपन्यास माना, जो सन् 1878 में 'उत्कल मधुप' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित होता रहा। किन्तु यह उपन्यास भी 30 अध्याय के बाद किसी कारणवश पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो पाया और यह भी अधूरा रह गया। इसलिए इस उपन्यास की सार्थकता भी सिद्ध नहीं हो पाती है। कुछ विद्वानों ने रामशंकर के द्वारा लिखा गया 'विवासिनी' (धारावाहिक रूप में 1891से 1895) को ओड़िया का पहला 'उपन्यास' माना। यह उपन्यास 'उत्कल प्रभा' (मयूरभंज से प्रकाशित पत्रिका) पत्रिका में प्रकाशित होता रहा। इस तरह ओड़िया का पहला उपन्यास किसे माने इसे लेकर विद्वानों में मतभेद दिखाई देते हैं। 'ओड़िया साहित्य र इतिहास' में डॉ. सुरेन्द्र कुमार महाराणा के अनुसार 'पद्ममाड़ी' को ही पहला उपन्यास मानना समीचीन होगा। साथ ही डॉ. अजय कुमार पटनायक 'ओड़िया साहित्य विविध प्रसंग' नामक पुस्तक में यह सिद्ध करते हैं कि 'पद्ममाली' को पहला उपन्यास का श्रेय देना चाहिए।

बहरहाल ओड़िया लिपि में लिखा गया पहला उपन्यास 'फूलमणि ओ करुणा र विवरणी' (फूलमणि और करुणा की विवरणी) है। लेकिन इस उपन्यास की प्रामाणिकता

---

<sup>20</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-16

संदिग्ध है कि यह उपन्यास मूल ओड़िया भाषा में लिखा गया है, या नहीं। क्योंकि इसी नाम से बँगला में भी एक पुस्तक अनूदित हुई है। बाद के परीक्षणों के बाद विद्वानों का मत है कि यह पुस्तक मूलतः ईसाई धर्म प्रचारकों के द्वारा 12 भारतीय भाषाओं में अनूदित है। यह उपन्यास फूलमणि, करुणा और मधु नाम की तीन औरतों की कहानी है। अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ ये तीनों संघर्ष करती हुई अंत में ईसाई धर्म ग्रहण कर सुखद जीवन जीती हैं। इसकी कथावस्तु से यह ज्ञात होता है कि यह उपन्यास ईसाई धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। अतः यह ओड़िया भाषा में लिखा गया अनूदित उपन्यास है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक काल में लिखे गए अनूदित उपन्यास की भरमार रही यह स्थिति हिंदी और ओड़िया दोनों भाषाओं में रही। दोनों भाषाओं में बँगला से अनूदित उपन्यासों की अधिकता रही।

प्रारंभिक ओड़िया उपन्यासों में तीन तरह की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं।

1. ऐतिहासिक उपन्यास
2. प्रेम और राजनीतिक विषयपरक उपन्यास
3. इतिहास मिश्रित सामाजिक उपन्यास

### **1. ऐतिहासिक उपन्यास**

ओड़िया में लिखे गए उपन्यासों की एक प्रवृत्ति 'ऐतिहासिकता' की रही। इन उपन्यासों में इतिहास को आधार बनाया गया। इन उपन्यासों की यह विशेषता रही कि इसमें कोरी कल्पना की अधिकता नहीं है। इन उपन्यासों का उद्देश्य इतिहास को केंद्र में रख कर यथार्थ को प्रस्तुत करना रहा। 'पद्ममाड़ी' उपन्यास इसका सबसे अच्छा उदाहरण है जो ओड़िया का पहला उपन्यास माना जाता है। 'पद्ममाड़ी' उपन्यास ओड़िशा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस उपन्यास में सन् 1853 के दौर में ओड़िशा के नीलगिरी में घटित घटना को आधार बनाया गया है। उपन्यासकार भी 'पद्ममाड़ी' के सम्बन्ध में लिखते हैं-"समसामयिक दो ऐतिहासिक घटनाओं का समन्वय 'पद्ममाड़ी' में दिखाया गया है। पहला-नीलगिरी राज्य के कर्मचारियों के द्वारा पंचगढ़ पर आक्रमण, दूसरा हरिहर भ्रमण बाबू के द्वारा नीलगिरी पर आक्रमण।"<sup>21</sup> इन्हीं दोनों घटनाओं को आधार बना कर ओड़िशा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को उपस्थित करना उपन्यासकार का मूल उद्देश्य रहा।

---

<sup>21</sup> ओड़िया उपन्यास आरंभ रू आजिजाँ, डॉ. जितेन्द्र नारायण पट्टनायक, पृ.-7

## **2. प्रेम और राजनीतिक विषयपरक उपन्यास**

ओड़िया में ऐतिहासिक प्रवृत्ति के इतर एक प्रवृत्ति बहुत प्रसिद्ध रही जिसे कल्पना मिश्रित प्रेम और राजनीतिक प्रवृत्ति कह सकते हैं। इस तरह के उपन्यासों में कल्पना और प्रेम के साथ-साथ राजनीतिक गतिविधियों को उपस्थित किया गया। इन उपन्यासों का मूल उद्देश्य ओड़िशा के राजनीतिक यथार्थ को प्रस्तुत करना रहा। 'सौदामिनी' उपन्यास इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। 'सौदामिनी' उपन्यास एक ऐतिहासिक प्रेम कहानी के रूप में प्रसिद्ध है। 14वीं शताब्दी के राजपूत राजा एवं उनकी पत्नी पद्मावती की हत्या के पश्चात अलाउद्दीन खिलजी का उज्जैन पर आक्रमण एवं अधिकार इस उपन्यास की कथावस्तु है। इसमें सौदामिनी कोई ऐतिहासिक पात्र नहीं है। इसलिए यह कहानी ऐतिहासिक न होकर काल्पनिक है। इस उपन्यास में मूलतः राजनीतिक परिस्थिति में प्रेम कहानी का अभूतपूर्व समन्वय करने का प्रयास किया गया है। 'सौदामिनी' और उसके बाद लिखा गया 'उन्मादिनी' अपूर्ण है। इन दोनों उपन्यासों के लेखक रामशंकर राय स्वयं अपनी ग्रन्थावली की भूमिका में भी स्वीकार करते हैं कि - 'ये दोनों अपूर्ण उपन्यास हैं।'

## **3. इतिहास मिश्रित सामाजिक उपन्यास**

तीसरी प्रवृत्ति इस काल खंड की इतिहास मिश्रित सामाजिक उपन्यासों की रही। इस तरह के उपन्यासों में इतिहास और समाज का गठजोड़ देखने को मिलता है। इन उपन्यासों में कथावस्तु इतिहास की पृष्ठभूमि पर होगी किन्तु ओड़िया समाज की स्थिति को प्रस्तुत करना इन उपन्यासों का मूल उद्देश्य होगा। 'विवासिनी' उपन्यास इस प्रवृत्ति पर लिखा गया उपन्यास है। 'पद्ममाड़ी' की तरह 'विवासिनी' उपन्यास की कथावस्तु भी ऐतिहासिक प्रेम कहानी पर आधारित है। इस उपन्यास की कथावस्तु अठारहवीं शताब्दी में ओड़िशा में मराठा प्रशासन का शासन और उत्पीड़न पर आधारित है। इसमें सन् 1770 में ओड़िशा में हुए दुर्भिक्ष की भयावह स्थिति भी दिखायी गई है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इस उपन्यास में ओड़िशा की आर्थिक और सामाजिक स्थिति का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है।

अतः निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि ओड़िया उपन्यास प्रारंभ से ही 'यथार्थवादी' परंपरा को ग्रहण किये हुए है। इन उपन्यासों का मूल उद्देश्य मनोरंजन करना नहीं रहा

। किन्तु ये उपन्यास मनोरंजन से अछूते भी नहीं रहे । इन उपन्यासों में कल्पना का मिश्रण है किन्तु अतिवादी कल्पना का जोर इन उपन्यासों में नहीं है, जैसा कि हिंदी की तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी परक उपन्यासों में रहा । इस काल खण्ड की विशेषता ही कह सकते हैं जिन उपन्यासों में कल्पना और मनोरंजन का यथोचित सहारा लिया गया । साथ ही इन उपन्यासों में 'प्रेम' सर्वोपरि रहा । प्रेम के बिना कोई भी कथा पूर्ण नहीं होती है क्योंकि प्रेम संसार का नियम है जिससे कोई भी अछूता नहीं रह सकता । यह प्रेम की परम्परा इस काल खंड की ही नहीं बल्कि अधिकांश ओड़िया उपन्यासों की विषयवस्तु का आधार रहा, जो आज की रचनाओं में भी देख सकते हैं । अंत में यह स्पष्ट करना भी आवश्यक होगा कि हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों की दिशा से भिन्न हटकर ओड़िया उपन्यास अपनी पहचान निर्मित करता है । जो उसे एक नयी पहचान प्रदान करता है । इस तरह प्रथम चरण समाप्त होता है जिसमें प्रेम, इतिहास, समाज और राजनीति आदि प्रवृत्तियों का अभूतपूर्व मिश्रण हमें देखने को मिलता है ।

#### **1.4.1.2 प्रेमचन्द-युग हिन्दी उपन्यास :-**

प्रेमचंद युग का समय सन् 1918-1936 के मध्य रहा । यह समय छायावाद युग के नाम से भी प्रचलित रहा । प्रेमचंद द्वारा लिखित पहला उपन्यास 'सेवासदन' सन् 1918 में प्रकाशित हुआ । इसी उपन्यास के प्रकाशन के कारण हिंदी उपन्यास में नए युग का आरम्भ होता है जिसे विद्वानों ने प्रेमचंद युग के नाम से अभिहित किया । इसे हिंदी उपन्यास का 'विकास युग' भी माना जाता है । इस अवधि को इसलिए प्रेमचंद युग के अंतर्गत रखा गया क्योंकि इसी अवधि तक प्रेमचंद का लेखन कार्य संपन्न हुआ । इसी बीच अन्य उपन्यासकार प्रेमचन्द से प्रभावित होकर भी अपनी रचनात्मक प्रतिभा को प्रदर्शित करते रहे ।

उपन्यास साहित्य में मुंशी प्रेमचंद के आगमन के कारण उपन्यास साहित्य में सही मायने में नवजीवन का संचार हुआ । उपन्यास की रिक्तता को पूर्ण करने का कार्य प्रेमचंद ने किया । यही कारण रहा वे उपन्यास सम्राट के रूप में विख्यात रहे । प्रेमचंद के आगमन के साथ यह युग उपन्यास जगत के लिए स्वर्ण युग सिद्ध हुआ । प्रेमचंद ऐसे आलोक रहे जिसने पूरे उपन्यास जगत को आलोकित कर दिया । आभा बिखेरने वाले प्रेमचंद के कार्य के आगे पूरा उपन्यास साहित्य नतमस्तक है । जिसकी वजह से पूरे उपन्यास विधा को ही इन्हीं के नाम से नामांकित किया गया।

हिंदी उपन्यास साहित्य में प्रेमचंद युग अपनी विशिष्ट उपलब्धियों के कारण महत्वपूर्ण रहा। इस युग में पहली बार उपन्यास आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ। जिसे विद्वान 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। बहरहाल प्रेमचंद युग में प्रयुक्त उपन्यासों की प्रवृत्तियों पर बात करना समीचीन होगा। इससे पूर्व यह बताना आवश्यक है कि जो निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ इस युग के उपन्यासों की बताई गयी हैं उनमें कुछ गौण प्रवृत्तियाँ हैं और कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ जिसने इस समय के उपन्यास साहित्य को बहुत प्रभावित किया है साथ ही लोगों के लिए रुझान उत्पन्न किया है।

1. राष्ट्रीय-जागरण

2. सामाजिक-यथार्थ

- किसान और मजदूर जीवन
- स्त्री-जीवन
- अछूतोद्धार

3. शिक्षा/ शैक्षिक-सन्दर्भ

4. प्रकृति वादी शैली

5. साम्प्रदायिक चुनौतियाँ

6. ग्राम्य और महानगरीय जीवन

7. सुधारवादी प्रवृत्ति

8. आर्थिक दंश

9. ऐतिहासिक-प्रवृत्ति

### **1. राष्ट्रीय जागरण :-**

'राष्ट्र' जैसी अवधारणा हमारे समक्ष अंग्रेजों के आगमन के साथ ही स्पष्ट होती है। इससे पूर्व राष्ट्र कहने पर हम हमारे क्षेत्र विशेष को ही समझते थे। किन्तु ब्रिटिश शासन के अत्याचार, दमन, दुर्व्यवस्था, भेदभाव मूलक नीति ने लोगों में 'राष्ट्र' जैसी अवधारणा को जन्म दिया। पराधीन भारत ब्रिटिश शासन से मुक्त होने की कोशिश में जुट गया। एक तरह से यह युग सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उथल-पुथल वाला युग रहा। भारत के बुद्धिजीवी वर्गों ने इसी उथल-पुथल को भाँप लिया था और इसलिए लोगों के मध्य जागरण लाने का कार्य कर रहे थे। कांग्रेस जैसी राजनीतिक पार्टी ने इस सन्दर्भ में सबसे ज्यादा कार्य किया। इस दल ने लोगों के मध्य स्वाधीनता की अग्नि को बार-बार प्रज्वलित करने

का कार्य किया । इसके नेतृत्वकर्ता गाँधी जी रहे। जिन्होंने सत्य और अहिंसा के मार्ग पर देश को स्वाधीन करने का सपना देखा । उन्होंने सत्याग्रह का अस्त्र लेकर राजनीतिक युद्ध भूमि पर खरे उतरे । आन्दोलन पर आन्दोलन करते रहे भूख हड़ताल पर रहे, जेल गए किन्तु इन परिस्थितियों के आगे झुके नहीं, लड़े और इन्साफ का साथ कभी नहीं छोड़ा । उनका यह पूरा संघर्ष राष्ट्र के हित के लिए था जिसके केन्द्र में आम जन रहा । उन्हें यह बखूबी रूप से पता था सिर्फ बुद्धिजीवियों से कुछ नहीं हो सकता जब तक आम वर्ग इस लड़ाई में साथ नहीं होगा तब तक हमें स्वाधीनता नहीं मिल सकती । इसलिए उनकी पूरी लगन आम लोगों को जागृत करने की रही । जिसके फल स्वरूप पुरुषों के साथ नारियाँ भी इस संग्राम में कूद पड़ीं । इन्हीं अशांत मूलक परिस्थितियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साहित्यकारों को प्रभावित किया । रचनाकार समाज और युग से अछूता नहीं रह सकता, इसलिए इस दौर में राष्ट्रीय स्वर का उपन्यासों में उभरना स्वाभाविक रहा । प्रेमचंद के अधिकतर उपन्यासों में यह प्रवृत्ति कहीं गौण और कहीं मुख्य रूप से उपस्थित होती है । जैसे प्रेमचंद के 'रंगभूमि' उपन्यास में यह प्रवृत्ति मुख्य प्रवृत्ति बन कर उभरी । रंगभूमि का सूरदास गाँधी जी के बहुत निकट दिखाई देता है । जिसमें राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम है । वह राष्ट्र के लिए मर-मिटने को तैयार है । "वह (सूरदास) गाँधी की तरह ही बड़ी से बड़ी शक्ति से लोहा लेता है । वह अपने मानवीय अधिकारों और सत्य के लिए मर मिटता है लेकिन किसी के प्रति उसके मन में मैल नहीं है ...वह बार-बार कोशिश करता है कि उसके गाँव के लोग अपने सही अधिकारों के लिए संगठित होकर लड़ाई लड़ें । वह सबको प्रभावित करता है, उन्हें संगठित भी करता है किन्तु प्रतिपक्ष द्वारा दिया गया प्रलोभन या भय उसकी टीम को बार-बार विघटित करता है । संगठित और विघटित होते चलने का द्वंद्व उस समय के पूरे देश के सन्दर्भ में सही है ।"<sup>22</sup>

अंग्रेजी सत्ता और व्यवस्था ने गाँधी के द्वारा संगठित होती हुई जनता के मन में भय, सम्प्रदाय, प्रलोभन, पद आदि चीजों से फूट पैदा करना चाहा । गाँधी की तरह ही इस उपन्यास का पात्र सूरदास इसी व्यवस्था के खिलाफ अपने अधिकारों की लड़ाई में मर जाता है । इस उपन्यास के अतिरिक्त प्रेमचंद के 'कर्मभूमि' उपन्यास में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है ।

---

<sup>22</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-42

## 2. सामाजिक यथार्थ

### i. कृषक जीवन

अंग्रेजों के आगमन के फल स्वरूप एक ओर समाज में आतंक और दहशत का वातावरण था तो दूसरी ओर औद्योगीकरण के आने से पूँजीवाद को प्रश्रय मिल रहा था । पूँजीवाद का प्रसार होने की वजह से समाज में 'मध्य वर्ग' जैसे नए वर्ग का उदय होता है । समाज में अनेक वर्गों की आपसी टकराहट होती रही । एक ओर सामंतवादी समाज और महाजनी समाज के बीच टकराहट हो रही थी तो दूसरी ओर पूँजीपतियों और मिल मालिकों के बीच । देश में जमींदारी प्रथा तो थी ही किन्तु अंग्रेजों के आगमन के बाद पूँजीवादी यानी महाजनी प्रथा की बढ़ोतरी भी होने लगी थी । जमींदारी प्रथा, सामंती सभ्यता का ही एक अंग रहा । 'महाजनी सभ्यता' ने शहरों को विकसित करने का कार्य किया । शहरों में निर्मित कारखानों के कारण सामंती रूढ़ियाँ चरमरा कर टूटने लगी थी । शहर में छुआछूत, जाति-पांति जैसे भेदभाव दूर हो रहे थे । अब लोगों के मूल्य से ज्यादा कर्म के मूल्य अधिक हो गए थे । अब आदमी नहीं आदमी का कर्म महत्वपूर्ण होता जा रहा था । सामंती लोगों की अभिजात्य भावना खोखली प्रतीत हो रही थी । अब तक जो धन राजाओं, सामंतों तथा जमींदारों के हाथों तक सीमित था अब वह धन शहरों के उद्योगपतियों के पास चला गया था । "पराधीन देश में पूँजीवाद विकसित हुआ वह मुख्यतः विदेशी था, इसलिए हमारे देश में महाजनी सभ्यता के परिणामस्वरूप वह उत्साह और मुक्ति का आनंद लक्षित नहीं हुआ जो इंग्लैंड आदि पश्चिम देशों में पूँजीवाद के आने पर लक्षित हुआ था ।"<sup>23</sup> यहाँ विदेशी सरकार पूँजीवाद का चोला पहने जमींदारों से मध्यस्थ का काम करवा रही थी । मध्यस्थता का फायदा उठाकर जमींदार किसानों से ज्यादा कर वसूल करता था । करों की बढ़ोतरी के कारण किसानों की स्थिति दयनीय हो गयी थी । वे कर्जदार बन गए थे । महाजनी सभ्यता का वृहत् रूप जहाँ शहरों में था वहीं गाँव में भी यही रूप छोटे-छोटे साहूकार और बनिए निभा रहे थे । जिस तरह शहरों में किसानों के शोषण के कारखाने खुले थे उससे गाँव भी अछूता नहीं रहा । किसानों की अशिक्षा उनके शोषण का एक कारण रहा । साथ ही आर्थिक रूप से सक्षम न होना और धर्म के ठेकेदारों के वर्चस्व ने उन्हें और मजबूर बना रखा था । इसलिए किसान की आर्थिक बिगड़ी परिस्थिति ने उन्हें अपने ही

---

<sup>23</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-33



जमीन में मजदूर बना कर रख दिया था । समाज की इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावी होकर बुद्धिजीवी वर्ग उन्हें साहित्य में दर्ज करने का कार्य कर रहा था । प्रेमचंद के द्वारा लिखित 'गोदान' और 'प्रेमाश्रम' उपन्यासों में किसानों और मजदूरों की इसी दयनीय स्थिति को सजीव रूप से उपस्थित किया गया है ।

प्रेमचंद ने इन उपन्यासों में यह सिद्ध कर दिया है कि यह संघर्ष केवल किसानों और जमींदारों का नहीं है बल्कि यह संघर्ष समस्त सत्ताधारी वर्ग और गरीब, निरीह, किसान प्रजा का है । उनका मानना रहा कि इन सारी समस्याओं के पीछे व्यक्ति नहीं बल्कि संस्था दोषी है जब तक यह संस्था समाप्त नहीं होगी तब तक शोषण का यह चक्र चलता रहेगा जिसमें शोषित कभी किसान मजदूर तो कभी देश का सर्वसाधारण जन होगा । इन संस्थाओं के अभिजात वर्ग ने बारी-बारी से उन्हें चूसा है । 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में जमींदारों के अत्याचार के साथ-साथ रक्षा के नाम पर पुलिस, वकील और न्यायाधीशों की भी पोल खोली गयी है । 'गोदान' में होरी के माध्यम से उपन्यासकार ने किसानों की आर्थिक दयनीय स्थिति, जमींदारी प्रथा और कर्ज के शोषण से होरी जैसे अनेक किसान का, किसान से मजदूर बनने की दयनीय स्थिति को रेखांकित किया गया है । किसान जीवन की प्रवृत्ति इन दो उपन्यासों में मुख्य रूप से उपस्थित होती है । साथ ही अन्य उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति गौण रूप से देखी जा सकती है।

## **ii. स्त्री जीवन**

सामाजिक यथार्थ जैसी प्रवृत्तियों में एक मुख्य प्रवृत्ति 'स्त्री-जीवन' भी है । इस दौर में सबसे ज्यादा स्त्री-उत्पीड़न और नारी जागरण के मुद्दे सामने आये । नारी-जीवन के अंतर्गत - बाल विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा, वेश्या-जीवन जैसे विषय प्रमुख रहे । इस दौर के रचनाकारों की दृष्टि भारतीय समाज की रूढ़ियों पर भी पड़ी जिसका सबसे ज्यादा शिकार 'स्त्री' रही । प्रेमचंद के द्वारा लिखा गया 'सेवासदन' उपन्यास 'स्त्री जीवन की समस्या' का मुख्य केंद्र रहा । इस उपन्यास में स्त्रियों के शोषण के अनेक पैमाने दिखाए गए हैं । रामदरश मिश्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं - "समाज का मजाक देखिये कि नारी को निराश्रित कर देनेवाले, उसे पीड़ित करनेवाले लोग भद्र हैं, कुलीन हैं और उसे आश्रय देने वाले वेश्या अभद्र हैं, गई गुजरी है ।"<sup>24</sup>

---

<sup>24</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-39

सुमन जैसी लाखों लड़कियाँ दहेज़ की शिकार होती हैं जो शारीरिक, आर्थिक और मानसिक प्रताड़ना से गुजरती हैं। समाज की दृष्टि में वेश्या एक कलंक है। किन्तु वेश्या को कलंक कहने वाले ही रात के अँधेरे में उनके आगोश में रहना पसंद करते हैं। ये तो समाज में सभ्य समझे जाने वालों की दोगली दृष्टि रही है। वे ये कभी नहीं जानना चाहते कि किन परिस्थितियों ने उन्हें वेश्या बनने पर मजबूर किया होगा। 'सेवासदन' उपन्यास में वेश्या-जीवन को एक सामाजिक सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया गया। पहली बार प्रेमचंद 'वेश्या' को मनोरंजन या लुभावनी वस्तु के रूप में न दिखा कर एक स्त्री की आन्तरिक संवेदनाओं को इस उपन्यास में उपस्थित करते हैं। उन्होंने इस उपन्यास में वेश्या बनने के पीछे के कारणों की तलाश की है। इस उपन्यास में पुरुषों की स्त्रियों के प्रति दोगली दृष्टि तथा उनके रंग-बिरंगी नकाबों का पर्दाफास भी किया है। साथ ही उन सामाजिक कुरीतियों की भी आलोचना की है जो हमें ऊपर से शरीफ और अन्दर से जानवर बनाये हुए हैं। इस उपन्यास में पद्मसिंह (पात्र) के मुँह से प्रेमचंद कहलवाते हैं कि-'हमें उनसे (वेश्याओं से) घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। ये हमारी कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी कुप्रथाएँ हैं, जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमंडी, हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सन्मार्ग पर लावें, उनके जीवन को सुधारें।' वृंदावनलाल वर्मा के द्वारा लिखा गया 'लगन' उपन्यास में भी दहेज़ प्रथा की समस्या को दिखाया गया है। इस उपन्यास में पुत्र का बाप दहेज़ के अभाव में बारात लेकर लौट जाता है। किन्तु नयी सोच वाले पुत्र की सोच उनके पिता के इतर ठहरती है वह उस वधू से फिर विवाह करता है। इस विवाह ने दहेज़ प्रथा पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न लगाया है। साथ ही इसमें दहेज़ प्रथा जैसी कुप्रथा से बचने का निर्देश भी दिया गया है।

नारी जीवन की और एक बड़ी समस्या रही -अनमेल विवाह की। 'निर्मला' उपन्यास में अनमेल विवाह की समस्या को उपस्थित किया गया है। निर्मला की शादी अर्थाभाव के कारण एक तीन बच्चों के वृद्ध बाप जो पेशे से वकील है (तोताराम) से कर दी जाती है। ये समस्या हमारे समाज का एक जाना-पहचाना परिदृश्य है, जिस पर उपन्यास लिखा गया है। इस उपन्यास के जरिये प्रेमचंद ये स्पष्ट करना चाहते हैं कि अर्थ की समस्या ही सामाजिक समस्या की जड़ है। इसमें दहेज़ प्रथा को भी उपस्थित किया गया है। मन्नन

द्विवेदी के द्वारा लिखा गया 'कल्याणी' उपन्यास में बाल विवाह और वृद्ध विवाह के दुष्परिणाम को चित्रित किया गया है। 'विजय' उपन्यास में विधवा समस्या को उठाया गया है। इस उपन्यास की कुमुदलता सुशिक्षित बाल विधवा है। जो विधवा विवाह का समर्थन करती है।

'गोद' उपन्यास के केंद्र में 'किशोरी' नाम की युवती है। इस उपन्यास में स्त्री अपहरण और उससे सम्बंधित समाज और परिवार के रवैये को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में यह प्रश्न खड़ा किया जाता है कि अगर किसी स्त्री का अपहरण होता है तो क्या ये उसका दोष है। माँ बाप भी उसे अपने घर में रखना पसंद नहीं करते। आखिर एक औरत को ही क्यों घर की इज्जत के साथ जोड़ कर देखा जाता है? क्यों स्त्री के साथ कुछ अपघटित हो जाने पर भी समाज उसे गन्दी निगाह से देखता है? कोई क्यों उसे अपने घर की बहू नहीं बनाना चाहता? ऐसे प्रश्न इस उपन्यास में उठाये गए हैं। प्रसाद के 'कंकाल' उपन्यास में नारी-शोषण को केंद्र में रखा गया है। हमारी सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था में नारी की दशा सबसे ज्यादा खराब रही है और उपेक्षित रही हैं। इस समाज में अपराध पुरुष करे या स्त्री पर दोषी सदैव नारी ही होती है। "यमुना कहती है - बहुतों का दिन कभी न लौटने के लिए चला जाता है। विशेषकर स्त्रियों का। मेरी रानी, जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ तो जैसे कट जाती हूँ। ऐसे जान पड़ता है कि वह सब कोलाहल है। उनकी असहाय परिस्थिति का व्यंग्य उपहार है।"<sup>25</sup> इस युग में स्त्रियों पर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं - 'दिल्ली का दलाल' (पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र) उपन्यास में युवतियों का क्रय-विक्रय करने वाली संस्थाओं का फर्दाफास किया गया है। 'शराबी' उपन्यास में वेश्याओं और शराब घरों का नग्न यथार्थ सजीव रूप में उपस्थित हुआ है। 'जी जी जी' उपन्यास में हिन्दू समाज की स्त्रियों की पीड़ा का चित्रण किया गया है। 'अमर अभिलाषा' (चतुरसेन शास्त्री) उपन्यास में विधवा पर होने वाले अत्याचार का चित्रण किया गया है। 'नारी' (सियारामशरण गुप्त) उपन्यास में समकालीन हिन्दू स्त्री की असहाय स्थिति और उनकी विवशता का चित्रण है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के द्वारा लिखित 'विजय' उपन्यास में बाल-विधवा की समस्या को चित्रित किया गया है।

---

<sup>25</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-66

एक ओर जहाँ स्त्रियों की समस्या को चित्रित किया गया है वहीं दूसरी ओर इस दौर के उपन्यासों में भारतीय आदर्श स्त्री की छवि को भी स्पष्ट किया गया है। 'रामरहीम' उपन्यास में बेला और बिजली नामक दो स्त्रियों के माध्यम से उपन्यासकार "भारतीय नारी की धर्मपरायणता, त्यागमयता, तज्जन्य यातना तथा पश्चिमी संस्कार में पली स्त्री की धर्म-विमुखता, भोग प्रवृत्ति और मौजमस्ती का चित्रण कर दोनों की विरोधी मान्यताओं का उद्घाटन किया है।"<sup>26</sup> इस उपन्यास में चिंता प्रकट की गयी है कि भारतीय स्त्रियों के प्रति किये गए अत्याचारों से तंग आकर कहीं भारतीय स्त्री भी भोग-विलास युक्त तथा धर्म-विरोधी जीवन न अपना लें। 'विदा' उपन्यास में भी स्त्रियों की त्याग और सेवामय जीवन को आदर्श माना गया है। 'मनोरमा' उपन्यास में आदर्श विधवा स्त्री के आदर्श को आधार बनाया गया है। अतः स्त्रियों को लेकर दो दृष्टि इस दौर के उपन्यासों में देखने को मिलती है।

### III अछूतोद्धार :-

प्रेमचंदयुगीन हिंदी उपन्यासों की एक प्रवृत्ति अछूतोद्धार है। भारत में जाति-धर्म के नाम पर दुराचार फैला हुआ है। शूद्रों को हिन्दू धर्म में सबसे निम्न कोटि का माना गया, जिन्हें सवर्णों को छूने तक का अधिकार नहीं है। उनके लिए मंदिर निषेध है। यहाँ तक की उन्हें पढ़ने तक से वंचित रखा गया। शूद्र अब दलित रूप में जाने जाते हैं। गाँधी जी भी इस दौर में अछूत समस्या को दूर करना चाहते थे। जिसके लिए उन्होंने 'अछूतोद्धार' जैसे आन्दोलन चलाया। इस दौर के उपन्यासों में भी अछूतोद्धार जैसी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। 'कर्मभूमि' उपन्यास में अछूतोद्धार के लिए आन्दोलन किये गए हैं। डॉ. शांति कुमार आदि के सहयोग से सुखदा अछूतों के लिए एक मंदिर बनाना चाहती है। क्योंकि सवर्णों के मंदिरों में उनका प्रवेश निषेध है। परन्तु यह आन्दोलन असफल हो जाता है। क्योंकि प्राचीन समय से चले आ रहे धार्मिक पाखंड को तोड़ना इतना आसान नहीं था। पुरोहित-वर्ग की साजिश इसके केंद्र में है। 'गोदान' उपन्यास में भी अछूतों के कई सन्दर्भ देखने को मिलते हैं। 'बुधुआ की बेटी' उपन्यास में भी अछूतोद्धार की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इस उपन्यास में भंगी बुधुआ और अघोरी मनुष्यानंद के माध्यम से अछूत की समस्या को उपस्थित किया गया है। इस उपन्यास की विशेषता यह रही कि इस उपन्यास

<sup>26</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-62

में अछूतों में व्याप्त बुराइयों को भी चित्रित किया गया है। साथ ही उन्हें इस समस्या को दूर करने के उपदेश भी दिए गए हैं।

#### **IV सांप्रदायिक चुनौतियां :**

साम्प्रदायिकता एक आपसी मतभेद का रूप है। साम्प्रदायिकता में एक धर्म का दूसरे धर्म के प्रति विरोध का प्रदर्शन रहा। जब ये दोनों धर्म आपस में टकराते हैं तो 'उग्र विचारधारा' ही हिंसक होकर 'सांप्रदायिकता' का रूप लेती है। जिसमें एक दूसरे के प्रति कट्टर भावनाएं जन्म लेती हुई दिखाई देती हैं। यही कट्टर भावनाएं दंगे को जन्म देती हैं। 'कायाकल्प' उपन्यास में आगरा में हुए सांप्रदायिक दंगा को आधार बनाया गया है। इस उपन्यास में "हिन्दू-मुसलमानों के दंगे के पीछे सत्ता की क्या दूषित राजनीति है और इन दोनों सम्प्रदायों के उन्मादी लोगों में झूठे धर्म के नाम पर लड़ने की कैसी सनक है"<sup>27</sup> यह चित्रण किया गया है। साथ ही वृन्दावन लाल वर्मा के द्वारा लिखा गया 'प्रत्यागत' उपन्यास में भी धार्मिक और सांप्रदायिक विषमताओं, कुरूपताओं तथा टकराहटों से सम्बंधित है।

#### **V ग्रामीण और महानगरीय समाज :**

इस दौर के उपन्यासों की एक प्रवृत्ति 'ग्रामीण और महानगरीय' समाज है। यह प्रवृत्ति आगे चल कर परवर्ती युग की पथ प्रदर्शक बनी। यह प्रवृत्ति कहीं गौण तो कभी मुख्य प्रवृत्ति के रूप में उपन्यासों में देखी जाती है। 'गोदान', 'कर्मभूमि', आदि उपन्यासों में दोनों सन्दर्भों को दिखाया गया किन्तु गोपाल राय ने 'देहाती दुनिया' को आंचलिक उपन्यास की कोटि में रखा है। 'संगम' (वृन्दावनलाल वर्मा) उपन्यास में ग्रामीण समाज में उभरती हुई विषमताओं का चित्रण किया गया है। 'कुंडली चक्र' (वृन्दावनलाल वर्मा) उपन्यास में ग्राम समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों और अज्ञानजन्य मान्यताओं का चित्रण किया गया है। 'प्रेम की भेट' उपन्यास में भी ग्रामीण समस्याओं के बीच असफल प्रेमकथा का चित्रण है।

#### **VI स्वदेशी भावना :**

स्वदेशी भावना हमारे भारतीय संग्राम का मूल मंत्र था। भारत में स्थित अंग्रेजी शासन व्यवस्था ने पहले तो भारत को लूटा फिर 'विदेशी संस्कृति' और 'विदेशी वस्तु' आदि को बढ़ावा दिया। भारत की भोली जनता उनकी राजनीति से परिचित न थी। वे बड़े चाव से

---

<sup>27</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-48

उनकी संस्कृति में ढल रही थी। विदेशी वस्तु, भाषा और संस्कृति के प्रति बढ़ते रुझान ने बुद्धिजीवियों को आकृष्ट किया था। स्वदेशी बुद्धिजीवी औपनिवेशिक शासन तंत्र द्वारा देशी संसाधनों पर कब्ज़ा, दोहन और उन देशी वस्तुओं का विदेश लेकर पलायन आदि को रोकना चाहते थे। वे देशी संस्कृति के पक्षधर थे, विदेशी संस्कृति, भाषा और वस्तु का उन्होंने सदैव बहिष्कार किया था साथ ही भारतीय जनता को जागृत करने का कार्य भी किया था। इसलिए कई आन्दोलन भी चलाये गए जैसे 'बंग-भंग विरोधी आन्दोलन (1905) भी स्वदेशी की भावना से ओतप्रोत था। इस समय बंगाल में विदेशी वस्तुओं की होली जला कर उनके प्रति आक्रोश दर्ज किया था। गाँधी जी के द्वारा चलाया गया असहयोग आन्दोलन (1920) भी केवल विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक सीमित नहीं था बल्कि उन्होंने उद्योग शिल्प, भाषा, शिक्षा, वेशभूषा आदि का विरोध किया था। गाँधी स्वदेशी संस्कृति, भाषा तथा शिक्षा की वकालत करते हैं। किन्तु स्वदेशी बुद्धिजीवियों से गांधीजी की दृष्टि एक आधार पर अलग रही जैसे स्वदेशी विचारकों का मानना रहा कि अंग्रेज यूरोप में नए-नए मशीनों का आविष्कार कर रहे हैं और यहाँ की पूँजी वहाँ चली जा रही है। इसलिए उन मशीनों की स्थापना भारत में होना आवश्यक है। किन्तु गाँधी जी का मानना था कि इंग्लैण्ड की मैनचेस्टर को अगर हिंदुस्तान में प्रयोग करेंगे तो पैसा भले ही हिन्दुस्तान में रहेगा किन्तु वह पैसा हमारा खून चूस लेगा। उन्होंने तो 'हिन्द स्वराज' में पश्चिमी मशीनीकरण का विरोध भी किया है। अर्थात् गाँधी जी स्वदेशी मशीनों के विकास की बात करते हैं। इसलिए उनका जोर कुटीर उद्योग पर भी रहा। कुछ ग्रंथों में हम उस दौर की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों से परिचित हो सकते हैं। "उन्नीसवीं सदी में दादा भाई नौरोजी की 'ड्रेन थ्योरी' या रमेशचंद्र दत्त की लिखी 'भारत का आर्थिक इतिहास' या सखाराम गणेश देउस्कर लिखित 'देशेर कथा' जैसी पुस्तकें हो, सभी की चिंता के केंद्र में औपनिवेशिक शासन-तंत्र द्वारा देशी संसाधनों का दोहन व देशी-सम्पदा के विलायत में पलायन को रोकना मुख्य सरोकार थे।"<sup>28</sup> उस समय की परिस्थितियों को सिर्फ आलोचकों ने अपने आलोचना का विषय नहीं बनाया बल्कि उस दौर के उपन्यासों में इसकी झांकी भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इसलिए इसे इस दौर की प्रवृत्ति के रूप में देख सकते हैं।

---

<sup>28</sup> [www.jansatta.com/politics/in-present-gandhis-vision-of-swadeshi-is-a-universal-concept-is-lost/432484/](http://www.jansatta.com/politics/in-present-gandhis-vision-of-swadeshi-is-a-universal-concept-is-lost/432484/)

‘रंगभूमि’ उपन्यास के केंद्र में पांडेपुर गाँव के माध्यम से औद्योगीकरण की समस्या को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में पूँजीवाद, सामंतवाद का विरोधी है इसका भी स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। निराला के द्वारा लिखित ‘चोटी की पकड़’ में राजनैतिक पृष्ठभूमि में स्वदेशी आन्दोलन का चित्रण किया गया है। उग्र जी का ‘सरकार तुम्हारी आँखों में’ कृति में पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव को दिखाया गया है।

### **VII गाँधीवादी दर्शन :-**

इस दौर के उपन्यासों में ‘गांधीवादी दर्शन’ की एक प्रवृत्ति देखी जा सकती है। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है कि यह दौर स्वाधीनता संग्राम और गाँधी का रहा। इसलिए उनके आदर्श, नीति और दर्शन को इस दौर के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। इस दौर के प्रायः सभी उपन्यासों में गांधीवाद का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रेमचंद के ‘सेवासदन’, ‘प्रेमाश्रम’, ‘रंगभूमि’, ‘गबन’, ‘कर्मभूमि’ आदि उपन्यासों में ‘आदर्शवाद’ की स्थापना, हृदय परिवर्तन तथा त्याग, सदाचार और परोपकार की भावना आदि की स्थापना गांधीवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। अन्य उपन्यासकारों के उपन्यासों में भी कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति को मुख्य रूप में तो कहीं गौण रूप में दिखाया गया है। जैसे - भगवती प्रसाद वाजपेयी का ‘प्रेमपथ’, ‘मीठी चुटकी’, ‘त्यागमयी’ ‘पतवार’, ‘धरती की सांस’, आदि; निराला-‘अप्सरा’, ‘अलका’, ‘प्रभावती’, ‘चोटी की पकड़’; सियारामशरण गुप्त -‘गोद’, ‘अंतिम आकांक्षा’, ‘नारी’ आदि उपन्यासों में आदर्श की स्थापना तथा गांधीवाद दर्शन, दृष्टि और नीति को दिखाने का प्रयास किया गया है।

### **VIII ऐतिहासिकता:**

इस दौर में जो ऐतिहासिकता की प्रवृत्ति है वह कोई नयी प्रवृत्ति नहीं रही। यह प्रवृत्ति प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति रही है। बहरहाल इसे इसलिए इस दौर में सम्मिलित किया जा रहा है क्योंकि कोई भी प्रवृत्ति अचानक आरंभ या समाप्त नहीं होती। यह जो प्रवृत्ति प्रेमचंद पूर्व से चली आ रही थी उसकी समाप्ति यहाँ नहीं होती बल्कि इसकी परंपरा आगे के उपन्यासों में भी देखने को मिलती है। इस प्रवृत्ति को यहाँ आधार बनाना यह स्पष्ट करना है कि किस तरह एक ही प्रवृत्ति में समयानुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। जैसे -प्रेमचंद के द्वारा लिखित ‘रूठी रानी’ उपन्यास का केन्द्रीय स्वर मनोरंजन करना नहीं बल्कि यथार्थ की पृष्ठभूमि पर राष्ट्र-प्रेम, आदर्श, देशभक्ति आदि को प्रस्तुत करना रहा। उन्होंने इस उपन्यास के माध्यम से स्वतंत्रता प्रेमियों को साहस, शौर्य के

साथ-साथ एकता और संगठन बद्धता पर जोर दिया है। हमारे पूर्वजों में सभी गुण होते हुए भी ईर्ष्या और द्वेष भावना ने उन्हें दासता पर मजबूर किया था। यहाँ का सन्दर्भ प्रेमचंद पूर्व उपन्यासों के सन्दर्भ से भिन्न है। इसलिए यह प्रवृत्ति इस दौर में महत्वपूर्ण जान पड़ती हैं जिसने स्वाधीनता के आन्दोलन में स्वाधीनता प्रेमियों में उमंग भरने का कार्य किया था। वृन्दावनलाल वर्मा के कुछ उपन्यासों में ऐतिहासिक प्रवृत्ति को आधार बनाया गया है। जैसे-‘गढ़ कुंडार’ एवं ‘विराटा की पद्मिनी’ है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद की ‘रूठी रानी’, गोविन्द वल्लभ पंत का ‘सूर्यास्त’, आचार्य चतुर सेन शास्त्री का ‘खवास का ब्याह’, निराला की ‘प्रभावती’, भगवती चरण वर्मा का ‘पतन’ आदि उपन्यासों ने ऐतिहासिक प्रवृत्ति को विकसित करने में अपना सहयोग दिया है।

### **IX प्रकृतवाद-शैली :**

शैली के धरातल पर इस दौर में प्रकृतवाद शैली एक नए तरह की प्रवृत्ति रही जो कि इससे पूर्व नहीं देखी गयी। किन्तु इस प्रवृत्ति को इतना प्रश्रय नहीं मिला। “प्रकृतवाद एक विशिष्ट जीवन दर्शन है। यह मानव जीवन को वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकृत रूप से (नेचुरल) देखने और चित्रित करने में विश्वास रखता है ...प्रकृतवादी लेखक मनुष्य को काम-क्रोध आदि मनोरोगों का गूँथर मात्र समझता है, और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है। इस विचारधारा के अनुसार जीवन में जिसे विद्रूप और कुत्सित कहा जाता है, वह सहज और वैज्ञानिक भी है।”<sup>29</sup> एक तरह से कह सकते हैं कि यह प्रकृतवाद यथार्थ को यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करने में संकोच बोध नहीं करता साथ ही आदर्श के साँचे में यथार्थ को प्रस्तुत करने का पक्षपाती भी नहीं है। चाहे यथार्थ कितना भी कुत्सित क्यों न हो उसे वे वैसे ही प्रस्तुत करते हैं। इसलिए इस दौर में इस तरह के उपन्यासों को लिखने वाले उपन्यासकारों को हेय दृष्टि से भी देखा जाता रहा है। यहाँ तक कि उनके उपन्यासों को अश्लील तक माना गया। पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ के ‘चॉकलेट’ उपन्यास में चित्रित वास्तविक चित्र को लेकर उन पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया। उग्र ने इस उपन्यास में सामाजिक बुराइयों को बिना कोई रंग दिए, बिना कोई लाग-लपेट के नंगे यथार्थ को उसी रूप में प्रस्तुत किया जिस रूप में वह समाज में व्याप्त था। इसलिए उनके साहित्य को ‘घासलेटी साहित्य’ भी माना गया। इस

---

<sup>29</sup> [www.raj-bhasha-hindi.blogspot.com/2011/05/blog-post\\_05.html?m=1](http://www.raj-bhasha-hindi.blogspot.com/2011/05/blog-post_05.html?m=1)



प्रकृतवाद शैली विचारधारा के जनक **जोला** हैं। बहरहाल प्रकृतवादी उपन्यास हैं - चतुरसेन शास्त्री - 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'वैशाली की नगरवधू', 'सोना और खून', 'सोमनाथ', 'अमर अभिलाषा', 'वयं रक्षाम' आदि; पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' - 'चॉकलेट', 'जी जी जी', 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' आदि ; ऋषभचरण जैन - 'वैश्यपुत्र', 'मास्टर साहब', 'सत्याग्रह', 'बुर्केवाली', 'चाँदनी रात', 'दिल्ली का कलंक', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'रहस्यमयी' आदि उपन्यासों में 'प्रकृतवादी' शैली का विकास देखा जा सकता है।

#### 1.4.2.2 फ़कीर मोहन-युगीन उपन्यास :-

हिंदी में 'प्रेमचंद' का जो स्थान रहा वही स्थान फ़कीर मोहन का ओड़िया उपन्यास में रहा। दोनों अपने अपने भाषा के उपन्यास सम्राट रहे। दोनों ने सामाजिक यथार्थ को उपन्यास का केंद्र बनाया। किन्तु फ़कीर मोहन 1897 से 1915 तक ही उपन्यास लेखन कार्य कर पाए थे। इसलिए इस काल खंड को उनके साथ ही समाप्त कर दिया गया साथ ही समयोपरान्त नयी प्रवृत्तियों ने नए काल खंड को जन्म दिया। किन्तु यह बताना आवश्यक है कि ओड़िया में सामाजिक यथार्थ की परम्परा हिंदी उपन्यास से पूर्व देखी गयी। अब फ़कीर मोहन युग की प्रवृत्तियों पर बात करना समीचीन होगा। इस दौर की प्रवृत्तियों का नामोल्लेख करके इस पर नीचे सोदाहरण बात की जाएगी।

##### 1. सामाजिक-यथार्थ

- किसान जीवन
- ग्रामीण और शहरी यथार्थ
- अंग्रेजी शिक्षा
- धार्मिक पाखंड और जातीय भेदभाव
- दाम्पत्य-जीवन
- आदिवासी-जीवन

##### 2. ऐतिहासिकता

##### 1. सामाजिक यथार्थ :

##### (क) किसान जीवन :

'किसान जीवन' एक सामाजिक प्रवृत्ति है इसलिए इसका सीधा सम्बन्ध समाज से रहा। समाज में चल रही गतिविधियों से प्रभावित या प्रताड़ित होकर ही रचनाकार या

उपन्यासकार इस तरह की समस्याओं को आधार बना कर लिखता है। उपन्यासकार की तीक्ष्ण दृष्टि ही हमें हमारे समाज की सच्चाई से अवगत कराती है। बहरहाल हिंदी उपन्यासों की जिस तरह एक प्रवृत्ति किसान जीवन रहा उसी तरह ओड़िया उपन्यास की भी एक प्रवृत्ति किसान जीवन ही है। ओड़िया उपन्यास में 'किसान जीवन' नयी प्रवृत्ति की स्थापना (न्यू ट्रेड सेट) करती हुई दिखाई देती है। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि ओड़िया उपन्यास में यह प्रवृत्ति हिंदी से पूर्व देखी जाती है। किसी प्रवृत्ति विशेष का किसी भाषा में पहले आना उस समाज की चिंतन दृष्टि को प्रतिबिंबित करता है। यह एक ऐसी प्रवृत्ति रही जिससे पूरा भारतीय साहित्य प्रभावित रहा।

हिंदी उपन्यासों के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया गया कि समाज में किसानों की स्थिति इस दौर में कितनी दयनीय हो गयी थी। इसके लिए व्यवस्था और अंग्रेजी शासन जिम्मेदार रहा। साथ ही पूंजीवाद के आगमन के साथ साहूकार और जमींदार जैसे नए शोषक वर्ग का उदय हुआ, जिन्होंने किसानों का आर्थिक शोषण किया। इसलिए इस दौर के उपन्यासों में किसानों को शोषित और साहूकारों को शोषक वर्ग के रूप में दिखाया गया। किसान समस्या को आधार बना कर फ़कीर मोहन सेनापति का 'छ माण आठ घुन्ठ' उपन्यास सन् 1897 ई. में प्रकाशित होता है। सन् 1803 में ओड़िशा ब्रिटिश शासन के अधीन आने के उपरांत ओड़िशा की स्थिति को इस उपन्यास में आधार बनाया गया है। जब ओड़िशा ब्रिटिश शासनाधीन होता है, तब किसानों की जमीन पर बार-बार करों की बढ़ोतरी होती है। जिस जमीन का मालिक सही समय पर कर नहीं दे पाता है उसकी जमीन जैसे-तैसे बेच दी जाती है। अर्थात् उन जमीनों का अनुचित मूल्य दे कर अन्य मालिक उसे खरीद लेता है। इसलिए ओड़िशा में दो तरह के जमींदार वर्ग देखने को मिलते हैं। एक जमींदार पारंपरिक है तो दूसरा जमींदार वह वर्ग है, जिसने धन के आधार पर स्वयं को नया जमींदार बनाया है। रामचंद नाएक उर्फ रामचंद मंगराज उसी तरह का जमींदार है जो धन और भूसंपत्ति के लालच में आकर सभी तरह के अनैतिक कार्य करता है। वह अपनी नौकरानी चंपा के माध्यम से अन्य लोगों के जमीन हड़पने का कार्य करता है। इस उपन्यास में गरीब जुलाहा निसंतान दम्पति भगीया और सरिया को मंदिर के नाम पर उनका छह माण आठ गुंठ (1 एकड़ तथा उसका एक तृतीयांश) जमीन को हड़प लेता है। इस उपन्यास में जमींदारों की कूटनीति और किसानों की दयनीय स्थिति को दिखाया गया है। अतः मंगराज इस समाज के नए साहूकारों का प्रतिनिधित्व करता है, तो गरीब

किसान पूरे भारत के किसानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस उपन्यास के केंद्र में 'लोक कल्याण' की भावना निहित है। इस उपन्यास में समाज की आर्थिक और सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन करने की कोशिश की गयी है। इस उपन्यास में समाज में फैले कुकर्मों पर गहरा व्यंग्य है, तथा समाज को बदलने की चाह है। इस उपन्यास में ओड़िशा प्रदेश को भले ही आधार बनाया गया हो, किन्तु इसके माध्यम से रचनाकार पूरे भारत की सच्चाई को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। कुछ आलोचक इस उपन्यास को 'गोदान' का पूर्व रूप भी मानते हैं।

#### **(ख) ग्रामीण और नगरीय यथार्थ**

इस दौर में लिखे गए उपन्यासों में दोनों समाज का चित्रण हुआ है इसलिए इसे इस दौर की एक प्रवृत्ति के रूप में देख सकते हैं। फकीरमोहन युग में ओड़िशा के ग्रामीण और शहरी दोनों समाज का वर्णन देखा गया है। 'छ माण आठ गुन्ठो' में ज्यादातर घटनाएँ ग्रामीण परिवेश की हैं जबकि 'मामू' उपन्यास में ज्यादातर घटनाएँ नगरीय परिवेश की रही। इस उपन्यास में औपनिवेशिक शासन के अधीन अधिक आय और नौकरी में अधिक घूस पाने की लालसा, तथा पाश्चात्य सुखमय जीवन के प्रति आकर्षण ने इस उपन्यास के नटवर दास और राघव महान्ति जैसे लोगों को शहर की ओर प्रस्थान करने के लिए विवश किया है। फकीर मोहन सेनापति का 'प्रायश्चित्त' उपन्यास में भी शहरी जीवन को आधार बनाया गया है।

#### **(ग) अंग्रेजी शिक्षा :-**

यह दौर पराधीन भारत का समय रहा इसलिए अंग्रेजी शिक्षा का बहुत प्रचार-प्रसार रहा। अंग्रेज सरकार ने भारतीय लोगों को नियुक्ति देना प्रारंभ कर दिया था। अंग्रेजी पढ़े भारतीयों को सरकारी पदों की नियुक्ति के लिए सरकार से प्रोत्साहन भी मिल रहा था। पाश्चात्य रीति से शिक्षित भारतीयों की आर्थिक स्थिति बेहतर हो गई। जिसके फल स्वरूप अधिक से अधिक भारतीय लोगों की अंग्रेजी शिक्षण संस्थानों में नियुक्ति होने लगी थी। अंग्रेजी और पश्चिमी विषयों के अध्ययन और अध्यापन ने भारतीय लोगों को पश्चिमी सभ्यता का गुलाम बना दिया था। अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार पूरे भारत वर्ष में रहा। इससे कोई राज्य अछूता नहीं रहा। किन्तु यह शिक्षा व्यवस्था शहरों में दी गयी। इसलिए लोग शहरों की ओर स्थानान्तरित हुए। नगरीय जीवन धारा और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने नए युवासमाज का गठन किया। जो अंग्रेजी शिक्षा के लाभ से सरकारी नौकरी पाने की

लालसा रखता था | इसलिए इस दौर के उपन्यासों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव और दुष्परिणाम आदि को आधार बना कर लिखा गया | यह स्थिति सभी भारतीय भाषाओं के उपन्यासों की रही | ओड़िया उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है | जैसे -‘मामू’ उपन्यास के नटवर दास अंग्रेजी पढ़ाई करने वाला युवा वर्ग है जो गरीब, निरीह ओड़िया वासियों का शोषण अनैतिक उपाय से धन इकट्ठा करता है |

एक ओर जहाँ पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा आने वाली समस्या की ओर संकेत दिया गया है वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा आधुनिक सोच में परिवर्तन को भी ‘प्रायश्चित्त’ उपन्यास में दिखाया गया है | इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि -अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने लोगों के मध्य कुसंस्कार और कुप्रथाओं को दूर करने का कार्य किया | जिससे लोगों में प्रतिरोध करने की क्षमता तो आई साथ ही अपनी देशीय भाषा के विकास के लिए भी सचेतनता देखी गयी |

#### **(घ) धार्मिक पाखंड और जातीय भेदभाव**

भारत में ‘धर्म’ की बहुत बड़ी भूमिका रही | यहाँ धर्म के नाम पर कुसंस्कारों और कुरीतियों को बढ़ावा मिला | समाज के धार्मिक ठगों ने पाखंड और अन्धविश्वास की जड़ों को मजबूत करने का काम किया | धार्मिक पाखंड के कारण जातीय भेदभाव भी बढ़ा | लोगों के मध्य द्वेष भी पनपने लगा | धार्मिक पाखंड ने कट्टरता को भी बढ़ाया | इन्हीं धार्मिक मान्यताओं का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने हम पर शासन किया | हमें स्वयं में ही उलझा कर रखा | इसी धार्मिक पाखण्ड और जातीय भेद भाव पर रचनाकारों ने अपनी कलम चलाई है | यह कार्य मध्यकाल के दौरान भी प्रारंभ हो गया था | कबीर की एक पंक्ति को इस सन्दर्भ में देख सकते हैं -

‘पूजा, सेवा नेम ब्रत गुड़ियन का सा खेल | जब लग पिव परसै नहीं, तब लग संसै मेल |’

इस दौर के ओड़िया उपन्यासकारों ने इस प्रवृत्ति को आधार बना कर उपन्यास लिखे हैं | जैसे -फ़कीर मोहन सेनापति ‘छ माण आठ गुन्ठो’ उपन्यास में मंगराज को एक धार्मिक व्यक्ति (जमींदार) के रूप में दिखाते हैं | जिसके द्वारा उन्होंने धार्मिक व्यक्ति की कपटता एवं धर्म के नाम पर चल रहे कुसंस्कार को दिखाने का प्रयास किया है | भगिया और सरिया नामक दो निसंतान गरीब किसान से संतान प्राप्ति के लिए मंदिर बनवाने का निर्देश देते हैं | इसी मंदिर के एवज में उन्हें अपनी जमीन तक गिरवी रखनी पड़ी | इस तरह फ़कीर मोहन सेनापति धार्मिक पाखण्ड का नग्न यथार्थ को इस उपन्यास में चित्रित करते

हैं | अर्पणा पंडा के द्वारा लिखित 'कलावती' उपन्यास में वृन्दावन में स्थित संन्यासी और पूजकों की दुर्नीति की पोल खोली गई है |

### **(ड) दांपत्य जीवन**

दांपत्य जीवन इस दौर के ओड़िया उपन्यास की एक प्रवृत्ति है | जिसमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धी समस्या को चित्रित किया गया है | ब्रजबंधू मिश्र के द्वारा लिखित 'वसंत मालती' (बामंडा से प्रकाशित) उपन्यास एक गरीब उच्च शिक्षित युवक एवं उसकी अहंकारी पत्नी के मध्य द्वंद्व की कथा है | दोनों के मध्य अहं के संघर्ष के कारण उनका दाम्पत्य जीवन क्षतिग्रस्त होता है | संभवतः यह उपन्यास दांपत्य जीवन पर लिखा गया पहला उपन्यास है |

### **(च) आदिवासी समाज :**

ओड़िया उपन्यास में 'आदिवासी समाज' को लेकर भी उपन्यास लिखा गया | इससे पूर्व आदिवासी समाज को लेकर कोई उपन्यास नहीं लिखा गया था, जो कि आदिवासी समाज के लिए एक पृष्ठभूमि को तैयार करने का काम करता है | उपन्यासों के विकास को अगर देखें तो यह उपन्यास एक ट्रेंड सेट करता हुआ दिखाई देता है | इसलिए इसे एक प्रवृत्ति के रूप में देखा गया है | सन् 1908 में प्रकाशित गोपाल बल्लभ दास का 'भीमा भूयां' उपन्यास ओड़िशा के आदिवासी समूह को लेकर लिखा गया पहला उपन्यास है | गोपाल बल्लभ ने केऊँझर के तत्कालीन राजा के संरक्षक के रूप में काम किया था | इस अवधि के दौरान वह भूयां जनजाति के सम्पर्क में आये थे | आदिवासी समाज की संस्कृति और परम्परा से प्रभावित होकर उन्होंने ओड़िशा के भूयां समुदाय पर यह उपन्यास लिखा था | इस उपन्यास में ओड़िशा के केऊँझर जिले में स्थित आदिवासियों के जीवन और उनका निरीक्षण वर्णित है | यह उपन्यास मूलतः एक अधूरी प्रेम कहानी है जो आदिवासी और शाही समाज से जुड़ी हुई होती है | इस उपन्यास में सामान्य आदिवासी लोगों का शोषण करने वाले छोटे शाही अधिकारियों की प्रवृत्ति को भी दिखाया गया है |

## **2. ऐतिहासिकता :-**

ऐतिहासिकता इस दौर की एक प्रवृत्ति रही | यह प्रवृत्ति कोई नई प्रवृत्ति नहीं है | किन्तु इस दौर के उपन्यास में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मनोरंजन नहीं बल्कि यथार्थ की झांकी देखी जा सकती है | जो उसे पूर्व ऐतिहासिक प्रवृत्ति से भिन्न बनाती है | ओड़िया उपन्यासों में भी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के इसी यथार्थ रूप को प्रस्तुत किया गया है | "1901

में रचित 'लछमा' एक ऐतिहासिक प्रेम कहानी है, इसमें मराठा आक्रमण को आधार बना कर ओड़िशा की स्थिति का वर्णन किया गया है।<sup>30</sup> 'लछमा' उपन्यास प्रथम पर्याय में लिखित 'पद्ममाड़ी' एवं 'विवासिनी' की परंपरा का अनुसरण करता है। किन्तु इस उपन्यास की विशेषता यह रही कि उपन्यासकार ने ओड़िशा की ऐतिहासिक कथा को आधार बना कर भी तथ्यात्मक सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ को उपस्थित किया है। 'लछमा' के अधिकांश चरित्र 'ओड़िया भाषी' नहीं हैं। इस उपन्यास की मुख्य कथावस्तु उस दौर में घटित युद्ध तथा उनके मध्य चल रही कूटनीति है।

एक ओर जहाँ फ़कीर मोहन सेनापति ग्रामीण और शहरी जीवन की समस्या को आधार बना कर उपन्यास लिख रहे थे वहीं उनके समकालीन अन्य समस्या जैसे- दाम्पत्य जीवन की समस्या, बाह्य-आडम्बर, भारतीय जीवन पर पाश्चात्य शैली का प्रभाव, आदिवासी समुदाय का जीवन आदि को अपने उपन्यास का विषय वस्तु बनाते हैं। इस तरह इस कालखंड में नए-नए प्रयोग देखने को मिलते हैं। अतः इस काल खंड ने आगे के उपन्यासकारों के लिए नयी पृष्ठभूमि बनाने का कार्य किया है।

हिंदी में प्रेमचंद युगीन उपन्यास के दौर के समकक्ष ओड़िया में और दो युग का अवसान हो गया था। जैसे-

1. फ़कीर महनोत्तर उपन्यास (1915-1930)

2. सबुज गोष्ठी से प्रभावित उपन्यास (1930-1935)

अतः युग की समय सीमा को अगर आधार बनाया जाए तो इन दोनों युगों पर बात करना समीचीन प्रतीत होता है।

#### **1.4.2.3 फ़कीर महनोत्तर उपन्यास (1915-1930)**

फ़कीर महनोत्तर उपन्यास से तात्पर्य फ़कीर मोहन युग के बाद का दौर। जिस तरह युग स्रष्टा प्रेमचंद के आधार पर हिन्दी उपन्यास क्रम को देखने का प्रयास किया गया है। उसी तरह ओड़िया उपन्यास के युग स्रष्टा फ़कीर मोहन को आधार बना कर ओड़िया उपन्यास क्रम को देखना ज्यादा समीचीन होगा। फ़कीर महनोत्तर युग में फ़कीर मोहन युग के उपन्यास से भिन्न एक नयी धारा देखने को मिलती है। जिसमें फ़कीर मोहन की परम्परा को आगे बढ़ाया है। किन्तु यह उनसे भिन्न इसलिए है कि इसमें पात्रों के

---

<sup>30</sup> ओड़िया उपन्यास :आरंभ रु आजी जाएँ, डॉ. जितेंद्र नारायण पट्टनायक, पृ.सं.-24

मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ साहित्य में आर्थिक, धार्मिक पहलू भी जुड़ जाते हैं । साथ ही इस समय समाज में चल रहे गांधीवाद की झांकी भी इस दौर के उपन्यासों में देख सकते हैं । जिसकी समय सीमा 1915-1930 ई. मानी जाती है । अब इस दौर के ओड़िया उपन्यासों की प्रवृत्ति पर बात करना समीचीन होगा ।

इस दौर की प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं जैसे -

- मनोवैज्ञानिक
- आर्थिक दंश
  1. प्रवासन,
  2. विस्थापन,
- गांधीवाद का प्रभाव
- ग्रामीण समाज
- स्त्रियों से सम्बंधित समस्याएँ

**(क)मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति :-**

इस दौर के उपन्यासों की एक प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक रही । किन्तु यह प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर नहीं बनी है । अर्थात् इसमें फ्रायड के मनोविश्लेषण से कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु इस प्रवृत्ति परक उपन्यासों में मानसिक तनाव और उत्पीड़न को आधार बनाया गया । 'अद्भुत परिणाम' (1915) मृत्युंजय रथ द्वारा लिखा गया मनोवैज्ञानिक उपन्यास है । यह उपन्यास धर्मान्तरण पर आधारित है । इस उपन्यास का पात्र एक हिन्दू युवक है, जो ईसाई धर्म की लड़की से विवाह करने के लिए धर्म परिवर्तन करता है । उसके दो पुत्र होने के पश्चात् धर्मान्तरण को एक बहुत बड़ी भूल मान कर पश्चाताप करता है । वह इतना हताश हो जाता है कि अपनी पत्नी और बच्चों को भी नदी में डुबो कर मारने की कोशिश करता है । दो बच्चे तो प्राण त्याग देते हैं, लेकिन उनकी स्त्री अपनी जान बचा कर भाग जाती है । वह स्वयं दूरस्थ द्वीप में निर्वासित होकर जिंदगी जीता है । ईसाइयों के आगमन के पश्चात् धर्मान्तरण की प्रथा कैसे आम जन को प्रभावित कर रही थी, इसका वर्णन इस उपन्यास में किया गया है । साथ ही धर्मान्तरण के पश्चात् हो रहे मानसिक तनाव और उसकी आन्तरिक स्थिति को भी इस उपन्यास में दिखाया गया है । अतः इस उपन्यास में मनुष्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है । जिसके केंद्र में मनुष्य का अंतर्मन और उसकी पीड़ा है ।

कुंतला कुमारी साबत ओड़िया भाषा की पहली और महत्वपूर्ण लेखिका हैं। 'भ्रान्ति' उपन्यास (सन् 1923) उनके द्वारा लिखा गया पहला मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। यह उपन्यास दो प्रेमी युगल शोफालीका एवं अनंग मोहन के सम्बन्ध को आधार बना कर लिखा गया है। इस उपन्यास के केंद्र में इन दोनों प्रेमी युगलों का मानसिक द्वन्द्व प्रमुख रहा है। मानसिक अंतर्द्वन्द्व को दिखाते हुए उनके जीवन में उभरे आन्तरिक मनोदशाओं का चित्रण करना उपन्यासकार का उद्देश्य रहा है।

#### **(ख) आर्थिक बदहाली :**

आर्थिक दंश इस दौर के उपन्यासों की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति रही। पराधीन भारत में इस प्रवृत्ति का साहित्य में आना स्वाभाविक रहा। क्योंकि समाज में अधिसंख्यक लोग आर्थिक दंश से गुजर रहे थे। उनके समक्ष रोटी, कपड़ा और मकान जैसी प्राथमिक समस्या रही। सबसे ज्यादा जो वर्ग इस समस्या से प्रताड़ित रहा वह वर्ग किसान और मजदूर था। जिनकी जमीनें छीन चुकी थी उनके पास मजदूरी के लिए काम नहीं था, घर नहीं था, रोटी नहीं थी, लोग भूख और उत्पीड़न से मर रहे थे। कुछ लोग काम की तलाश में घर से बेघर हो कर शहर की ओर पलायन कर रहे थे। इसलिए प्रवासन और विस्थापन जैसी समस्या उभरी। जिससे साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। ओड़िया उपन्यास में भी प्रवासन और विस्थापन जैसी समस्या को लेकर उपन्यास लिखे गए हैं।

#### **(अ) प्रवासन**

'बुला फ़कीर' (घूमने वाला फ़कीर) सन् 1924 में चिंतामणि महंती द्वारा प्रकाशित तीसरा उपन्यास है। यह उपन्यास प्रवासन पर आधारित है। इस उपन्यास में एक ऐसे युवक की कथा कही गयी है, जो काम की तलाश में कलकत्ता जाता है। किन्तु वहाँ उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अनेक दुखों और कष्टों को सहते हुए अन्ततः वह सुखी जीवन जीता है। इस उपन्यास में भी लोगों की आर्थिक स्थिति किस तरह उन्हें देश के भीतर प्रवासित की जिंदगी जीने के लिए मजबूर करती है, उसका यथार्थ रूप देखने को मिलता है। क्योंकि ओड़िशा के आम लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब रही है, जिसके कारण आज भी वह एक पिछड़ा राज्य बना हुआ है। जहाँ लोग अपनी मौलिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए भी सक्षम नहीं हैं। आये दिन अनेक लोग भुखमरी और कुपोषण के शिकार होते रहे हैं। ऐसे में वे अगर प्रवासित न हों तो क्या करें? इस उपन्यास के जरिये



रचनाकार ओड़िशा प्रदेश के गरीबों की आर्थिक और सामाजिक स्थितियों की सच्चाई को बड़े बेबाक ढंग से प्रस्तुत करते हैं ।

#### **(आ) विस्थापन और प्रवासन**

सन् 1923 में प्रकाशित चिंतामणि महंती का एक और उपन्यास 'टंका गछ' (पैसे का पेड़) आता है, जिसमें विस्थापन की समस्या को चित्रित किया गया है । इस उपन्यास में स्थान्तरित श्रमिक वर्ग को आधार बना कर लिखा गया है । इस उपन्यास में ओड़िशा के श्रमिक किस तरह अपनी मौलिक आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ हैं, उसका सजीव चित्र उपस्थित किया गया है । वे काम और भोजन की कमी को पूरा करने के लिए असम के चाय बागान की ओर पलायन करते हैं । किन्तु वहां भी उनकी स्थिति में विशेष रूप में परिवर्तन नहीं आता है । इस तरह ओड़िशा प्रदेश की आर्थिक समस्या और उसके कारण आई विस्थापन की समस्या की त्रासदी को बड़े सजीव रूप से रचनाकार ने उपन्यास में उपस्थित किया है ।

#### **(ग) गांधीवादी दर्शन**

जब पूरा भारत देश ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद कर रहा था तभी लोग गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे । उसी दौरान गाँधी के आदर्शों को लेकर अनेक रचनाकार लिख रहे थे । फ़कीर महनोत्तर उपन्यास की तीसरी प्रवृत्ति गाँधीवादी दर्शन रहा । यह प्रवृत्ति युगीन समाज की उपज रही । ओड़िया उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति इस दौर की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रही है । इस प्रवृत्ति से सम्बंधित उपन्यास हैं -चिंतामणि महंती के द्वारा लिखा गया 'जुगल मठ' जो सन् 1920 में प्रकाशित होता है । यह उपन्यास अध्यात्मिक व्यक्ति की भ्रष्टता पर आधारित है । मठ के महंत नारी और शराब में डूबे रहने के कारण उन्हें मठ से बाहर निकाल दिया जाता है । अन्ततः उनका 'हृदय परिवर्तन' होता है और अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए वह बाकी जिंदगी पुरी में व्यतीत करता है । गाँधीवादी दर्शन के 'हृदय परिवर्तन' के सिद्धांत को भी उपन्यासकार ने उपन्यास में स्थान दिया है । फ़कीर मोहन युग में जहाँ सामाजिक और राजनीतिक पहलू को आधार बना कर उपन्यास लिखे गये, वहीं इस युग में रचनाकारों की दृष्टि गाँधीवादी दर्शन पर भी गयी ।

कुंतला कुमारी साबत ने भी गाँधीवादी दर्शन को लेकर उपन्यास लिखा है। “कुंतला कुमारी के लगभग सभी उपन्यासों में सामाजिक समालोचना एवं एक आदर्शबोध है।”<sup>31</sup> उनके उपन्यासों में उस समय की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। ‘भ्रान्ति’, ‘न तुंडी’ और ‘रघुअरक्षित’ उपन्यास गाँधीवादी दर्शन से प्रभावित उपन्यास हैं क्योंकि इसमें ‘आदर्श’ और ‘हृदय परिवर्तन’ का महत्व है। गाँधीवाद दर्शन से प्रभावित उपन्यासों में नारी में कालिंदी चरण पाणिग्रही के द्वारा लिखित ‘माटी र मणिष’ (1930) उपन्यास को देखा जा सकता है।

#### (घ) ग्रामीण समाज

ग्रामीण समाज की प्रवृत्ति इस दौर की नयी प्रवृत्ति नहीं है। इससे पूर्व युग में भी ओड़िया उपन्यास में यह प्रवृत्ति विद्यमान रही। इस युग में और इसके परवर्ती युग में भी यह प्रवृत्ति ओड़िया उपन्यासों में देखी गयी। इस तरह समय-समय पर यह प्रवृत्ति कभी गौण तो कभी मुख्य रूप से ओड़िया उपन्यासों में उभरती रही है। जैसे- चिंतामणि महंती के द्वारा लिखा गया ‘युगलमठा’ (1920) उपन्यास ग्रामीण समाज को लेकर लिखा गया। चिंतामणि महंती की संवेदना ज्यादा ग्रामीण लोगों के प्रति दिखाई देती है। क्योंकि चिंतन की दृष्टि से ग्रामीण समाज के लोग पिछड़े होते हैं। उनका स्वभाव अत्यंत सरल और निष्कपट होता है। इसी सरल स्वभाव के कारण वे शोषण के शिकार होते हैं। उनके इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन की सच्चाई और उनकी समस्याओं को उपस्थित किया गया है। उनके चिंता का विषय ग्रामीण समाज की उन्नति है। इसी को आधार बना कर वह कथा का निर्माण करते हैं।

#### (ङ) स्त्री जीवन :-

‘स्त्री जीवन’ जटिल ग्रंथि की तरह है, जो परस्पर इतना उलझा हुआ कि वह सुलझता ही नहीं। पुरुष प्रधान समाज उन ग्रंथियों को और उलझाने का काम करता है। इसलिए कभी स्त्री उनके समझ में न आई, आती भी कैसे स्वार्थ और भोग की लालसा ने कभी उनकी आन्तरिक दशा से उन्हें जोड़ने ही नहीं दिया। स्त्रियों के पास शोषण की लम्बी दास्तान रही है। मनुष्य न समझे जाने की पीड़ा रही है। समाज में उन्हें अनेक तरह की प्रताड़ना दी गयी कभी उन्हें धर्म, जाति, परंपरा, रीति-रिवाज और आदर्श की बेड़ियों में बाँध

---

<sup>31</sup> ओड़िया उपन्यास :आरंभ रु आजी जाएँ, डॉ. जितेंद्र नारायण पट्टनायक, पृ.सं.-20

दिया जाता, तो कभी दैहिक शोषण जैसे-बलात्कार, बाल विवाह, अनमेल विवाह आदि की शिकार होती। समाज में स्त्रियों में प्रति पुरुष प्रधान समाज का रवैया दोयम दर्जे का रहा। बहरहाल 'स्त्री जीवन' की प्रवृत्ति इस काल की उपज नहीं है। इससे पूर्व भी यह प्रवृत्ति ओड़िया उपन्यासों में देखी जा सकती है। किन्तु इस दौर में भी यह प्रवृत्ति उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति रही है। इससे सम्बंधित उपन्यास हैं -

सामाजिक यथार्थ को लेकर सन् 1925 में 'कनकलता' नाम से नंदकिशोर बल ने एक उपन्यास लिखा था। यह उपन्यास धनंजय एवं कनकलता के प्रेम पर आधारित है। इस उपन्यास में बाल-विधवा की दयनीय दुर्दशा को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या दहेज प्रथा है, जो भारत की सबसे बड़ी कुप्रथा है क्योंकि आधुनिक युग में नारियों के लिए यह एक ज्वलंत समस्या बन गयी है, आये दिन भारत में दहेज के कारण कई स्त्रियों को मौत के घाट उतार दिया जाता है, साथ ही अनेक तरह की प्रताड़नाएं भी दी जाती हैं। अतः उपन्यासकार की चिंता का विषय नारी शोषण है। उन्होंने इस उपन्यास में नारियों की सामाजिक समता को महत्व प्रदान किया है।

'मला जहन' (मरा हुआ चाँद) सन् 1922 में प्रकाशित एक क्लासिक उपन्यास है, जो उपेन्द्र किशोर दास के द्वारा लिखा गया है। इस उपन्यास की केन्द्रीय पात्र 'सती' है, जिसे बल पूर्वक एक वयस्क आदमी के साथ विवाह कर दिया जाता है। उन दोनों के मध्य सम्बन्ध ज्यादा दिन टिक नहीं पाता और विवाह विच्छेद होता है। इसके पश्चात वह अपने बचपन के दोस्त के घर में आश्रय लेती है। दोनों के मध्य प्रेम है, लेकिन दोनों एक दूसरे को कभी नहीं कहते। इस बीच उन दोनों को लेकर अनेक चर्चाएँ चलती हैं। जिसे सती सहन नहीं कर पाती और आत्महत्या कर लेती है। इस उपन्यास में ओड़िशा में अनमेल विवाह और अवैध संबंध को दिखाया गया है।

वैष्णव चरण दास के द्वारा लिखा गया 'मोने मोने' (दिल दिल में) उपन्यास सन् 1927 में प्रकाशित होता है। यह ओड़िया उपन्यास मनोवैज्ञानिक शैली में लिखा गया दूसरा प्रमुख उपन्यास है। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय प्रेम होने पर भी, नारी की पारिवारिक और मानसिक प्रताड़ना को इसमें बहुत मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है। उन्होंने आधुनिक जीवन में युवाओं को लेकर घटित होने वाली वास्तविक कथा को आधार बना कर उपन्यास लिखा है। इसके जरिये रचनाकार समकालीन जीवन में स्त्रियों की स्थिति को भी उपस्थित करते हैं। इस उपन्यास की नायिका कनक 'मला जन्ह' की नायिका सती की

तरह ही है | जिस पर घर का दबाव बना रहता है कि वह नीलू (प्रेमी) को छोड़ कर निधि नामक व्यक्ति से विवाह करे | नीलू और कनक एक दूसरे से बहुत प्रेम करते हैं | विवाह के उपरांत भी नीलू कनक से बेइन्तहा प्रेम करता है | इन दोनों के सम्बन्ध को लेकर निधि(कनक का पति) को संदेह होता है | अनिर्णय की स्थिति में कनक कुएं में कूद कर जान दे देती है | यह उपन्यास सामाजिक जीवन की सच्चाई को परत-दर-परत खोलता हुआ दिखाई देता है | साथ ही इस उपन्यास में ओड़िया समाज की सामाजिक प्रथाओं और संबंधों का सजीव चित्रण भी किया गया है |

अनन्त प्रसाद पंडा का प्रथम उपन्यास 'भाग्य चक्र' है जो सन् 1928 में प्रकाशित हुआ | पैसे के लालच में लड़कियों की शादी बूढ़ों से जबरन करवाई जाती है ऐसी अमानवीय प्रथा पर यह उपन्यास कटाक्ष करता है | इस उपन्यास में वेश्या बनने के कारणों की भी तलाश की गयी है।

## 2. ऐतिहासिकता : -

एक ओर जहाँ इस दौर में सामाजिक समस्याओं को आधार बना कर उपन्यास लिखा जा रहा था वहीं दूसरी ओर रामचन्द्र आचार्य इस दौर में भी ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहे थे | अतः यह प्रवृत्ति किसी खास समय में उभर कर विलीन नहीं होती | यह प्रवृत्ति ओड़िया के प्रारंभिक उपन्यासों की भी रही और इस दौर में भी रही | किन्तु समय-समय पर इस प्रवृत्ति के स्वरूप में भी परिवर्तन देखे गए हैं | बहरहाल रामचन्द्र आचार्य के उपन्यासों पर बात करना समीचीन होगा | इनके उपन्यासों की विशेषता यही है कि उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों में भी आधुनिक सन्दर्भ दिए हैं | सन् 1924-1933 के मध्य रामचंद्र आचार्य ने सात उपन्यास लिखे हैं | उनके सारे उपन्यास ऐतिहासिक प्रेम कहानी पर आधारित हैं | किन्तु इसमें जातीयता-बोध को ज्यादा महत्व दिया गया है | उदाहरण स्वरूप -सन् 1925 में प्रकाशित 'वीर-ओड़िया' उपन्यास में ओड़िशा में मुगलों के अत्याचारों का जिक्र किया गया है | सन् 1929 में प्रकाशित 'पद्मिनी' उपन्यास अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण पर आधारित है |

### 1.4.2.4 सबुज गोष्ठी का युग

उपन्यास साहित्य में फ़कीर महनोत्तर युग के बाद सबुज गोष्ठी का युग आता है | ओड़िया साहित्य में सबुज चेतना का उन्मेष 1931 ई. में होता है | इस युग की समय सीमा सन् 1930-1935 मानी जाती है | इस दौर में रोमांटिक रचनाएँ भी लिखी गयीं | इसलिए कुछ

विद्वानों ने इस युग को 'रोमांटिक युग' नाम से अभिहित भी किया। विद्वानों ने इस युग के प्रारंभ होने के पीछे बांग्ला के प्रभाव को ग्रहण किया। आलोचक राघवानंद ने इन तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी भी उपलब्ध करवाई। उनका तर्क है कि - ओड़िशा में इस सबुज चेतना का प्रसार बांग्ला के रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रमथनाथ चौधरी के प्रभाव से आया है, इस पर प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध हैं।

मुख्य रूप से बँगला के 'कल्लोल-युग' से ओड़िया के 'सबुज गोष्ठी' का गहरा सम्बन्ध है। कल्लोल चेतना की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में ३ चीजें महत्वपूर्ण हैं - 1. बंगभंग आन्दोलन के बाद बंग प्रदेश की सामाजिक स्थिति 2. व्यवसाय एवं नौकरी के लिए शहर की ओर उन्मुख होना अर्थात् उनकी दयनीय आर्थिक स्थिति ने लोगों के मन में हताशा और निराशा को भर दिया 3. प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका और विदेशी साहित्य के साथ परिचय। ये तीन ही कारण थे जिसने साहित्य की दिशा में परिवर्तन किया। इन तीनों का प्रभाव ओड़िया उपन्यास साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। इसलिए इस युग को बँगला के प्रभाव के रूप में देख सकते हैं। साथ ही ओड़िशा, बंगाल के समीपवर्ती होने के कारण इसका प्रभाव ओड़िया उपन्यासों में आना स्वाभाविक रहा।

इस दौर में भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी उपन्यास में देखे गए हैं। जैसे-1921 ई. में गाँधी जी का ओड़िशा आगमन ने तत्कालीन जातीय चेतना को और प्रभावशाली बनाया। ओड़िया रचनाकारों ने भी खुद को मुक्ति संग्राम के साथ जोड़ लिया। इस तरह सन् 1921 में घटित असहयोग आन्दोलन, सन् 1930 में नमक आन्दोलन ने उनके मन में आग में घी डालने जैसा काम किया। इस तरह आम जन और बड़े पैमाने पर कृषक वर्ग ने गाँधीवाद का समर्थन किया। इस जन आन्दोलन के कारण ही साहित्य में भी जन-साहित्य को महत्व दिया गया। इन सभी चीजों को सबुजवादी (हरित वादी) रचनाकार प्रश्रय दे रहे थे। इसलिए उपन्यास साहित्य में इस तरह की प्रवृत्तियाँ देखी गयी हैं।

**(क) ग्रामीण-सौन्दर्य**

**(ख) दाम्पत्य-जीवन**

**(ग) स्त्री-समाज**

**(घ) पूँजीवादी-समाज**

**(ङ) जाति-प्रथा**

## **(च) गाँधीवादी चिंतन**

### **(छ) ऐतिहासिकता**

#### **(क) ग्राम-सौन्दर्य**

यह प्रवृत्ति कोई नयी प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु ग्रामीण समाज की प्रवृत्ति पर सबुज गोष्ठी के प्रभाव पड़ने पर सौन्दर्य की प्रधानता प्रमुख हो गयी। इसलिए ग्राम सौन्दर्य जैसी संकल्पना सामने आई। ओड़िया उपन्यास साहित्य में 'ग्राम सौन्दर्य' पर अनेक उपन्यास लिखे गए जैसे - चिंतामणि महंती का 'शनिसप्ता' (1932) उपन्यास 'ग्राम सौन्दर्य' पर आधारित है जो सबुज गोष्ठी द्वारा प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास की विशेषता यह रही कि इस उपन्यास में ग्रामीण परिवेश का सौन्दर्य सजीव रूप में उपस्थित हुआ है। यह उपन्यास सांसारिक जीवन में घटित शनि ग्रह के प्रभाव को आधार बना कर लिखा गया है। इस उपन्यास के अंत में संस्कारमुखी चिंताधारा देखने को मिलती हैं। अतः ग्रामीण समाज में फैले विसंगतियाँ इस उपन्यास की आधार शिला हैं।

#### **(ख) दांपत्य जीवन :-**

ओड़िया उपन्यास में 'दांपत्य जीवन' की प्रवृत्ति इस युग की उपज नहीं है। इस युग से पूर्व भी दांपत्य जीवन को आधार बना कर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। तथा इस दौर में भी यह प्रवृत्ति प्रमुख रही है। जैसे - गोदाबरीश महापात्र का 'प्रेमपथे' (1932) उपन्यास दांपत्य जीवन पर लिखा गया है। इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक तत्व भी हमें उपलब्ध होते हैं। इस उपन्यास में 'प्रेम' और 'विवाह' के संबंधों को बड़ी सूक्ष्मता से दिखाने का प्रयास किया है। इस उपन्यास में हरिचरण और कनक जैसे दो हताश प्रेमी-जुगल की आंतरिक स्थिति को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। एक तरफ हरिचरण अन्य लड़की से विवाह के पश्चात दुःखी है, तो दूसरी तरफ कनक विवाह न करने के बाद भी विरह वेदना से प्रताड़ित है। यह उपन्यास सबुज-गोष्ठी से प्रभावित उपन्यास है जिसमें दोनों के मध्य संवेदनात्मक सम्बन्ध को बड़ी गहराई से अभिव्यक्ति मिली है।

#### **(ग) स्त्री जीवन संबंधी समस्याएँ :-**

इस दौर के ओड़िया उपन्यासों की यह विशेषता रही है कि स्त्री समस्या पर ही उनकी विशेष दृष्टि गयी। इससे पूर्व के उपन्यासों की तरह स्त्रियों के आदर्श को लेकर इस दौर में उपन्यास प्रायः नहीं लिखे गए। जैसे- कान्हू चरण मोहंती का 'निष्पत्ति' (1932) उपन्यास समाज में हो रही बाल-विधवाओं के विवाह पर रोक, जैसी कुप्रथा पर विरोध दर्ज करता है

| इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि बाल्य काल में लड़कियों का विवाह तो उनके शोषण का सबसे बड़ा कारण रहा ही साथ में उनका पुनः विवाह न कराना भी उनके पीड़ा का एक सबसे बड़ा कारण है | इस उपन्यास में उपन्यासकार हीरामणि जैसी बाल विधवाओं की आंतरिक स्थिति का चित्रण करता है | इस उपन्यास में सबसे ज्यादा जोर बाल-विधवा विवाह पर है | इस उपन्यास में ब्रज नामक एक पुरुष ने हीरामणि नामक एक बाल विधवा से विवाह करते हुए समाज में चली आ रही परंपरा को चुनौती दी है |

सच्चिदानंद राउत राय के द्वारा लिखित 'नूतन धर्म' (1935) भी विधवा विवाह के समर्थन पर लिखा गया उपन्यास है |

#### **(घ) पूंजीवादी समाज**

'पूंजीवादी समाज' की प्रवृत्ति इस युग की नयी प्रवृत्ति है | इससे पूर्व परोक्ष रूप से ओड़िया उपन्यास में पूंजीवाद से सम्बंधित विषय आये हैं | किन्तु इस युग से पूर्व 'पूंजीवादी समाज' एक प्रवृत्ति के रूप में जाना नहीं गया था | यह पहले भी स्पष्ट किया गया है कि किसी विषय पर समाज के रुझान को ही 'प्रवृत्ति' कह सकते हैं | इसलिए 'पूंजीवादी समाज' से सम्बंधित विषय भले ही ओड़िया उपन्यास में आये हों किन्तु इस प्रवृत्ति को सबुज वादी युग में ही मान्यता प्राप्त हुई | लक्ष्मीधर नायक का 'उद्भ्रांत' एवं 'भुलिली तोते सखी' उपन्यास सन् 1934 में लिखे गये | इन उपन्यासों में पूंजीवादी समाज के कुप्रभाव को दिखाया गया है | इस उपन्यास में किस तरह पूंजी ने लोगों को नियंत्रित कर रखा है इसकी भी पोल खोली गयी है |

#### **(ङ) जाति-प्रथा पर कटाक्ष**

जाति-प्रथा पर कटाक्ष जैसी प्रवृत्ति पहले भी रही है | किन्तु इस प्रवृत्ति को मुखर रूप इस युग में ही मिला | जैसे - कान्हू चरण मोहंती का 'हा अन्न' (सन् 1935) उपन्यास जाति-प्रथा के कटाक्ष पर ही आधारित है | इस उपन्यास की पृष्ठभूमि 1866-1870 में ओड़िशा राज्य में हुए महा-दुर्भिक्ष पर आधारित है | 'हा अन्न' का नायक जगु अपने पिता की झूठी आभिजात्यवादी मानसिकता का विरोध करता है | इस उपन्यास में एक ओर जहाँ मनुष्य के अहं पर प्रश्न चिह्न लगाया है वहीं दूसरी ओर समाज में हो रहे जाति के नाम पर भेदभाव की भी कलई खोली गई है | आधुनिक युग में व्याप्त जाति-प्रथा के बंधन ने लोगों की स्थिति को और बदतर बनाया है यह उपन्यास इसका सबसे अच्छा उदाहरण है | एक ओर जहाँ हम आधुनिक होने का दावा करते हैं वहीं जाति-बंधन को लेकर हमारी सोच

पिछड़ी हुई दिखाई देती है। उपन्यासकार जगु और उसकी प्रेमिका के माध्यम से समाज में फैली जाति-प्रथा जैसे कुरीति का विरोध करते हुए दिखाई देते हैं।

**(च) गांधीवादी दर्शन :-**

गांधीवादी दर्शन इस युग की मुख्य प्रवृत्ति है, जो समकालीन परिस्थितियों की देन है। इस प्रवृत्ति पर इस दौर में अनेक उपन्यास लिखे गए। जैसे -कालिंदी चरण पाणिग्राही का 'माटी र मनिष' उपन्यास इस प्रवृत्ति पर आधारित है, जो 1931 में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास को ओड़िया भाषा का आधुनिक क्लासिक माना जाता है। इस उपन्यास की कथावस्तु ग्रामीण कृषक शाम प्रधान एवं उनके दो पुत्र बरजू और छकड़ी को आधार बना कर लिखा गया है। वह मरने के पहले शाम प्रधान ने अपने बड़े पुत्र बरजू को कहा था कि वह अपने छोटे भाई का ध्यान रखे और ये भी ध्यान दे की जमीन का बंटवारा न हो। कूट प्रवृत्ति के लोगों के बहकावे में आकर छकड़ी ने अपने बड़े भाई से जमीन के बंटवारे की बात की। अन्ततः बरजू अपने पिता के वचन के अनुसार पूरी संपत्ति अपने छोटे भाई को दे कर घर छोड़ कर चला जाता है। कुछ दिनों के उपरांत छकड़ी अपने बड़े भाई भाभी और उनके बच्चों को लेकर अत्यधिक भावुक हो जाता है। एक दिन वह बरजू के पास जाता है और उन्हें घर आने का अनुरोध करता है। बरजू को मानसिक आघात मिलने पर भी अपने पिता के उपदेश के प्रति सम्मान और उसके छोटे भाई के प्रति स्नेह के कारण संपत्ति में अधिकार नहीं चाहता। उपन्यासकार इस उपन्यास में गांधीवादी दर्शन को प्रस्तुत करते हैं। 'आत्मत्याग' का भाव इस उपन्यास में गांधीवादी दर्शन को ही स्थापित करता है। इस उपन्यास में स्वाधीनता के दौर में किये गए युद्ध के बाद की सामाजिक स्थिति को दिखाया गया है। साथ ही इस उपन्यास में परिवार विघटन के कारणों की भी तलाश की गयी है। अतः एक तरह से इस उपन्यास में मानवीय मूल्यों की तलाश की गयी है जो स्वाधीनता के उपरांत कहीं गुम होती हुई दिखाई देती है।

**(छ) ऐतिहासिक :-**

इस दौर की एक प्रवृत्ति ऐतिहासिक रही। ऐतिहासिक प्रवृत्ति में कथा की पृष्ठभूमि इतिहास पर आधारित रहती है। चक्रधर महापात्र का 'बलांगी' (सन् 1934) उपन्यास की कथावस्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस उपन्यास की कथा 300 वर्ष पूर्व की है। इस उपन्यास का मूल उद्देश्य उत्कल के प्रति जातीय-स्वर को स्थापित करना रहा।



सन् 1930 के बाद से ओड़िया साहित्य पर ध्यान दें तो हम देखेंगे कि उपन्यास विधा ने ओड़िया के बहुत लेखकों को आकृष्ट किया है। सन् 1930 से पूर्व उपन्यासों में प्रेम की एक सीमा निर्धारित की गयी थी। उसे संयत करने का प्रयास किया गया था वहीं इस युग में प्रेम की बनी बनायी सीमा का अतिक्रमण किया गया है। अतः उपन्यासकारों ने निर्भीक होकर प्रेम-प्रणय को महत्त्व दिया। इस समय में उपन्यास का दायरा प्रेम तक ही सीमित नहीं था इसमें समाज-संस्कार, समाज प्रेम, जातीय-प्रेम, नारी जाति का उत्थान आदि को भी स्थान दिया गया है। इस दौर के रचनाकारों में आदर्शवाद देखने को मिलता है, जिसका सम्बन्ध गाँधी के सिद्धांतों से रहा। अंत में यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि हिंदी में जो छायावाद है ओड़िया में वही सबुज गोष्ठी का युग रहा। छायावाद में जिस तरह सभी रचनाकारों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर हुए उसी तरह इस दौर में ओड़िया में भी रचनाकारों ने इस प्रवृत्ति को आधार बनाया। इस युग में आंतरिक मनोभाव साहित्य के केंद्र में रहा।

#### **1.4.1.3 प्रेमचंदोत्तर युग (1936-1947):**

प्रेमचंद युगीन हिंदी उपन्यास के बाद के दौर को प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यास कहा जाता है। प्रेमचंद ने उपन्यास को यथार्थ की ओर मोड़ा था किन्तु यह यथार्थ, आदर्श के रंग में रंगा हुआ रहा। अतः प्रेमचंद युग में यथार्थ का रूप आदर्शोन्मुख हो गया था। जिसकी वजह से यथार्थ का कोई निश्चित स्वरूप नहीं उपस्थित हुआ। प्रेमचंद ने एक ओर उपन्यास में समाज की विसंगतियों को पेश किया तो दूसरी ओर अंतर्मन के सत्यों को भी उद्घाटित किया। प्रेमचंदोत्तर युग के आगमन के पीछे 'यथार्थ' का वास्तविक रूप रहा। अतः कहने का तात्पर्य यही रहा कि 'यथार्थ' की सच्ची अनुभूतियों और समय के अन्तराल में नए विषयों का आगमन ने प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यास को प्रेमचंद युगीन हिंदी उपन्यास से अलग किया है।

इस समय की पृष्ठभूमि को बिना जाने उपन्यासों की प्रवृत्ति पर बात करना समीचीन नहीं होगा। क्योंकि इस समय की परिस्थितियों ने उपन्यासों की पृष्ठभूमि तैयार करने का कार्य किया। 1935 पेरिस में प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन फिर 1936 प्रगतिशील लेखक संघ की भारत में स्थापना ने प्रगतिशील चिन्ताधारा का विकास किया। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के होने से वैश्विक आधार पर असंतुलन बढ़ गया। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। राष्ट्रीय देश प्रेमियों ने अंततः ब्रिटिश शासन के खिलाफ स्वतंत्रता-आन्दोलन

चलाया | सन् 1943 के विनाशकारी दुर्भिक्ष से आतंकित होकर लाखों लोग इसके शिकार हुए | इसके बाद हुए महामारियों ने गाँव के गाँव उजाड़ कर रख दिया | हिरोशिमा एवं नागासाकी पर परमाणु बम गिराये जाने की घटना ने भी लोगों को हिला कर रख दिया था | सन् 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया किन्तु विभाजन का दंश के कारण लोगों को और आघात पहुँचा | इसलिए शरणार्थियों की समस्या भी उपस्थित हुई | इस समय भारत अनेक कारणों से आर्थिक संकटों से जूझा | इन सब के इतर भी अनेक समस्याएँ रहीं जो मुंह बाएँ खड़ी थी |

इस युग की प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं -

- मनोवैज्ञानिक दृष्टि
- समाजवादी दृष्टि
- ऐतिहासिकता

#### 1. मनोवैज्ञानिक दृष्टि :-

इस दौर के उपन्यासों की यह धारा नवीन नहीं है किन्तु मनोविज्ञान के सिद्धांतों को लेकर चलने वाली धारा है | इस युग से पूर्व के उपन्यासों में मनोविज्ञान के सिद्धांतों को आधार बना कर नहीं लिखा गया | उसमें मनोविज्ञान के तत्व स्वतः उपस्थित हो गए या यह कहें कि मनोविज्ञान के आंशिक तत्वों का उन उपन्यासों में समाविष्ट हो गया | इस दौर में उपन्यास के पात्रों के माध्यम से मन का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया | रामदरश मिश्र जी लिखते हैं -“मनोविज्ञान की नई धारा प्रेमचंद के मनोविज्ञान से वस्तुतः अलग धारा थी | जो मनोविज्ञान की नवीन खोजों से प्राप्त सत्यों को आधार बनाकर चली, जिसका सम्बन्ध मूलतः अचेतन के लोक से है, चेतन के लोक से नहीं |”<sup>32</sup>

जैनेन्द्र कुमार को हिंदी में मनोविश्लेषणवादी उपन्यास का जनक माना गया है | जैनेन्द्र कुमार की कुछ रचनाएँ प्रेमचंद युग में भी लिखी गयी हैं | किन्तु ज्यादातर मनोवैज्ञानिक उपन्यास 1936 के बाद ही प्रकाशित होते हैं | जैसे -‘त्यागपत्र’(1937), ‘कल्याणी’(1939) | डॉ. गोपाल राय ने इलाचंद्र जोशी को हिंदी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास का पुरस्कर्ता माना है | इनके मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं-‘संन्यासी’ (1940), ‘पर्दे की रानी’ (1942), ‘प्रेत की छाया’ (1944), ‘निर्वासित’ (1946) आदि | अज्ञेय एक प्रौढ़ मनोवैज्ञानिक

---

<sup>32</sup> हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, पृ.सं.-77

उपन्यासकार हैं। उनके द्वारा लिखित 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यास का एक सबसे अच्छा उदाहरण है।

## 2. समाजवादी धारा :

हिंदी साहित्य में प्रचलित समाजवादी, प्रगतिवादी, मानवतावादी धारा मार्क्सवादी धारा का ही रूप है। मार्क्सवाद द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक युग में और पदार्थ में दो शक्तियों के मध्य द्वंद्व चलता है। एक पुरानी शक्ति का नवीन शक्ति के साथ द्वंद्व होता है। सामाजिक स्तर पर शोषक पुरानी शक्ति का द्योतक है जिसकी टकराहट नवीन शोषित वर्ग से होती है। समाजवाद के मूल में पूंजीवादी सभ्यता को नष्ट कर मानवतावाद को स्थापित करना है।

प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने सामाजिक परिवेश को महत्व दिया। क्योंकि मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार आम जन का शोषण समाज में ही होता है। शोषकों ने शोषितों का शोषण इसलिए किया क्योंकि वे आर्थिक रूप से पिछड़े हुए थे। आर्थिक विषमताओं ने ही समाज को दो वर्ग में बाँट दिया है, जिसका कारण समाज में पूंजी का असमान वितरण ही है। इसलिए मार्क्सवाद का पूरा जोर आर्थिक व्यवस्था को परिवर्तन करने में रहा। इसलिए उन्होंने इतिहास में भी इन चीजों की पड़ताल की। तभी उन्हें शोषण के कारण स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर हुए। इन्हीं सिद्धांतों को आधार बना कर प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास की जमीन तैयार की। प्रगतिवादी उपन्यासकारों ने सिर्फ आर्थिक पहलू को वरन आर्थिक साधनों के बदलने से संबंधों में किस तरह बदलाव आते हैं उसको भी उपन्यास का विषय बनाया। साथ ही संबंधों के बदलने से समाज की सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य में किस तरह से परिवर्तन आते हैं, इसका भी चित्र उपस्थित किया गया है।

जैसे- 'बिल्लेसुर बकरिहा' (1945) निराला; 'दादा कामरेड' (1941), 'मनुष्य के रूप' (1949), यशपाल; 'चढ़ती धूप' (1945), 'नयी इमारत' (1946), 'उल्का' (1947), रामेश्वर शुक्ल अंचल; 'बहता पानी', 'चक्की', 'षड्यंत्र' आदि मन्मथनाथ गुप्त; 'शोले' (1946), भैरव प्रसाद गुप्त; आदि।

## 3. ऐतिहासिकता :-

इस दौर की मुख्य प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति ऐतिहासिक धारा है। कोई भी व्यक्ति वर्तमान की समस्या के निदान के लिए इतिहास को ओर मुड़ता है। ऐतिहासिक रचनाकार भी समसामयिक समस्या का निदान इतिहास में ढूँढते हुए दिखाई देता है। ऐतिहासिक

उपन्यासकारों की यह विशेषता है कि वे इतिहास की पृष्ठभूमि पर लिख कर भी समसामयिक सन्दर्भ से जुड़ा रहता है। इसलिए यह ऐतिहासिक धारा इतिहास से सम्बंधित हो कर भी पुरानी नहीं है। रचनाकार इसमें नए प्रयोग करता रहता है। इसलिए यह ऐतिहासिक धारा हर युग में प्रासंगिक हो जाती हैं। इस दौर में ऐतिहासिक धारा पर लेखन भी अपने समसामयिक युग की जरूरत रही है। इस युग के ऐतिहासिक धारा के उपन्यास हैं - 'इरावती' - जयशंकर प्रसाद; 'गढ़कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मुसाहबजू', लक्ष्मी बाई- 'वृंदावनलाल वर्मा'; 'चित्रलेखा' -भगवती चरण वर्मा; 'सिंह सेनापति'(1947), 'मधुर स्वप्न', 'जय यौधेय', 'विस्मृत यात्री' -राहुल सांकृत्यायन; 'दिव्या' -यशपाल; 'बाणभट्ट की आत्मकथा'- हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि।

#### **1.4.2.5 स्वाधीनता-पूर्व-ओड़िया उपन्यास या प्रगतिवादी उपन्यास (1935-1947 )**

आधुनिक ओड़िया साहित्य का चतुर्थ चरण प्रगतिवादी साहित्य की समय सीमा सन् 1935 से 1947 ई. तक माना जाता है। गाँधी के सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार ने एक तरह से लोगों को कुछ हद तक प्रगतिशील बनाने का कार्य किया पर पूर्ण रूप से यह कार्य सफल नहीं हो पाया। यह कार्य मार्क्स के सिद्धांतों ने किया। मार्क्स ने सिद्धांतों के द्वारा वर्ग भेद जैसी समस्या को चुनौती दी। उन्होंने शोषितों को शोषकों के प्रति जागरूक किया। उन्होंने 'साम्यवाद' का सिद्धांत लोगों के समक्ष रखा जहाँ सभी को समान देखने की कोशिश रही। एक ओर जहाँ गाँधी के केंद्र में सामाजिक और राजनीतिक चिंता रहीं वहीं मार्क्स के केंद्र में समाज की आर्थिक समस्या रही। उनका मानना था 'आर्थिक स्थिति' ही पूरी दुनिया को प्रभावित करती है। अगर लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा तभी एक स्वस्थ समाज का गठन हो पाएगा। बहरहाल सन् 1935 में पेरिस में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना होती है। 9-10 अप्रैल सन् 1936 में लखनऊ में प्रगतिशील संघ की स्थापना होती है, जिसके अध्यक्ष प्रेमचंद रहे। यहाँ से भारत के हर एक प्रान्त में प्रगतिशील चेतना प्रसारित होती गयी। ओड़िशा में भी प्रगतिशील उपन्यासों के प्रसार-प्रसार का एक कारण यही रहा। ओड़िशा में प्रगतिशील चेतना सन् 1936 में उत्कल प्रदेश(ओड़िशा राज्य) के स्वतंत्र होने के पश्चात् आती है। किन्तु डॉ. मिहिर कुमार साहू के अनुसार "सन् 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन, दूसरी ओर नेता जी के द्वारा आज़ाद हिन्द फौज का गठन, फिर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत की द्रुत गति में बढ़ती हुई अर्थनीति का विकास और शिल्प समृद्धि एवं गांधीजी के द्वारा चलाया गया अहिंसा आन्दोलन ये सारी चीजों

ने सन् 1947 तक के साहित्य को प्रभावित किया।<sup>33</sup> बहरहाल प्रगतिशील चेतना ने ही ओड़िशा के सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास-धारा को विशेष रूप से प्रभावित किया। इस युग की विशेषता यह रही कि ओड़िया साहित्य में प्रगतिवाद का प्रचार कर रहे प्रवक्तागण स्वयं भी लेखन कार्य कर रहे थे, इसलिए ओड़िया साहित्य में साम्यवादी स्वर उभर कर आया। डॉ. मिहिर कुमार साहू के अनुसार 'साहित्य में ये साम्यवादी स्वर अचानक नहीं आया। इससे पूर्व भी फ़कीर मोहन सेनापति के साहित्य में सूक्ष्म रूप से यह प्रगतिशील चेतना देखने को मिलती है। साथ ही सत्यवादी युग और सबुज गोष्ठी युग में भी यह स्वर सूक्ष्म रूप से उभर कर आता है। लेकिन इस युग का मुख्य स्वर साम्यवाद ही रहा।' अतः आलोचक उसे प्रगतिशील संघ से उसका सम्बन्ध जोड़ने के पक्षपाती नहीं है। उसकी परंपरा को वह फ़कीर मोहन से देखने का प्रयास करते हैं। डॉ. नित्यानंद शतपथी इस सम्बन्ध में कहते हैं - "सन् 1789 में फ्रेंच क्रांति और सन् 1917 में रूसी क्रांति ने इस तरह के विद्रोही कदम उठाने में हमारी सहायता की है। जिसने हमारे भावी साहित्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है इसमें कोई दो राय नहीं है।"<sup>34</sup> इस तरह दो भिन्न मत प्रगतिशील साहित्य को लेकर उभरते हैं।

इस साम्यवादी चिन्तनधारा को आधार बना कर ओड़िशा में 'नवयुग साहित्य संसद' नाम से एक स्वतंत्र संस्था का भी निर्माण किया गया। इन संस्था के लोगों ने राजनीतिक क्रांति को आधार बनाकर साहित्यिक क्रांति लाने का प्रयास किया। बहरहाल साम्यवादी विद्रोह मूलतः अभिजात्य, सामंतवादी मानसिकता वालों के लिए था। यह विद्रोह शोषित और प्रताड़ित जनता को सुविधाभोगी पूंजीपतियों से छुड़ाना था। वे श्रेणी हीन या वर्ग विहीन समाज का गठन करना चाहते थे। साम्यवाद धर्म और ईश्वर पर कुठाराघात भी करता है। उनका मूल लक्ष्य जनसाधारण की अशिक्षा और अन्धविश्वास को दूर करना था। इस दौर में ओड़िया के अनेक उपन्यासकार हुए जिन्होंने प्रगतिशील चेतना का अनुसरण करते हुए उपन्यास लिखे।

#### (क) प्रगतिवादी और प्रगतिशील दृष्टि

<sup>33</sup> ओड़िया उपन्यास रे लोक-उपादान, डॉ. मिहिर कुमार साहू, पृ.सं.-142

<sup>34</sup> ओड़िया उपन्यास रे लोक-उपादान, डॉ. मिहिर कुमार साहू, पृ.सं.-141

ओड़िया साहित्य के प्रगतिवादी युग में विशेष प्रवृत्ति 'प्रगतिवादी चिन्तनधारा' की रही। जिसमें मार्क्स के सिद्धांतों का महत्व रहा। साथ ही इस विचारधारा ने 'प्रगतिशील दृष्टि' का भी सूत्रपात किया, जिसमें समाज की चीजों को नए तरह से देखने की दृष्टि मिली।

सच्चिदानंद राउत राय का 'चित्रग्रीव' उपन्यास सन् 1936 में प्रकाशित होता है। उनका यह उपन्यास साम्यवादी चिन्तन धारा को लेकर आगे बढ़ता है। इसकी भूमिका में वह लिखते हैं - "इस उपन्यास में केवल कलकत्ता में पढ़ रहे तात्कालिक ओड़िया छात्रों की चिंतन दृष्टि और जीवन-बोध का चित्रण नहीं है, इसमें कृषि द्वारा जीविकोपार्जन करने वालों का भी चित्रण है। इस उपन्यास में ओड़िशा स्वतंत्र राज्य के रूप में गठन होने से पूर्व तथा स्वाधीनता के पूर्व ओड़िशा-वासी की स्थिति को भी दिखाने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय तथा बुद्धिजीवी वर्ग का विलासित जीवन आदि का भी सजीव चित्रण उपस्थित किया गया है।"<sup>35</sup> इस उपन्यास की यह विशिष्टता यह है कि लोक साहित्य में जिस तरह छोटी-छोटी कथाओं को आधार बना कर बात कही जाती है, उसी तरह इस उपन्यास में उपन्यासकार ने छोटी-छोटी कथाओं को आधार बना कर कथा का निर्माण किया है। अर्थात् शैली की दृष्टि से नए प्रयोग इस उपन्यास में देखने को मिलते हैं।

'लुहा र मनिष' उपन्यास कालंदी चरण पाणिग्राही का सबसे प्रगतिशील उपन्यास है जो सन् 1947 में प्रकाशित होता है। 'लुहा र मनिष' उपन्यास 'माटी र मनिष' का उत्तरार्ध भाग है। इस उपन्यास में भी मार्क्सवाद और गाँधीवाद का प्रभाव देखने को मिलता है।

कान्हू चरण महंती का 'तुंडबाइदो' उपन्यास सन् 1944 में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में एक परिवार पर लगाए गए लांछन और गलत अफवाहों का किस तरह खराब प्रभाव पड़ता है, इसका वर्णन किया गया है। इस उपन्यास में तुलसी एक विधवा स्त्री है, जिसका देवर उसका बहुत सम्मान करता है, उनसे स्नेह रखता है एवं उसकी सहायता करता है। किन्तु गाँव के लोग गलत खबर प्रचार करते हैं कि दोनों के मध्य गलत सम्बन्ध है और यह भी कहते हैं कि तुलसी के लिए ही सूर ने अपने बड़े भाई की हत्या की। लेकिन वह अपनी भाभी से निश्छल प्रेम करता है। अंततः इस उपन्यास में दोनों का विवाह होता

---

<sup>35</sup> ओड़िया उपन्यास रे लोक-उपादान, डॉ. मिहिर कुमार साहु, पृ.सं.-143

है | इस उपन्यास में सोच के धरातल पर संकीर्ण दृष्टि का विरोध करते हुए प्रगतिशील दृष्टि को महत्व दिया गया है |

लक्ष्मीधर नायक का सन् 1947 में दो उपन्यास 'हाय रे दूर्भाग देश' और 'सर्वहारा' प्रकाशित होता है | इन दोनों ही उपन्यासों में पूंजीवादी समाज की स्थिति एवं समाज में सर्वहाराओं की समस्या दोनों ही चित्रित हुए हैं | उनके उपन्यास में उनकी प्रगतिशील सोच और सर्वहारा के प्रति उनका प्रेम दोनों ही देखने को मिलता है |

#### **(ख) गांधीवाद :**

इस दौर की एक प्रवृत्ति गाँधीवादी दर्शन की भी रही | यह प्रवृत्ति इस युग में चरम सीमा पर रही | इससे तात्पर्य यह है कि कोई प्रवृत्ति अकस्मात् नहीं उपस्थित होती है और न उसको हम एक सीमा में बाँध सकते हैं | किसी समय में प्रमुख प्रवृत्ति कभी गौण रूप तो मुख्य रूप भी धारण करती हुई दिखाई देती है | इसलिए गाँधीवादी-दर्शन पर उपन्यास लिखा जाना स्वाभाविक रहा | बहरहाल रामप्रसाद सिं ने सन् 1942 में 'पूजा र बली' नाम से एक उपन्यास लिखा | इसकी पृष्ठभूमि लवण सत्याग्रह पर आधारित है | जिसमें गांधीवादी विचारधारा देखने को मिलती है | अतः इस उपन्यास में गांधीवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देख सकते हैं |

#### **(ग) स्वाधीनता-पूर्व और स्वाधीनता संग्राम :**

'स्वाधीनता पूर्व और स्वाधीनता संग्राम' को लेकर इस दौर में अनेक उपन्यास लिखे गए इसलिए इसे एक प्रवृत्ति के रूप में देख सकते हैं | जैसे -सच्चिदानंद राउत राय का 'प्रतिभा' उपन्यास सन् 1947 में प्रकाशित होता है | इस उपन्यास में स्वाधीनता संग्राम में नारियों की भूमिका को रेखांकित किया गया है | साथ ही इस उपन्यास में नारी मुक्ति के प्रश्न को भी उजागर करने का प्रयास किया गया है |

सच्चिदानंद राउत राय का 'अव्यापार' उपन्यास भी सन् 1947 में प्रकाशित होता है | इस उपन्यास में स्वाधीनता से पूर्व ओड़िशा राज्य के छोटे-छोटे प्रान्तों में राजाओं के कुशासन और उत्पीड़न की कथा को आधार बनाया गया है |

लक्ष्मीकांत महापात्र का 'कणामामू' उपन्यास सन् 1937 में लिखा जाता है | यह उपन्यास एक पत्रिका में नियमित रूप से प्रकाशित होता रहा | यह उपन्यास पूर्ण नहीं हो पाया लेकिन फिर भी आधुनिक साहित्य की यह एक क्लासिक रचना मानी जाती है | इस उपन्यास की पृष्ठभूमि स्वाधीनता संग्राम से जुड़ी हुई है | इस उपन्यास की कथावस्तु

ग्रामीण ओड़िशा में स्थित दरिद्रता, आलस्य, धोखेबाज (टाउटर) लोगों की खल प्रवृत्ति, दुर्नीति को आधार बना कर लिखा गया है। इस उपन्यास के नायक कणामामू प्रगतिवादी सोच रखने वाले पात्र हैं, उनका जीवन का लक्ष्य दूसरों की मदद करना है। कणामामू स्वाधीनता संग्रामी थे, जिन्हें आन्दोलन में भाग लेने के कारण बंदी बनाया गया था।

#### **(घ) कुप्रथाओं और जातीय भेदभाव का विरोध :**

‘कुप्रथाओं और जातीय भेदभाव का विरोध’ को लेकर प्रारंभिक दौर में भी उपन्यास लिखे गए और इस युग में भी इस तरह के उपन्यासों का चलन रहा। जैसे -

‘विद्रोह’ उपन्यास गोदावारिश महापात्र के द्वारा लिखा गया अंतिम उपन्यास है। इस उपन्यास में साधारण लोक-जीवन की झांकी देखने को मिलती है। इस उपन्यास में ‘लोक’ पर विशेष रूप से बल दिया गया है। इस उपन्यास में बाल-विवाह, विधवा विवाह, वृद्ध विवाह, नारी यातना तथा जाति-प्रथा आदि का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास का नायक ब्रज सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति विद्रोह करता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए इस उपन्यास का नाम विद्रोह रखा गया है। एक तरह से रचनाकार समाज की कुप्रथाओं को लेकर चिंतित है तो दूसरी ओर इन सब का समाधान ढूंढने में तत्पर हैं।

‘शास्ति’ उपन्यास कान्हू चरण महंती के द्वारा लिखा गया उपन्यास है जो सन् 1946 में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि जाति-प्रथा पर केन्द्रित है। इस उपन्यास की नायिका सनिया महा-दुर्भिक्ष की शिकार होती है। अपनी क्षुधा को मिटाने के लिए ईसाइयों की मदद लेती है, इसलिए उसे हिन्दू समाज स्वीकार नहीं करता है। एक धोबी उसकी सहायता करता है और उससे विवाह करने की इच्छा जाहिर करता है। किन्तु वह इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती है क्योंकि वह विधवा है और समाज विधवा विवाह का समर्थन नहीं करता। सनिया हर तरह के सामाजिक भेदभाव का विरोध करती है। और एक अस्पृश्य (दलित), मुसलिम और ईसाई व्यक्ति को अपने घर पर पनाह देती है। सनिया की सोच प्रगतिशील है वह चली आ रही पुरानी मानसिकता को तोड़ती है। उसकी दृष्टि सभी को समान देखने की है वह जाति, धर्म, वर्ण आदि जैसे भेद भावों का प्रतिरोध करती हुई दिखाई देती है।

#### **(ङ) दलित समाज**

‘भल पाईबा र शेषकथा’ दलित समाज पर लिखा गया पहला ओड़िया उपन्यास है। जिसमें दलित समाज का सबसे बड़ा दंश अस्पृश्यता को आधार बनाया गया है। यह



उपन्यास प्रथम उपन्यास होने के कारण नई प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि निर्मित करता हुआ दिखाई देता है। इसलिए इसे इस युग की एक प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। 'भल पाईबा र शेषकथा' उपन्यास कान्हू चरण महंती का बहुत महत्वपूर्ण उपन्यास है जो सन् 1944 में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में 'हरिजन' जाति के सामाजिक उत्पीड़न का चित्र भी प्रस्तुत किया गया है।

#### **(च) आदिवासी समाज**

इस दौर में आदिवासी समाज पर एक से अधिक उपन्यास लिखे गए इसलिए इसे एक प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है। बहरहाल 'दादीबूढ़ा' (1944) और 'परजा' (1945) गोपीनाथ महंती के बहुत प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ये उपन्यास ओड़िशा के आदिवासी समाज पर आधारित हैं। 'दादीबूढ़ा' उपन्यास गोपीनाथ महंती का पहला आदिवासी जीवन पर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में जनजातीय समुदाय के विघटन की कथा है। दादीबूढ़ा एक प्राचीन पेड़ है जो पूर्वजों का प्रतिनिधित्व करता है। 'परजा' उपन्यास में ओड़िशा में रह रहे परजा आदिवासियों का लोक-विश्वास, आचरण, आचार-विचार आदि का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। ये उपन्यास सिर्फ ऐतिहासिक दस्तावेज मात्र नहीं हैं, इसमें उन आदिवासियों की कथा है, जो दरिद्रता और शोषण के मध्य जीवन जीते हैं। इन उपन्यासों में आदिवासियों की आशा, शंका और समस्या तीनों का मेल देखने को मिलता है।

इस तरह इस दौर में प्रगतिशील विचारधारा के साथ-साथ विश्व युद्ध के बाद 'शांति' की मांग को भी आधार बनाया गया है। इस दौर में ओड़िया रचनाकारों ने प्रगतिशील दृष्टि अपनाने के कारण उनके उपन्यासों का विषय 'जनकेन्द्रित' रहा। इस दौर में लैंगिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक या जातीय प्रताड़ना को झेलते लोगों को अपने साहित्य का विषय बनाया गया।

#### **1.4.1.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास :-**

15 अगस्त सन् 1947 ई. को पूरे वतन के दो हिस्से 'भारत' और 'पाकिस्तान' में बंट गये। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति की घटना ने भारतीयों के जनजीवन को नया मोड़ दिया। विभाजन की त्रासदी से लोगों को गहरा आघात पहुंचा था। उसके बाद गाँधी की हत्या ने लोगों को असहाय बना दिया था।

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक विघटन तो स्वाधीनता से पूर्व भी था किन्तु स्वाधीनता के उपरांत राजनीतिक विघटन होने के कारण और भ्रष्टाचार बढ़ता गया। बढ़ते हुए भ्रष्टाचार ने सामाजिक और आर्थिक समस्या के पाट को और चौड़ा कर दिया। यह समस्या दिन-प्रतिदिन और बढ़ती गयी। विदेशी कंपनियों के आगमन के साथ देश में कालाबाजारी और महंगाई की समस्या भी बढ़ती गयी। अतः स्वाधीनता के उपरांत लोगों का मोहभंग हो गया। इस समय के रचनाकारों ने इसी दंश को अपने साहित्य का विषय बनाया है। इसलिए उनके साहित्य में यथार्थपरकता और व्यंग्यत्मकता पर जोर रहा।

### (1) सामाजिक उपन्यास :-

सामाजिक उपन्यास के अंतर्गत समाज की आर्थिक, राजनीतिक और पारिवारिक समस्याओं को आधार बनाया गया है। इसमें समाज के कोई खास प्रवृत्ति को आधार बना कर सामाजिक उपन्यासों का मूल्यांकन करना संभव नहीं है। उपन्यासों और विषयों की अधिकता के कारण सामाजिक उपन्यास को ही एक प्रवृत्ति के रूप में देखना समीचीन होगा।

भगवतीचरण वर्मा प्रेमचंद युग से लिख रहे हैं किन्तु उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ स्वातंत्र्योत्तर दौर में लिखीं गयीं। इनके ऊपर किसी एक विचारधारा का प्रभाव नहीं रहा। इनके उपन्यासों में समाज की वास्तविक झाँकी देखने को मिलती है जैसे -‘आखरी दाँव’ (1950) एक जुआरी की असफल प्रेम कहानी है। ‘अपने खिलौने’ (1957) में दिल्ली के मॉडर्न सोसाइटी पर तीखा व्यंग्य है। ‘टेढ़े मेढ़े रास्ते’ की पृष्ठभूमि राजनीतिक है। उनके द्वारा और भी उपन्यास हैं जो सामाजिक समस्याओं पर आधारित हैं -‘भूले बिसरे चित्र’, ‘वह फिर नहीं आई’, ‘सामर्थ्य और सीमा’, ‘सच्ची सीधी बात’, ‘सबहीं नचावत राम गोसाई’, ‘प्रश्न और मरीचिका’; उपेन्द्रनाथ ‘अश्व’ ने भी सामाजिक उपन्यास लिखे हैं -‘बड़ी बड़ी आँखें’, ‘पत्थर अल पत्थर’, ‘शहर में घूमता आईना’ ‘निमिषा’ आदि। अमृतलाल नागर -‘नाच्यौ बहुत गोपाल’ में निम्न मध्यवर्गीय समाज का चित्रण किया गया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी का ‘चलते-चलते’, ‘निमंत्रण यथार्थ के आगे’, ‘टूटा ही सेट’, ‘विश्वास का बल’, ‘सपना बिक गया’ आदि। उदय शंकर भट्ट ने सामाजिक उपन्यास की परंपरा को समृद्ध किया है। उनके स्वर लिखित -‘सागर लहरें और मनुष्य’, डॉ. शेफाली, ‘शेष-अशेष’ तथा लोक परलोक आदि। ‘सागर लहरें और मनुष्य’ उपन्यास मछुआरे जाति पर आधारित है। डॉ. शेफाली उपन्यास में शेफाली के माध्यम से उपन्यासकर ने अविवाहित नारी की विवशतापूर्ण स्थिति का चित्रण किया है।

महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में 'महाभोज' मन्नू भंडारी ; 'बेघर' ममता कालिया; 'ज़िन्दगी नामा' कृष्णा सोबती; 'पचपन खंभे लाल दीवारें' उषा प्रियंवदा; 'नावें' शशिप्रभा शास्त्री आदि महत्वपूर्ण हैं ।

## (2) मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास :

इस दौर के उपन्यासों की एक मुख्य प्रवृत्ति मनोविश्लेषणात्मक रही । यह प्रवृत्ति इस युग से पूर्व भी विद्यमान रही । किन्तु इस युग में भी इससे सम्बंधित अनेक उपन्यास लिखे गए । जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया कि इस तरह के उपन्यासों में मनोविज्ञान के सिद्धांतों का प्रयोग किया गया है । कहना न होगा कि मनोविज्ञान की नयी खोजों और प्रयोगों ने चरित्र सम्बन्धी पूर्व धारणा को बदल कर रख दिया । और एक मन की चारित्रिक ग्रंथियों को स्पष्ट करने का कार्य किया । इस सिद्धांत के द्वारा यह स्पष्ट हुआ कि मनुष्य का चरित्र उसके चेतन से नहीं अचेतन मन से निर्मित और संचालित होता है । अचेतन मन में ही मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ होती हैं उसमें भले बुरे का कोई भाव नहीं होता । इसमें यह भी स्पष्ट किया गया ही ऊपरी या चेतन मन दिखावा मात्र होता है जो मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है अचेतन में ही होती है । इस तरह के अनुसंधानों ने 'मनोविश्लेषणात्मक' सिद्धांत को जन्म दिया । अतः इसके जरिये रचनाकार यह स्पष्ट करना चाह रहे थे कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लक्ष्य पात्रों का मनोवैज्ञानिक शोध करना है । इस दौर के उपन्यास हैं - 'सुखदा', 'जयवर्धन', 'मुक्तिबोध' जैनेन्द्र; 'जिप्सी' इलाचंद जोशी; 'नदी के द्वीप' अज्ञेय; 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' डॉ. देवराज; 'गुनाहों के देवता', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', धर्मवीर भारती; 'परन्तु', 'द्वाभा', 'सांचा' प्रभाकर माचवे; 'डूबते मस्तूल' नरेश मेहता; 'तंतुजाल' डॉ. रघुवंश; 'सोया हुआ जल' सर्वेश्वरदयाल सक्सेना; 'लौटते लहरों की बाँसुरी' भारत भूषण अग्रवाल; 'वे दिन' निर्मल वर्मा आदि ।

## (3) आँचलिक उपन्यास :

इस दौर में आँचलिक उपन्यास प्रचुर मात्रा में लिखे गए इस लिए आंचलिकता इस दौर में प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक रही । इन उपन्यासों में अंचल विशेष की भाषा, वेशभूषा, धर्म-संस्कृति, आचार व्यवहार के साथ-साथ ग्रामीण समाज के राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों का भी चित्रण किया गया है । इन उपन्यासों का उद्देश्य अंचल विशेष के समस्याओं का वर्णन करने के साथ-साथ अंचल विशेष के माध्यम से व्यापक समाज को ग्रामीण समाज

की परिस्थितियों से अवगत करने का रहा । इस प्रवृत्ति से संबंधित उपन्यास हैं-‘मैला आँचल’, ‘परती परिकथा’, ‘पल्टू बाबू रोड़’, फणीश्वरनाथ ‘रेणु’ ; ‘रतिनाथ की चाची’, ‘वरुण के बेटे’, ‘दुःख मोचन’, ‘गरीब दास’, नागार्जुन; ‘रथ के पहिये’, ‘ब्रह्मपुत्र’, देवेन्द्र सत्यार्थी; ‘मुक्तावली’, ‘देवताओं के देश में’, ‘लहरों की छाती पर’, बलभद्र ठाकुर; ‘जंगल के फूल’ राजेन्द्र अवस्थी ; ‘पानी का प्राचीर’, ‘जल टूटता हुआ’ रामदरश मिश्र; ‘अलग अलग वैतरणी’ शिव प्रसाद सिंह; ‘बया का घोसला और साँप’ लक्ष्मी नारायण लाल; ‘काला जल’ शानी; ‘आधा गाँव’ राही मासूम रजा; ‘छोटे छोटे सवाल’ दुष्यंत कुमार; ‘राग दरबारी’ श्री लाल शुक्ल; ‘धरती धन न अपना’ जगदीश चन्द्र आदि ।

#### (4) व्यक्तिवादी और अस्तित्ववादी उपन्यास :-

व्यक्तिवादी उपन्यास में व्यक्ति का अस्तित्व और अहं महत्वपूर्ण होता है । इस विचारधारा की शुरुआत प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुई । औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप मनुष्य के अस्तित्व की अवहेलना हो रही थी । मशीनीकरण ने लोगों को भी मशीनों में तब्दीली करने की कोशिश की थी तभी इस विचारधारा ने मनुष्य के अस्तित्व के प्रश्न को प्रमुख बनाया । अस्तित्ववादी विचारधारा को पुष्ट करने वालों में कार्ल जस्पेर्स, मार्टिन हेडगर, गेब्रियल मार्सेल, ज्यां-पाल सार्त्र, अल्बर्ट कामू आदि का नाम प्रमुख है । “अस्तित्ववादी, व्यक्ति का अस्तित्व किसी बाह्य सत्ता के अधीन नहीं मानते । उनके अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता तथा अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी स्वयं है । अस्तित्ववादियों के अनुसार सच्चे अर्थों में मनुष्य अपने अस्तित्व का बोध दुःख एवं त्रास, यहाँ तक कि मृत्यु के अहसास के क्षणों में ही कर सकता है और बिना अस्तित्वबोध के मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वच्छंद भी नहीं हो सकता ।”<sup>36</sup> इन्हीं विचारधाराओं को आधार बना कर इस युग में उपन्यास लिखे गए जिसे व्यक्तिवादी उपन्यास की संज्ञा दी गयी । इस दौर में इस तरह के कई उपन्यास लिखे गए इस लिए इसे एक प्रवृत्ति के रूप में देखा गया है ।

अज्ञेय के ‘अपने-अपने अजनबी’ तथा कुंवर नारायण की ‘आत्मजयी’ में अस्तित्ववाद का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है । मोहन राकेश के ‘अँधेरे बंद कमरे में’, ‘न आने वाला कल’ तथा ‘अंतराल’ उपन्यास में अहं के कारण होने वाले पारिवारिक तनाव, परिवार टूटन, संबंधों में औपचारिकता को दिखाया गया है । राजेन्द्र यादव का ‘सारा आकाश’, ‘सुजाता

<sup>36</sup> हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ.सं.-47

की डायरी', 'शह और मात' उपन्यास व्यक्तिवादी उपन्यास है। देवराज का 'दूसरा सूत्र' और 'मैं वे और आप' व्यक्तिवादी उपन्यास है। 'रेखा', भगवती चरण वर्मा; 'बीमार शहर' राजेन्द्र अवस्थी आदि उपन्यासों ने इस प्रवृत्ति के विकास में अपना सहयोग दिया।

#### **(5) समाजवादी उपन्यास :**

समाजवाद की प्रवृत्ति इस दौर की उपजी हुई प्रवृत्ति नहीं है। इससे पूर्व भी इस प्रवृत्ति पर उपन्यास लिखे गए। किन्तु समाजवादी उपन्यासों की प्रवृत्ति को लिखने के क्रम में यह स्पष्ट हुआ कि समाजवादी उपन्यास की दो धाराएं हैं - एक धारा मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित है तो दूसरी लोहिया-जयप्रकाश की समाजवादी मान्यताओं से है जो 'नवीन आदर्श समाज का गठन' के आधार पर लिखी गयी हैं।

इस दौर के समाजवादी उपन्यास हैं - 'झूठा सच' यशपाल; 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा', भैरव प्रसाद गुप्त; 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाथी के दाँत' अमृतराय; 'धरती की आँखें', 'रूपाजीवा' लक्ष्मीनारायण लाल; 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा' राजेन्द्र यादव; 'नंगा शहर', भीमसेन त्यागी; 'नई दिशा' धीरेन्द्र वर्मा; 'अमृत और विष' अमृतलाल नागर; 'दूधगाछ' देवेन्द्र सत्यार्थी; 'लोहे के पंख; हिमांशु जोशी आदि।

#### **(6) ऐतिहासिक उपन्यास :**

ऐतिहासिक प्रवृत्ति की एक लम्बी धारा हिंदी उपन्यास साहित्य में देखने को मिलती है। इस दौर में भी यह प्रवृत्ति समाप्त होती हुई नहीं दिखाई देती है। इस दौर में भी इस प्रवृत्ति को आधार बनाकर अनेक उपन्यास लिखे गए जैसे - 'मृगनयनी', 'टूटे कांटे', 'अहिल्याबाई', 'भुवन विक्रम', 'माधवजी सिंधिया', 'रामगढ़ की रानी', 'महारानी दुर्गावती' वृंदावनलाल वर्मा; 'मधुर स्वप्न' राहुल सांकृत्यायन; 'आलमगीर', 'वयं रक्षामः', 'सोमनाथ', 'गोली' चतुरसेन शास्त्री; 'मुर्दों का टीला', 'प्रतिदान', 'चीवर', 'अँधेरे के जुगनू', 'पक्षी और आकाश', 'राह न रूकी' रांगेय राघव; 'चारुचंद्र लेख', 'पुनर्नवा' हजारी प्रसाद द्विवेदी; 'आग और पानी', 'ढाल तलवार', 'ओस के आंसू' 'पहली हार' रघुवीर शरण मित्र; 'बेकली का मजार' प्रतापनारायण श्रीवास्तव; 'इतिहास के नुपूर', 'रस कपूर', 'एक और भीष्म' आनंद शर्मा आदि।

#### **(7) मानवतावादी उपन्यास :-**

'मानवतावाद मानव मूल्यों और चिंताओं पर ध्यान केन्द्रित करने वाला अध्ययन, दर्शन या अभ्यास का एक दृष्टिकोण है।' मानवतावादी दृष्टि पूरे विश्व को एक सूत्र में बाँधने का कार्य करती है। उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव है। मानवतावादी 'स्व' से ज्यादा 'पर'

को महत्त्व देते हैं | एक दूसरे की स्वतंत्रता का सम्मान करते हैं | मानवतावाद के समर्थक विदेश में पाइथागोरस, इरास्मोर बाकू, नन हर्डर आदि हैं | भारत में राजा राम मोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गोपाल कृष्ण गोखले, अरविंद घोष, महात्मा गाँधी, नेहरु आदि मानवतावादी चिन्तक हैं | प्रो. आरनोल्ड टॉयनबी के अनुसार “भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति इसलिए स्वीकार्य की जाती है क्योंकि इसमें मानव जीवन का लक्ष्य ‘स्व’ नहीं वरन् ‘पर’ का भाव है | मानवतावादी मानव कल्याण के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिए वे धर्म परम सत्य संस्कृति पर हित के लिए हँसते हँसते शहीद हो गए”<sup>37</sup>

इस मानवतावाद से प्रभावित होकर भी उपन्यास लिखा गया जैसे - ‘ढलती रात’, ‘तट के बंधन’, ‘स्वप्नमयी’ विष्णु प्रभाकर; ‘नए मोड़’, ‘सागर लहरें और मनुष्य’, ‘लोक-परलोक’, ‘शेष-अशेष’ उदय शंकर भट्ट आदि |

#### **(8) जीवनी परक उपन्यास :-**

इस दौर में जीवनी परक उपन्यासों की बहुत भरमार रही | इसलिए इसे इस दौर की एक प्रवृत्ति के रूप में देख सकते हैं | जीवनी परक उपन्यास व्यक्ति केन्द्रित होता है | इस तरह के उपन्यासों में किसी व्यक्ति के जीवन को आधार बना कर उपन्यास लिखा जाता है | मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत के फलस्वरूप जीवनी परक उपन्यास को गति मिलना प्रारंभ हुआ है | जीवनी परक उपन्यास पहले भी एक दो लिखे गए किन्तु इसे इस युग की प्रवृत्ति के रूप में देख सकते हैं | जीवनीपरक उपन्यास हैं -‘देवकी का बेटा’, ‘यशोधरा जीत गयी’, ‘लोई का ताना’, ‘भारत का सपूत’ रांगेय राघव; ‘अनामदास का पोथा’ हजारी प्रसाद द्विवेदी; ‘खंजन नयन’, ‘मानस का हंस’ अमृतलाल नागर; ‘विस्मृत यात्री’ राहुल सांकृत्यायन आदि।

#### **1.4.2.6 स्वातंत्र्योत्तर ओड़िया उपन्यास (1948-1979)**

स्वाधीनता के उपरांत देश के प्रायः सभी क्षेत्र में परिवर्तन आया | जन तांत्रिक प्रणाली के द्वारा स्वाधीनता के पश्चात् हमारी कुछ समस्याओं का समाधान तो हुआ किन्तु उसके बाद नयी समस्याएँ भी समय की गति के साथ उभर कर आयीं | आजादी पूर्व स्वाधीन भारत के लोगों ने जो स्वप्न देखा था वह राजनीतिक हलचल और नेताओं के स्वार्थवश कहीं खो गया | लोगों का मोहभंग हुआ | स्वाधीनता के बाद सबसे ज्यादा जिसमें इजाफा हुआ वह था - चोरी, डकैती, व्यभिचार, बलात्कार, दुर्नीति, हत्या, दहेज़ प्रथा, गरीबी और

<sup>37</sup> [www.scotbuzz.org/2017/05/manvatavad.html?m=1](http://www.scotbuzz.org/2017/05/manvatavad.html?m=1)

बेकारी | नेतागण आम लोगों के शोषक बन बैठे थे | उनका देश की सेवा करना बस एक ढोंग बना रहा जिसके जरिये वह अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे | एक ओर जहाँ भारत में राजनीतिक हलचल रहीं वहीं लोगों की आर्थिक स्थिति में भी कोई सुधार नहीं हुए | गरीबी और भुखमरी जैसी समस्याएं भी उपस्थित हुईं | किन्तु तत्कालीन समाज सूचना और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उन्नति करता है | मीडिया आधुनिक युग में सक्रिय भूमिका निभाता है |

इस दौर में साहित्य के क्षेत्र में स्वाधीन भारत के बाद ओड़िशा राज्य में विभिन्न छापाखाना और प्रकाशन संस्थाएं प्रतिष्ठित की गयीं | इस समय पाश्चात्य जगत में बौद्धिक, राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलनों ने भारतीय युवा मानस को ज्यादा आकर्षित किया | इन सब के प्रचार में मुख्य भूमिका इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और प्रिंट मीडिया की रही | इस समय राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक संस्थानों में गणतांत्रिक मानवाधिकार के प्रश्नों के कारण समाज में राजनीतिक न्याय के प्रति सचेतनता आई | इसलिए इस समय स्त्री, दलित, आदिवासी और शोषित वर्ग के मानव अधिकार का प्रश्न प्रमुख हो गया | समाज में जिस तरह का परिवर्तन हुआ उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा |

### (1) नारी समाज :-

ओड़िया उपन्यास में अगर किसी विषय पर सबसे ज्यादा उपन्यास लिखे गए हैं, वो स्त्री विषयक ही हैं | इससे सम्बंधित उपन्यास ओड़िया साहित्य के प्रारंभिक दौर से ही लिखे जाते रहे हैं | किन्तु इस दौर में नारी के अस्तित्व को आधार बना कर भी उपन्यास लिखे गए | इसलिए यह प्रवृत्ति हर एक युग में प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान रही है |

इससे सम्बंधित उपन्यास हैं -कान्हू चरण महंती का- 'का' उपन्यास स्वाधीनता से पूर्व नारी के प्रति समाज के संकीर्ण दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है | यह उपन्यास सन् 1955 में प्रकाशित होता है | यह उपन्यास बाँझ औरतों पर समाज की प्रताड़ना और उसकी मानसिक पीड़ा को दर्शाता है | इस उपन्यास को सन् 1959 में केंद्र साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया | कान्हू चरण महंती का 'क्षण क्षणके आन' उपन्यास सन् 1975 में प्रकाशित होता है | इस उपन्यास में सौतेली माँ के प्रति समाज का क्या दृष्टिकोण रहा है तथा पुरुषों का नारियों के प्रति उत्पीड़क मनोभाव को इसमें आधार बनाया गया है |

विभूति पट्टनायक प्रेम और औरतों को लेकर उन्होंने 'चपलछंदा' (1961) एवं 'वधु निरुपमा' (1965) उपन्यास लिखे ।

प्रतिभा राय आधुनिक युग की बहुत प्रमुख उपन्यासकार हैं । जिन्हें ओड़िया साहित्य में 'नारी वाद' को स्थापित करने का श्रेय है । उनका पहला उपन्यास 'दुई टी डेऊ' है जो सन् 1966 में प्रकाशित हुआ । किन्तु यह उपन्यास आलोचकों को उतना आकृष्ट नहीं कर पाया था । सन् 1974 में प्रकाशित 'वर्षा, वसंत, वैशाख' उपन्यास नारी शोषण पर आधारित है । इस उपन्यास की नायिका सुलगना राजू, दीपक, अमरेन्द्र एवं देवव्रत के द्वारा दैहिक शोषित होने के पश्चात् मानसिक रूप से प्रताड़ित होती है । सन् 1979 में उन्हीं का 'अपराजिता' उपन्यास प्रकाशित होता है । यह उपन्यास मल्लिका नामक एक बालिका की कहानी है । इस उपन्यास में मल्लिका पुरुष प्रधान समाज में दुर्व्यवहार का शिकार होती है । उन्हीं का 'अरण्य' और 'पूर्णतोया' उपन्यास पितृसत्तात्मक समाज में नारी की स्थिति और समस्याओं को चुनौती देते हुए नारी चरित्रों का वर्णन है ।

बलराम पट्टनायक का 'अरक्ष' नाम से सन् 1964 में एक और उपन्यास प्रकाशित होता है । यह उपन्यास विधवाओं के प्रति हो रहे शोषण और समाज के कुसंस्कार पर आधारित है ।

## **(2) दलित जीवन :-**

दलित समस्या पर ओड़िया में बहुत कम उपन्यास लिखे गए । किन्तु इस युग से पूर्व भी दलित समस्या को आधार बना कर उपन्यास लिखे गए । इसलिए इसे इस युग से पूर्व ही एक प्रवृत्ति के रूप में स्थान दिया गया । इस दौर में भी दलित समाज से सम्बंधित उपन्यास लिखे गए होंगे किन्तु जो सबसे प्रमुख उपन्यास है वह गोपी नाथ महंती के द्वारा लिखा गया -'हरिजन' उपन्यास है, जो सन् 1948 में प्रकाशित होता है । किन्तु एक बात यह भी स्पष्ट किया जाना आवश्यक था कि ओड़िशा में दलित के लिए 'हरिजन' शब्द प्रचलित है ।

## **(3) आदिवासी समाज :**

आदिवासी समाज पर इससे पूर्व भी उपन्यास लिखे गए हैं । इस दौर के आदिवासी समाज से संबंधित उपन्यास को दिखाना उसके विकास यात्रा को दिखाना रहा । बहरहाल सन् 1949 में गोपीनाथ मोहंती का 'अमृत संतान' उपन्यास आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास है । ओड़िया साहित्य में आदिवासी जीवन और उनकी समस्याओं को परिचय



कराने का श्रेय गोपीनाथ मोहंती को है। गोपी नाथ मोहंती का 'शिव भाई' (1955); परशुराम मुंडा का 'मूलिया पीला', 'वसुंधरा माटी'; कान्हू चरण महंती का 'काड़का लेली' आदि उपन्यास इस दौर में आदिवासी जीवन पर लिखे गए।

#### **(4) मनोवैज्ञानिक उपन्यास :**

मनोवैज्ञानिक उपन्यास इस दौर की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। इससे सम्बंधित ओड़िया उपन्यास हैं - गोपीनाथ मोहंती के 'लय विलय' (सन् 1961) उपन्यास में कलकत्ता से पुरी जाते समय एक परिवार की मनोवैज्ञानिक स्थिति को दिखाया गया है।

राजकिशोर पट्टनायक इस दौर के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार थे। उनके 'प्रेमिका र डायरी' (1955) और 'चलाबाट' (1957) उपन्यास के केंद्र में प्रेम है। इन उपन्यासों में उन्होंने पुरुष और स्त्री के मनोभाव, अनुराग आदि को आधार बनाया है।

'शिकार' (1956) उपन्यास बलराम पट्टनायक का मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने युवाओं की मानसिक स्थिति का चित्रण किया है। सन् 1957 में उनका दूसरा उपन्यास 'गोटिए जीवन र कहानी' प्रकाशित होता है। इस उपन्यास का नायक दाम नायक है जो समाज में साधारण मनुष्य के प्रति हो रहे शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध खड़ा होता है। यह उपन्यास दाम नायक की मानसिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति को आधार बना कर लिखा गया है।

कृष्ण प्रसाद मिश्र ने इस दौर में तीन उपन्यास लिखे। 'मृगतृष्णा' (1958) उपन्यास में मनुष्य के अन्दर निहित आदिम दैहिक कामेच्छा का वीभत्स रूप दिखाया गया है। 'सिंहकटी' (1959) उपन्यास में प्रेम की विफलता और मानसिक यंत्रणा को आधार बनाया गया है। 'नेपथ्य' (1960) उपन्यास में प्रेम की आंतरिक अनुभूति और आवेग का करुण चित्र उपस्थित किया गया है। उनके तीनों उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं जिसमें अलग-अलग परिस्थितियों में उनके मनोभाव को उपस्थित किया गया है।

#### **(5) आंचलिक उपन्यास :-**

इस दौर की प्रमुख प्रवृत्ति में से एक प्रवृत्ति 'आंचलिक उपन्यास' की रही। इससे सम्बंधित ओड़िया में उपन्यास लिखे गए जैसे - सन् 1959 में विभूति पट्टनायक ने 'एड गाँ एड माटी' नामक एक आंचलिक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास ग्रामीण उपन्यास है, जिसके केंद्र में दलित समाज है। इस उपन्यास में दलितों की सामाजिक और राजनीतिक मान्यता से सम्बंधित नियम कौन से बनाये गए हैं इसका वर्णन देखने को मिलता है। इस उपन्यास

में तुलसी वन नामक गाँव में आधुनिकता के फलस्वरूप शिल्प और शिक्षा के क्षेत्र में आये परिवर्तन का भी चित्रण किया गया है। अतः इस उपन्यास के द्वारा विभूति जी ग्रामीण समाज की समस्याओं को उपस्थित करते हैं। ग्रामीण समस्याओं को आधार बना कर उन्होंने और भी उपन्यास लिखे हैं। जैसे-‘हस कान्दो र छंद’ और ‘उदा माटी र स्वप्न’ आदि में देखा जा सकता है।

#### **(6) ऐतिहासिक उपन्यास :**

ऐतिहासिक उपन्यास जैसी प्रवृत्ति पर भी इस दौर में ओड़िया उपन्यास लिखे गए। जैसे - विभूति पट्टनायक ‘सुलताना’ और ‘शेष राती र सूर्य’ उनके ये दो उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। ‘सुलताना’ उपन्यास रजिया सुल्तान को ले कर लिखा गया है।

#### **(7) सामाजिक उपन्यास :**

सामाजिक उपन्यास भी इस दौर में बहुत मात्रा में लिखे गए। समाज में अनेक विषय होते हैं उसमें सभी चीजों को अलग-अलग विश्लेषित करना सम्भव नहीं है। इसलिए समाज के कुछ विषयों को इसमें समाहित कर उस पर बात करना जरूरी है। जैसे -गोपीनाथ मोहंती का ‘दानापानी’ (सन् 1955) उपन्यास में उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन की संकीर्णता और उनकी समस्याओं को रेखांकित किया है।

विभूति पट्टनायक शहरीकरण और नगरीकरण पर ‘नायिका र नाम श्रावणी’(1964) नामक उपन्यास लिखा। सन् 1977 में लिखा गया ‘घन कुहुड़ी र दिन’ उपन्यास एक राजनीतिक उपन्यास है।

नृसिंहचरण पंडा का पहला उपन्यास ‘मेषपालक’ है जो सन् 1977 में प्रकाशित होता है। इस उपन्यास में सन् 1975 में आई राजनीतिक अस्थिरता को आधार बना कर लिखा गया है।

नरसिंह मिश्र का ‘मिलन’(1956) उपन्यास सन् 1955 में हुई बाढ़ की पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्रलयकारी बाढ़ के पश्चात् मनुष्य की स्थिति किस तरह शोचनीय होती जाती है इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में देखने को मिलता है।

शांतनु कुमार आचार्य ओड़िया उपन्यास जगत के बहु प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यास में नए प्रयोग किये हैं। उन्होंने ‘नर किन्नर’ (1962), ‘शताब्दी र नचिकेता’ (1965), ‘तीनटी राती र सकाल’ (1969), ‘दक्षिणावर्त’ (1973), ‘जात्रा र प्रथम

पाद' (1976) आदि उपन्यास लिखे हैं | उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज के कभी बाहरी अन्धकार को तो कभी आन्तरिक अन्धकार को दिखाने का प्रयास किया है |

निष्कर्ष :

अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि प्रायः दोनों भाषाओं के उपन्यासों में प्रारम्भिक दौर से लेकर समकालीन दौर तक के उपन्यासों में एक जैसी प्रवृत्ति देखी जा सकती है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति, समय सापेक्ष और स्थान सापेक्ष होने के कारण कुछ प्रवृत्तियाँ पहले और बाद में उपन्यासों में आती हैं ।

## द्वितीय अध्याय

### सन् 1980 के बाद का भारतीय-परिदृश्य

- 2.1 सामाजिक-परिस्थितियाँ
  - 2.1.1 पारिवारिक-व्यवस्था
  - 2.1.2 वर्ण और जाति आधारित-व्यवस्था
  - 2.1.3 वर्ग आधारित-व्यवस्था
  - 2.1.4 बाहरी-ढांचा
  - 2.1.5 औद्योगिक समाज
  - 2.1.6 उत्तर-औद्योगिक समाज
- 2.2 आर्थिक-परिस्थितियाँ
  - 2.2.1 उदारीकरण
  - 2.2.2 निजीकरण
  - 2.2.3 वैश्वीकरण
  - 2.2.4 भारत की वर्तमान स्थिति
- 2.3 राजनीतिक-परिस्थितियाँ
  - 2.3.1 राज्यों के स्तर पर गठबंधन
  - 2.3.2 अलगाववादी ताकतों का उभार
  - 2.3.3 प्रांतीय भावना का विकास
  - 2.3.4 राजनीतिक दंगे
  - 2.3.5 बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक की राजनीति
  - 2.3.6 राजनीतिक संगठन का उभार
  - 2.3.7 धर्म, जाति और राजनीति का गठजोड़
  - 2.3.8 सांप्रदायिकता का उभार
  - 2.3.9 भ्रष्टाचार
- 2.4 सांस्कृतिक-परिस्थितियाँ
  - 2.4.1 वैश्वीकरण का प्रभाव
  - 2.4.2 पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव
  - 2.4.3 नई भाषाई संस्कृति का उदय
- 2.5 धार्मिक-परिस्थिति
  - 2.5.1 बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक
  - 2.5.2 सामासिक संस्कृति बनाम सांप्रदायिक चेतना का उभार

- 2.5.3 आतंकवाद का उदय और दंगों की राजनीति
- 2.5.4 जाति, धर्म और आरक्षण की राजनीति
- 2.6 नव्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

‘साहित्य मानव समाज की भावनात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है । अतः उसके प्रेरक तत्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्व है ।’ किसी काल खंड के साहित्य को समझने के लिए उस काल खंड की परिस्थितियों को जानना अपेक्षित है । क्योंकि परिस्थितियाँ ही ऐसे वातावरण का निर्माण करती हैं जिससे लेखक प्रभावी होता है और उसको साहित्य में दर्ज करता है । परिस्थितियाँ सदैव एक जैसी नहीं रहती हैं समय के अनुरूप इसमें गतिशीलता भी आती है । इसी गतिशीलता के कारण प्रत्येक काल खंड अपने में विशेष गुण को समाहित किये रहता है । यही गतिशीलता उसे अन्य काल खंड से भिन्न और विशेष बनाता है । इसलिए साहित्य की पृष्ठभूमि की तलाश करने के लिए समय- समय पर इन परिस्थितियों का आकलन आवश्यक है ।

सन् 1980 के बाद की परिस्थितियों को अध्ययन के क्रम में मुख्यतः तीन-चार स्तरों पर विवेचन करेंगे ।

1. सन् 1980 के बाद विश्व इतिहास में ऐसी कौन सी घटनाएँ घटीं जिनका भारतीय इतिहास, राजनीति, अर्थनीति, संस्कृति और साहित्य प्रभाव पड़ा ? इसके अंतर्गत इसका अध्ययन किया जाएगा ।
2. भारतीय सामाजिक संरचना में ऐसे कौन-कौन से बदलाव इस काल खंड में देखने को मिलते हैं, जिससे हम उनके आन्तरिक स्वरूप को समझ सकते हैं या उसमें आये गतिशीलता को समझ सकते हैं ।
3. इन स्थितियों, परिस्थितियों और प्रभावों को लेकर रचनाकारों और साहित्यकारों पर क्या प्रभाव पड़ा जिसमें साहित्यिक जगत में नयी तरह की प्रवृत्तियों ने जन्म लिया । कुछ प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती थीं, जिनका विकास इस काल खंड में देखने को प्राप्त होता है । कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी थीं जो शुरुआत में प्रधान प्रवृत्तियाँ नहीं थीं, बल्कि उस समय वह गौण रूप में या विषयवार रूप में या समस्या के रूप में उभरी थीं, लेकिन उनका विस्तृत विकास इस काल खंड में होता है ।
4. इस दौर में ऐसे कौन से सामाजिक आन्दोलन हुए जिनकी वजह से नयी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया ।
5. इस दौर में तकनीक-आधारित परिवर्तन के कारण किन नई प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

इस सब को इस अध्ययन के विवेचन का हिस्सा बनाना इस अध्याय का मुख्य ध्येय है । इस क्रम में ही इनको हम कैसे बाँटे यह भी हमारे सामने प्रश्न खड़ा होता

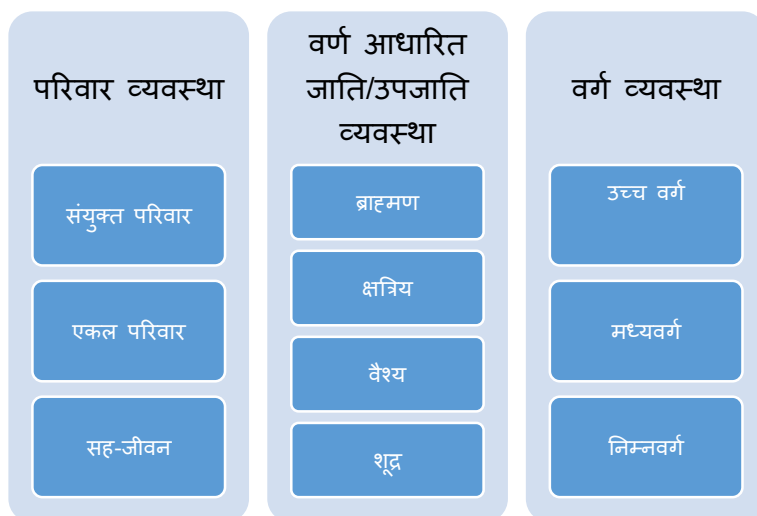
है । सवाल यह है कि राजनीति, अर्थनीति से दुनिया चल रही है क्या इनका असर भी साहित्यिक जगत पर भी देखने को मिलता है । अगर हाँ । तो प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि क्या ये दो ही प्रवृत्तियाँ प्रधान होती हैं ? यदि नहीं तो फिर क्या समाज साहित्य को प्रभावित नहीं करता है ? साहित्य भी क्या समाज के विकास में सहयोग नहीं करता है ? इन दोनों अन्तः संबंधों पर भी इस अध्याय में विवेचन किया जाएगा । इस अध्याय में केवल राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों पर बात नहीं की गई है अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को भी इस अध्याय में आधार बनाया गया है । साथ ही इस अध्याय में साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जो कभी अपने सामाजिक समस्याओं से प्रभावित होती हुई या स्वाभाविक विकास के रूप में उभरती हैं तो कभी पाश्चात्य विचारधाराओं से प्रभावित हो कर उपजी हुई प्रवृत्तियों को केंद्र में रख कर उनका विवेचन किया गया है । इस तरह सभी दृष्टिकोणों से इस दौर को प्रभावित करने वाले कारकों को गंभीरता पूर्वक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है ।

### **2.1 सामाजिक परिस्थितियाँ**

सामाजिक परिस्थितियाँ समकालीन समाज को जानने में विशेष सहायक हैं । समाज निरंतर परिवर्तनशील है । प्रत्येक समाज समय और व्यवस्था के अनुरूप ढलता है । समाज को समयानुसार बदलना भी आवश्यक है क्योंकि समाज की कुछ परम्पराएँ रूढ़ियाँ बनती जाती हैं । तदुपरांत समाज के बर्बर बन जाने का भय बना रहता है । ऐसे में परिवर्तन आवश्यक जान पड़ता है । समकालीन परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज के ढांचे को दो आधारों पर समझा जा सकता है । एक आंतरिक और दूसरा बाह्य । आंतरिक ढांचे का सम्बन्ध परिवार व्यवस्था और सामाजिक संबंधों से है जबकि बाहरी ढांचा का सम्बन्ध व्यवस्थागत परिवर्तन, प्रभावों और प्रयोगों पर आश्रित है ।

आन्तरिक ढांचे को समझने के लिए तीन स्तरों को समझना आवश्यक है । जैसे

आंतरिक ढांचा



### 2.1.1 परिवार व्यवस्था :

समाज की अवधारणा के पुष्ट होने के बाद परिवार मुख्य रूप से संयुक्त ही रहे लेकिन उत्तरोत्तर परिवार व्यवस्था में भी परिवर्तन आये और एकल परिवार की अवधारणा सामने आई ।

संयुक्त परिवार वह परिवार है जिसमें एक साथ कई पीढ़ियों के लोग रहते हैं । संयुक्त परिवार अपने आप में ही पूर्ण है, जिसमें कई पीढ़ियां एक साथ रहती हैं । इस तरह के परिवार में बुजुर्गों के द्वारा भावी पीढ़ी को उचित मार्ग निर्देशन दे कर जीवन संग्राम के लिए तैयार किया जाता है । वर्तमान के सन्दर्भ में देखें तो संयुक्त परिवार की संख्या कम होती हुई दिखाई देती है । औद्योगिकीकरण के बढ़ते प्रचार-प्रसार के कारण संयुक्त परिवार टूटता और बिखरता हुआ नजर आता है । इसका एक कारण रोजगार पाने की आकांक्षा है । दिन-प्रतिदिन बढ़ती जनसंख्या, रोजगारों में कमी तथा परम्परागत पेशों में अर्थ की कमी ने परिवार के सदस्यों को अपनी जीविका चलाने के लिए प्रवासित होने पर मजबूर किया है । लोग गाँव से शहरों की ओर पलायन करते हुए नजर आते हैं जिसके फलस्वरूप 'एकल परिवार' की निर्मिति भी यहीं से ज्यादा उत्तरोत्तर बढ़ती दिखाई देती है । संयुक्त परिवार के टूटने के पीछे दूसरा प्रमुख कारण नित्य बढ़ता उपभोक्तावाद है । जिसने लोगों को ज्यादा महत्वाकांक्षी बना दिया है । सुविधाभोगी लालसा के कारण लोगों में स्वार्थपरता बढ़ती जा



रही है। जिसके फलस्वरूप संयुक्त परिवार विघटित हो कर एकल परिवार बनता जा रहा है। स्त्री-पुरुष संबंधों में भी टकराहट देखी जा सकती है। दोनों एक-दूसरे को समय देने में असमर्थ हो रहे हैं ऐसे में तलाक जैसी समस्या भी बढ़ती जा रही है। बच्चों और बुजुर्गों की स्थिति भी दयनीय हो रही है। एक तरह से आधुनिकता और बाजार की आपाधापी ने लोगों को भावनात्मक रूप से जड़ बना दिया है।

उत्तर आधुनिक समाज में इन दोनों से इतर 'एकल जीवन' जीने की परम्परा भी प्रारंभ हो गयी है। जहाँ व्यक्ति परिवार जैसे बन्धनों से भाग खड़ा होता है और स्वछंद और स्वतंत्र जीने की कोशिश करता है। इस तरह के नए तरीके के निर्माण के पीछे अस्तित्वबोध और स्वछंद मनोवृत्ति काम करती है। जिसके मूल में उत्तराधुनिक युग के प्रभावी कारक जिम्मेदार हैं।

### **2.1.2 वर्ण और जाति आधारित-व्यवस्था :**

भारतीय जाति-व्यवस्था, सामाजिक-संरचना की सबसे पुरानी एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था रही है। सर्वप्रथम भारतीय समाज सरल समाज था। इसलिए शुरुआत में तीन वर्णों की ही परिकल्पना हुई - ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। बाद में जब जटिल संरचना बनी तब शूद्र वर्ग का निर्माण हुआ। शूद्र वर्ग को दास, दस्यु आदि नामों से पुकारा गया। इसका विकास फिर जातियों के रूप में बना। क्योंकि समाज जब सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है, तो उसमें अनेक तरीके के कामों के आधार पर जातियों का उद्भव होता है। इसलिए जातियों की उत्पत्ति हुई। उन जातियों के शुरुआत में परिवर्तनशीलता और गतिशीलता थी। बाद में उसे जन्मना बना दिया गया, जबकि वह पेशेगत थी। अतः पेशों से जातियों का निर्माण होता है। इसलिए इसे वर्ण आधारित जाति व्यवस्था कहते हैं। ये जाति व्यवस्था और जटिल होते हुए उपजातियों में बदलती गयी। इस रूप में वर्ण व्यवस्था को वर्ण, जाति और उपजाति के स्तर पर विभाजित करके देख सकते हैं।

यह जाति-व्यवस्था भारत के सभी धर्मों में विद्यमान है। हिन्दू धर्म में वर्ण-व्यवस्था को आधार बना कर 4 प्रमुख वर्ग बना दिए गये जो जन्म आधारित हो गये - 1. ब्राह्मण 2. क्षत्रिय 3. वैश्य 4. शूद्र, जैसे चार वर्ग बन गए। इसमें ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया, दूसरे में क्षत्रिय, तीसरे में वैश्य और चौथे या निम्न में शूद्र को रखा गया। मनुवाद के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मा के मुंह से, क्षत्रिय भुजा, उदर से वैश्य और पैर से शूद्र का जन्म हुआ है। इसी विचारधारा को ब्राह्मणवादी विचारक स्वीकार करते हुए शूद्रों को तुच्छ या

नीच कोटि का मानते हैं। ऐसा भी माना जाता रहा है कि शूद्रों का जीवन इस उच्च वर्ण के सेवा के लिए ही हुआ है। इसलिए वह अछूत है। इसी धारणा ने जातिगत भेदभाव को भी बढ़ावा दिया है। भारत के अन्य धर्मों में भी ये विभाजन है किन्तु हिन्दू धर्म में यह वर्णवाद ज्यादा कट्टरता से उभरता है। इसके पीछे के कारणों की तलाश करते हुए यह पाया गया कि इसके केंद्र में 'श्रेष्ठता' का सिद्धांत काम कर रहा है। साथ ही अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए ये षड्यंत्र रचा गया था। जिसकी वजह से कुछ तबके सुख सुविधाओं से सदैव वंचित रहे। हिन्दू धर्म में सबसे नीची समझे जाने वाली जाति या शूद्रों को 'दलित' के रूप में देखा जाता है। इसके लिए महात्मा गाँधी ने 'हरिजन' नाम सुझाया जबकि दलित आलोचक कांचा इलैया इसको 'दलित बहुजन' कहना पसंद करते हैं। भारतीय जाति-व्यवस्था को लेकर हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन सबसे उपयुक्त लगता है 'नीची से नीची समझने जाने वाली जाति भी अपने नीचे कोई-न-कोई जाति ढूंढ़ ही लेती है।' समय-समय पर महापुरुषों ने इस जातिप्रथा के विरोध में आवाज़ उठाई है। साथ ही दलित चिंतकों, आलोचकों ने दलित समुदाय के प्रति हो रहे शोषण के प्रति विद्रोह भी प्रकट किया है। इसलिए इसी विद्रोह की भावना को लेकर साहित्य में 'दलित साहित्य' का उदय हुआ है।

### 2.1.3 वर्ग-व्यवस्था :

वर्ग व्यवस्था का ठोस आधार आर्थिक है। लेकिन भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण भी वर्ग का काम करता है। जातियों की परिकल्पना भी कहीं-न-कहीं वर्ग का काम करती है। भारतीय समाज-व्यवस्था को समझने के लिए दो समाजशास्त्रियों के विचार आवश्यक हैं। जिसमें प्रथम नाम कार्ल मार्क्स का है और दूसरा मैक्स वेबर। इन दोनों समाजशास्त्रियों के सैद्धांतिक दृष्टिकोण एक दूसरे से काफी अलग हैं किन्तु दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों में अगर समानता है तो सिर्फ 'औद्योगिक पूंजीवाद' के स्वरूप को लेकर। कार्ल मार्क्स ने वर्ग का स्वरूप आर्थिक स्थिति के आधार पर निर्धारित किया है। उनका मानना है कि मानव सभ्यता का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में उन्होंने दो वर्गों की महत्वपूर्ण व्याख्या की है।

1. बुर्जुआ या पूंजीपति वर्ग।
2. पोलेटैरिएट या मजदूर वर्ग (सर्वहारा वर्ग)।

उन्होंने वर्ग का निर्णय उत्पादन के साधनों पर उनके अधिकारों के आधार पर किया । उनकी यह मान्यता रही कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन तो होते रहते हैं किन्तु इसमें दो वर्ग की भूमिका सदैव रहती है -एक वह वर्ग होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रहता है तो दूसरा वह जो इनके स्वामित्व से वंचित रहता है । जो नियंत्रक की भूमिका निभाता है, वह पूंजीपति या शोषक वर्ग होता है तो दूसरा जो इस तरह के स्वामित्व से वंचित रहता है वह सर्वहारा या शोषित वर्ग होता है । इस तरह शोषण की प्रक्रिया चलती ही रहती है । कार्ल मार्क्स वर्ग चेतना पर आधारित वर्ग संघर्ष की अवधारणा को सब के समक्ष ला कर सामाजिक क्रांति की बात करते हैं ।

वेबर ने भी समाज में आर्थिक स्थिति को देखते हुए वर्ग-भेद को महसूस किया । “वेबर का कहना था कि वर्गों के उन्नति के अवसर परस्पर अलग-अलग होते हैं । जहाँ मार्क्स ने मुख्य रूप से दो वर्गों की बात की वहीं वेबर ने निम्न चार वर्गों की बात की हैं-

1. धनी-वर्ग
2. बुद्धिजीवी, प्रशासकीय तथा प्रबंधन वर्ग
3. परंपरागत व्यापारी वर्ग
4. मजदूर वर्ग ।”<sup>38</sup>

औद्योगिक समाज के विकास के साथ वर्ग का गहरा सम्बन्ध होता है । इसलिए इस समाज के निर्माण में इन चारों वर्गों की भूमिका का अध्ययन आवश्यक है । वेबर के अनुसार -“किसी व्यक्ति का उत्पादन के साधनों या संपत्ति पर कितना नियंत्रण है, मात्र इसी आधार पर वर्ग निर्धारण नहीं होता है । कोई व्यक्ति किस वर्ग में श्रेणीबद्ध होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि खुले बाज़ार में उसकी योग्यता या सेवा की क्या कीमत है । किसी भी समाज में सभी सेवाओं का महत्व समान नहीं होता है, जैसे-एक डॉक्टर एवं किरानी की सेवा का समान आर्थिक महत्व नहीं होता है ।”<sup>39</sup> वेबर के सामाजिक वर्ग सम्बन्धी विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने वर्ग को पूर्णतः आर्थिक इकाई न मान कर औद्योगिक समाज से जोड़ कर देखने का प्रयास किया है । अर्थात् आधुनिक दौर में बढ़ते औद्योगीकरण के कारण यह वर्ग भेद में परिवर्तन आवश्यक था । इसलिए आधुनिक दौर के लिए यह वर्गीकरण उपयुक्त लगता है ।

---

<sup>38</sup> [https://hi.m.wikipedia.org/wiki/सामाजिक\\_स्तरीकरण](https://hi.m.wikipedia.org/wiki/सामाजिक_स्तरीकरण)

<sup>39</sup> समाज शास्त्र : अवधारणें एवं सिद्धांत, जे.पी.सिंह, तृतीय संस्करण, दिल्ली, पृ.सं.-308

इस सम्बन्ध में तीसरे विचारक वि. पैरेटो के मत को भी यहाँ देखा जा सकता है। उन्होंने अभिजात्य वर्ग की दो श्रेणियों को स्पष्ट किया। उनके अनुसार एक शासक अभिजात्य वर्ग तो दूसरा गैर-अभिजात्य वर्ग। एक का जहाँ सामाजिक स्तरीकरण में ऊँचा स्थान होता है वहीं दूसरे का स्थान नीचा होता है। दोनों की स्थिति एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत होती है। किन्तु वि. पैरेटो के अनुसार उन दोनों की स्थिति में सदैव बदलाव आता रहता है। उन्होंने इसे 'चक्रीय सिद्धांत' के रूप में स्पष्ट किया है। उनका मानना था आज जो शासक अभिजात्य वर्ग का है उनकी स्थिति मजबूत है किन्तु यह हर समय मजबूत नहीं रहती है। क्योंकि "जो वर्ग सत्ता में नहीं आ पाते हैं वे सत्ता में बने रहने वालों के ऊपर निगरानी रखते हैं और उनके कमजोर होते ही उन पर हावी हो जाते हैं। उनके सिद्धांत को 'अभिजात्य वर्ग का चक्रण सिद्धांत' कहा जाता है।"<sup>40</sup> इस तरह एलिट वर्ग के भी दो स्तरों को उन्होंने बड़ी स्पष्टता से प्रस्तुत किया।

इन तीनों विचारकों का हवाला दे कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि समाज में हो रहे परिवर्तन के प्रभाव से सामाजिक वर्गों में भी परिवर्तन संभव है और ऐसा देखा गया है कि उससे नए वर्गों का भी उदय हो रहा है। मार्क्स के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि समाज में पहले दो वर्ग थे एक पूँजीपति वर्ग दूसरा मजदूर वर्ग किन्तु औद्योगीकरण के बाद या नवजागरण के बाद ही मध्य वर्ग जैसा नया वर्ग समाज में उभरा। फिर वेबर ने यह स्पष्ट किया कि समाज सिर्फ तीन वर्गों में ही सीमित नहीं है अब उनमें भी वर्ग बन गए हैं। उन्होंने मध्य वर्ग में भी उच्च और निम्न की अवधारणा को स्पष्ट किया। इसके बाद इस कड़ी में वि. पैरेटो ने एलिट वर्ग में भी दो वर्ग का विभाजन करके यह स्पष्ट कर दिया कि अब वर्गों में भी वर्ग निर्मित हो रहे हैं। आज का युग आधुनिक नहीं बल्कि उत्तर आधुनिक हो गया है समय और समाज में तो अनेक परिवर्तन आये ही हैं साथ ही सामाजिक वर्गों में भी यह परिवर्तन देखे गए हैं जैसे -

## 1. उच्च वर्ग

### 1.1 उच्च-उच्च वर्ग

### 1.2 उच्च- मध्य वर्ग

### 1.3 उच्च-निम्न वर्ग

---

<sup>40</sup> [https://hi.m.wikipedia.org/wiki/सामाजिक\\_स्तरीकरण](https://hi.m.wikipedia.org/wiki/सामाजिक_स्तरीकरण)

## 2. मध्य वर्ग

### 2.1 मध्य उच्च वर्ग

### 2.2 मध्य मध्य वर्ग

### 2.3 मध्य निम्न वर्ग

## 3. निम्न वर्ग

### 3.1 निम्न उच्च वर्ग

### 3.2 निम्न मध्य वर्ग

### 3.3 निम्न-निम्न वर्ग

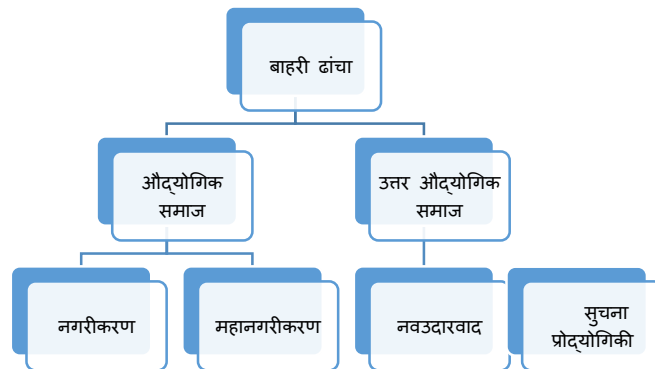
अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या वर्ग व्यवस्था इतनी ही है या इसके अलावा भी सन् 1980 से अब तक और कुछ वर्ग का निर्माण हुआ है ? निश्चित तौर पर और भी दो वर्ग बने हैं पहला वर्ग नवसंभ्रांत वर्ग का है । इस वर्ग के पास न तो परंपरागत पुश्तैनी जमीन थी न इसके पास पहले से पूंजी थी । इसका अर्थ यह था कि इस वर्ग को उच्च वर्ग प्राप्त नहीं था इसको उच्च वर्ग की प्राप्ति कई कारणों से मिली । पहला नव संभ्रांत वर्ग का सम्बन्ध राजनीति से रहा । नयी राजनीतिक व्यवस्था में विभिन्न वर्गों की भागीदारी होने की वजह से यह वर्ग बना । जिसकी जनसंख्या अधिक थी जो राजनीति में सफल हो गया उसने खुद को कुलीन वर्ग में शामिल कर लिया । दूसरा नव संभ्रांत वर्ग का सम्बन्ध प्रशासन वर्ग से था, जो भारत में नौकरशाही से चलता है । इन्होंने अपना रसूख बनाया अपना ओहदा प्राप्त किया । तीसरा नव संभ्रांत वर्ग तीसरी दुनिया के देशों में बड़े उद्योगों को आधार बना कर विकसित हुआ । भारत का यह वर्ग भी उद्योगपति के रूप में तब्दील होता गया । साथ ही नए तरह के बाज़ार के उपयुक्त निवेश कर यह वर्ग कुलीन वर्ग बना । यही नव संभ्रांत वर्ग कहीं-न-कहीं कॉर्पोरेट वर्ग में तब्दील हो गया कहीं पर वह नव संभ्रांत वर्ग भी रहा । लेकिन रसूखदार बन गया । उनका रिश्ता राजनीति, धन और उद्योग के साथ बना गया । इसके अलावा दूसरा वर्ग नवउदारवादी ताकतों के आने के साथ आता है । वह वर्ग सॉफ्टवेयरकामी वर्ग है । नवउदारवाद के लागू होने से सबसे ज्यादा फायदा सॉफ्टवेयरकामी वर्ग को मिला । इसी रूप में न्यू टेक्नोक्रेट्स वर्ग का उदय हुआ । ये वर्ग तकनीकी रूप से कौशलपूर्ण, पेशेवर और व्यापारिक रूप में बड़े पैकेज वाला वर्ग है । दुनिया के विकसित देशों में इसी वर्ग की बहुत बड़ी भूमिका रही है । तीसरी दुनिया के देशों में वे इसी वर्ग की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं । साथ ही एक और नया

वर्ग भी उदय इस दौर में हुआ है जिसे पी. आर. ओ (पब्लिक रिलेशन ऑफिसर/ जन सम्पर्क अधिकारी) कहा जाता है । यह वर्ग भारतीय राजनीति में, अर्थनीति में, कॉर्पोरेट नीति में शामिल है । इस वर्ग को लाईजनिंग ऑफिसर भी कहा जाता है । इसकी भूमिका सांठ गाँठ करवाने की रही है अर्थात् काम निकलवाना इसका मूल ध्येय है ।

विशेषकर हिंदी और ओड़िया उपन्यासों में यह वर्ग किस रूप में उभर कर आ रहे हैं हमें इन पहलुओं को भी देखना है । यह वर्ग भ्रष्टाचार में आकंठ डूबा हुआ है । इसकी पैठ हर जगह बनी हुई है । इस भ्रष्टता में सभी धर्म निरपेक्ष हैं ।

#### 2.1.4 बाहरी ढांचा

बाहरी ढांचा पर बात करने से पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सामाजिक ढांचे की गतिशीलता को समझने के लिए इतिहासकारों ने इसे महत्वपूर्ण माना था । इसलिए काल गत अवधारणा सामने आई होगी । उन्होंने प्रारंभिक समाज को आदिकाल, उसके बाद आये काल खंड को मध्यकाल फिर इसी निरंतरता में आधुनिक काल नाम से उत्तरोत्तर काल खण्डों को विभाजित करके समाज को समझने की कोशिश की ।



बाहरी ढांचा को समझने के लिए इस आरेख को देखा जा सकता है ।

#### 2.1.5 औद्योगिक समाज

औद्योगिक समाज का सम्बन्ध यांत्रिक उत्पादन से है । भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया यूरोप में हुए औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप आयी है । औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने मुख्यतः उद्योगों और फैक्ट्रियों को बहुत ज्यादा प्रभावित किया है । यह प्रक्रिया भारत में 1850 के आसपास आती है । औद्योगिकीकरण को मुख्य रूप से विकास की एक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है । औद्योगीकरण एक सामाजिक और आर्थिक प्रक्रिया है जिसमें मानव-समूहों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में परिवर्तन आता है । जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर उद्योग धंधों का विकास, उर्जा की खपत तथा उत्पादन किया गया ।

औद्योगीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण गाँव अब शहरों में तब्दील किये जा रहे हैं । 19वीं शताब्दी के शुरुआती दिनों में भारत में 65 प्रतिशत आबादी गाँव में बसती थी । किन्तु वर्तमान में गाँव-के-गाँव उजड़ गए हैं । अब शहरों की संख्या बढ़ती जा रही है । इसी तरह शहरी जनसंख्या की वृद्धि का वृहदाकार रूप ने महानगरीकरण को भी जन्म दिया है । महानगरों का गतिशील जीवन भौतिक सुख और अन्य सुविधाओं की चकाचौंध में गुम है । यहाँ संसाधनों की उपलब्धता रही है इसकी वजह से महानगरों ने लोगों को बरबस आकृष्ट किया है । किन्तु महानगरों की विषमताओं ने भी लोगों को अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर किया है । महानगर के दोनों पहलू हमारे समक्ष हैं । एक ओर जहाँ महानगरों में अट्टालिकाएँ हैं वहीं दूसरी ओर झोपरपट्टियाँ भी हैं । गाँव से पलायन किये हुए श्रमिकों की स्थिति महानगरों के प्रतिष्ठित लोगों से विपरीत है । यहाँ सुख-सुविधाओं की छटा तो है लेकिन जीवन मूल्यों का निरंतर हास हो रहा है । साथ ही महानगरीकरण के फल स्वरूप जंगल और पहाड़ को काट कर कारखाने, विशाल मल्टीनेशनल बिल्डिंग, नए नए मॉल बनाये जा रहे हैं जिसके फल स्वरूप वहाँ पर रह रहे मूल निवासियों को विस्थापित किया जा रहा है । कुछ लोग काम की तलाश में इन महानगरों में प्रवासित हो रहे हैं । इसलिए महानगरों की संख्या भी बढ़ रही है ।

### 2.1.6 उत्तर औद्योगिक समाज

उत्तर-आधुनिक युग को डेनियल बेल ने 'उत्तर औद्योगिक युग' कहा है । जिससे बिल्कुल सहमत हुआ जा सकता है क्योंकि उत्तर आधुनिक दौर नवउदारवादी नीतियों से संचालित है । जिससे एक ऐसा औद्योगिक समाज का उदय होता है जो विश्व को एकीकृत कर एक बाज़ार का निर्माण करता है । "डेनियल बेल ने 1973 में दावा किया कि आने वाले तीस या पचास वर्षों में हम उत्तर औद्योगिक समाज को उभरता देखेंगे ।"<sup>41</sup> उत्तर औद्योगिक युग में उद्योगों को बढ़ावा देकर उपभोक्ता वर्ग का निर्माण किया है जिसमें उपभोक्ता को केंद्र में रख कर एक कृत्रिम माँग पैदा की जाने लगी । एक तरह से यह दौर भौतिक सुखवादी दौर रहा है । इस युग की अफरातफरी से तो उच्च वर्ग और मध्य वर्ग प्रभावित है ही लेकिन निम्न वर्ग भी इससे अछूता नहीं है ।

<sup>41</sup> <http://brainly.in/question/222859710.01.2018>

उत्तर औद्योगिक समाज ने मोबाइल क्रांति को जन्म दिया है । और मोबाइल क्रांति इन्टरनेट के कारण हो पायी है । इन्टरनेट ने एक ऐसा वर्ग का उदय किया जो एप्प के द्वारा संचालित है । ये एक ऐसा 'जिन' है जो सभी आवश्यक चीजों को कुछ मिनटों में ही मुहैया करवा रहा है । अब बाज़ार ही तय कर रहा है कि हमारी आवश्यकता क्या हो और हम क्या खरीदें ? एक तरह से आज का भारतीय समाज विकास के नाम पर अमेरिकीकरण के शिकंजे में आबद्ध है । हर बात पर उनका अनुकरण करना भारतीय ने सीख लिया है । खान, पान और पोशाक आदि पर तो उनका इतना प्रभाव पड़ रहा है कि लोग बिना सोचे समझे उसको स्वीकार करने लगे हैं । अब लोग चाइनीज़, पीज्जा, बर्गर आदि की संस्कृति को अपनाये जा रहे हैं । इसलिए दुनिया में जगह- जगह पर इनकी दुकानों की भरमार हो गयी है । पोशाक को लेकर भी वही भिन्नताएँ देखी जाती है । अब मध्यवर्ग और उच्चवर्ग ब्रांड और मॉल पर आश्रित है । बाजारीकरण ने इन सब को बढ़ावा दिया है । अब घर भी बाज़ार बन गया है । अब तो शारीरिक क्षुधा की पूर्ति के लिए बाज़ार कॉल गर्ल और कॉल बॉय की भी सुविधा उपलब्ध करवा रहा है । साथ ही बाज़ार ऐसे यांत्रिक साधन भी उपलब्ध करवा रहा है जिससे शारीरिक क्षुधा की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके । ऐसे में लोगों में बाजारवादी दृष्टि भी हावी होती जा रही है । अब उन चीजों का कोई मोल नहीं है जिसे बेचा नहीं जा सकता । इसलिए संबंधों में टकराहट और कड़वाहट भी बढ़ गयी है ।

पहले समाज आदिम रहा । इस रूप में समाज का विकास सामंती और फिर पूंजीवादी रहा किन्तु उत्तर आधुनिक समाज अर्द्ध सामंती समाज है । क्योंकि सामंतवादी युग में एक वर्ग विशेष ही सामंतवादी रहा जिसको सुलभता मिली जिसने शोषण भी किया इसलिए ऐसे वर्ग का लोप हो गया किन्तु अभी के समाज में उच्च और मध्य दोनों ही परोसी जा रही सुलभता के शिकार हैं अतः अब आधी आबादी सामंती सोच की शिकार है । अब शोषण के पैमाने जरूर अलग हैं । एक ओर जहाँ आधी आबादी आर्थिक संपन्नता से परिपूर्ण है वहीं आधी आबादी अनेक समस्याओं से जूझ रही है । अब समाज दो पाटो में बंट गया है । अब ऐसी स्थिति आ गयी है धनी वर्ग और धनी होता जा रहा है वहीं गरीब और गरीब होता जा रहा है । गरीबों के पास अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करना भी संभव नहीं हो पा रहा है । साथ ही विकास की नीतियों ने एक ओर उच्च और मध्य वर्ग का हित किया वहीं निम्न वर्ग इन नीतियों के लागू होने पर प्रताड़ित है ।



विकास की नीति ने गरीबों के घर छीने उनके पुरखों की जमीन से उन्हें विस्थापित किया । उत्तर औद्योगिक युग में रोजगारों में शिक्षित वर्ग की आवश्यकताओं ने मजदूरों और कम पढ़े लिखे लोगों को बेकार बनाया है । देश में बेकारी बढ़ी है और बेकारी और बेरोजगारी के कारण चोरी, तस्करी, देह व्यापार आदि सामाजिक अपराधों की संख्या में वृद्धि हो रही है और इनकी संख्या में वृद्धि होने के कारण महिलाओं और बच्चों पर संकट बढ़ता जा रहा है । उनकी सुरक्षा का प्रश्न हमारे लिए चिंता का विषय बन गया है ।

उत्तर औद्योगिक समाज ने भूमि अधिग्रहण, प्रवासन, नक्सलवाद, बाल मजदूरी आदि समस्याओं को तो बढ़ाया ही लेकिन समाज को सुरक्षित और नष्ट करने के नाम पर परमाणु बम और हथियारों का भी बहुत निर्माण एवं आयात इस दौर में हो रहा है । उत्तर औद्योगिक समाज ने दो धुरी बनाई है । पहली धुरी विकास की है जो भारत को अन्य देशों से परिचित करवाकर खुद को पिछड़ों की श्रेणी में लाने से रोकती है वहीं दूसरी धुरी विकास की जगह विनाश को आमंत्रित कर रही है । एक ओर जहाँ विज्ञान की प्रगति ने हमें चाँद पर पहुँचा दिया है वहीं सांस्कृतिक धरातल पर हमारा समाज पिछड़ता जा रहा है । अब सामासिक-संस्कृति जैसे मूल्य कमजोर पड़ते जा रहे हैं । लोगों में यांत्रिकता और प्रगति की होड़ लग गयी है । अब सामासिक संस्कृति को अलगाव, धार्मिक पहचान और खान-पान, पोशाक के आधार पर वैमनस्य और विद्वेष उत्पन्न करने वाले घटक के रूप में देखा जा रहा है । इससे देश आंतरिक रूप से कमजोर हो रहा है । इस युग में सामासिक संस्कृति का ताना-बाना टूटता हुआ दृष्टिगोचर होता है ।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिक युग में चाहे अनेक मूल्य की कमी आई हो किन्तु यह भी सत्य है कि इस समय निरंतर बढ़ती परम्परागत रूढ़ियों पर अंकुश लगाये गए हैं । औरतें अब चार दीवार में कैद नहीं हैं । वे रोजगार के लिए बाहर निकल रही हैं और पुरुषों के साथ कंधे से कन्धा मिला कर आगे बढ़ रही हैं । अब स्त्रियाँ शिक्षित होने की वजह से अपने अस्तित्व और पहचान को लेकर सजग हैं । इन सब कारणों के पीछे बहुराष्ट्रीय कंपनियों के व्यापारिक हितों और 'पॉप कल्चर' की संस्कृति काम कर रही है जिसने स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण को बदलने का काम किया है ।

साथ ही अन्य कई मुद्दे जैसे समलैंगिकता को लेकर परम्परागत चिंतन की दृष्टि में परिवर्तन आया है । भारत में इसे एक बीमारी के रूप में भी देखा जाता रहा है । वर्ष 1861 के तहत भारतीय दंड संहिता की धारा 377 के अंतर्गत समलैंगिकता को दस साल

के कारावास के साथ दंडनीय अपराध माना गया था । 2013 में सुप्रीमकोर्ट ने समलैंगिक विवाह को गैर कानूनी बताया । किन्तु अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में यह सिद्ध किया गया कि ये कोई बीमारी नहीं है । 06 सितम्बर, 2018 को सुप्रीमकोर्ट ने समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से हटा दिया है । आपसी सहमति से दो वयस्कों के बीच बनाये गए सम्बन्ध को अब अपराध नहीं माना जाएगा । इस तरह पुरानी मानसिकता को उत्तर आधुनिक दौर चुनौती दे रहा है । अतः इस दौर में मूलगामी सोच बनाम उत्तर-आधुनिक दृष्टि के मध्य संतुलन साधना एक चुनौती है ।

## 2.2 आर्थिक-परिस्थितियाँ

आज़ादी के बाद से ही भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे को अपनाया था । इसमें पूंजीवादी व्यवस्था की विशेषताएँ तो थी ही, साथ ही समाजवादी अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ भी शामिल थीं । इन विशेषताओं के बावजूद सन् 1980 के दौर में भारत की आर्थिक स्थिति अन्य देशों की तुलना में खराब रही । समय-समय पर योजनाएं तो बनाई जाती रहीं किन्तु उनमें कितनी सफलता मिल पाई है, यह हमारे समक्ष है ।

आज के दौर में भारत की आर्थिक स्थिति क्या रही है ? इससे पूर्व सन् 1980 के बाद की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना आवश्यक है क्योंकि आज का भारत उस पृष्ठभूमि की देन है । 1980 के दौर में भारत को वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा । सामान्यतः प्रशासन चलाने के लिए तथा विभिन्न नीतियों के क्रियान्वयन के लिए सरकार करों और सार्वजनिक उद्यमों आदि के माध्यम से फंड जुटाती है । जब व्यय (खर्च) आय से ज्यादा हो जाता है तब सरकार बैंकों, जनसामान्य तथा अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों से उधार लेने के लिए बाध्य हो जाती है । जो द्रव्य भारत के बाहर से आयात होते हैं उनके लिये भारत सरकार को डॉलरों में रकम भुगतान करना पड़ता है । भारत सरकार इसी रकम के भुगतान के लिए उत्पादन पर आश्रित रहती है। उत्पादन में बढ़ोतरी के लिए सरकार विभिन्न विकास नीतियां या योजनाएं बनाती है । किन्तु यह विकास तब अवरुद्ध होता है, जब बेरोजगारी, गरीबी और जनसंख्या में वृद्धि होती है । 1980 के बाद सरकार को इन्हीं समस्याओं का सामना करना पड़ा था । जिसकी वजह से सरकार की स्थिति काफी खराब होती गयी, सरकार को बाध्य हो कर राजस्व से अधिक खर्च करना पड़ रहा था । साथ ही सरकार के द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रमों पर होने वाले व्यय के कारण राजस्व की प्राप्ति भी नहीं हो पा रही थी तथा जिन क्षेत्रों या संस्थानों पर सरकार के अर्थ व्यय हो रहे थे उन क्षेत्रों में

शीघ्र प्रतिफल की संभावना न होने पर आर्थिक संकट की बढ़ोतरी दिन-प्रतिदिन होती जा रही थी । जिसके फलस्वरूप सरकार कर्जदार होती गयी और भारत की आर्थिक स्थिति में गिरावट दिखाई पड़ने लगी ।

सन् 1980 के दशक के बाद भी यह संकट घटने के बजाए बढ़ रहे थे । सन् 1980 के अंत तक सरकार का व्यय राजस्व से इतना अधिक हो गया कि ऋण के लिए भी हमारे देश के पास पूंजी नहीं थी । इसलिए इस दौर में आवश्यक वस्तुओं की कीमतें तेजी से बढ़ने लगीं । आयात की वृद्धि इतना तीव्र हो गयी कि निर्यात की संवृद्धि से तालमेल नहीं जुड़ पा रहा था । अब सरकार के पास इतना धन नहीं बचा था कि वह अंतर्राष्ट्रीय उधारदाताओं का ब्याज तक चुका पाती । ऐसी स्थिति में कोई अंतर्राष्ट्रीय निवेशक भारत में निवेश करना नहीं चाहता था । अंततः भारत ने अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक अर्थात् विश्व बैंक से 7 बिलियन डॉलर ऋण लिया था । किन्तु इस ऋण को देने के लिए उन्होंने भारत सरकार पर कुछ शर्तें लगाई थीं ।

जैसे -

1. सरकार को उदारीकरण करना होगा ।
2. निजी क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप कम करना होगा ।
3. भारत से यह अपेक्षा की गई कि अन्य देशों के बीच विदेशी व्यापार पर लगे प्रतिबंध भी हटाने होंगे।

भारत सरकार ने विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की ये शर्तें मान ली और यहीं से नई आर्थिक नीति की घोषणा हुई । सरकार ने इन शर्तों के बाद बहुत सी नीतियाँ बनायीं जिनमें प्रमुख हैं -

- (1) उदारीकरण
- (2) निजीकरण
- (3) वैश्वीकरण की ओर अग्रसर होना ।

#### 2.2.1 उदारीकरण :

उदारीकरण आर्थिक संवृद्धि और विकास के लिए बनाये गए नियम-कानून के प्रतिबंधों को दूर कर, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को 'मुक्त' करने की नीति है । सन् 1980 के दौर में औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली, आयात निर्यात नीति, तकनीकी उन्नयन, राजकोषीय और विदेशी निवेश और नीतियों में उदारीकरण आरंभ हो चुका था । किन्तु 1991 में पुनः

नीतियों में सुधार किये गए थे और यह नीतियाँ सुधारवादी दृष्टिकोण से ज्यादा व्यापक रहीं। 1991 में मुख्य रूप से औद्योगिक क्षेत्र, वित्तीय क्षेत्र, कर-सुधार, विदेशी विनिमय बाज़ार व्यापार तथा निवेश क्षेत्र आदि में ध्यान दिया गया था। 1991 के बाद से शुरू हुई सुधार नीतियों ने इनमें से अनेक पर प्रतिबंध को समाप्त कर दिया था। अब अल्कोहल, सिगरेट, जोखिम भरे रसायनों, औद्योगिक विस्फोटकों, इलेक्ट्रॉनिकी विमान तथा औषधि-भेषज जैसे छः उत्पाद श्रेणियों में लाइसेंस की व्यवस्था थी और अन्य क्षेत्रों में लाइसेंस को समाप्त कर दिया गया था।

**वित्तीय क्षेत्र में सुधार -**

वित्त के क्षेत्र में कामर्शियल बैंक या व्यावसायिक और निवेश बैंक, स्टॉक एक्सचेंज तथा विदेशी मुद्रा बाज़ार आदि सम्मिलित हैं। भारत में वित्तीय क्षेत्र का नियमन रिजर्व बैंक के द्वारा होता है। भारतीय रिजर्व बैंक के द्वारा बनाये गए नियमों पर ही अन्य वित्तीय संस्थानों को कार्य करना पड़ता था। किन्तु 1991 में आये सुधारों ने इस नीति को उलट कर रख दिया था। “वित्तीय क्षेत्रक सुधार नीतियों का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी है कि रिजर्व बैंक को इस क्षेत्रक के नियंत्रक की भूमिका से हटाकर उसे इस क्षेत्रक के एक सहायक की भूमिका तक सीमित कर दिया गया है।”<sup>42</sup> अतः इसका अर्थ यह है कि वित्तीय क्षेत्र में रिजर्व बैंक की सलाह के बिना ही कई मामले अपने निर्णय पर लेने की स्वतंत्रता मिल गयी थी। “सुधार नीतियों ने ही वित्तीय क्षेत्रक में भारतीय और विदेशी निजी बैंकों को भी पदार्पण करने का अवसर दिया। बैंकों की पूंजी में विदेशी भागीदारी की सीमा 50 प्रतिशत कर दी गयी।”<sup>43</sup> अब बैंकों को देश-विदेश से और अधिक संसाधन जुटाने की अनुमति मिल गयी थी -किन्तु खाता धारकों और देश के हितों की रक्षा के उद्देश्य से कुछ नियंत्रक शक्ति अब भी रिजर्व बैंक के पास थी। अब विदेशी निवेश संस्थाओं तथा व्यापारी बैंक म्यूचुअल फंड और पेंशन कोष आदि को भारतीय बाज़ारों में निवेश करने की अनुमति मिल गयी है।

**विदेशी विनिमय सुधार -**

विदेशी क्षेत्र में सबसे पहला सुधार विदेशी विनिमय बाज़ार में किया गया। “1991 में भुगतान संतुलन की समस्या के तत्कालीन निदान के लिए अन्य देशों की मुद्रा की तुलना

---

<sup>42</sup> [www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103](http://www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103) (2015-16)

<sup>43</sup> [www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103](http://www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103) (2015-16)

में रुपए का अवमूल्यन किया गया।<sup>44</sup> इसकी वजह से देश में मुद्रा आगमन की वृद्धि हुई। साथ ही इसमें विदेशी विनिमय बाज़ार में रुपये के निर्धारण को भी सरकारी नियंत्रण से मुक्त कराने की कोशिश की गयी। “अब बाज़ार ही विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति के आधार पर विनिमय दरों को निर्धारित कर रहा है।”<sup>45</sup>

### **व्यापार और निवेश नीति सुधार -**

“अर्थव्यवस्था में औद्योगिक उत्पादों और विदेशी निवेश तथा प्रौद्योगिकी की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की क्षमता को प्रोत्साहित करने के लिए व्यापार और निवेश व्यवस्थाओं का उदारीकरण प्रारंभ किया गया।”<sup>46</sup> इस तरह के कार्यक्रमों का एक उद्देश्य स्थानीय उद्योगों की स्थिति को सुधारना और उन्हें आधुनिक प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना था।

#### **2.2.2 निजीकरण -**

“निजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें क्षेत्र या उद्योग को सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र में स्थानांतरित किया जाता है। दूसरे शब्दों में हम इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि निजीकरण से आशय ऐसी औद्योगिक इकाइयों को निजी क्षेत्र में हस्तांतरित किये जाने से है जो अभी तक सरकारी स्वामित्व एवं नियंत्रण में थी।”<sup>47</sup>

1991 में निजीकरण की प्रक्रिया/ नीति को प्रयोग में लाते हुए भारत सरकार ने पहले पहल सार्वजनिक क्षेत्रों के कुछ शेयर वितीय संस्थानों को बेच दिया था। उदाहरण स्वरूप सरकार ने मारुती उद्योग शेयर को बेचा था जिसकी वजह से बेचे गए शेयर निजी उद्योगपतियों के हाथों में चले गए। साथ ही भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम (पब्लिक सेक्टर अंडरटेकिंग/ यूनिट्स) में विनिवेश की प्रक्रिया शुरू कर के घाटे में चल रहे उद्योगों को निजी क्षेत्र में बेच दिया। सबसे बड़ी बात तो यह है कि 1991 से पूर्व सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व दिया जाता था क्योंकि उस समय सरकार की मान्यता यह रही कि औद्योगीकरण को बढ़ाने के साथ-साथ गरीबी को हटाने में सार्वजनिक क्षेत्र को सुचारु रूप से चलना आवश्यक है। लेकिन नयी आर्थिक नीति लागू करने के बावजूद

<sup>44</sup> [www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103](http://www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103) (2015-16)

<sup>45</sup> [www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103](http://www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103) (2015-16)

<sup>46</sup> [www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103](http://www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103) (2015-16)

<sup>47</sup> [accountinginhindi.com/topic/221](http://accountinginhindi.com/topic/221) (2015-16)

सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार नहीं हो पाया । इसका एक बड़ा कारण बड़ी संख्या में उद्योग को निजी क्षेत्रों के लिए आरक्षित कर दिया गया । जिसके फल स्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम के 17 क्षेत्रों से घटाकर 3 कर दिया गया । अब 3 ही क्षेत्र सरकार के सार्वजनिक क्षेत्र में आते थे । जैसे -परिवहन और रेलवे, परमाणु खनिजों का खनन, परमाणु ऊर्जा । वर्तमान समय में सरकार अपने इन्हीं बड़े-बड़े परियोजनाओं को सफलतापूर्वक समय पर सम्पन्न करने के लिए पीपीपी(पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप) मोडेल का प्रयोग करती है । अब तो हर क्षेत्र में निजीकरण हो गया है ।

### 2.2.3 वैश्वीकरण-

वैश्वीकरण के लिए 'ग्लोबलाइजेशन' तथा 'भूमंडलीकरण' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है । इस शब्द का प्रयोग 1980 के दशक के अंतिम वर्षों से प्रारंभ हो गया । मुदुला झा के अनुसार 1990 के दशक में ही वैश्वीकरण शब्द का प्रयोग पहले अकादमिक लेखों में और फिर किताबों और अखबारों में बढ़ने लगा । मुख्य रूप से यह 'बीसवीं शताब्दी में विश्व इतिहास के मुद्दे' में यह भी कहा गया है कि 'शीत युद्ध की समाप्ति और मुक्त बाज़ार वाली पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की विजय ने इस धारणा के प्रचार-प्रसार को नियमित रूप से बढ़ावा दिया ।' हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार - "1991 में सोवियतसंघ के विघटन के बाद जब दुनिया एक ध्रुवीय हो गयी और अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने दुनिया के, खास तौर पर तीसरी दुनिया के बाज़ार पर कब्ज़ा जमाना शुरू किया तो इसे न्यायसंगत ठहराने के लिए भूमंडलीकरण जैसा आकर्षक नाम दिया गया।"<sup>48</sup>

वैश्वीकरण को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मध्य विदेशी व्यापार और निवेश के माध्यम से देशों के बीच हुए एकीकरण के रूप में देखा जाता है । विगत तीस-चालीस वर्षों पर नजर डालने पर यह देखने में आता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में बहुराष्ट्रीय कंपनियों की बहुत बड़ी भूमिका है । वैश्वीकरण का उद्देश्य उत्पादन का एकीकरण और बाज़ार का एकीकरण है, जिसमें दुनिया के सभी देश एक दूसरे से आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से अंतर संबंधित हों । वैश्वीकरण देशों में सरकार के स्थान पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अधिक छूट देता है । जैसे-कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी फैक्टरियों को एक देश से

---

<sup>48</sup> हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ.सं.-258

दूसरे देश में ले जाती हैं। कई कम्पनियाँ तो विकासशील देशों में उत्पादन करके विकसित देशों में अपने लेबल लगा कर विश्व बाज़ार में प्रसिद्धि कमाती हैं। एक ओर वे विकासशील देशों से कच्चे माल को खरीद कर अपने प्रौद्योगिकी प्रक्रिया का प्रयोग करके अनेक तरह के उत्पादन का निर्माण कर रही हैं। वहीं दूसरी ओर कई कम्पनियाँ 'उत्पादन खर्च को कम करने के लिए उत्पादन इकाइयों को विकासशील देशों में ले जाती हैं। वैश्वीकरण ने कई विकासशील देशों के लिए दूसरे देशों से कुछ मात्रा में वस्तुओं को खरीदना अनिवार्य भी कर दिया है, भले ही उन वस्तुओं का उत्पादन अपने ही देश में क्यों न हो। साथ ही इस प्रक्रिया के द्वारा ही सूचना प्रौद्योगिकी उत्पादन और वितरण को भंग करके विश्व में कहीं भी जाने योग्य बन रही हैं। किन्तु वैश्वीकरण का प्रभाव प्रत्येक देश को भिन्न ढंग से प्रभावित करता है। वैश्वीकरण का विकसित देशों पर प्रभाव, विकासशील देशों से अलग होता है।

वैश्वीकरण के द्वारा वैश्विक संचार होता है और विश्व में एकरूपता की प्रवृत्ति बढ़ती है। वैश्वीकरण का प्रभाव सर्वाधिक आर्थिक स्तर पर होता है किन्तु इसने अन्य स्तरों को भी प्रभावित किया है। वैश्वीकरण के प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हैं। सकारात्मक प्रभाव के रूप में पूरे विश्व को एक वैश्विक ग्राम के रूप में तथा नागरिकों को एक वैश्विक पहचान देना है। वहीं नकारात्मक प्रभाव के रूप में यह प्रक्रिया विकसित और विकासशील देशों के लिए अलग-अलग है। वैश्वीकरण सार्वजनिक संसाधनों को निजीकरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। जिससे लाभ कमाने की दृष्टि से संसाधनों का दोहन होता है और कुछ लोगों के हाथों में ही वह पूंजी चली जाती है। विकासशील देश इससे ज्यादा लाभान्वित नहीं हुए हैं बल्कि विकसित देशों की शक्ति के आगे घुटने टेकने पर मजबूर है। हर कार्य के लिए वह उन पर निर्भर हैं जबकि विकसित देश उन्हें रौशनी की आड़ में अँधेरे में धकेलने का काम कर रहे हैं। अतः सम्पूर्ण विश्व नव-साम्राज्यवादी युग की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत हो रहा है। मुख्य रूप से यह कहा जा सकता है कि संसार का एकीकरण करने वाली दृष्टि एक आयामी है। अमेरिका ने अपने देश में भले ही वैश्वीकरण का प्रयोग किया हो किन्तु हमारे वैश्वीकरण और उनके वैश्वीकरण में अंतर है। हमने आँख बंद कर ग्लोबलाइजेशन शब्द का अनुवाद कर दिया। अमेरिका ग्लोबलाइजेशन के नाम पर धन की कील पर चक्कर काट रहा है, हमारे वैश्वीकरण का अर्थ सबका एकीकरण यानी समता है।

#### 2.2.4 भारत की वर्तमान स्थिति :

भारत के वर्तमान परिदृश्य पर नज़र डालें तो यह स्पष्ट होगा कि भारत के लोगों की आर्थिक स्थिति दो स्तरीय है। पहले स्तर पर वे लोग हैं, जो विकास को सही मायने में उपभोग कर पा रहे हैं। इस स्तर में उद्योगपति, मल्टीनेशनल कंपनी के मालिक आदि आते हैं। जबकि दूसरे स्तर में वे लोग आते हैं जिनका विकास से कोई नाता ही नहीं है। उनकी स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही है। इस वर्ग में किसान और मजदूर को देखा जा सकता है क्योंकि आये दिन किसानों की आत्महत्या की खबरें अखबारों में नजर आती हैं। इसका कारण भी आर्थिक है, वे कर्ज के बोझ तले दब कर मर रहे हैं और सरकार उनकी जरूरतों को पूरा करने में असक्षम है। किन्तु उत्तराधुनिक युग में मध्य वर्ग का भी विस्तार हुआ है जो सबसे बड़ा उपभोक्ता है। यह वर्ग स्टेटस का ध्यान रखते हुए न निम्न वर्ग में जा पाता है और न उच्च वर्ग में उसे स्थान मिल पाता है। वह अपने नाम की तरह बीच में ही पीसता रहता है। वह उच्च वर्ग की तरह दिखना चाहता है इसलिए दिखावे की संस्कृति भी समाज में देखी जाती है। यह वर्ग अपने ऐश-ओ-आराम की ज़िन्दगी जीने के लिए बाज़ार में ही मशगूल है। साथ ही उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के कारण एक ऐसा वर्ग भी पैदा हुआ है जो तकनीकी रूप से सक्षम है। इसे उच्च मध्य वर्ग के रूप में देखा जा सकता है। यह वर्ग सॉफ्टवेयर सेक्टर में काम कर रहा है। जिसके फलस्वरूप उद्योग के क्षेत्र में काफी अच्छे परिणाम देखने को मिले हैं। इनके द्वारा उद्योग और भी तेजी से बढ़ता जा रहा है। साथ ही विप्रो, टीसीएस और इनफ़ोसिस जैसी कम्पनियाँ भारत के प्रमुख शहरों में देखी जाती हैं। इसी पहचान ने भारत को आर्थिक जगत में एक ओहदा प्रदान किया है। अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि इलीट वर्ग और मध्य वर्ग में भी उच्च मध्य वर्ग, मध्य मध्य वर्ग की स्थिति पहले जैसी है। जबकि निम्न मध्यवर्ग और निम्न वर्ग की स्थिति इस दृष्टि से दयनीय रही है।

हमें यह अक्सर बताया जा रहा है कि “हिंदुस्तान की अर्थव्यवस्था क्रय शक्ति के आधार पर दुनिया की तीसरे और सकल घरेलू उत्पादन में पाँचवीं बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में शामिल है। भारत की पिछले दशक की वृद्धि दर 7.7 प्रतिशत रही जो तीव्र वृद्धि दर थी।”<sup>49</sup> किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या ये आंकड़े सही हैं? आज भी भारत के आधे गाँवों में

<sup>49</sup> [Hindi.news18.com/blogs/dipak/sukhlal-death-hunger-477069-01-10-2018](http://Hindi.news18.com/blogs/dipak/sukhlal-death-hunger-477069-01-10-2018)



विकास तो दूर, पानी और बिजली की व्यवस्था तक नहीं पहुँच पायी है। एक भाग में जहाँ घनी हरियाली है वहीं दूसरा भाग सूखे से ग्रस्त है। सूखे पड़े हुए भाग में लोगों के पास अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता नहीं है। उन्हें साफ़ पीने का पानी तक नहीं मिल पा रहा है। उनकी बस्तियाँ झुग्गी-झोपड़ियों से भरी पड़ी हैं। यहाँ तक कि उन्हें स्वास्थ्य सुविधा तक मुहैया नहीं है। उनकी दूसरी बड़ी समस्या प्राकृतिक है। प्रकृति के दोहन के कारण, प्राकृतिक आपदाओं की सिलसिलेवार प्रक्रिया जारी हो गयी है। जिसमें पीसने वाला वर्ग गरीब ही है। जिसके पास धन है उस पर इसका ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है। हर वर्ष भारत में प्राकृतिक आपदाएं आ ही रही हैं। केरल, ओड़िशा, उत्तराखंड, हिमाचल, पूर्वोत्तर भारत आदि राज्य वर्तमान में इस स्थिति से गुजरे हैं। कहीं पर अत्यधिक बारिश के कारण बाढ़ आ रही है तो कहीं बारिश का नामों निशान तक नहीं है वहां सूखा जैसी दिक्कतें देखी जा रही हैं। भारत की सरकार द्वारा गरीबों के लिए उचित कदम न उठा पाने के कारण ही गरीब बदहाली में जीने के लिए मजबूर हैं। न्यूज़ 18 की एक रिपोर्ट के अनुसार हाल ही में हुए सर्वेक्षण के आंकड़ों से भारत की आर्थिक स्थिति का जायजा लिया जा सकता है।

1. “विश्व बैंक के अनुसार दुनिया की एक तिहाई गरीब आबादी को बसाये भारत पहले पायदान पर है, यानी 29.8 प्रतिशत देश की आवागम गरीबी रेखा के नीचे जीवन जीने को मजबूर हैं जिसका मतलब है कि प्रति व्यक्ति कमाई एक डॉलर से भी कम है।
2. अंतर्राष्ट्रीय खाद्य अनुसंधान संस्थान के अनुसार वैश्विक खाद्य सूचकांक (2012) में भारत की 15.2 प्रतिशत रियाया भुखमरी की शिकार है, यानी हर पन्द्रह में से दो लोग भूखे मर रहे हैं, दुनिया का हर चौथा भूखा इन्सान भारत में रहता है।<sup>50</sup> 2021 के आंकड़ों के अनुसार हंगर इंडेक्स में भारत 101 वें स्थान पर है।
3. संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) के मानव विकास सूचकांक की ताजा आंकड़ों (2023) में भारत 139 देशों की सूची में 38 वें स्थान पर है, यानी स्वस्थ जीवन, ज्ञान तक पहुंच और उपयुक्त जीवन स्तर में दीर्घकालीन प्रगति के आंकलन में भारत की स्थिति दयनीय है।”<sup>51</sup>

<sup>50</sup> [Hindi.news18.com/blogs/dipak/sukhlal-death-hunger-477069-01-10-2018](https://Hindi.news18.com/blogs/dipak/sukhlal-death-hunger-477069-01-10-2018)

<sup>51</sup> [Hindicurrentaffairs.adda247.com/india-jumps-6-places-on-world-banks-logistic-performance-index-rank-38/24t-04-2023](https://Hindicurrentaffairs.adda247.com/india-jumps-6-places-on-world-banks-logistic-performance-index-rank-38/24t-04-2023)

साथ ही हाल ही में आये रिपोर्ट के अनुसार “OECD (Organisation for economic co-operation and development) की रिपोर्ट के अनुसार 1990 में भारत की उच्च आय वाली 10 फीसदी आबादी निम्न आय वाली 10 फीसदी आबादी में तुलना में 6 फीसदी ज्यादा थी जो 2011 में बढ़कर 12 फीसदी हो गई।”<sup>52</sup> नवीनतम आंकड़ों के अनुसार “फ्रेजाइल रिकवरी” शीर्षक अंतरिम दृष्टिकोण रिपोर्ट में भारत के लिए वित्तीय वर्ष 2024 के लिए वृद्धि की भविष्यवाणी 20 बेसिस पॉइंट बढ़ाकर 5.9% की, की है। इस तरह देखें तो ये आंकड़े हमें हमारी आर्थिक सच्चाई को स्पष्ट करते हैं।

भारत के विकास के लिए अनेक योजनाएं बनाई जा रही हैं किन्तु यह कितना कारगर साबित हुई है ये वर्तमान की स्थिति से स्पष्ट है। आर्थिक व्यवस्था के ढांचा को बदलने के लिए तो ‘नोट बंदी’ जैसे नई आर्थिक नीति अपनाई गयी। जिसके फलस्वरूप बहुत से विचारकों का मानना रहा कि इस नीति के लागू होने पर काले धन को जड़ से पकड़ा गया। और भविष्य के लिए काले धन से बचने के लिए उपाय किये गए। वर्तमान में विदेशों में छिपे हुए काले धन पर भी कठोर नियम लागू किये गए। पुराने टैक्स को बदलकर जी.एस.टी. जैसे नियम लागू किये गये। किन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि इन सब नीतियों के बनने के बाद भी गरीब लोगों की आर्थिक स्थिति में क्या कोई इजाफा हुआ है? बल्कि इसके ठीक उलट दिन-प्रतिदिन खाद्य पदार्थों की कीमत बढ़ रही है। साथ ही पेट्रोल की कीमतों में भी वृद्धि हो ही रही है। ऐसा कहा जा सकता है कि हर चीज़ की कीमतों में वृद्धि होने की वजह से निम्नवर्ग और मध्य वर्ग इस आर्थिक दंश से पीड़ित है।

सन् 1980 से सन् 2020 तक भारत के आर्थिक परिदृश्य पर बात करें तो पाते हैं कि आर्थिक विकास में असमानता के कारण कई क्षेत्रों में विकास अधिक रूप से हुआ है तो कहीं कम। आर्थिक ढांचे में आई कमी ने बेरोजगारी, गरीबी, बेकारी और भुखमरी जैसी समस्या को जन्म दिया है। आधुनिक भारत की आर्थिक धुरी औद्योगीकरण और कृषि पर आधारित रही है। एक ओर जहाँ तकनीकी और विज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि हो रही है वहीं कृषि को लेकर नीतियों में भारी कमी देखी गयी है। एक तरह से कृषि क्षेत्र उपेक्षित होता चला जा रहा है। भूमि सुधार के लिए भले ही बहुत सारे कानून पारित किये गए हों

---

<sup>52</sup> Hindi.news18.com/blogs/dipak/sukhlal-death-hunger-477069- 01-10-2018

किन्तु ये कागजों में ही सिमट कर रह गए हैं । आज भी गाँव में वे शोषित हो रहे हैं । पूँजीवादी और सामंतवादी नीतियों से कृषक आज भी नहीं उबर पाए हैं । आज भी सूदखोरी की चक्की में पिसते हुए अनेक किसान बंधुआ मजदूर बन रहे हैं । साथ ही आये दिन अखबारों में कृषकों की आत्महत्याएं, उनका कर न दे पाना, मजदूरी की समस्या आदि घटनाएँ देखी जा रही हैं । उनकी स्थिति दिन-प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है । देश की आर्थिक स्थिति एवं किसानों की खराब स्थिति का एक कारण प्राकृतिक आपदा भी रहा है । किन्तु सबसे ज्यादा आर्थिक स्थिति को पूँजीपति वर्ग की मुनाफाखोर नीतियों ने प्रभावित किया है । इस बीच दुनिया में पूँजीवाद का प्रेत, समाजवाद के सपनों की सामाजिक व्यवस्था को ढहाकर बे-लगाम बढ़ा । इसका असर भारत की अर्थव्यवस्था पर भी पड़ा । हमने लोककल्याणकारी राज्य की नीतियों में बदलाव किया कारपोरेट स्टेट की ओर बढ़ना शुरू कर दिया । अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार के हवाले अनेक उत्पादों को कर दिया । जिसका असर भारत की आंतरिक अर्थव्यवस्था पर देखा जा सकता है । सूचना क्रांति और नई आर्थिक नीति का लागू होना इस दौर की महत्वपूर्ण क्रांतिकारी घटनाएँ हैं । अब सरकारें केवल तीन कार्य करेंगी - कानून-व्यवस्था का अनुपालन, देश की सरहदों पर सुरक्षा और सरकार चलाने का । बाकी सारे काम निजी क्षेत्र के हवाले हो गए हैं । अतः इन नीतियों के मध्य भारत की स्थिति का जायजा लेना और रचनाकारों के रचनाकर्म, पर इनके प्रभाव को देखना इस अध्याय का उद्देश्य है ।

### 2.3 राजनीतिक परिस्थितियाँ

सन् 1980 के बाद का युग आर्थिक दृष्टि से बहुत उथल-पुथल का युग रहा ही लेकिन राजनीतिक दृष्टि से भी यह युग कम विवादास्पद नहीं रहा । इस दौर में भारत में आपातकाल जैसी घटना तो थी ही लेकिन लोक तंत्र पर भी खतरा इस दौर की सबसे बड़ी समस्या रही । पहले भारत ने जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अपनाया था उस पर गंभीर संकट 1975 के आपातकाल ने पैदा किये । इस आपातकाल के लागू होने से लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विभिन्न सामाजिक वर्गों के व्यक्तियों के प्रतिनिधियों द्वारा जो शासन व्यवस्था चलती थी उस पर गंभीर संकट पैदा हो गया । साथ ही अभिव्यक्ति की आज़ादी पर भी यह गंभीर संकट दिखाई देने लगा । आपातकाल का व्यापक असर लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों और मीडिया कर्मियों पर पड़ा । उन्होंने प्रेस की आज़ादी, अभिव्यक्ति की आज़ादी के लिए लम्बा संघर्ष किया । सत्ता के विरोध में अनेक विरोध प्रकट हुए । कलाकारों ने

भिन्न-भिन्न तरह के कार्टून बनाए, लेखन कार्य किया और इसके लिए डॉक्यूमेंट्रीज भी तैयार की। उस समय सब ने यह निर्णय लिया कि अगर लोकतंत्र को बचाना है तो आपातकाल को हटाने के साथ सत्ता का बदलाव भी करना होगा। इस बदलाव के परिवर्तन के मांग से ही 1980 के पूर्व के लेखकों या रचनाकारों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस प्रक्रिया में लेखकों के तीन वर्ग हमें दिखाई देते हैं।

1. पहला वर्ग सीधे तौर पर आपातकाल का समर्थन करता है और चुप रहता है।
2. दूसरा वर्ग वह है जो आपातकाल का समर्थन नहीं करता है लेकिन दबे और सहमे स्वर में इसके खिलाफ सृजनात्मक-लेखन करता है।
3. तीसरा वर्ग सीधा सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में भूमिका निभाता है और उसके खिलाफ बुलंद स्वर में लेखन करता है।

तीसरे तरह का वर्ग ही सबसे ज्यादा पीड़ित हुआ। क्योंकि इसको सर्वाधिक सत्ता का दमन सहना पड़ा। इंदिरा गाँधी की सरकार भले ही 1980 के दौर में सत्ता में काबिज रही किन्तु विचारकों और बुद्धिजीवियों ने उनकी राजनीति की सत्यता को लोगों के समक्ष लाने का खूब प्रयास किया। इसी चुनाव के सम्बन्ध में संपादक प्रभाष जोशी कहते हैं कि 'इस चुनाव ने 'वैचारिक राजनीति' के अंत की घोषणा कर दी है।' रामचंद्र गुहा इस सम्बन्ध में 'भारत नेहरू के बाद' पुस्तक में लिखते हैं कि "पहले के चुनाव लोकतंत्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और गुटनिरपेक्षता के मुद्दे पर लड़े गए थे लेकिन 1980 के चुनाव में श्रीमती गाँधी ने गरीबी हटाओ के नारे की जगह अपने शासन करने की योग्यता को मुद्दा बनाया।"<sup>53</sup>

दूसरी प्रमुख घटना भारत में सन् 1974 में घटती है। इसी दौर में भारत अखिल भारतीय स्तर पर और वैश्विक स्तर पर परमाणु संपन्न राष्ट्र बनता है और दुनिया के ताकतवर राष्ट्रों में शामिल हो जाता है। विशेषकर परमाणु बल का इस्तेमाल करके। अतः इस तरह दो स्थितियाँ हमारे समक्ष थीं। एक तरफ राष्ट्र लोकतंत्र को संकट में डाल रहा है तो दूसरी तरफ अपनी सामरिक और रक्षा सम्बन्धी नीतियों में व्यापक बदलाव कर रहा था। इस तरह इन घटनाओं ने सन् 1980 की राजनीतिक पृष्ठभूमि के निर्माण करने में

---

<sup>53</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-199

बहुत बड़ी भूमिका निभाई | सन् 1980 के बाद की राजनीति को समझने के लिए इसे निम्न बिन्दुओं में बाँट कर देखा जा सकता है -

### **2.3.1 राज्यों के स्तर पर गठबंधन :**

सन् 1966-67 के आस-पास से ही गठबंधन की सरकारों का सूत्रपात हो गया था | परवर्ती उसका विकास सन् 1976-77 के आस-पास पहली बार गठबंधन सरकारों का निर्माण होता है | गठबंधन की राजनीति का पहला सूत्रपात केन्द्रीय स्तर पर होता है | राज्यों के स्तर पर ये गठबंधन पहले से भी था | लेकिन विशेषकर केंद्र सरकार के स्तर पर ये प्रयोग इसी दौर में देखने को मिलते हैं | जिसमें भिन्न-भिन्न पार्टियाँ मिल कर सरकार चलाती हैं | किन्तु ये गठबंधन 2 वर्ष भी नहीं चल पाता है और टूट जाता है | क्योंकि सन् 1980 में हुए चुनाव में कांग्रेस की फिर से बहुमत से वापसी होती है | इंदिरा गाँधी की सरकार के द्वारा 1975 में लगाये गए आपातकाल के कारण जनता का बहुत नुकसान हुआ | उन्हें बहुत कष्टों और पीड़ाओं का सामना करना पड़ा | इसलिए जनता ने अपने इस क्षोभ को जनता पार्टी को सत्ता में बैठा कर किया | किन्तु देश में चल रहे झगड़ों, अराजकता, बेरोजगारी और अनुशासनहीनता के कारण जनता पार्टी 1979 में ही गिर गयी | तब इंदिरा गाँधी ने ये घोषणा भी की देश को चलाने की क्षमता अब जनता पार्टी में नहीं है | अब वह स्थायी सरकार नहीं दे सकती और स्थायी सरकार देने की क्षमता उनमें ही है | इससे यह स्पष्ट हुआ कि गठबंधन की राजनीति देश के लिए चल नहीं पाई | उसने राष्ट्र को भी कमजोर किया और नागरिकों को भी निरुत्साहित किया | राष्ट्र निर्माण के लिए गठबंधन की राजनीति की जगह केन्द्रीय कृत सुदृढ़ बहुमत वाली सरकार की आवश्यकता थी |

### **2.3.2 अलगाववादी ताकतों का उभार :**

अस्सी के दशक के प्रारंभ होने के साथ अलगाववादी ताकतों का भी निर्माण हुआ | देश भर में स्वतंत्र राष्ट्र को लेकर आन्दोलनों का सिलसिला भी प्रारंभ हो गया | किन्तु इनमें से अधिक आन्दोलनों की पड़ताल करने पर यह ज्ञात होता है कि कहीं-कहीं पर इसका रूप ज्यादा हिंसक था तो कहीं पर कम | जैसे -आदिवासी राज्य झारखण्ड की मांग को लेकर आन्दोलन हुए | यह आन्दोलन किन परिस्थितियों में और किस लिए किया गया यह बड़ी दुखद और पीड़ा जनक स्थिति रही | झारखण्ड राज्य के आदिवासी लोग इस आन्दोलन को लेकर इसलिए हिंसक बने क्योंकि आदिवासियों के विकास के नाम आये पैसे का घोटाला किया गया था | वहां न तो बिजली और सड़कें थी न ही स्कूल और न ही कोई अस्पताल

| उनकी स्थिति बहुत खराब होती जा रही थी | यहाँ तक कि उनकी जमीनें भी बाहरी लोगों ने हड़प ली थी साथ ही सरकार भी उन्हें जंगल के उत्पादनों के इस्तेमाल के लिए मना ही कर दी थी | वे बेचारे व्यवस्था से परेशान थे इसलिए उनके पास आन्दोलन करने के सिवा कोई रास्ता नहीं बचा रह गया था | झारखण्ड में यह आन्दोलन शिबू सोरेन के नेतृत्व में चलाया गया था | उन्होंने दि कुओं के द्वारा हड़पी गयी जमीन पर आदिवासियों को धान की खेती करवाई और जंगल की जमीन पर ये कह कर हमला करवाया कि वह जमीन आदिवासियों की है | इस तरह उन्होंने आन्दोलन का विरोध प्रकट किया | इस सम्बन्ध में महाश्वेता देवी भी कहती हैं -“इन तमाम बातों की पृष्ठभूमि में झारखण्ड राज्य की मांग को देखा जाना चाहिए | यहाँ एक तरफ तकलीफ और शोषण की कहानियां हैं तो दूसरी तरफ प्रतिरोध के स्वर हैं |”<sup>54</sup>

इस आन्दोलन के बाद अन्य राज्यों की स्वतंत्र होने की माँग भी सामने आने लगी | जैसे छत्तीसगढ़ और उत्तराखंड | ये राज्य भी मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश से इसलिए अलग होना चाह रहे थे क्योंकि खनिज पदार्थों से समृद्ध होने के बावजूद भी यहाँ के स्थानीय आदिवासियों को यह फायदा नहीं मिल पा रहा था |

1980 में नागा आन्दोलन फिर से जागता हुआ दिखा | आपातकाल के दौरान सरकार ने उन्हें हथियार डालने और मुख्यधारा में शामिल होने के लिए राजी कर लिया था | किन्तु 1980 में मोईवा और आइजेक स्क्व दोनों मिलकर नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ नागालैंड की स्थापना करते हैं | उन्होंने नागालैंड की आज़ादी का सपना देखा था उनके अनुसार ये तभी हो सकता था जब भारत का विभाजन हो | किन्तु इस तरह के संगठन बनने के बाद भारत सरकार सजग हो गयी और मणिपुर के उखरुल जिले में सुरक्षाबलों की संख्या बढ़ा दी गयी | 1982 में ही आतंकवादियों ने सेना की एक टुकड़ी पर हमला कर दिया जिसके फलस्वरूप 22 सिख सैनिक इसमें मारे गए | जून 1986 में भारत सरकार ने मिजो नेशनल फ्रंट के नेता के साथ शांति का समझौता करते हुए मिजोरम को एक स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया गया | इसी समय पंजाब में खालिस्तान को लेकर भी दंगे हुए | अतः ये जो अलगाववादी ताकतें पैदा हुईं इनका रुख तीन तरफ़ा रहा | जैसे पंजाब में खालिस्तान की मांग | दूसरी तरफ उत्तर-पूर्व के राज्य अपने को अलगाववादी ताकतों के

---

<sup>54</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-204

आधार पर अलग राष्ट्र की मांग पर अड़े थे | उनका मानना रहा हमारी पृथक् सांस्कृतिक नस्ल अलग है इसलिए हमारा राष्ट्र भी पृथक् होना चाहिए | इसमें मिजो, नागा और उल्फा आदि आते हैं | इससे एक नए तरह का उभार आता है | इसके क्रम में भारत सरकार उनसे संधियाँ करती हैं | सरकार का मानना था कि सरकार आपके सांस्कृतिक प्रश्नों और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करेगी किन्तु केंद्रीयकृत रूप में भारत एक राष्ट्र है और इसके राज्य के रूप में भूमिका निभाएंगे | अंततः उनको राज्य के रूप में महत्व मिला है | इस तरह इस दौर में सत्ता का सामाजिक रूप में समीकरण बैठता है |

### 2.3.3 प्रांतीय भावना का विकास :

सन् 1980 के बाद स्वतंत्र देश में अलग-अलग समूहों के बीच स्वतंत्र राज्य के लिए झगड़े शुरू हो रहे थे | यहाँ प्रादेशिक/प्रांतीय भावना का विकास हुआ | प्रांतीय भावना मुख्य रूप से रोजगार को लेकर उभरे आक्रोश को देखा जा सकता है कहने का तात्पर्य प्रांतीय लोगों की सोच रही कि एक प्रान्त में दूसरे प्रान्त के लोगों को रोजगार नहीं मिलना चाहिए | अगर ऐसे ही एक प्रान्त के लोगों को रोजगार मिलता रहा तो प्रांतीय लोगों को रोजगार नहीं मिल पाएगा | इसलिए अपने-अपने प्रान्त में अपने ही लोगों के रोजगार के लिए संघर्ष हुए | इसलिए दूसरे प्रान्त के लोगों के खिलाफ हमले भी हुए | जैसे असम में आ रहे बांग्लादेश शरणार्थियों की संख्या में बढ़ोतरी ने वहाँ के लोगों को परेशान कर दिया | उन्हें यह डर था कि कहीं वहाँ के असमी ही उस प्रान्त में अल्पसंख्यक बन कर न रह जाएं और बांग्लादेशी उन पर शासन न करने लगे | इसी डर ने 'आसू' (ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन) नामक छात्र संगठन का निर्माण किया | पचास और साठ के दशक में प्रवासियों को वापस भेजने के लिए आन्दोलन हुए | सन् 1979 तक उन्होंने ये विरोध जारी रखा | इस आन्दोलन का मकसद घुसपैठियों को राज्य से निकालना था | आसू भी इस आन्दोलन में ज्यादा जोर इसलिए दे रहे थे क्योंकि असम की अर्थव्यवस्था तब बाहरी लोगों के नियंत्रण में होती जा रही थी | साथ ही वहाँ के स्थानीय लोगों का रोजगार भी इनके कारण छीना जा रहा था | वे प्रवासित हो कर दूसरे राज्य काम करने के लिए जा रहे थे | इस तरह वहाँ के असामियों की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी | असमियों की आन्दोलन में यह मांग रही कि उनकी आर्थिक स्थिति को ठीक किया जाए | ताकि वे अपने राज्य के संसाधनों का बेहतर उपयोग करके रोजगार पा सकें | साथ ही इस राज्य की तात्कालिक मांग राज्य की मतदान सूची से प्रवासियों के नाम हटाने की थी ताकि उन्हें इस सूचे से बाहर निकाला

जा सके | किन्तु समस्या यह रही यह विरोध सांप्रदायिक रूप लेने लगा | क्योंकि बांग्लादेश से ज्यादातर इस्लाम मत के थे | इस विरोध में अब पूरा असम था जिसमें शिक्षित और अशिक्षित लोग शामिल थे | वे व्यवस्था से मायूस थे, वे खुद को ठगा हुआ सा महसूस कर रहे थे | इस स्थिति को देखते हुए सरकार सन् 1980 से सन् 1982 तक आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्ताओं से मिलती रही किन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला | सन् 1985 में राजीव गाँधी की सरकार ने ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन (आसू) के साथ एक समझौता किया | समझौते में ये फैसला किया गया कि 1 जनवरी, 1966 और 25 मार्च 1971 से पहले आने वाले लोगों को भले ही मताधिकार न दिए जाएं लेकिन उन्हें रहने की इजाजत दी गयी | इसके अलावा जो लोग उस के बाद यहाँ आये हों उनकी पहचान करके उन्हें वापस उनके मूल स्थान पर भेज दिया जाएगा | यहाँ से राष्ट्रपति शासन को भी इसी समय हटा दिया गया था |

नब्बे का दशक त्रिपुरा के लिए भी काफी उथल-पुथल का दौर रहा | आदिवासियों के अधिकारों के लिए वकालत कर रहे हथियारबंदियों ने वहाँ के नेपालियों पर हमला कर दिया था | 2001 में शोध करते हुए एक शोधकर्ता ने बताया कि “बेकसूर लोगों की हत्याएं, अपहरण और फिरौती की घटनाएँ त्रिपुरा के जनजीवन की सामान्य घटना बन गयी हैं और यह कई सालों से चल रहा है |”<sup>55</sup> यह विरोध या संघर्ष त्रिपुरा में रह रहे बंगालियों पर इसलिए किया जा रहा था क्योंकि वह वहाँ बहुतायत में आने लगे थे | उन्हें डर था कहीं असम की तरह यहाँ के व्यापारों पर इन बाहरी लोगों का हस्तक्षेप न हो जाए | इसलिए वे उन्हें उस सूबे से खदेड़ना चाहते थे | रामचन्द्र गुहा त्रिपुरा का हवाला दे कर लिखते हैं कि -“सन् 1993 से लेकर 2000 के बीच राज्य में लगभग 2000 लोग मारे गए, जिसमें सुरक्षाबलों के जवान, आतंकवादी और सबसे ज्यादा आम नागरिक शामिल थे |”<sup>56</sup>

उत्तर-पूर्व के और एक छोटे से राज्य मणिपुर में भी हिंसा का यही रूप दिखा | मई, 1992 में नागा आतंकवादियों ने कुकी गाँव में आग लगा दी थी | क्योंकि उनके बीच मतभेद ने बड़ा रूप ले लिया था | साथ ही मणिपुर में स्थित मैतेई समुदाय बहुसंख्यक में होने की वजह से वहाँ के आदिवासी मणिपुरियों में भी संघर्ष होता रहा | बाद में आये

---

<sup>55</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-292

<sup>56</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-292



रिपोर्ट के अनुसार नागाओं की यह मांग रही कि मणिपुर, असम और अरुणाचल प्रदेश जैसे राज्यों को नागालैंड में शामिल करके 'नगालिम' की स्थापना की जाए ।

“बंगाल में दार्जिलिंग के नेपाली भाषा भाषी लोगों ने अपने लिए एक अलग राज्य की मांग शुरू कर दी ।”<sup>57</sup> असम के सीमावर्ती राज्य के बोडो आदिवासियों ने भी अपने लिए स्वतंत्र राज्य की मांग की । इस तरह देश के अनेक प्रान्तों में अलग-अलग प्रांतीय लोगों पर हमले हुए । ऐसे ही महाराष्ट्र में भी उभार आया । महाराष्ट्र में भी एक घटना घटी कि महाराष्ट्र मराठियों का है जहाँ गैर मराठियों का कोई काम नहीं । उन्होंने पहले गुजरातियों पर हमले किये, फिर तमिलियों पर किये, फिर यही भावना बलवती होते हुए हिंदी भाषियों पर हुए । ये घटनाएँ राजनीतिक रूप से राष्ट्र निर्माण के लिए चुनौती के रूप में प्रबल हुई हैं ।

#### 2.3.4 राजनीति दंगे :

31 अक्टूबर, 1984 को तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की उनके सिख अंगरक्षकों के द्वारा गोली मारकर हत्या कर दी गयी । इस हत्या को ऑपरेशन ब्लूस्टार के प्रतिकार के रूप में देखा गया । अनेक साहित्यकारों ने और बड़े-बड़े आलोचकों ने इस सच्चाई पर से पर्दा उठाया था । किन्तु हत्या से बात खत्म नहीं होती बल्कि यहीं से आग की ज्वाला और बढ़ती हुई दिखाई देती है । उनकी हत्या के बाद सारे देश में राजनीतिक भूचाल आ गया साथ ही सिख विरोधी आन्दोलन भी शुरू हो गए । इस आन्दोलन का मुख्य केंद्र दिल्ली, उत्तर प्रदेश (इलाहाबाद) आदि राज्य रहे । इन दंगों में सिखों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारा गया । मृतकों की संख्या लगभग 2000 मानी जाती है । इन दंगों में मौत का नंगा तांडव देखने को मिला । इस बर्बरता पर 'यह बर्बरता कहाँ छुपी थी' पुस्तक की भूमिका में संपादक सुनील लिखते हैं -“इस हत्याकांड के बाद भारतीय राजनीति का नया फासीवादी चरित्र खुलकर सामने आता है, जिसमें धर्मांध कट्टर तत्वों, स्थानीय गुंडों, पुलिस और शासक दल का सशक्त गठबंधन बना है । अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए खुलकर सांप्रदायिक घृणा फैलाने और भीषण हत्याकांड करवाने में अब शासक दल को कोई संकोच नहीं होता । इसी के साथ अब सांप्रदायिक पार्टियों और धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के बीच फर्क बेमानी हो गए हैं । सांप्रदायिक भावनाएँ उभारना सिर्फ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, भाजपा, मुस्लिम लीग,

---

<sup>57</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-250

अकाली दल आदि की बपौती नहीं रह गया है | तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियाँ भी जमकर जाति, धर्म और संप्रदाय के नाम पर लोगों को लड़ाने और वोट बटोरने का काम करती हैं |<sup>58</sup>

सन् 1987 में भारत के प्रधानमंत्री और श्रीलंका के राष्ट्रपति दोनों मिलकर शांति का समझौता करते हैं | किन्तु यह समझौता गलत साबित हुआ और जिसके परिणामस्वरूप श्रीलंका में हिंसक आन्दोलन शुरू हो गए | भारतीय सुरक्षाकर्मियों से तमिल इसलिए नाखुश थे कि उन्हें लगता था वे सिंहलियों का साथ दे रहे हैं जबकि सिंहली के लोगों ने भारतीय जवानों को शक की निगाहों से देखा | भारत का यह कदम श्रीलंका के संप्रभुता के लिए ठीक नहीं था | इस लिए टकराव तो होना स्वाभाविक था | इसलिए 1989 में ही जवानों की वहां से वापसी शुरू हो गयी थी |

### 2.3.5 बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक की राजनीति :

इसी दौर में मंडल-कमंडल की राजनीति भी शुरू हुई | मंडल और कमंडल की राजनीति के उदय होने से एक तरीके से पिछड़े वर्गों की राजनीति का विकास हुआ | और पिछड़े वर्ग के लोगों को राजनीतिक नेतृत्व मिला और उन्होंने अपनी भागीदारी राजनीति में की | उन्होंने कहा इस देश को वही चलायेगा जिसकी संख्या ज्यादा हो | इस क्रम में उन्होंने सवर्णों के खिलाफ एक तरीके से अपना आक्रोश दर्ज किया | तो देश सवर्ण और अवर्ण में बंट गया | इस सियासत को राजनीतिक दलों द्वारा खूब बढ़ावा दिया गया | यह स्थिति अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक वाली राजनीति थी | यहीं से अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक की राजनीति व्यापक रूप से चलने लगी | इसी राजनीति ने दंगे को बढ़ावा दिया | इस सम्बन्ध में अल्पसंख्यक को लेकर जो सबसे बड़ा दंगा हुआ वह था नेली कांड | यह नेली कांड 1983 में असम में अल्पसंख्यकों के साथ होता है | जिसमें अल्पसंख्यकों के लगभग (चार या छह घंटे में) 10,500 लोगों को मार दिया गया | ये एक ऐसी घटना थी जो विकराल रूप में असम में घटी | लेकिन सरकारी आँकड़े इसे कम बताते हैं |

अस्सी और नब्बे के बीच इंदिरा गाँधी के हत्या के बाद भारत में व्यापक रूप से अशांति हुई | और अल्पसंख्यकों में व्यापक रूप से हमले हुए विशेषकर सिखों पर | सिखों की जान-माल की हानि हुई और उन्होंने इस देश से प्रवासन ज्यादा किया | जैसे कनाडा, ब्रिटेन और

---

<sup>58</sup> यह बर्बरता कहाँ छुपी थी: भारत में सांप्रदायिक हिंसा, सं-सुनील, 1985, पृ.सं.-10

दक्षिण एशियाई देशों की ओर भी पलायन किये | विस्थापन बढ़ता गया | पंजाब से हिन्दू विस्थापित हुए | नब्बे के दौर में कश्मीर से हिन्दू पंडित विस्थापित हुए | विस्थापन का दंश जो देश 1947 से झेल रहा था 1971 में बांग्लादेश के निर्माण के दौर में उसने उसमें भूमिका निभाई | इसी राजनीति ने केवल दंगे नहीं करवाए बल्कि इस समय अल्पसंख्यक को विस्थापित होने के लिए मजबूर भी किया |

### 2.3.6 राजनीतिक संगठन का उभार :

इस दौर की सबसे बड़ी सच्चाई राजनीतिक रूप से धार्मिक नए संगठनों का उदय होना है | 1984 में पंजाब के भिंडरावाले केस ने नये राजनीतिक धार्मिक संगठन का निर्माण किया | जैसे -खालिस्तान की मांग को भिंडरावाले ने और भिंडरावाले को कांग्रेस ने बढ़ावा दिया था | इसे अगर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देखा जाए जैसे ओसामाबिन लादेन को अमेरिका पैदा करता है वैसे ही कांग्रेस ने भिंडरावाले को जन्म दिया | इसका अर्थ है विशेषकर सोवियत संघ के खिलाफ कैपिटलिस्ट फोर्स (पूँजीवादी ताकतें) तैयार की जाती है जो साम्यवादी सरकारों के विरोध में है | लेकिन वही एक तरीके का जिन्न बन जाता है | वह कैपिटलिस्ट फोर्स (पूँजीवादी ताकतें) के हाथों में नहीं रह पाता है | इस तरह के लोगों को तैयार सत्ता ही करती है किन्तु जब सत्ता के हाथों में उसकी बागडोर नहीं रहती है तब वह अपना नया धार्मिक संगठन बनाता है | तब वह उसमें धर्म का इस्तेमाल करता है जैसे ओसामा, भिंडरावाले ने इस्तेमाल किया |

### 2.3.7 धर्म, जाति और राजनीति का गठजोड़ :

इस दौर में धर्म, जाति और राजनीति का गठजोड़ प्रमुखता से उभर कर आता है | इस तरह की राजनीति अनेक कारणों की उपज है किन्तु प्रमुख रूप से प्रवासी लोगों ने इसे परिपुष्ट किया है | धर्म और संस्कृति की चिंता सबसे पहले प्रवासियों को हुई | उन्होंने अमेरिका के एजेंडे के आधार पर भारत में हिंदुत्व के कार्ड को विकसित किया | धर्म के कार्ड पर इस तरह नया उभार आया | धर्म के इसी नए उभार ने धर्म के आधार पर एक ही गाँव और शहर को बाँट दिया | इस तरह धार्मिक अलगाव की भावना तीव्रतर होती गयी | इसी क्रम में अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना और बहुसंख्यकों में अपनी श्रेष्ठता का दंभ पैदा होने लगा | अब यही राजनीति चल पड़ी है | इस राजनीति को विकसित किये जाने के दो फायदे हैं | एक फायदा यह है कि इस देश के संपदा पर कौन राज करेगा ? बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक | बहुसंख्यक को ही इस सम्पदा में हक मिलेगा क्योंकि उसकी

संख्या ज्यादा है | उदाहरण स्वरूप ऑस्ट्रेलिया में भारतवासियों के खिलाफ नस्लगत टिप्पणियां तो हुई थीं लेकिन उसका मूल कारण संसाधनों की कमी थी या संसाधनों पर प्रभुत्व का मसला था | ऑस्ट्रेलियन लोगों को भारतीय लोगों का वहां काम करना अच्छा नहीं लग रहा था, वे उनके रोजगार छीन रहे थे | इसका व्यापक असर भारत में देखा गया |

राज्य जो पहले लोकतंत्र के नाम पर काम करता था, उसने सामाजिक और लोक-कल्याणकारी नीतियों को कमजोर किया | इस तरह कॉर्पोरेट वर्ग के दबाव में कॉर्पोरेट स्टेट के रूप में तब्दील होता गया | उसमें कॉर्पोरेट वर्ग को और पूंजीपति वर्ग को उनसे ज्यादा फायदा पहुँचा | इस तरह राजनीति में प्रवासी मंत्रालय या प्रवासी लोगों की भूमिका बढ़ी | एन. डी. ए. सरकार और अटल बिहारी वाजपेयी के दौर में पहली बार 'प्रवासी दिवस' बनाया गया साथ ही प्रवासी मंत्रालय का गठन भी किया गया | प्रवासी लोगों द्वारा मिला हुआ डॉलर या यूरो अर्थात् उनके करेंसी के द्वारा भारत की अर्थ व्यवस्था में बदलाव आया | 1991 के आधार पर हमने परंपरागत पैसे का अवमूल्यन कर दिया | हमने देश में निजीकरण और उदारीकरण को अपनाया | साथ ही वैश्वीकरण के आधार पर हमने विश्व बैंक से, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज लिया | इस कर्ज के लेने से अचानक हमारे अर्थव्यवस्था में उछाल आया | किन्तु इसके दूरगामी परिणाम हमारे सामने आ रहे हैं इससे हमारा पर्यावरण खराब हो रहा है और पारिस्थितिकी बिगड़ रही है | हमारी राजनीति में भी एक तरीके से अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक की धारा भी काम कर रही है | इसी क्रम में तीसरा बदलाव यह हुआ कि अब कोई भी देश की राजनीति देश के आन्तरिक रूप में ही सीमित नहीं रही बल्कि बाहरी राजनीति का भी व्यापक असर हमारी राजनीति पर पड़ने लगा | अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अगर बहुसंख्यकवाद का विकास हो रहा है तो उसका प्रभाव हमारी भारतीय राजनीति पर दिख रहा है | इसका एक बड़ा कारण पॉपुलर कल्चर है | ये पॉपुलर-कल्चर अब राजनीति पर भी हावी हो गयी | बड़े राष्ट्र की पॉपुलर राजनीति का, हमारे राजनीतिज्ञ अनुकरण करने के साथ ही देश को उलझाए रखने के लिए भी षड्यन्त्र रच रहे हैं | वास्तविक मुद्दों से किस तरह जनता को भटकाया जाता है, ये आधुनिक राजनीति की सबसे बड़ी खासियत बनती गयी | जैसे आर्थिक प्रश्न को दरकिनार करने की भरपूर कोशिश की गयी इसके लिए लोगों का ध्यान सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्नों की ओर ले जाया गया | इस भटकाव का सबसे बड़ा कारण यह था कि सारी सरकारें आर्थिक, सामाजिक और स्वास्थ्य गत प्रश्नों को हल नहीं कर पा रही हैं | इसलिए बेकारी, गरीबी

जैसे मुख्य मुद्दों को दबा दिया गया और आवाम को धार्मिक और सांस्कृतिक मसलों में उलझाया गया | इसलिए इस समय राम मंदिर और बाबरी मस्जिद का मुद्दा भी सामने आता है | इस तरह के नए मुद्दे राजनीति में उभारे गए | लगभग 20-25 सालों से इसको खूब बढ़ावा मिल रहा है | धार्मिक मुद्दों को सांस्कृतिक मुद्दा बना कर उन्हें राजनीति का रंग दिया जा रहा है | इसलिए राजनीतिक पार्टियों की रणनीति भी इसमें काम कर रही है।

### 2.3.8 साम्प्रदायिकता का उभार :

इस दौर में साम्प्रदायिकता का उभार प्रमुखता से उभरता है | ऐसा नहीं है कि इससे पूर्व सांप्रदायिक दंगे नहीं हुए थे | साम्प्रदायिकता की शुरुआत अंग्रेजों के आगमन से साथ ही प्रारंभ हो गयी थी लेकिन इस दौर में यह साम्प्रदायिकता अपनी चरम सीमा आ चुकी थी | इसको दलीय प्रणाली या राजनीतिक पार्टियों ने तूल दिया | 1984 का दंगा, बाबरी मस्जिद और रामजन्मभूमि को लेकर सांप्रदायिक दंगा, गोधरा कांड आदि साम्प्रदायिक दंगे इस दौर में उभरे | इसके कारण समाज में अराजकता फैली और क्षोभ बढ़ा | एक ओर जहाँ साम्प्रदायिक उन्माद चरम सीमा पर था वहीं जाति आधारित आन्दोलन बढ़ते हुए दिख रहे थे | यह उन्माद दंगों को जन्म दे रहे थे | “जनवरी-फरवरी 1981 में गुजरात में अगड़ी और पिछड़ी जातियों के बीच लड़ाई शुरू हो गयी | इस झगड़े का मुख्य कारण मेडिकल और इंजीनियरिंग कॉलेज में निचली जातियों को दिया जाने वाला आरक्षण था |”<sup>59</sup> इस तरह के दंगे होने के बाद, दंगों की सिलसिलेवार प्रक्रिया चलने लगी | “उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद और मेरठ शहर में हिन्दू-मुसलमानों के भयानक दंगे हुए (अगस्त, 1980) | इसी तरह के दंगे बिहार के बिहारशरीफ (1981), गुजरात के बड़ोदरा (सितम्बर, 1981), गोधरा (अक्टूबर, 1981), अहमदाबाद (जनवरी, 1982) और आंध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद में (सितम्बर, 1983) | मई-जून 1984 में महाराष्ट्र के शहर भिवंडी और बम्बई में भी दंगे हुए |”<sup>60</sup> इस तरह के दंगों के कारण जान-माल का खतरा हुआ | ऐसे कई मामले भी सामने आए जहाँ सुरक्षाकर्मियों के द्वारा इन्हें दबाने का प्रयास भी किया गया | इसी दौर में ‘पिछड़ों का विकास’ के मुद्दे को भी प्रमुखता से उठाया जाता है | ये ऐसे राजनीतिक मुद्दे थे जिनको हल किया जाना चाहिए था | स्वाधीनता आन्दोलन में हमारा एक ही स्लोगन चला ‘अंग्रेजों से आजादी’ | वहाँ पर हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक

<sup>59</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-218

<sup>60</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-219

और अन्य सवाल (जाति प्रथा) हल नहीं हो पाए | उस समय प्राथमिक उद्देश्य अंग्रेजों को भगाना रहा इसलिए उस समय ये प्रमुख मुद्दे गौण हो गए | अम्बेडकर के बाद सत्ता में काबिज लोगों की दृष्टि उन प्रमुख मुद्दों पर नहीं गयी इसलिए यह प्रश्न आज़ादी के बाद सत्तर, अस्सी और नब्बे के दौर में व्यापकता से उभर कर आते हैं |

### 2.3.9 भ्रष्टाचार :

आज़ादी के एक दशक बाद से ही भारत भ्रष्टाचार के दलदल में धंसता हुआ नज़र आता है | संसद में भ्रष्टाचार को लेकर डॉ. राममनोहर लोहिया का तर्क ज्यादा उपयुक्त लगता है | “उस वक्त डॉ. लोहिया ने कहा था सिंहासन और व्यापार के बीच सम्बन्ध भारत में जितना दूषित, भ्रष्ट और बेईमान हो गया है उतना दुनिया के इतिहास में कहीं नहीं हुआ है |”<sup>61</sup> भारत में आई पूंजी के आवागमन ने विश्व में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया | भ्रष्टाचार अब आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में देखा जाने लगा है | किन्तु भारत में राजनीतिक एवं नौकरशाही के क्षेत्र में आदि भ्रष्टाचार का बहुत ही घातक प्रभाव पड़ रहा है | आर्थिक रूप से भी अनेक घोटाले इस दौर में हुए हैं | जिसके कारण भारत का आर्थिक ढांचा चरमरा गया है | जैसे -बोफोर्स घोटाला, यूरिया घोटाला, चारा घोटाला, शेयर बाज़ार घोटाला, सत्यम घोटाला, स्टैम्प पेपर घोटाला, कॉमनवेल्थ गेम्स घोटाला, 2जी स्पेक्ट्रम घोटाला, अनाज घोटाला, कोयला खदान आवंटन घोटाला आदि घोटालों के रिपोर्ट ने यह सिद्ध किया कि भारत में भ्रष्टाचार किस हद तक फैले हुए हैं | यह भ्रष्टाचार का सिलसिला थमा नहीं है बल्कि और भी विकराल रूप ले रहा है | क्योंकि सरकार का इस सम्बन्ध में उचित पदक्षेप न लेना या बनाए गए नियमों का उचित रूप से न पालन करने के कारण भ्रष्टाचार में और इजाफ़ा हो रहा है | हाल ही में आये रिपोर्ट ने यह भी सिद्ध किया कि वर्तमान सरकार भी इस भ्रष्टाचार से बची नहीं है | करोड़ों अरबों रुपयों को लेकर भागने वाले विदेशों में स्थित हैं, जिन पर कोई कार्रवाही नहीं की जा रही है | जिसे देख यही कहना पड़ेगा भ्रष्टाचार को प्रश्रय देने का काम सत्ता में स्थित सरकार कर रही है | इससे भारत की अर्थव्यवस्था को काफी नुकसान पहुंचा है | अब अर्थतंत्र चरमरा गया है | पुष्पपाल सिंह इस सम्बन्ध में लिखते हैं “विकसित देशों और विकासशील देशों, यहाँ तक कि अविकसित देशों में भी भ्रष्टाचार के दानव ने अपने डैने पूरी तरह फैलाये हुए हैं | ...भ्रष्टाचार

---

<sup>61</sup> [www.wikipedia.com/भ्रष्टाचार](http://www.wikipedia.com/भ्रष्टाचार)

और धांधलियों के क्षेत्र में भारत विश्व के सिरमौर राष्ट्रों में से एक है। हमारे राजनेताओं की प्रतिष्ठा का सवाल है, उन्हें करोड़ों-करोड़ों की धांधलियां रास नहीं आ पाती हैं, उनका स्तर हजारों-हजार करोड़ों की धांधलियों का है, छोटे-छोटे रकमों में वे अपना हाथ नहीं डालते।<sup>62</sup> भ्रष्टाचार पूरी दुनिया पर हावी हो रहा है इसलिए अंतर्राष्ट्रीय गैर सरकारी संगठन ट्रांसपेरेंसी इंटरनेशनल भ्रष्टाचार पर हर वर्ष एक रिपोर्ट प्रस्तुत करते हैं। 2019 में आये इसी रिपोर्ट में यह बताया गया कि 2018 में 180 देशों की सूची में भारत का स्थान 79वें पर है। उसमें यह भी बताया गया कि “भारत को इस सूचकांक में एशिया-प्रशांत क्षेत्र में भ्रष्टाचार और प्रेस स्वतंत्रता के मामले में खराब स्थिति वाले देशों की श्रेणी में रखा गया है। 2016 की अपेक्षा 2017 में भारत की रैंक में गिरावट भी दर्ज की गयी है। 2017 में 176 देशों की सूची में भारत 79वें स्थान पर था, वहीं 2016 में भारत 76 वें स्थान पर था।<sup>63</sup> अतः इससे यह स्पष्ट हुआ कि एक साल में भारत में भ्रष्टाचार की बढ़ोतरी हुई है। अगर इस तरह ही भ्रष्टाचार में बढ़ोतरी होती रही तो ये भारत के लोकतंत्र पर गहराता संकट ही होगा, जिसका परिणाम देश की मासूम जनता को चुकाना पड़ेगा।

आज के दौर की सबसे बड़ी समस्या यह भी है कि अब अभिव्यक्ति की आज़ादी छिनी जा रही है। जिसके तहत जनता और प्रबुद्ध वर्ग को चुप रहने की चेतावनी दी जा रही है। यह चेतावनी सत्ता में स्थित सरकारी नीति के तहत दी जारी है। जिससे एक चापलूस-वर्ग का उदय हो रहा है। इस वर्ग का उद्देश्य समाज की उन्नति को बढ़ाना नहीं है बल्कि ऐसे लोगों पर नज़र रखना है जो बेबाक हो कर समाज की सच्चाई से लोगों को अवगत करा रहे हैं। आज़ादी का इस प्रकार हनन होना हमें उत्तर आधुनिक नहीं बना रहा बल्कि अतीत की ओर धकेल रहा है। समाज की इस तरह की अधोगति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय समाज जो अपनी सामासिक संस्कृति और एकीकरण का दंभ भर रहा था उसमें जल्द ही फांक दिखने लगी है। और भारतीय समाज का पतन हो रहा है। अब ऐसी सत्ता की आवश्यकता महसूस हो रही है, जो आगामी पीढ़ी की चेतना को विकसित करते हुए देश की संगीन समस्याओं का हल करे और देश को पतनोन्मुखी स्थिति से उबारे।

## 2.4 सांस्कृतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ

<sup>62</sup> 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ.सं.-24-25

<sup>63</sup> द वायर, 15 फरवरी, 2019 <http://m.thewirehindi.com/article/india-ranked-81-in-transparency-international-corruption-index/35015>

‘संस्कृति’ शब्द अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार -“मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति हैं।”<sup>64</sup> संस्कृति के अनेक आयाम हैं जैसे- आचार-व्यवहार, खान-पान, कला, धर्म-दर्शन, भाषा और परम्पराएं आदि। यह संस्कृति मूलतः व्यक्तिनिष्ठ न होकर, सामूहिक, बौद्धिक शक्ति की उपज है। संस्कृति व्यक्तियों के अंतःक्रिया के माध्यम से सीखी तथा विकसित की जाती है। किसी भी समूह की आपसी समझ दूसरों को उनसे भिन्न बनाती है तथा अलग पहचान निर्मित करती है। यही आपसी निर्धारित तत्व संस्कृति का रूप लेती है। संस्कृति एक तरह से सामुदायिकता का परिचायक है, जो किसी एक के निर्णय पर आधारित नहीं है। किल्फोर्ड ग्रिट्ज़ संस्कृति के दूसरे पक्ष को भी उपस्थित करते हैं। उनका मानना था कि “मानव एक प्राणी है जो अपने स्वयं के बने हुए महत्वाकांक्षाओं के जाल में फँसा हुआ है। मैं संस्कृति को यही जाल मानता हूँ।”<sup>65</sup>

भारत बहु-सांस्कृतिक विविधता वाला देश है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की एक सांस्कृतिक पहचान भी विद्यमान है। भारतीय संस्कृति का रूप सामाजिक है और इसका विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। रामधारी सिंह ‘दिनकर’ इस सम्बन्ध में लिखते हैं -‘जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अंत तक न तो आर्यों की रचना है और न द्रविड़ों की, प्रत्युत, उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान है।’ सुप्रसिद्ध इतिहासकार डार्वेल ने भारतीय संस्कृति की तुलना एक ऐसे विशाल समुद्र से की है जिसमें अनेक विचारधाराओं रूपी नदियों का समागम होता है। भारतीय लोगों की वेशभूषा, आचार-विचार, कद-काठी, धर्म-भाषा आदि से ये स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसका कारण भारत की विशालता और भौगोलिक परिवेश के परिवर्तन से है। इसी विशालता ने अलग-अलग संस्कृति को जन्म दिया है। इसी विविधता को देखते हुए जवाहर लाल नेहरू भारतीय संस्कृति में ‘अनेकता में एकता’ को देखते थे।

जवाहर लाल नेहरू भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कहते थे -“Astonishing thought that any culture or civilization should have this continuity over five or six thousand years or more, and not only in static, unchanging sense for India was changing and progressing all the time.”<sup>66</sup>

<sup>64</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध, नामवर सिंह, पृ.सं.-76

<sup>65</sup> समाजशास्त्र एक परिचय, जे.पी. सिंह, पृ.सं.-75

<sup>66</sup> Discovery of India, Jawaharlal Nehru, penguin, 1945



अर्थात् आश्चर्यजनक विचार था कि किसी भी संस्कृति या सभ्यता में इस परिवर्तन को पाँच या छह हजार सालों या उससे भी अधिक समय के बाद लगातार अविच्छिन्न रूप में नहीं होना चाहिए किन्तु भारत निरंतर परिवर्तनशील है और प्रगति कर रहा है । अतः संस्कृति प्रवाहमान धारा है, जो समय की माँग और विकास के कारण परिवर्तित और परिवर्धित होती रहती है ।

समय-समय पर लोगों को यह धारणा आश्चर्य चकित करती रहती है कि भारत जैसी विभिन्न संस्कृतियों वाले देश में एकता कैसे बनी हुई है ? इसका एक कारण परस्पर लोगों को सहयोग तथा आत्मसात करने की प्रवृत्ति भी है । भारत सांस्कृतिक दृष्टि से अन्य देशों से धनी है । किन्तु कभी-कभी यही सांस्कृतिक पहचान भी हमारे लिए संकट उत्पन्न करती है । भारत में वर्तमान में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का विभाजन इसी सांस्कृतिक भिन्नता का ही परिणाम है । साथ ही थोपी गयी सांस्कृतिक पहचान भी कभी-कभी हमारे लिए संकट पैदा करती है ।

भारतीय संस्कृति सामासिक संस्कृति का प्रतीक है क्योंकि समय-समय पर व्यापार वाणिज्य के लिए विभिन्न देशों से लोग भारत आते रहे हैं और यहाँ रच-बस भी गए हैं । रच-बस जाने के कारण उनकी संस्कृतियों को भारतीय लोगों ने आत्मसात भी किया है । इस तरह समय के साथ-साथ संस्कृति में भी थोड़े-बहुत बदलाव होते रहे हैं । और इसी तरह भारत में किसी एक समुदाय की संस्कृति संरक्षित नहीं रही है बल्कि इस स्थान पर मिश्रित संस्कृति का जन्म हुआ है । जो सामासिक संस्कृति का रूप लेती गयी है । अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भी हमारे यहाँ सामासिक संस्कृति की नींव पड़ चुकी थी । किन्तु उनके आगमन और शासन के 200 सालों ने एक नयी संस्कृति को जोड़ लिया जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य संस्कृति का आगमन हुआ । और यहीं से पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय संस्कृति में मिश्रण की परम्परा प्रारंभ हुई । उनके द्वारा प्रयुक्त मशीनीकरण के प्रयोग ने औद्योगीकरण की पृष्ठभूमि को तैयार करने का कार्य किया । इसी औद्योगीकरण के आगमन ने भारत के अर्थतंत्र को प्रभावित किया । अर्थतंत्र की गिरावट और देश के पिछड़े जाने की आशंका ने भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण को और बढ़ावा दिया । वैश्वीकरण ने पूरे विश्व को एक ग्राम के रूप में स्थापित करने की कोशिश की । जिससे व्यापार के क्षेत्र में एक विश्व बाज़ार की स्थापना हुई । यहीं से बाजारवाद का प्रभाव भारत में देखा गया । इस तरह के नए प्रयोग ने अर्थतंत्र के साथ-

साथ भारतीय संस्कृति को भी प्रभावित किया | वैश्विक संस्कृति आज के भारतीय समाज के लिए संकट इस लिए उपस्थित कर रही है क्योंकि इसने भारतीय संस्कृति के विपरीत संस्कृति को स्थान दिया है | इसलिए यहाँ के विचारकों का मानना है कि यह संस्कृति हमारे संस्कृति के विलय का कारण बनेगी | पुष्पपाल सिंह अमेरिकीकरण की आंधी को सांस्कृतिक आक्रमण की आंधी के रूप में देखते हैं | उनका यह भी मानना रहा कि इसी आंधी ने हमारी सांस्कृतिक जड़ों को पूरी तरह से हिला डाला है | उनका यह संदेह औचित्यपूर्ण और तर्कसंगत लगता है | क्योंकि अब तक जितनी भी विदेशी संस्कृतियाँ भारत में आई या थोपी गयीं, वे हमारे जीवन-परिवेश में पूरी तरह घुल-मिल गई थीं | वे इस तरह से घुलमिल गयी हैं कि उनकी अलग पहचान भी नहीं रही है | किन्तु अमेरिकी संस्कृति ने हमारे मूल्यों पर कुठाराघात किया | पुष्पपाल सिंह आगे लिखते हैं -“इस संस्कृति ने हमारी निजता, सांस्कृतिक मूल्यों, सभ्यता के पारस्परिक स्वरूप में बदलाव लाने की चेष्टा नहीं की अपितु पुरातन सभ्यता और संस्कृति के सब कुछ को हटा कर अपना स्थान ग्रहण कर लिया |”<sup>67</sup> इसका कारण यह था कि विदेशी संस्कृतियाँ जो अंग्रेजों से पूर्व आई, वे भारतीय संस्कृति के विपरीत कार्यरत नहीं रहीं, उनमें जरूर उस समय के भारतीय संस्कृति के साथ कुछ तो साम्यताएं होगी ही इसलिए उसके आत्मसात् करने पर भारतीय संस्कृति में ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा | उदाहरण के तौर पर मुगलों के द्वारा आई पर्दा प्रथा ने भारतीय लोगों को प्रभावित किया और उसने भारतीय समाज में संस्कार का रूप ले लिया | कहने का तात्पर्य सुसंस्कृत बनाने और इज्जत का स्वरूप मुगलों और भारतीय लोगों में भी रहा जिसे अपनाने में कोई दिक्कत नहीं हुई | इसी के इतर पाश्चात्य संस्कृति में इज्जत जैसी कोई धारणा कपड़ों के स्तर पर नहीं दिखाई देती | बल्कि वहां जींस और छोटे कपड़ों का चलन है, जो भारतीय संस्कृति के विपरीत है | इस तरह सांस्कृतिक वैश्वीकरण के सन्दर्भ में दो मत देखे गए हैं | एक मत सकारात्मक है तो दूसरा नकारात्मक | कुछ विद्वानों ने वैश्वीकरण को एकीकरण और मिश्रितिकरण के रूप में देखते हुए सांस्कृतिक एकीकरण को स्वीकार किया है | वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों की दृष्टि इनसे भिन्न अर्थात् वैश्वीकरण को ध्वस्त संस्कृति के रूप में देखना रहा है | जॉन टॉमलिंगसन ने वैश्वीकरण और संस्कृति को एक-दूसरे के प्रतिरूप के रूप में देखा है | उनका मानना रहा

<sup>67</sup> 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ.सं.-19

है आधुनिक युग में वैश्वीकरण के प्रति लोगों का झुकाव आम बात है क्योंकि समाज के परिवर्तन होने से मनुष्य के स्वभाव, खान-पान यानी संस्कृति में परिवर्तन आता है। अतः उनका जोर वैश्विक संस्कृति के प्रति रहा है। वैश्वीकरण के प्रभाव से समाज में संस्कृतियों में एक सम्मिश्रण अवश्य हुआ है। इयूगो... किन्तु उनके वैश्विक संस्कृति के विपरीत नयी स्थापना रखते हैं। उनके अनुसार “इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए वैश्वीकरण न तो अकेले ही संस्कृति के स्वरूप और प्रकृति का निर्णय करता है और न ही संस्कृति का अकेले ही वैश्वीकरण पर कोई प्रभाव है।”<sup>68</sup>

#### 2.4.1 वैश्वीकरण का प्रभाव

वैश्वीकरण के बाज़ार में सबसे बड़ी भूमिका विज्ञापन-तंत्र और मीडिया की रही। इसे प्रचारित प्रसारित करने में टी.वी चैनलों, कोकाकोला और मैकडोनाल्ड की विज्ञापन नीति रही है। पूरा का पूरा विश्व इसी संस्कृति को अपना रहा है। जितनी तेजी से यह संस्कृति हमारे समाज में हावी हो रही है, इसका अंदाजा लगाना कठिन है। इसलिए इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों ने इसे हमारा मैकडोनालीकरण कहा है। प्रभा खेतान ‘भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र’ में यह लिखती हैं कि ‘रिज़िस (ritzes) जैसे चिन्तक इसे ‘मैकडोनाल्डीकरण’ की प्रक्रिया कहते हैं। ‘मैकडोनाल्ड’ खाने का फटाफट खाने का प्रतीक है। मैकडोनाल्डी की एक पूरी संस्कृति विकसित हो गयी है।’ यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा भोजन रेस्तरांओं से घरों तक पहुँचाया जा रहा है। यह प्रवृत्ति पूरे विश्व को प्रभावित कर रही है। यह प्रवृत्ति विश्व बाजारीकरण को दर्शाता है। कुछ विद्वान इस तरह की जीवन-शैली, सांस्कृतिक संहिताओं और व्यवहारों को एकीकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के रूप में देखते हैं। इसके विपरीत क्रॉक ने तर्क दिया कि “पश्चिमी समाज के पारंपरिक मूल्य संस्कृति के वाणिज्यकरण तथा मास मीडिया के प्रभाव द्वारा कलुषित हो रहे हैं।”<sup>69</sup> अब हर चीज़ शीघ्र-अतिशीघ्र उपलब्ध हो रहा है। यातायात का साधन ओला(ola), उबेर जैसे साधन कहीं पर भी उपलब्ध हो रहे हैं। ऐसे अनेकों एप्पस् का भी विकास हुआ है जो घर बैठे हर चीज़ उपलब्ध करवा रहा है चाहे वो कपड़ा, खाने का सामान या अन्य सुविधाएँ। इस संस्कृति ने मनुष्य को ज्यादा सुविधाभोगी बनने के साथ मशीनों पर ज्यादा आश्रित बना दिया है। अब छोटे से छोटे चीज़ के लिए हम मशीनों

<sup>68</sup> बीसवीं शताब्दी में विश्व इतिहास के प्रमुख मुद्दे, अनिरुद्ध देशपाण्डे, मृदुला झा, प्रतिभा चावला, पृ.सं.-466

<sup>69</sup> बीसवीं शताब्दी में विश्व इतिहास के प्रमुख मुद्दे, अनिरुद्ध देशपाण्डे, मृदुला झा, प्रतिभा चावला, पृ.सं.-466

पर आश्रित हैं। पूरा का पूरा विश्व अब इसी संस्कृति का दास बनता जा रहा है जिन देशों ने इन चीजों को नहीं स्वीकार किया वे खुद को पिछड़े की श्रेणी में देख रहे हैं। अब पूरा विश्व एक ही एकल संस्कृति को अपना कर सुविधाभोगी बनाने की होड़ में लगा हुआ है। पुष्पपाल सिंह इसी का उदाहरण देते हुए लिखते हैं -“किसी भी देश में चले जाइए, उनकी राजधानियों, महानगरों का जो विकास हुआ है वह सब जगह एक-सा दिखाई देता है -चौड़ी-चौड़ी सड़कों के साथ खड़े माचिस की डिब्बीनुमा बहुमंजिला अपार्टमेंट्स, आकाशचुम्बी एक-सी इमारतें एक से मॉल -यहाँ तक कि उन सब मॉलों में लगभग एक जैसे ब्रांडों का माल, चाहे वे पहनने के कपड़े हों, प्रसाधन-सामग्री हो, हाथ में लटकाने वाले पर्स हों, घड़ियाँ हों, इत्र-परफ्यूम हों -सब जगह उन्हीं प्रसिद्ध ब्रांडों के उत्पादों की भरमार रहती है। पूरी दुनिया के बाज़ार, मॉल्स इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादों से भरे हैं।”<sup>70</sup> आज मध्यवर्ग और उच्च वर्ग ब्रांड-संस्कृति, पॉप संस्कृति और अल्ट्रामॉडल की संस्कृति को अपना रहा है। अब वे हर चीज़ में ब्रांड को महत्त्व दे रहा है। अब ‘एलिट क्लास’ खुद को ब्रांडेड संस्कृति से जोड़ रहा है और उन्हीं का अनुसरण करते हुए मध्यवर्ग भी उन्हीं की तरह बनने की कोशिश में इसमें सम्मिलित हो रहा है। इसलिए नए-नए तरह के शॉपिंग मॉल की भी संस्था बढ़ रही है। यह संस्कृति, वैश्वीकरण और बाजारवाद के फलस्वरूप ही आयी है।

#### 2.4.2 पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव

आज प्रत्येक क्षेत्र में अमेरिकीकरण की पैठ हो गयी है। कला और संगीत पर भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव देखने को मिल रहा है। भारतीय संगीत में पाश्चात्य संस्कृति के आगमन ने पॉप और रॉक गीतों को महत्ता प्रदान की है। लोगों का झुकाव अंग्रेजी के रॉक गीतों में हो ही रहा है किन्तु भारतीय भाषाओं के संगीतों में भी रॉक और भारतीय गीतों का पुट देखा जाने लगा है। वही स्थिति हस्त कला और नृत्य में भी देखा गया है। इस तरह देखें तो भारतीय संस्कृति का रूप हर क्षेत्र में परिवर्तित हो रहा है। साथ ही अनेक तरह के आधुनिक उपकरणों का प्रयोग करके हस्तशिल्पी हस्तकला में नए प्रयोग भी कर रहे हैं। नए प्रयोगों ने भारतीय सांस्कृतिक ढांचे को कमजोर किया है। अब देशज/आंचलिक संस्कृति में पश्चिमीकृत पॉप संस्कृति की घुसपैठ बढ़ती जा रही है।

<sup>70</sup> 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ.सं.-19

भाषा, खान-पान, कला-संगीत में पाश्चात्य संस्कृति के प्रवेश ने स्वदेशी संस्कृति को हाशिया कृत कर दिया है। साथ ही बदलते हुए आधुनिक विचार ने इस सम्बन्ध में सोचने वालों को रूढ़िवादी के रूप में पेश किया है। हृदय नारायण दीक्षित ने इस आधुनिक संस्कृति को 'नंगा युग' नाम से अभिहित किया है। यथा -“बाज़ार रोज नए उत्पाद खोजता है और ज्यादा नग्न हो जाने की खोज जारी रहती है। एक तेज कामुक सामाजिक परिवर्तन घटित हो रहा है। समृद्धि जब संस्कृतिविहीन होती है तो ऐसा ही होता है। 35-40 करोड़ लोगों के पास दौलत आ गयी है। हवाला, घोटाला, माफिया, अफसर और पूंजीपति वर्ग ने एक नया ऐन्द्रिक समाज बनाया है। उसका रहन-सहन और मन 'लोकल' से 'ग्लोबल' हो गया है। यही नए सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का ध्वज वाहक है।”<sup>71</sup>

सुधीश पचौरी उत्तर आधुनिक संस्कृति के दूसरे पक्ष को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार “खुले पूंजीवाद ने बंधे पूंजीवाद के वात्सल्य को तोड़कर यदि सबको चौराहे पर खड़ा कर विश्व मजदूर बना दिया है तो कष्ट भले ही बढ़ें हों, कर गुजरने की इच्छाएँ भी तो बढ़ी हैं। अब यदि आप मध्यकालीन कछुआ धर्म निभाकर, स्पर्धा के बिना आगे बढ़ लें तो बढ़ जाइये। सदियों से कथित सहयोगिता में जाति बिरादरी की ऊँच-नीच हमारी संस्कृति को सिर्फ ब्राह्मणों, ठाकुरों तक महदूद करती रहीं-अब 'मॉस कल्चर' या जनसंस्कृति को जो इस सांस्कृतिक उद्योग का उत्पाद है, सबको यानि अधिसंख्य को मिल रही है तो सिर्फ उन्हें कष्ट होता है जो एलिट कल्चर के ठेकेदार हैं जो हाई माडर्निस्ट हैं, जिनका सतीत्व खतरे में है। वे एक मजदूर को टीवी देखते नहीं देख सकते, वे नहीं समझ सकते कि 'मॉस कल्चर' से यह मजदूर ही अंततः निपटेगा। यदि सूचना संस्कृति न फैली होती, यदि कामनाएँ न जगी होतीं तो स्त्रियाँ और दलित लोग न जगे होते। बाज़ार की संस्कृति ने उन्हें प्रतियोगिता के बाज़ार में ला कर खड़ा किया है। साहित्य-संस्कृति के पुराने केंद्र लड़खड़ा रहे हैं। साहित्य-संस्कृति उपभोक्ता के क्षेत्र में आ रहे हैं। दलित या स्त्रियों के जागरण की राजनीतिक फसल तो सब काटना चाहते हैं, सांस्कृतिक फसल से परेशान होते हैं।”<sup>72</sup> किन्तु सुधीश पचौरी से पारिवारिक मान्यताएं, मर्यादाएं और नैतिकता के मामले में सहमत नहीं हुआ जा सकता है। उपभोक्तावाद का सिर्फ अच्छा परिणाम ही हमारे समक्ष उपस्थित नहीं है बल्कि इसके इतर भौतिकता के लिए लोगों में ऐसी भूख

<sup>71</sup> हृदयनारायण दीक्षित, दैनिक जागरण, 25 फरवरी, 2005, 'सांस्कृतिक हमले का नया रूप' संपादकीय पृष्ठ से

<sup>72</sup> भूमंडलीकरण और उत्तर सांस्कृतिक विमर्श, सुधीश पचौरी, पृ.सं.-17

बढ़ती दिखाई दे रही है, जिससे परिवार व्यवस्था और नैतिकता तथा व्यक्ति खुद भी टूट रहा है। जैसे अब 'विवाह' जैसे पवित्र बंधन संस्कृति के कठघरे से आज़ाद हैं। आधुनिक समाज ने अब लिव-इन-रिलेशनशिप जैसी अवधारणा को सामने ला कर खड़ा कर दिया है। इसलिए एकल परिवार और एकल जीवन जीने की लालसा भी बढ़ती दिखाई देती है। परिवार-व्यवस्था में संबंधों की टकराहट भी भारतीय संस्कृति पर गहराते संकट को उपस्थित करता है। साथ ही आदर, सम्मान जैसे मूल्य भी इस दौर में घटते जा रहे हैं। अब भारत में आई नयी पाश्चात्य संस्कृति ने एक तरह से संबंधों की गर्माहट को ही खत्म कर दिया है।

### 2.4.3 नयी भाषाई संस्कृति का उदय

भारत का प्रत्येक समुदाय खुद को भाषाई संस्कृति से भी जोड़ कर देखता है। जो उसे सांस्कृतिक मूल्य प्रदान करती है। भाषाओं पर भी इसका प्रभाव देखा गया है। वैश्वीकरण के प्रसार ने नए शब्द और भाषा भी ईजाद किये हैं। अब इंग्लिश और हिंदी की जगह 'हिंग्लिश' भाषा का प्रचलन है जिसमें इन दोनों का मेल है। ये मेल अन्य भाषाओं में भी देखने को मिल रहा है। टेक्नोलॉजी ने भाषाओं के परिदृश्य को सिकोड़ा और विकसित किया है। यह दो तरफा प्रक्रिया है। अब विज्ञापनों की भाषा का भी प्रसार हो रहा है। साथ ही अंग्रेजी को ज्ञान की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया है। आधुनिक टेक्नोलॉजी अंग्रेजी के ज्ञान के बिना अधूरी है। इसलिए लोगों का अंग्रेजी के प्रति झुकाव होना स्वाभाविक है। किन्तु यह भी सत्य है कि अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार ने आंचलिक भाषाओं की समयावधि को कम कर दिया है। अर्थात् नए रिपोर्टों के अनुसार आये दिन कई भाषाएँ मरती जा रही हैं और कुछ भाषाएँ लुप्त होने की कगार पर पहुँच चुकी हैं।

वैश्विक संस्कृति, देशीय अथवा आंचलिक सीमाओं को तोड़ती हुई सीमा विहीन विश्व के संस्कृति को दर्शाती है। समग्र विश्व में भले ही वर्तमान के दौर में वैश्विक संस्कृति का वह रूप उपस्थित नहीं हुआ हो किन्तु 'मिश्रित संस्कृति' का रूप हमारे समक्ष उपस्थित है। साथ ही उपभोक्ता संस्कृति का भी इस दौर में विकास हुआ है। कुछ विद्वान उपभोक्ता संस्कृति को देशीय संस्कृति को बर्बाद करने का कारण मानते हैं। "वैश्वीकरण ने उल्लेखनीय रूप से ऐसे साधनों में वृद्धि की है जिसके माध्यम से एक राष्ट्र के नागरिक दूसरे देश के

आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में उत्सुकता के साथ भाग ले सकते हैं।<sup>73</sup> व्यक्ति-विशेष के इच्छा को भी उपभोक्ता संस्कृति प्रभावित करते हुए उपभोगी प्रदत्त बना रही है। दरअसल पूंजीवादी व्यवस्था में अर्थ के आधार पर लोगों को विलासी या सुविधा भोगी बनाने की मुहिम जारी की जा रही है। एक तरह से उपभोक्तावादी समाज ने लोगों को धीरे-धीरे यह अहसास दिला दिया है कि उनका स्टेटस और अस्तित्व उपभोग की जा रही वस्तुओं से ही निर्मित होता है।

आज का उपभोक्ता बाज़ार आपको विभिन्न तरह के चॉइस दे रहा है। आप उन लुभावने उत्पादों में से क्या खरीदते हैं या खरीदना चाहते हैं ये अब आपकी अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है बल्कि यह निर्धारण विज्ञापन कर रहा है। ये विज्ञापन बार-बार दिखा कर हमारे दिलों दिमाग पर यह असर डालते हैं कि हमें उन चीजों की जरूरत महसूस होने लगती है जो हमारे लिए शायद ही काम की हो। विज्ञापन का उद्देश्य यह हो गया है की वह लोगों में इस तरह ललक जगा दे जो उसके लिए अति आवश्यक जान पड़े। वे लोगों में यह भाव का संचार करते हैं कि इसके बिना उनका जीवन बाधित हो रहा है। “आज विज्ञापन हमारी चेतना में इतना हावी हो गया है कि हमें क्या खाना है, क्या पहनना है, क्या ओढ़ना बिछाना है, इसे विज्ञापन तय करता है।”<sup>74</sup> अमेरिकी पत्रकार वांस पैकार्ड अपनी पुस्तक ‘द हिडेन पर्सएडर्स’ में इन विज्ञापनों का अध्ययन करते हुए लिखते हैं कि - “विज्ञापन के जरिये उपभोक्ता के मानस को प्रभावित किया जाता है और उत्पाद विशेष के लिए उसमें इच्छा और ललक पैदा कर वास्तविक आवश्यकता न होने पर भी खरीदने के लिए प्रेरित किया जाता है।”<sup>75</sup> इन विज्ञापनों ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया है औरतों और बच्चों को। क्योंकि घर की बागडोर इन्हीं के हाथों से संचालित होती है। बच्चों के खाने से लेकर खिलौनों तक इन विज्ञापनों में दिखाया जाता है। बच्चा दुकान में जाकर वही मांग करता है जो उसने टी.वी पर देखा था। औरतों के सौन्दर्य प्रसाधनों को लेकर अनेक क्रीम जैसे गोरा करने वाली, झुर्रियों को कम करने वाली क्रीम, फेस पाउडर, लिपस्टिक आदि पर हर दो-तीन मिनट में विज्ञापन दिखाए जाते हैं। इससे महिलाएं बिना प्रभावित हुए नहीं रह पाती हैं और इसतरह बाज़ार में एक नए उत्पाद की आवश्यकता बढ़ जाती है

<sup>73</sup> बीसवीं शताब्दी में विश्व इतिहास के प्रमुख मुद्दे, अनिरुद्ध देशपाण्डे, मृदुला झा, प्रतिभा चावला, पृ.सं.-465

<sup>74</sup> 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ.सं.-20

<sup>75</sup> भूमंडलीकरण की दुनिया में विज्ञापन, जनसत्ता, गिरीश मिश्र

| 'भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र' में प्रभा खेतान लिखती हैं कि अमेरिका के मैरीलैंड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बेंजामिन जे.बारबर विज्ञापनों का अध्ययन करते हुए लिखते हैं कि 'विज्ञापन भूमंडलीकरण के दौर में बच्चों को भ्रष्ट, वयस्कों को बचकाना बनाता हुआ, सभी नागरिकों को पूरी तरह बिगाड़ रहा है।' विज्ञापनों के पीछे व्यावसायिक हितों के चक्र रहे हैं। साथ ही विज्ञापन के जरिये खुद को अन्य ब्रांड से बेहतर बनाने की होड़ ने विज्ञापनों के ढेर पर हमें खड़ा कर दिया है। अब हर दो मिनट में यह विज्ञापन सभी चैनलों में देखे जाते हैं। इन विज्ञापनों ने तो न्यूज़ चैनलों तक को नहीं छोड़ा है। ज्यादातर विज्ञापन में एक्टर, एक्ट्रेस, क्रिकेट खिलाड़ियों को लेकर दिखाये जाते हैं क्योंकि जनता उनसे बहुत ज्यादा प्रभावित है। साथ ही इन विज्ञापनों के निर्माण में कई लाख रुपए दे कर विज्ञापन बनवाया जाता है। इन विज्ञापनों के सन्दर्भ में प्रभा खेतान एक और रोचक बात 'भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र' में लिखती हैं कि विज्ञापन किस प्रकार वस्तुओं और उत्पादों में अंतर ला देता है। बाटा और नाइक के जूते में अंतर है। लोग जूता कहने पर बाटा ही समझने लगे हैं। इस तरह की प्रसिद्धि का कारण विज्ञापन ही है।

आज कल हिंदी फिल्मों पर भी पाश्चात्य संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ रहा है। फिल्मों में देह-संस्कृति और अश्लीलता हावी होती जा रही है। हिंदी फिल्मों में ऐसे कुछ फिल्में भी हैं जो जन समूह के चिंता धारा को परिष्कार करने का कार्य करते हैं लेकिन उनकी संख्या कम है। आज कल अधिकतर फिल्में भारतीय संस्कृति के नाम पर पाश्चात्य संस्कृति के बोलडनेस का द्योतक बन रहे हैं। बोलडनेस की हवा ने भारतीय संस्कृति को बहुत गहरे रूप में प्रभावित करते हुए उसे पिछड़ा बनाने की कगार पर ला दिया है। इस तरह की संस्कृति से 'नये किशोर और युवा पीढ़ी' बहुत प्रभावित हो रहा है। अब गर्लफ्रेंड जैसी अवधारणा से 4 और 5 क्लास के बच्चे परिचित हैं। किशोर पीढ़ी टी.वी. चैनलों और सिनेमा में जो अश्लीलता परोसी जा रही है उससे बहुत ज्यादा प्रभावित हो कर मोबाइल के द्वारा कामुकता वर्धक क्षेत्रों से परिचित हो रहे हैं। इस तरह कुप्रभाव बच्चों से लेकर बड़ों तक, गरीब से अमीर तक फैले हुए हैं। कामुकता के प्रभावित लोग नवजात बच्चे/बच्चियों को अपने हवस का शिकार बना रहे हैं। समाज में यह संक्रमण बहुत द्रुत गति से प्रसारित हो रहा है। समाज धीरे-धीरे कामुक मानसिक विकृति वाले लोगों से परिपूर्ण हो रहा है। ऐसे में इस संक्रमण से देश को सुरक्षित करना बहुत आवश्यक हो गया है।



आये दिन हुए बलात्कार इसी मानसिकता को पोषक की दरिंदगी का पोल खोलते हुए नज़र आते हैं। मीडिया खबरों की जुगाली तो कर रहा है किन्तु ऐसे संगीन मुद्दों को दिखा कर यह स्पष्ट कर रहा है समाज की गति अब किस ओर प्रसारित हो रही है !

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि आज के इस दौर में वैश्वीकरण का चोला ओढ़ कर वैश्विक संस्कृति का सपना देखने वाले बड़े भरम में जी रहे हैं। दरअसल ऐसी कोई संस्कृति है ही नहीं और न होगी। यह पूंजीवाद, व्यापार को बढ़ावा देने का बस एक जरिया है, जिनका उद्देश्य वैश्विक संस्कृति को बढ़ावा देना कतई नहीं है बल्कि इसमें लोगों को गुमराह करने की भरसक कोशिश की गयी है। टी.वी. में आ रहे विज्ञापनों की भी इस व्यापार को बढ़ाने में बहुत बड़ी भूमिका है। इन विज्ञापनों को इस तरह मनमोहक बनाया जाता है जिससे उपभोक्ता वस्तु से आकर्षित होकर उसे खरीदने के लिए मजबूर हो जाए साथ ही ऐसी परम्परा भी विकसित की जा रही है, जिसमें यथार्थ की जगह कल्पना और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ने ले ली है। एक तरह से वैश्विक संस्कृति के इतर वैश्विक मीडिया की भूमिका बढ़ी है।

## 2.5 धार्मिक परिस्थितियाँ

भारत में धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म की परिभाषा ही बदल दी गयी है। इस शब्द के अनुसार सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार है तथा यह भारत के मौलिक अधिकारों में शामिल है। कोई भी व्यक्ति धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किये बिना ही अपने धर्म का प्रचार कर सकता है। भारत में आज धर्मनिरपेक्षता एक मूल्य न होकर राजनीति का सबसे बड़ा हिस्सा है। चाणक्य की राजनीति और गाँधी के राम राज्य में भी धर्म के तत्व थे, वहां धर्म के नाम पर अराजकता नहीं थी। किन्तु आज राजनीति में धर्म का प्रयोग संकीर्ण मानसिकता को गढ़ने तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में विद्यानिवास मिश्र का कथन उपयुक्त प्रतीत होता है - “पारिवारिक भावना का हास, अपनी ही छोटी सी अस्मिता को परिवारभाव में एकात्म, गाँव, जनपद और देश को जोड़ने वाले धर्म के स्थान पर छोटे-छोटे अहंकारों के दुर्ग बन गए हैं। चाहे जाति के रूप में हो, संप्रदाय के रूप में हो, वर्ग के रूप में या और किसी रूप में हो। धर्म ने जिस सर्वहित की बात चलायी और सबके कल्याण में अपने कल्याण और सबके सुख और सबके दुःख में अपना दुःख मानने की परंपरा चलायी थी, उसके स्थान पर एक

ऐसी विकास दृष्टि आ गयी है, जो केवल अपने सुख और अपने दुःख की ही चिंता करती है।<sup>76</sup>

### 2.5.1 बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक

आज का धार्मिक और जातीय पहलू भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या है। जैसे-भारत का प्रत्येक समुदाय अपनी सामुदायिक पहचान से भावनात्मक रूप से बहुत जुड़ा हुआ है। जन्म से ही ये सामुदायिक पहचान नवजात बच्चों को मिल जाती है। यह पहचान उसे और उसके समुदाय को दूसरे समुदाय से भिन्न बनाता है। सामुदायिक सम्बन्ध परिवार, जाति, बिरादरी, भाषा और धर्म आदि पहचान को सार्थकता प्रदान करते हैं। किन्तु जब भी सामुदायिक पहचान पर संकट का कोई खतरा दिखता है तो लोगों में भावुकता और हिंसात्मक व्यवहार देखा जाता है। इसी कमजोर नब्ज़ को पकड़ कर ही राजनीतिज्ञ अपना उल्लू सीधा करने का काम करते हैं। उनके द्वारा धार्मिक षड्यंत्र लोगों को संस्कृति, धर्म, जाति और भाषा के नाम पर लड़वाने का काम करती है। यही हिंसा साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण करती है। 'साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई देती है।' अपनी संस्कृति को बचाए रखने तथा संस्कृति पर गहराते संकट के नारे के कारण लोगों में साम्प्रदायिकता को तूल दिया जाता रहा है। प्रेमचंद इस सम्बन्ध में 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति' में लिखते हैं 'हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता और मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गए हैं कि अब न कहीं हिन्दू संस्कृति है, न मुस्लिम संस्कृति और न कोई अन्य संस्कृति। अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति।' आगे प्रेमचंद यह भी स्पष्ट करते हैं कि दोनों धर्मों में सांस्कृतिक साम्यताएं पायी जाती हैं। इसके जरिये प्रेमचंद दोनों समुदाय से प्रश्न कर रहे हैं फिर यह सांप्रदायिक हिंसा क्यों? ऐसे आधुनिक समय में जहाँ अर्थतंत्र का वर्चस्व है, वहां अपनी-अपनी संस्कृति को बचने की होड़ बड़े बचकाने प्रतीत होते हैं। साथ ही भारत जैसे देश में जहाँ सामासिक संस्कृति की नींव पड़ चुकी है वहां इस तरह के हिंसात्मक लड़ाई को कैसे प्राथमिकता मिल सकती है। किन्तु वर्तमान का लोकमानस इन चीजों को स्वीकार नहीं कर पा रहा है, स्वीकार करे भी कैसे उनके मानस पटल पर ऐसा जहर घोला जाता है जिससे शायद ही कोई बचे।

---

<sup>76</sup> पीपल के बहाने, 'धर्म ही बलि का बकरा क्यों', विद्यानिवास मिश्र, पृ.सं.-18

अंग्रेजों ने भले ही विष वृक्ष का रोपण कर सांप्रदायिक हिंसा को बढ़ावा दिया था किन्तु उनके पलायन के साथ यह विष वृक्ष की समाप्ति नहीं हुई, बल्कि इसके स्थान पर सत्ता में स्थित राजनेताओं ने उस विष वृक्ष को सूखने नहीं दिया है। पहले गोरे आम जन का शोषण करते थे अब 'काले-गोरे' उनका शोषण कर उनकी ऊर्जा को दंगे में नष्ट कर रहे हैं। स्वतंत्र भारत में यह हिंसा देश विभाजन के रूप में सामने आयी। 80 के दशक में अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक की राजनीति ने देश को बहुत गहरे रूप में प्रभावित किया। पंजाब में अपनी पानी की मांग को लेकर ऐसे आन्दोलन किये गए जिसने बाद में चल कर साम्प्रदायिक रूप ले लिया। कोई सरकार, पंजाब के नदियों को हरियाणा और राजस्थान के साथ साझा करने का आदेश देती हैं। इस आन्दोलन के द्वारा वे इन नदियों में अपना ज्यादा हिस्सा की मांग करते हैं। साथ ही अमृतसर को सिखों के पवित्र शहर के रूप में घोषित किये जाने की बात करते हैं। इस आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्ता अकाली दल के लोग थे क्योंकि वे उस समय पंजाब में ज्यादा तादाद में थे। समस्या तब और बढ़ी जब सरकार उनकी राय को स्वीकार नहीं कर रही थी। साथ ही 1980 के चुनाव में उनके अकाली दल को ही बरखास्त कर दिया गया और कांग्रेस सत्ता में आ गयी थी। "उसी साल जून महीने में सिख छात्रों का एक समूह स्वर्ण मंदिर परिसर में मिला और आज़ाद सिख राष्ट्र के गठन का आह्वान किया गया। इस गणराज्य का नाम खालिस्तान रखा गया और लन्दन में रह रहे सिख नेता जगजीत सिंह चौहान को इसका राष्ट्रपति घोषित किया गया।"<sup>77</sup>

अकालियों के नेता संत हरचरण सिंह लोगोवाल थे, जो स्वर्ण मंदिर में रह कर वहां से समय-समय पर विरोध प्रकट कर रहे थे। उस समय का मुख्य मुद्दा चंडीगढ़ को पंजाब को सौंपा जाना तथा पंजाब को ज्यादा पानी मिलना था। भिंडरावाले मंदिर के दूसरी ओर रह कर आन्दोलन को अंजाम दे रहे थे। उनके समर्थक कुछ हथियारबंद भी हो गए थे जिन्हें सरकार आतंकवादी के रूप में जानती थी। धीरे-धीरे भिंडरावाले मंदिर को घेर कर आन्दोलन को उग्र रूप देने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने 1983 में हाइवे पर एक बस को रोक दिया और उसमें हिन्दू मुसाफिरों को चुन-चुन कर गोली मार दी। इस बीच अनेक हत्याएं और भी हुईं। सांप्रदायिक हिंसा में हो रही बढ़ोतरी ने एक बड़ा संकट सरकार के सामने खड़ा कर दिया था। जिसके परिणाम स्वरूप जून 1984 में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी

---

<sup>77</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-214

के निर्देश पर 'ऑपरेशन ब्लूस्टार' जैसे पदक्षेप लिए गए | यह ऑपरेशन अमृतसर के स्वर्णमंदिर में जनरैल सिंह भिंडरावाले के नेतृत्व में घुसे खालिस्तानी आतंकवादियों को बाहर निकालना था | किन्तु यह मुद्दा उग्र रूप तब लेता है जब इंदिरा गाँधी की हत्या दो सिखों के द्वारा होती है | पूरा देश इंदिरा गाँधी की मौत से हतप्रभ हो गया था | इसके विरोध में देश की जनता ने इंदिरा गाँधी का बदला सिखों की हत्या करके लिया | इतने नरसंहार दिल्ली, उ.प और अन्य स्थानों पर हुए जिससे आतंकित हो कर सिखों को ऐसे स्थानों पर जाना पड़ा जहाँ बहुसंख्यक पंजाबी हो | कुछ लोगों ने तो देश भी छोड़ दिया था | 1984 में हुए दंगों में पूरे सिखों की स्थिति इतनी खराब हो गयी थी कि आज भी उनकी संख्या देश में बहुत कम रह गयी है |

### 2.5.2 सामासिक संस्कृति बनाम साम्प्रदायिक चेतना का उभार

90 के दशक में रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद जैसे प्रकरण ने इस हिंसा को फिर से बढ़ा दिया | अयोध्या में स्थित बाबरी मस्जिद बार-बार विवाद का मुद्दा बन गया है | हिन्दू संप्रदाय के लोगों को यह सहनीय नहीं था कि पवित्र राम जन्म भूमि में बाबरी मस्जिद रहे | लेकिन मुसलमानों के लिए ये पाक बाबरी मस्जिद था | यह मस्जिद बाबर ने फतेहपुर सीकरी के राजा राणा संग्राम सिंह को हराने के बाद 1527 में बनवाया था | किन्तु कट्टर हिंदुत्व के ठेकेदारों ने आधुनिक भारत में राम जन्म भूमि पर दावा करना शुरू किया जबकि मुसलमानों ने विवादित स्थल पर स्थित बाबरी मस्जिद का बचाव करना शुरू किया | वर्ष 1947 में भारत सरकार ने मुसलमानों को विवादित स्थल से दूर रहने का आदेश दिया और मुख्य द्वार पर ताला डाल दिया | विवाद उस समय और बढ़ा जब फैजाबाद के जिला जज ने विवादित स्थल का ताला खोल दिया | जिसके कारण कई जगह पर साम्प्रदायिक दंगे हुए | एक तरफ भारतीय जनता पार्टी ने ताला खुलने का समर्थन किया दूसरी तरफ बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी ने ताला खोलने का विरोध किया | सांप्रदायिक हिंसा की ज्वाला तब और बढ़ी जब वहां पर स्थित मस्जिद को ढहाने की कोशिश की जा रही थी | 30 अक्टूबर 1990 में लगभग 500 लोग मस्जिद के क्षेत्र में घुस कर मस्जिद के कुछ हिस्सों को क्षतिग्रस्त किया | यहीं से सांप्रदायिक हिंसा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया | मार-काट का दृश्य अखबारों और न्यूज चैनलों की सनसनी पैदा करने वाली खबरें बनती जा रही थी | यह मुद्दा सांप्रदायिक हिंसा और नफरत का रूप लेकर संक्रमित होने लगा | कहीं पर मुसलिम बस्तियां और दुकानें जलाई जा रही थी

तो कहीं पर इसके विरोध में सरकारी बसें, पुलिस थाने तथा हिन्दुओं के घरों और दुकानों को आग लगाई जा रही थी | इन दंगों में 2000 से अधिक लोग मारे गए |

### 2.5.3 आतंकवाद का उदय और दंगों की राजनीति

बाबरी मस्जिद और राम मंदिर के मुद्दों ने देश में ऐसी हिंसा को बढ़ावा दिया जिसका एक उदाहरण मुंबई बम कांड (12 मार्च 1993) है | मुंबई बम कांड में पहला मुंबई शेयर बाज़ार के सामने और दूसरा बड़े होटलों और कॉर्पोरेट कार्यालयों के सामने बम विस्फोट किये गए | इस धमाके का इरादा ज्यादा से ज्यादा जानें लेने के लिए था क्योंकि यह धमाका दिन के उजाले में किया गया था | इस धमाके में 300 से अधिक लोगों की जानें गयी थीं | बाद में आये रिपोर्ट के अनुसार यह विस्फोट अरब के दो माफियाओं के इशारों पर किये गए थे | इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि वे बाबरी मस्जिद और अपने हम बिरादरियों की मौत का बदला लेना चाहते थे |

बाबरी मस्जिद के बाद दूसरा बड़ा सांप्रदायिक दंगा गोधरा कांड रहा | रामचंद्र गुहा के अनुसार विश्व हिन्दू परिषद पूरे देश से अयोध्या तक कारसेवकों का दौरा और मंदिर निर्माण के लिए समारोह आयोजित कर रहे थे | इसी तरह के एक यज्ञ फरवरी, 2002 को आयोजित किया गया था, जिसमें गुजरात के सैंकड़ों स्वयंसेवकों ने हिस्सा लिया था | ये कार सेवक जब ट्रेन से वापस लौट रहे थे तो गोधरा रेलवे स्टेशन पर कुछ मुस्लिम फेरीवालों से इनका झगड़ा हो गया | फेरीवालों से भगवान राम की प्रशस्ति में नारे लगाने को कहा गया जब उन्होंने इससे इनकार किया तो उनकी दाढ़ी पकड़कर खिंची गयी | ये खबर सुनकर आस-पास मुस्लिम नौजवान वहां जमा हो गए | कार सेवक फिर से चलती ट्रेन में चढ़ गए | उसके कुछ समय बाद ट्रेन के एक डिब्बे में आग लग गयी थी | उसमें लगभग 58 लोग मारे गए थे | गोधरा में वैसे भी सांप्रदायिक हिंसा होते रहे हैं जिसके फलस्वरूप इसे भी साम्प्रदायिक दंगे का रूप दे दिया गया | यह बात आग की तरह फैल गयी कि कारसेवकों को जला कर मार डाला गया | जिसके फलस्वरूप बड़ौदा और अहमदाबाद में इसका भयावह और विकराल रूप नजर आया | इस दंगे ने कुरूपता की सारी हदें पार कर दी थी | मुसलमानों के घरों और दुकानों पर हमला किया गया, मस्जिदों और उनके गाड़ियों में आग लगा दी गयी | मुसलिम महिलाओं के साथ बलात्कार किया गया उनके मर्दों की हत्याएँ की गयी | दंगाइयों के हाथों में मतदाताओं की सूची थी जिसे ध्यान में रख कर एक-एक मुसलमानों को मौत के घाट उतरा जा रहा था | रामचंद्र गुहा 'भारत नेहरु के बाद'

पुस्तक में इनके आंकड़ों का भी हवाला देते हैं। उनके अनुसार - 'कुल मिलकर 2,161 मकान, 1, 461 दुकान, 304 छोटे व्यवसाय, 71 कारखाने, 38 होटल, 45 धार्मिक स्थल और 240 गाड़ियों को पूरी तरह तबाह कर दिया गया।' बाद के शोधों से यह ज्ञात हुआ ट्रेन में आग अंदर से लगी थी। किन्तु इसे साम्प्रदायिक हिंसा का रूप दिया गया था, जिसमें मीडिया और राजनीतिज्ञों की सबसे बड़ी भूमिका रही है।

#### 2.5.4 जाति, धर्म और आरक्षण की राजनीति

भारत में जाति और संप्रदाय को लेकर भी झगड़े सामने आये। अस्सी के दशक में उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित करना भी शुरू कर दिया था। इसके अनेक उदाहरण हैं - 'इन घटनाओं में सबसे अहम था तमिलनाडु के एक गाँव में हरिजनों द्वारा लिया गया वो फैसला जिसमें उन्होंने सामुदायिक रूप से इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। 19 फरवरी, 1981 को मीनाक्षीपुरम गाँव के एक हजार हरिजनों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था।'<sup>78</sup> इस सम्बन्ध में के.एन. पणिकर का मत ज्यादा उपयुक्त लगता है - "पिछले चालीस वर्षों में धर्मनिरपेक्षता, एक प्रमुख आकस्मिकता बनी रही है और समाज का बढ़ते पैमाने पर साम्प्रदायीकरण होता गया है। आज पूरे भारत वर्ष में धर्म पर आधारित राजनीतिक पार्टियों तथा सार्वजनिक संगठनों की खूब बाढ़ आई हुई है। जाति पर आधारित संगठन, राजनीतिक पार्टियों का रूप धरकर सामने आ रहे हैं और विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के बीच भी जाति पर आधारित गुप, अलग-अलग पहचानों के साथ, दबाव गुपों के रूप में काम करते हैं। भारतीय समाज में जाति और संप्रदाय पर आधारित विभाजन स्पष्ट हैं। जाति तथा सांप्रदायिक चिंताएं राजनीति में स्वीकृत नियम ही बन गयी हैं और सांप्रदायिक दंगे तथा तनाव, आए दिन की चीज़ हो गए हैं।"<sup>79</sup>

धार्मिक उन्माद को बढ़ाने वाली घटना 'गाय' को लेकर भी रही। 'जनसत्ता' में आये एक रिपोर्ट में यह स्पष्ट किया गया कि डाटा वेबसाइट इंडिया स्पेंड की रिपोर्ट के अनुसार 2010 से लेकर 2017 हुई हिंसा में 57 प्रतिशत मुस्लिम प्रताड़ित रहे हैं। इन आठ सालों में 63 घटनाएँ ऐसी हुई जिसमें 28 भारतीयों की जान चली गयी। जिसमें 24 मुस्लिम थे। 'इंडिया स्पेंड की रिपोर्ट के अनुसार साल 2017 में गाय से जुड़ी हिंसा के मामलों में अभूतपूर्व बढ़ोतरी हुई है। इस साल से पहले छह महीने में गाय से जुड़े 20 मामले ऐसे

<sup>78</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-220

<sup>79</sup> संस्कृति, चेतना, विचारधारा : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, पृ.सं.-36

हुए जो साल 2016 में हुई कुल हिंसा के दो-तिहाई से ज्यादा हैं। इन मामलों में भीड़ द्वारा हमला करने, गौरक्षकों द्वारा हमला करने, हत्या, हत्या की कोशिश उत्पीड़न, सामूहिक बलात्कार इत्यादि मामले शामिल हैं।<sup>80</sup> प्रताड़ित लोगों में ऐसे लोग भी शामिल थे जो झूठी अफवाहों के शिकार हुए। इस सन्दर्भ में कैलासचन्द्र काटजू का कथन अधिक सटीक लगता है - 'हम ऐसे देश में रह रहे हैं जहाँ इंसानों से ज्यादा गाय का महत्व है।' आगे वह एक इंटरव्यू में कहते हैं 'मैं गाय को माँ नहीं बल्कि अन्य पशु की भांति ही समझता हूँ।' आधुनिक समाज की सच्चाई यह है कि यहाँ के लोगों के मध्य पनपी बर्बरता ने गो मांस खाने के नाम पर लोगों को मौत के घाट उतार दिया है।

धार्मिक समस्याएँ भी इस दौर में प्रमुखता से उभरीं। उनमें से एक मुद्दा शाहबानो का भी रहा। 1981 में मोहम्मद अहमद खान ने निचली अदालत के फैसले के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अपील की जिसमें उसे अपनी तलाकशुदा पत्नी शाहबानो को गुजारा भत्ता देने के लिए निर्देश था। इस फैसले की सुनवाई चार साल बाद होती है। सुप्रीम कोर्ट ने 1985 में यह फैसला सुनाया कि अपराध दंड संहिता की धारा 125 के तहत खान को अपनी तलाकशुदा पत्नी को गुजारा भत्ता देना होगा। यह फैसला मुस्लिम पर्सनल लॉ के खिलाफ था। मुसलमानों ने भी इस फैसले को दूसरे रूप में लिया। इसके बाद मुल्ला और मौलवियों ने सुप्रीम कोर्ट और शाहबानो की कड़ी आलोचना की।

इस दौर में दूसरा जो धार्मिक मुद्दा हमारे समक्ष आता है वह मुद्दा है आरक्षण का। जिसका प्रयोग आम चुनाव में हर बार किया जाता है तथा इसके द्वारा ही लोगों को भड़काकर अपने स्वार्थ की पूर्ति की जाती है। जैसे -

“सितम्बर, 1990 को मंडल आयोग की सिफारिशों के संविधानिक औचित्य के खिलाफ सुप्रीमकोर्ट में याचिका दायर की गई। याचिकाकर्ता ने इसके पक्ष में तीन मुख्य दलीलें दीं।

1. 'आरक्षण के विस्तार से संविधान के उस आश्वासन का उल्लंघन होता था, जिसके तहत अवसर के समानता की बात कही गई थी।
2. जाति के पिछड़ेपन का कोई मापदंड नहीं है।
3. इससे सरकारी सेवाओं की गुणवत्ता पर विपरीत असर पड़ेगा।

---

<sup>80</sup> जून 29, 2017, जनसत्ता

अदालत ने मामले पर गौर करते हुए सरकार के आदेश के क्रियान्वयन को स्थगित कर दिया।<sup>81</sup> विश्वनाथ प्रताप सिंह के समय ओ.बी.सी आरक्षण मंडल कमीशन लागू हुआ। यहीं से आरक्षण के विरोध में फिर एक बार दंगे की राजनीति चलने लगी। इस फैसले को स्वीकार किये जाने के खिलाफ दिल्ली विश्वविद्यालय के एक छात्र राजीव गोस्वामी ने अपने शरीर में आग लगा ली। इसके बाद 200 के लगभग आत्महत्या की कोशिशें की गयीं, जिनमें से 62 कामयाब भी हुईं। यह विरोध उच्च जातियों से सम्बन्ध रखने वाले छात्रों ने किये थे। उत्तर भारत में यह हिंसा विकराल रूप लेती गयी। 26 सितम्बर, 1991 को कांग्रेस के प्रधानमंत्री पी.वी.नरसिंह राव ने मंडल आयोग की रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए यह उसमें जोड़ दिया कि पिछड़ी जाति के लोगों को 27 फीसदी नौकरी देते समय 'गरीब वर्ग के लोगों को प्राथमिकता दी जाएगी।' अनेक वाद-विवाद के बाद सुप्रीमकोर्ट ने इस याचिका में दो शर्तें लागू की प्रथम सरकारी सेवा में आरक्षण 50 प्रतिशत से ज्यादा नहीं होगा और जाति का मापदंड सिर्फ नियुक्ति में ही लागू होगा, पदोन्नति में नहीं। वर्तमान के परिदृश्य में आरक्षण को खत्म करने की मुहिम भी लागू की गयी है। जिसमें अम्बेडकर के आरक्षण नियम को उलट कर सभी के हित की बात की जा रही है। अब नौकरियों में 10 फीसदी आरक्षण लागू किया गया है। इस आरक्षण का लाभ पाने के लिए यह शर्त रखी गयी कि सालाना आय 8 लाख रुपये से कम होना चाहिए। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि 8 लाख रुपये की आमदनी वाले यह सुविधा ले सकते हैं तो आयकर की छूट केवल ढाई लाख तक की आय पर क्यों है?

इस दौर में और एक मुद्दा जो मुख्य रूप से उभर कर आता है वह मुद्दा है 13 पॉइंट्स रॉस्टर का। देश के विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की नियुक्ति के लिए 200 पॉइंट रॉस्टर की व्यवस्था थी। 13 पॉइंट रॉस्टर के तहत विश्वविद्यालय को यूनिट मानने के बजाय विभाग को यूनिट माना गया। जिसके आधार पर पहला, दूसरा और तीसरा पद सामान्य वर्ग के लिए, चौथा वर्ग ओबीसी के लिए पाँचवाँ और छठा सामान्य वर्ग के लिए। इसके बाद सातवाँ पद अनुसूचित जाति के लिए आठवाँ वर्ग ओबीसी के लिए फिर नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ फिर सामान्य वर्ग के लिए। 12वाँ पद ओबीसी के

---

<sup>81</sup> भारत नेहरू के बाद, रामचंद्र गुहा, पृ.सं.-271



लिए 13वां पद सामान्य के लिए और 14वां पद अनुसूचित जनजाति के लिए संरक्षित थे। सुप्रीम कोर्ट के द्वारा मंजूरी के कारण छात्रों ने इस नियमों का विरोध किया। इसका एक कारण यह भी था कि सरकारी नौकरियों में इतने पोस्ट निकलते ही नहीं हैं। साथ ही ऐसे नियम लागू होने से आदिवासी छात्रों को मौका ही नहीं मिल पाएगा।

अतः इस दौर में धार्मिकता और राजनीति का एक अद्भुत गठजोड़ देखने को मिलता है। एक तरह से लोगों को साम्प्रदायिकता, वर्गवाद, जातिवाद, आरक्षण और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दों के जाल में ऐसा उलझा दिया है कि आम जन इनकी राजनीति से अनभिज्ञ होकर मारने और मरने पर उतारू है। लोगों के मध्य जाति और धर्म ने ऐसे वैषम्य स्थापित कर दिया है कि जिसके कारण समाज कई पाटों में विभक्त होता जा रहा है। इसी वजह से देश के विकास में समस्या उत्पन्न हो रही है और लोग नासमझ बन कर इसका हिस्सा बन रहे हैं। कुछ विचारकों ने आशंका जताई है कि ऐसी गतिविधियों को अगर रोका नहीं गया तो देश की स्थिति भविष्य में कुछ और ही होगी अर्थात् अल्पसंख्यकों का यहाँ से सफाया हो जाएगा तथा देश को 'हिन्दू राष्ट्र' के रूप में घोषित कर दिया जाएगा। इसकी वजह से बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का द्वंद्व ही समाप्त हो जाएगा। साथ ही देश में बचे-कुचे वही अल्पसंख्यक रह जाएंगे जिनका स्वयं की कोई पहचान या अस्तित्व नहीं होगा।

### **नव्य-साहित्यिक प्रवृत्तियाँ**

सन् 1980 के बाद हिंदी और ओड़िया साहित्य में नई साहित्यिक प्रवृत्तियाँ का उभार देखने को मिलता है। इसे हम राजनीति, शिक्षा का प्रसार, बाजारवाद का उदय मीडिया की भूमिका, नई अर्थनीति के परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं। यह नई राजनीतिक चेतना, नये सामाजिक परिवर्तित समाज और नये शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा साहित्य में और भाषा में अपनी छवि को बदलने के क्रम में ऐतिहासिक भूमिका निभा रहा है। यह लैंगिक, जाति, प्रजाति, वर्गीय और धार्मिक पहचानों से सम्बद्ध होकर साहित्य में नए सामाजिक लोकतंत्र को निर्मित कर रहे हैं। अतः ये प्रवृत्तियाँ सामुदायिक भी हैं जिसका आधार सामाजिक है। ये प्रवृत्तियाँ लैंगिक भी हैं जिसमें जेंडर को पुनः परिभाषित किया जा रहा है, ये प्रवृत्तियाँ परंपरागत सामाजिक व्यवस्था की श्रेष्ठता, जाति के अहम् को नकारती हैं और मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय के सवाल को प्रमुखता प्रदान करती हैं। ये प्रवृत्तियाँ परंपरागत मानव मेधा की व्यवस्था या पुरातन मानव-सभ्यता को उत्तर-

आधुनिक समाज के बरक्स खड़ा करती है । अतः यह सभ्यता विमर्श की है । यह मूल और बाहरी के मध्य पनप रहे तनावों द्वंद्वों को लेकर अग्रसर भी है । यहाँ प्रवासन, शरणार्थी, विभाजन, अप्रवासी, देशज और मूल के मध्य पनप रहे संबंधों का उद्घाटन भी हुआ है । यहाँ जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म, भाषा, प्रदेश, अंचल और स्थानीयता के प्रति सचेतनता का भाव अग्रसरित हुआ है । अतः इसे हम साहित्य के सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों से जोड़ कर साहित्यिक-परिदृश्य में अभिव्यक्त रूप में अध्ययन करेंगे ।

निष्कर्ष : निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि साहित्य और साहित्यकार को समझने के लिए परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसके बिना साहित्य का मूल्यांकन सटीक रूप से नहीं किया जा सकता ।

3.1 हिन्दी के उपन्यासों का परिचयात्मक-विवेचन

- 3.1.1 पलास के फूल (1982)
- 3.1.2 झीनी झीनी बीनी चदरिया (1986)
- 3.1.3 डूब (1991)
- 3.1.4 छप्पर (1994)
- 3.1.5 कठगुलाब (1996)
- 3.1.6 चाक (1997)
- 3.1.7 मौसी (1997)
- 3.1.8 आवां (1999)
- 3.1.9 जंगल जहां शुरू होता है (2000)
- 3.1.10 दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता (2000)
- 3.1.11 दौड़ (2000)
- 3.1.12 पठार पर कोहरा (2003)
- 3.1.13 पाषाण-युग (2003)
- 3.1.14 वीरांगना झलकारी बाई (2003)
- 3.1.15 दस बरस का भँवर (2007)
- 3.1.16 आखिरी छलांग (2008)
- 3.1.17 ग्लोबल गाँव के देवता (2009)
- 3.1.18 पहचान (2009)
- 3.1.19 पासवर्ड (2010)
- 3.1.20 शिगाफ़ (2010)
- 3.1.21 तीसरी ताली (2011)
- 3.1.22 मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ (2012)
- 3.1.23 स्वर्ण मृग (2012)
- 3.1.24 उधर के लोग (2013)
- 3.1.25 नीला आकाश (2013)
- 3.1.26 शाल्मली (2013)
- 3.1.27 हवन (2014)
- 3.1.28 फांस (2015)

- 3.1.29 गुलाम मंडी (2016)
- 3.1.30 अकाल में उत्सव (2016)
- 3.1.31 दर्दजा (2016)
- 3.1.32 हलाला (2016)
- 3.1.33 कुइयांजान (2017)
- 3.1.34 गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान (2017)
- 3.1.35 उसके हिस्से की धूप (2018)
- 3.1.36 पिघले चेहरे (2018)
- 3.1.37 गिलिगडु (2019)
- 3.1.38 पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा (2019)
- 3.2 ओड़िया के उपन्यासों का परिचयात्मक-विवेचन
  - 3.2.1 नीलतृष्णा (1981)
  - 3.2.2 असवर्ण (1982)
  - 3.2.3 यज्ञासेनी (1985)
  - 3.2.4 आदिभूमि (1993)
  - 3.2.5 प्रतिबंदी (1999)
  - 3.2.6 चलापथे (2000)
  - 3.2.7 जटिल संपर्क (2002)
  - 3.2.8 कवर स्टोरी (2007)
  - 3.2.9 माटी र लुह (2007)
  - 3.2.10 भरसार भीटामाटी (2008)
  - 3.2.11 प्राची प्रतीची (2009)
  - 3.2.12 गलापुत्र (2010)
  - 3.2.13 भिन्न एक सिद्धार्थ (2010)
  - 3.2.14 भेद (2010)
  - 3.2.15 असामाजिक (2011)
  - 3.2.16 जंगली (2011)
  - 3.2.17 छाई आलुओर खेल (2011)
  - 3.2.18 धर्मयुद्ध (2011)
  - 3.2.19 पोड़ापोड़ी (2014)

3.2.20 सेई सबु दिन (2014)

3.2.21 अस्पृश्य (2015)

3.2.22 ओ एकाकी (2017)

3.2.23 चुप युद्ध चालिछी (2020)

चतुर्थ अध्याय : हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों में आदिवासी और दलित-जीवन

## तृतीय अध्याय

इस अध्याय को अध्ययन के क्रम में 3 भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

1. इस अध्याय के अंतर्गत सर्वप्रथम सन् 1980 के बाद की प्रवृत्तियों का परिचय एवं विश्लेषण किया जाएगा ।
2. सन् 1980 के बाद के चयनित उपन्यासों का काल-क्रमिक अध्ययन भी इसमें किया जाएगा।
3. साथ ही प्रवृत्तिगत वर्गीकरण के अंतर्गत उपन्यासों का विवेचन करना इस अध्याय का मुख्य ध्येय होगा ।

इस अध्याय में पहले और तीसरे आधार-बिन्दु को आधार बनाया गया है । दूसरे को आधार बनाने से कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं । जैसे - एक ही प्रवृत्ति का विकास 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 21वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तरोत्तर रूप से हुआ है । जैसे -उपभोक्तावाद का उदय उसका प्रसार और उसकी संस्कृति का निर्माण इसको केवल ऐतिहासिक आधार पर वर्गीकरण करना न्यायोचित नहीं है । इस प्रवृत्ति के आधार पर पिछले 40 वर्षों में जो उपन्यास लिखे गए हैं । उन्हें समस्यागत और प्रवृत्तिगत सन्दर्भ में समझना तार्किक और विषय सम्मत होगा । अतः पहले और तीसरे आधार पर इन उपन्यासों का विवेचन नयी प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में तार्किक होगा ।

### 3.1 हिन्दी के उपन्यासों का परिचयात्मक विवेचन

#### 3.1.1 'पलास के फूल'

'पलास के फूल' उपन्यास पीटर पॉल एक्का के द्वारा लिखित महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह उपन्यास पीटर पॉल एक्का का पहला उपन्यास है जो 1982 में प्रकाशित हुआ। ऐसे तो इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए जिसमें एक संस्करण 2012 में सत्य भारती प्रकाशन से डॉ. कामिल बुल्के पथ रांची से प्रकाशित है। पीटर पॉल एक्का ने मूल रूप से आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के प्रश्न तथा जल, जंगल और जमीन के मुद्दों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। उनके द्वारा लिखित उपन्यासों में - 'जंगल के गीत', 'पलास के फूल' (1982), 'सोन पहाड़ी' (1984), 'मौन घाटी' (1997) आदि प्रमुख हैं। उपन्यासकार 'पलास के फूल' उपन्यास में आदिवासी संस्कृति और विकास के नाम पर आदिवासियों की दमघोंटू स्थिति को प्रस्तुत करते हैं। आदिवासियों का जंगलों से बहिष्करण, परंपरागत जमीन से बेदखली, परियोजनाओं के नाम पर झूठे वादे और आश्वासन, पलायन आदि का सजीव चित्रण उपन्यास में किया गया है। इस उपन्यास में स्वाधीनता के उपरांत आदिवासियों की आर्थिक स्थिति में गिरावट तथा किसान से मजदूर बनने की समस्या को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास के पात्र आनंद बाबू, जीतू, रतिया, सलोमी हैं। "फोरेस्ट गार्ड का राज चल निकला था। दो तीन ट्रक लकड़ी ढोने काम करतीं। देर रात गए अपने आदमियों के साथ फोरेस्ट गार्ड जलसा मनाता। लोग खाते-पीते, आराम फरमाते थे। ताश की बाजियां बिछी रहतीं। जब तक गाँव की अल्हड़, मासूम, मांसल देह वाली श्यामवर्णा किशोरियां पैसों के बल पर चुन-छाँटकार रात में रोक ली जाती थी। जीतू ने अपनी बहन रतिया के साथ वह सलूक देखा तो एक दिन धनुष-तीर उठा ले आया था। पर इस विद्रोह ने साथ नहीं दिया था। सब एक से एक बुजदिल और डरपोक हैं। अगले दिन जीतू की लाश जंगल में पड़ी मिली थी। लोग कहते थे रात में किसी जंगली जानवर ने जान ले ली होगी। असलियत कुछ और थी, जिसे फोरेस्ट गार्ड द्वारा इस काम के लिए लगाए गये आदमी जानते थे और रतिया जानती थी।"<sup>82</sup>

#### 3.1.2 झीनी झीनी बीनी चदरिया

---

<sup>82</sup> पलास के फूल, पीटर पॉल एक्का, पृ. सं.-32

‘झीनी झीनी बीनी चदरिया’ अब्दुल बिस्मिल्लाह के द्वारा बनारस के बुनकरों पर लिखा गया बहुप्रशंसित उपन्यास है । यह उपन्यास राजकमल प्रकाशन से 1987 में प्रकाशित हुआ किन्तु अभी तक इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । उनके द्वारा लिखित अन्य उपन्यास हैं - ‘अपवित्र आख्यान’, ‘मुखड़ा क्या देखे’, ‘समर शेष है’, ‘ज़हरबाद’, ‘दंतकथा’, ‘रावी लिखता है’ आदि । ‘झीनी झीनी बीनी चदरिया’ का अंग्रेजी और उर्दू में अनुवाद प्रकाशित है । उपन्यासकार ‘झीनी झीनी बीनी चदरिया’ में एक ओर बनारस के बुनकरों की आर्थिक स्थिति को प्रस्तुत करते हैं वहीं बिचौली वर्ग की सच्चाई को भी प्रस्तुत करते हैं । “इस प्रक्रिया में लेखक ने शोषण के उस पूरे तंत्र को भी बारीकी से बेनकाब किया है जिसमें एक छोर पर भ्रष्ट राजनीतिक हथकंडे और सरकारी तथाकथित कल्याणकारी योजनाएं । साथ ही उसने बुनकर-बिरादरी के आर्थिक शोषण में सहायक उसी की अस्वस्थ परंपराओं, सामाजिक कुरीतियों, मजहबी जड़वाद और सांप्रदायिक नजरिये को भी अनदेखा नहीं किया है ।”<sup>83</sup> इस उपन्यास का मुख्य पात्र मतीन है जबकि गौण पात्र अलीमुन, इकबाल, रऊफ चाचा, नज़बुनिया, नसिबुन बुआ, रेहाना, कमरुन, लतीफ़, बशीर और अल्लाफ़ हैं । “इस बीच कर्ज काफी हो गया है । उल्ला तानीवाले को तानी का पूरा पैसा चुकाना है, वरना अब वे तानी नहीं देंगे । तानी भी बेहद महँगी हो गई है । सुनते हैं यह महँगाई कर्नाटक नामक किसी जगह से चली है और यहाँ बनारस आते-आते बहुत खतरनाक हो गयी है । जब से रेशम महंगा हुआ है, लतीफ़ जैसे लोगों की साड़ियाँ, ये गिरस्ता लोग रास्ते में ही अब नहीं झपटते और मजबूरन इन्हें गोलघर के सेठों की शरण में जाना पड़ता है ।”<sup>84</sup>

### 3.1.3 डूब

‘डूब’ उपन्यास वीरेंद्र जैन के द्वारा लिखित, वाणी प्रकाशन से, वर्ष 1991 में प्रकाशित है । यह उपन्यास उन हजारों डूब गाँव की कथा को प्रस्तुत करता है जो विस्थापन की त्रासदी से गुजरते हैं। यह उपन्यास किसान जीवन की त्रासदी को लेकर भी प्रस्तुत है । वीरेंद्र जैन के द्वारा लिखित अन्य उपन्यास हैं -‘उनके हिस्से का विश्वास’, ‘पहला सप्तक’, ‘तीन अतीत’, ‘प्रतिदान’ आदि । “लो, सुन लो ! भैया हमने हाथ रोका हो इनका । हमसे वोट के सिवा तुमने कुछ चाहा है भला ? हमारी जो दशा बनाई है तुमने, उसमें और देने को है ही

<sup>83</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह आवरण पृष्ठ से

<sup>84</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-117



क्या हमारे पास ? तुम्हारी दी चीज तो तुम हर पाँच बरस पीछे मांग ही लेते हो, कभी मुंह से तो कभी भंड्याई से । हमें खबर भी नहीं देते कि तुमने हमारी चीज बर्ती भी है । इसके सिवा तुमने दिया क्या है हमें ?”<sup>85</sup> इस उपन्यास के पात्र हैं - ठाकुर देवी सिंह, माते, गोराबाई, अट्टू साहब, घूमा, बामन महाराज, रामदुलारे, हीरा साव, निर्मल साव, आदि ।

#### 3.1.4 ‘छप्पर’

‘छप्पर’ उपन्यास जयप्रकाश कर्दम के द्वारा लिखा गया हिंदी का पहला दलित उपन्यास माना जाता है । यह उपन्यास 1994 में प्रकाशित हुआ । इस उपन्यास के अतिरिक्त उन्होंने ‘करुणा’, ‘श्मशान का रहस्य’ आदि उपन्यास लिखे हैं । उन्होंने ‘छप्पर’ में दलित जीवन को उपन्यास विधा के अंतर्गत अभिव्यक्ति देने का कार्य किया । इस उपन्यास में दलितों की दीन-हीन स्थिति को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उनकी आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक स्थिति को चित्रित किया गया है । साथ ही दलित स्त्री शोषण को भी इसमें चित्रित किया गया है । इस उपन्यास में मूलतः दलित शिक्षा पर बल दिया गया है । क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही दलितों का उन्नयन किया जा सकता है । “मैं अपनी शिक्षा का उपयोग अपने दीन-हीन समाज के उत्थान के लिए करूँगा । मैं उन पीड़ित, शोषित और उपेक्षित लोगों को ऊपर उठाने के लिए काम करूँगा जो कीड़े-मकौड़ों की तरह जीते हैं । शेष-समाज जिनके साथ पशुवत् व्यवहार करता है, उनको पास नहीं बिठाता और उससे घृणा करता है । पीढ़ी-दर-पीढ़ी के कर्ज ने जिनकी कमर तोड़ दी है और कर्ज को चुकाने के लिए जो बंधुआ बन कर जीने को विवश होते हैं । ठाकुर -जमींदारों के मार सहते हैं, हर तरह के अन्याय, शोषण और उत्पीड़न के शिकार होते हैं । उन लोगों को शिक्षित करूँगा मैं । इन सोये लोगों को जगाऊँगा और उनमें जागृति पैदा करूँगा ताकि अपने शोषण की जंजीरों को तोड़-फेंकने के लिए उठ खड़े हों । उन्हें खड़ा होना सिखाऊँगा मैं । स्कूल खोलूँगा और इन गरीबों के रेत-मिट्टी में खेलते फिर रहे बच्चों को पढ़ाऊँगा ।”<sup>86</sup>

इस उपन्यास का मुख्य पात्र सुक्खा (मजदूर) और चन्दन (सुक्खा का शिक्षित पुत्र) हैं जबकि गौण पात्र ठाकुर, रजनी, हरिया, कमला, रमिया आदि हैं ।

#### 3.1.5 ‘कठगुलाब’

<sup>85</sup> डूब, वीरेंद्र जैन, पृ.सं.-181

<sup>86</sup> छप्पर, जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं.-39-40

‘कठगुलाब’ उपन्यास भारतीय ज्ञानपीठ से 1996 में प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास की लेखिका मृदुला गर्ग हैं। मृदुला गर्ग समकालीन समय की प्रमुख लेखिकाओं में से एक हैं। उन्होंने कई विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। उनको विशेष रूप से प्रसिद्धि स्त्री साहित्यकार के रूप में मिली है। उनके द्वारा लिखे गए अनेक उपन्यास समाज में स्थित स्त्री छवि को प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कई उपन्यास लिखे हैं जैसे-‘अनित्य’, ‘उर्फ सैम’, ‘उसके हिस्से की धूप’, ‘कठगुलाब’, ‘चित्तकोबरा’, ‘मिलजुल मन’, ‘मैं और मैं’, ‘वंशज’ आदि। ‘कठगुलाब’ उपन्यास के लिए उन्हें व्यास सम्मान से सम्मानित भी किया गया है।

‘कठगुलाब’ प्रतीकात्मक उपन्यास है जो स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के ऊसर हो जाने का प्रतीक है। जिस तरह कठगुलाब रुखा और बेजान है जो पानी की आस रखता है और पानी की फुहारें उसे हराभरा बना देती हैं उसी प्रकार संबंधों में आई शुष्कता और रुखा पन इसी का ही प्रतीक है जो प्रेम, संवेदना जैसे पानी की मांग करता है जिससे संबंधों में हरियाली आ सके। “चालीस साल बाद। कुछ ठहरा नहीं रहता पर कुछ बदलता भी तो नहीं। मैं समझती हूँ, मिस्टर मजूमदार, बूढ़ा सिर्फ शरीर होता है। मन तो कठगुलाब की तरह है सदाबहार। पर ... कितना नष्टप्राय ! सूखता नहीं, बुढ़ता नहीं पर जरा हाथ लगने पर, टूट कर बिखर जाने को तैयार रहता है।”<sup>87</sup> समाज से जिस प्रकार कठगुलाब का अस्तित्व मिटता जा रहा है वैसे ही संबंध भी महत्वहीन होते जा रहे हैं। इस उपन्यास में प्रकृति और सम्बन्धों के गठजोड़ ने उपन्यास को बेजोड़ बना दिया था। साथ ही स्त्री-विमर्श में ‘इको-फेमिनिज़्म’ का महत्व भी समझाया है। कठगुलाब को लेकर आलोचक रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं- इस उपन्यास की स्त्री पात्र कठगुलाब की तरह हैं जो “पुष्पित होने की सारी संभावनाओं को अपने ही भीतर निगलकर काठ-सी सख्त बेजान होने की यंत्रणा(सहती हैं)। सैकड़ों कलियाँ खिली हैं जिस पर, लेकिन फूल बन कर खिलने का दम एक में भी नहीं। उसी अविकसित-अगतिशील अवस्था में अडोल-सी कठगुलाब की झाड़ियों पर लदी हैं -सारी महक, रंग, सुंदरता के खजाने को अपने भीतर छिपाए -और यकायक पानी की बौछार पाते ही ठीक जादुई कहानियों की तरह झनन करके खिल गईं, काठ में उकेरे सदाबहार फूलों की तरह

<sup>87</sup> ‘कठगुलाब’, मृदुला गर्ग, पृ. सं-235

| ये स्त्रियाँ भी हरियाकर सदाबहार हो जातीं यदि इन्हें भी इनके सहचर पुरुषों की संवेदना का तरल स्पर्श मिलता, यदि विश्वास, सद्भाव, आत्मीयता की तरल बौछार ने इनकी हृदयगत कोमलता को निरंतर सींचा होता | वे गुलाब नहीं जो उग आने पर अपने आप खिल भी जाता है, कठगुलाब हैं जिसे थोड़ी सी देखभाल से खिलाना पड़ता है |”<sup>88</sup> ‘कठगुलाब’ के नामकरण की सार्थकता को रोहिणी जी ने बहुत रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है जो पूरे उपन्यास के परतों को स्पष्ट कर देता है | ‘कठगुलाब’ उपन्यास, स्त्री-विमर्श को एक नया आयाम देता है, इसमें स्त्री विमर्श को समग्रता में लेखिका ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है | इस उपन्यास में कई पात्र हैं, लेकिन मुख्य पात्र हैं -स्मिता, मरियम, नर्मदा, विपिन, असीमा, नीरजा, दर्जिन बीबी (असीमा की माँ) आदि |

### 3.1.6 चाक

‘चाक’ उपन्यास मैत्रेयी पुष्पा के द्वारा लिखित महत्वपूर्ण उपन्यास है | यह उपन्यास सर्वप्रथम राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड द्वारा 1997 में प्रकाशित हुआ | बाद में इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं | आप स्त्री विमर्श की सशक्त महिला लेखिकाओं में से एक हैं | चाक के अतिरिक्त मैत्रेयी पुष्पा ने बहुत से उपन्यास लिखे हैं - ‘बेतवा बहती रही’, ‘इदन्नमम’, ‘झूला नट’, ‘अल्मा कबूतरी’, ‘अगनपाखी’, ‘विजन’ आदि | चाक उपन्यास के केंद्र में अतरपुर गाँव है | जिसमें स्त्री दृष्टि को आधार बना कर कथा का ताना-बाना बुना गया है | लेखिका का मूल उद्देश्य ग्रामीण स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, लैंगिकता की मुक्ति की रही है | साथ ही ग्रामीण स्त्री के प्रति लेखकों के नजरिए को बदलने की मांग, स्त्री अस्मिता, स्त्री अधिकारों की पहल उपन्यास को विशेष और महत्वपूर्ण बनाता है | इस उपन्यास में सारंग मुख्य पात्र है तथा रेशम, रंजीत, डोरिया, श्रीधर, भँवर आदि गौण पात्र हैं | “अम्माँ, तुम तो बिरथा ही दाँत किटकिटा रही हो | तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती ? जीतों-मरतों का भेद भी भूल गईं तुम ? बेटा के संग में भी मरी मान ली ?”<sup>89</sup>

<sup>88</sup> हिन्दी उपन्यास समय से संवाद, रोहिणी अग्रवाल, पृ. सं.-89

<sup>89</sup> चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. सं. - 19

लेखिका इस उपन्यास के आवरण पृष्ठ पर 'अपनी बात' शीर्षक से उपन्यास के संबंध में लिखती हैं- 'आज के समय में गँवई औरतों द्वारा सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक दायरों में जो मुखर

हिस्सेदारी सामने आती है, वह महत्वपूर्ण है। स्त्रियाँ अपने तेवरों, निजी फैसलों और हस्तक्षेप के

मामलों में अब जबरदस्त रूप से दिखाई देने लगी हैं। लगता है कि वह मान्यता थोथी-खोखली है, जिसके तहत ग्रामीण स्त्री को अनपढ़, असभ्य और चेतनाशून्य मानकर गौरतलब नहीं समझा गया।' मैनेजर पांडे 'चाक' के संबंध में लिखते हैं- "स्त्री की कथादृष्टि ही नहीं, उसकी शैली और वाक्य-रचना भी पुरुष से भिन्न होती है। इसका प्रमाण 'चाक' की काठ-संरचना और कथा-भाषा में दिखाई देता है। 'चाक' की कथा एक स्तर पर गद्य में चलती है और इसके दूसरे स्तर पर लोकगीतों में।"<sup>90</sup>

### 3.1.7 'मौसी'

रमणिका गुप्ता का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है। राजनीतिक पद पर रह कर भी साहित्यिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी बहुत सक्रिय रही। रमणिका गुप्ता की रचनात्मकता मुख्यतया कवयित्री के रूप में और 'युद्ध रत आम आदमी' की संपादिका के रूप में उभर कर आती है। किन्तु उन्होंने 'सीता' और 'मौसी' नाम से दो उपन्यास भी लिखे हैं। 'मौसी' उपन्यास उनका पहला उपन्यास है। यह उपन्यास 1997 में नीलकंठ प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित है। रमणिका गुप्ता के दोनों उपन्यास 'सीता' और 'मौसी' आदिवासी महिलाओं पर लिखे गए हैं।

रमणिका गुप्ता का कार्यक्षेत्र कोयला खदानों में कार्यरत श्रमिकों की कार्य-अवस्था एवं उनके जीवन को बेहतर बनाने का रहा है। उन्होंने 1968 से आपातकाल की स्थिति तक कोयला खदानों में हुए संघर्ष को अपने उपन्यास में सजीवता से प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यासों की विशिष्टता यह रही है कि ये उपन्यास यथार्थ की पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। उन्होंने जो देखा, वही लिखा यह उनके उपन्यासों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर भी हुआ है। जैसे - 'मौसी' उपन्यास में आप रेणुका के रूप में आती हैं। आप रेणुका की भूमिका में उपस्थित होकर आदिवासी लोगों के समक्ष आई समस्याओं को दूर करने का प्रयास करती

---

<sup>90</sup> चाक, मैनेजी पुष्पा, उपन्यास के अंतिम पृष्ठ के ब्लर्ब से।

हैं। अर्थात् कहने का तात्पर्य रमणिका गुप्ता वास्तविक जीवन की झांकी को हुबहू उपन्यास में प्रस्तुत करती हैं। 'मौसी' उपन्यास आदिवासी स्त्री और आदिवासी समाज के उत्पीड़न का प्रमुख दस्तावेज़ है। रमणिका गुप्ता का 'मौसी' उपन्यास आदिवासी स्त्री मौसी के जीवन की त्रासदी की कहानी है। मौसी की बहन की बेटी बिंदु उसे मौसी कहती थी। तभी से सभी के लिए वह 'मौसी' ही बन गयी। मौसी का व्यक्तित्व आदर्श स्त्री की केंचुली में बंधी औरतों की तरह नहीं है। वह खुद आत्म निर्भर है अपने भैया और भाभी पर भी आश्रित नहीं है। उसके अन्दर भतीजे मोहना को पोसने की भी क्षमता है। मौसी ऐसी स्त्री है जो प्रेमाकांक्षी और ममतामयी तो है किन्तु अस्मिता के धरातल पर समझौते की विरोधी है। इसलिए वह सलीम, उसके पिता मौलवी साहब, भगवान बाबू या माधो के आदर्शों पर खुद को नहीं ढालती है। बल्कि अपने आदर्शों और सिद्धांतों को गढ़ती है जो विकट परिस्थितियों का दास नहीं बनने देता है।

'मौसी' उपन्यास के जरिये लेखिका यह भी स्पष्ट करती हैं कि आदिवासी स्त्री आदिवासी पुरुषों की तुलना में ज्यादा सशक्त हैं। वे घर और बाहर दोनों जगह कार्य करती हैं। घर का काम करने के साथ-साथ कृषि, मजदूरी और अन्य व्यवसायों में वे उनका साथ देती हैं। आदिवासी समाज भले ही शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा रहा हो किन्तु मानवीयता के दृष्टि से अन्य समाज से बेहतर है। स्त्री को लेकर भी उनकी दृष्टि पुरुषवादी सोच से ग्रसित नहीं रही है। किन्तु अभी कुछ समाजों में दिक्कों के प्रभाव के कारण आदिवासी समाज में भी यह पितृसत्ता हावी होती जा रही है। साथ ही उनमें भी जाति के कठोर नियमों को स्वीकार लिया गया है। (मौसी का भतीजा) 'मोहना' इन दिक्कत समाज के प्रभाव का द्योतक है। उसे यह सह्य नहीं कि उसकी फुआ निम्न जाति (दलित) के माधो के साथ सम्बन्ध रखे। -"उस मुर्गी से जिसे उसने अभी-अभी काट कर राँधा था, कहाँ फरक है वह ? कोई-न-कोई मरद हर औरत की मुंडी मुर्गी की तरह ही मरोड़ने को तैयार रहता है। पंख नोचता है कि उड़े नहीं, बोटी-बोटी काटता है-पकाता है कि खा सके, पचा सके। अपने कुछ नहीं है औरत। बस दूसरों के खाने के लिए ही बनी है वह ...! बस एक पकवान है वह। कटोरी में परोसा शोरबा है -जिसे चटखारे लेकर चखना है वो-...बस चखना है वह

| जो दारू के नशे को और तेज करता है-स्वाद को बढ़ाता है |”<sup>91</sup> इस उपन्यास की मुख्य पात्र मौसी है और गौण पात्र मोहना, माधो, सलीम आदि हैं |

### 3.1.8 ‘आवाँ’

‘आवाँ’ उपन्यास समकालीन कथाकार चित्रा मुद्गल के द्वारा लिखित वृहद् उपन्यास है | यह उपन्यास सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली से 1999 में प्रकाशित है, बाद में इसके कई संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं | इस उपन्यास पर लेखिका को 2003 में व्यास सम्मान से सम्मानित किया गया है | यह उपन्यास दो केंद्रीय विषयों को लेकर चलता है एक ओर यह उपन्यास वर्तमान परिदृश्य में मजदूर जीवन की सच्चाई को प्रस्तुत करता है वहीं दूसरी ओर महिलाओं की सामाजिक और राजनीतिक गुत्थियों को भी प्रकाश में लाता है | यहाँ दोनों कथा परस्पर समानान्तर गति से आगे बढ़ती हैं लेकिन अंत में दोनों की परिणति भयावह होती है | इसमें लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि मजदूर और स्त्री आज के दौर के ऐसे समुदाय हैं जिनकी स्थिति सोचनीय या चिंतनीय है | इस उपन्यास के अंत में न मजदूरों की समस्या का निपटारा हो पाता है और न नारी की समस्याओं की कोई परिणति हो पाती है | इस उपन्यास के वर्तमान के समय में कामकाजी नारी के समक्ष आई चुनौतियों को प्रस्तुत किया गया है | मूल रूप से यह उपन्यास स्त्री विमर्श के केंद्रीय सवालों को लेकर प्रस्तुत है | ‘आवाँ’ उपन्यास के शीर्षक से स्पष्ट है कि यह उपन्यास प्रतीकात्मक उपन्यास है, जिसमें ‘आवाँ’ पितृसत्तात्मक समाज का द्योतक है जिसमें स्त्री के अस्तित्व को तार-तार करने के लिए कई कारक हैं | “जननी होना उसे गुलाम बनाए रखने की शर्त हो तो मजबूरी से स्वयं को मुक्त कर लेना उसकी अनिवार्यता नहीं ? क्यों झोले वह सब जो उसे मनुष्य की श्रेणी से अपदस्थ करता हो ? ... स्वालंबन ने स्त्री को संरक्षक की आवश्यकता से मुक्त कर दिया | पति की जगह उसे एक अदद कठपुतली नौकर की जरूरत-भर शेष रह गयी, जो उसे आटे-दाल के जंजाल से मुक्त रखे | उसकी स्वच्छंदता को पोसे | गूंगे दर्शक-सा |”<sup>92</sup>

इस उपन्यास की मुख्य पात्र नमिता है जिसके इर्दगिर्द कथा घूमती है | साथ ही इस उपन्यास में स्त्रियों के विभिन्न प्रकारों और समस्याओं को लेखिका स्मिता, हर्षा, अंजना वासवानी, निलम्मा आदि के माध्यम से व्यक्त करती हैं | इस उपन्यास में पुरुष

<sup>91</sup> मौसी, रमणिका गुप्ता, पृ.सं.-81-82

<sup>92</sup> आवाँ, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-129

मुख्य पात्रों में -अन्ना साहब, पवार और संजय कनोई हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पितृसत्तात्मक समाज और उसकी सोच को स्पष्ट करने के लिए लेखिका पुरुष खल पात्र का चुनाव करती हैं। साथ ही इनके बाहरी और भीतरी आवरण का पर्दाफास करती हुई उनकी दोयम दृष्टि को भी प्रस्तुत करती हैं।

### 3.1.9 'जंगल जहाँ शुरू होता है'

संजीव का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास आदिवासी समाज को आधार बना कर लिखा गया है। संजीव का यह उपन्यास राधाकृष्ण प्रकाशन से 2001 में प्रकाशित है। संजीव समकालीन प्रमुख कथाकारों में से एक हैं। उन्होंने लगभग सवा सौ कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। आपके द्वारा लिखे गए उपन्यास हैं - 'किशनगढ़ के अहेरी', 'सर्कस', 'सावधान ! नीचे आग है', 'धार', 'पाँव तले की दूब', 'सूत्रधार', 'रानी की सराय', 'आकाश चंपा', 'रह गयी दिशाएँ इसी पार', 'फाँस' आदि। उनकी कृतियों पर फ़िल्में भी बनी हैं। कथाकार संजीव को उनकी कृतियों के लिए अनेकों सम्मानों से भी नवाजा जा चुका है।

इस उपन्यास में कथाकार संजीव बिहार के पश्चिम चंपारण के थारू जनजाति को आधार बना कर लिखते हैं। यह इलाका 'मिनी चम्बल' के नाम से भी प्रसिद्ध है। जैसा कि हम जानते हैं चम्बल डाकुओं की शरण-स्थली रही है। और इस इलाके में डाकुओं का गढ़ होने की वजह से इसे 'मिनी चम्बल' की संज्ञा दी गयी थी। "जहाँ अपराध, पहाड़ की तरह नंगा खड़ा है, जंगल की तरह फैला हुआ है, नदियों में दूर-दूर तक बह रहा है, इतिहास के रेंधों से हवा में घुल रहा है, भूगोल की भूल-भुलैया में डोल रहा है। जनजातियों के जीवों के बिंदु से शुरू होकर यह जंगल फैलता ही चला गया है -पटना, लखनऊ, दिल्ली, नेपाल और देश-देशांतर तक।"<sup>93</sup> इसी तरह एक अन्य उदाहरण देख सकते हैं -"हम थारू वैसी ही कंगाल की जिंदगी जी रहे हैं- औरत भी, मर्द भी। इतिहास अगर कुछ रहा भी हो तो सड़-गलकर बदबू दे रहा है। बदबू को ढकने के लिए हमने तरह-तरह के तरीके अपनाए-थारू गाय का दूध नहीं पीते, थारू हिरण का मांस नहीं खा सकते वगैरह-वैगरह, मगर लाज थी कि उधरती ही गई। अच्छा हुआ कि सरकार ने हमें ट्राइबल्स मान लिया.."<sup>94</sup> इस उपन्यास

<sup>93</sup> जंगल जहाँ शुरू होता है, संजीव, अंतिम आवरण पृष्ठ से ...

<sup>94</sup> जंगल जहाँ शुरू होता है, संजीव, पृ.सं.- 137

का मुख्य पात्र-काली है और अन्य पात्र - चन्द्र दीप सिंह, बिसराम, मलारी, परशुराम आदि हैं ।

### 3.1.10 दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता

‘दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता’ उपन्यास सुरेन्द्र वर्मा के द्वारा लिखित बहुचर्चित उपन्यास है । यह उपन्यास राधाकृष्ण प्रकाशन से 1998 में प्रकाशित हुआ । यह उपन्यास उपभोक्तावाद के क्रूर सत्य को प्रस्तुत करता है जहां उसकी कीमत होती है जिसको बाजार में बेचा जा सकता है । नगर /महानगर सबसे ज्यादा इसकी चपेट में है यह सुख समृद्धि का चोला ओढ़े लोगों को दिग्भ्रमित करने का कार्य करता है । अपनी जरूरतों को पूरा करने की लालसा में लोग इसकी चकाचौंध में गुम हो जाते हैं जिससे निकलना आसान नहीं होता । इस उपन्यास में दो पात्र नील और भोला हैं जिन्हें महानगर ऐसा गुलदस्ता अर्पण करता है जो उन्हें ही लील जाता है । भोला कम पढ़ा लिखा होने के कारण अंडरवर्ल्ड के गिरफ्त में फंस जाता है वहीं नील असन्तुष्ट महिलाओं के फेरे में पड़ कर जिस्मफरोशी करने लगता है । महिलाओं के इसी व्यापार के बीच उसे नैन से प्रेम हो जाता है जबकि पारुल (विवाहित महिला) यह जान कर उससे प्रतिशोध लेती है । अंत में नैन के भाई नील को सुपारी देकर मार डालते हैं । इस उपन्यास में दो मासूम लोग नौकरी के सिल-सिले में महानगर तो आते हैं किन्तु उपभोक्तावाद की संस्कृति उन्हें दो मुर्दों में तब्दील कर देती है । “हम जिस पूंजीवादी समाज में जी रहे हैं, उसमें हमारे सामने पेट भरने का एक ही रास्ता है- अपनी किसी काबिलियत को बाजार में बेच पाना ।”<sup>95</sup>

### 3.1.11 दौड़

ममता कालिया आधुनिक युग की महिला-साहित्यकार हैं । वह कहानी, नाटक, उपन्यास, एकांकी, कविता, संस्मरण, अनुवाद एवं पत्रकारिता अर्थात् साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में हस्तक्षेप रखती हैं । उनके द्वारा लिखित रचनाएँ हैं- उपन्यास : ‘बेघर’, ‘नरक दर नरक’, ‘प्रेम कहानी और’ ‘एक पत्नी के नोट्स’, ‘दुःखम्-सुखम्’, ‘दौड़’, ‘अँधेरे का ताला’, कहानी-संग्रह : ‘छुटकारा’, ‘एक अदद औरत’, ‘सीट नं. छः’, ‘उसका यौवन’, ‘जाँच अभी जारी है’, ‘प्रतिदिन’, ‘मुखौटा’, ‘निर्मोही’, ‘थियेटर रोड के कौए’, ‘पच्चीस साल की लड़की’,

<sup>95</sup> दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं.-163



एकांकी संग्रह : 'यहाँ रहना मना है', 'आप न बदलेंगे' आदि, कविता : 'खाँटी घरेलू औरत', 'कितने प्रश्न करूँ' आदि । वे त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी' की संपादिका भी हैं । 'दौड़' उनका सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण उपन्यास है । 'दौड़' 104 पृष्ठों का उपन्यास है । यह उपन्यास 2005 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ था । इसके कई संस्करण 2013 तक प्रकाशित हो चुके हैं । इससे हम दौड़ की लोकप्रियता और उसकी प्रसिद्धि का पता लगा सकते हैं ।

'दौड़' उपन्यास वैश्वीकरण के कटु यथार्थ को प्रस्तुत करता है । इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उपन्यासकार वैश्वीकरण के दौर में समाज, समाज में परिवार की आन्तरिक स्थिति का मूल्यांकन करती हैं । एक तरह से उपन्यासकार सामूहिक स्थिति का मूल्यांकन करती हुई उपन्यास की कथावस्तु निर्मित करती हैं । यह उपन्यास समकालीन समाज का स्कैनर है जो वैश्वीकरण के कुप्रभाव से पाठक को अवगत कराता है ।

'दौड़' उपन्यास में पवन और सघन आधुनिक युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । एम. बी. ए. के बाद पवन घर से अठारह सौ किलोमीटर दूर नौकरी करने आता है क्योंकि इलाहाबाद में उसके लायक की कोई सर्विस जो नहीं है ! कहता है - "यह तो बेरोजगारों का शहर है । ज्यादा से ज्यादा नुरानी तेल की मार्केटिंग मिल जाएगी ।"<sup>96</sup>

इस उपन्यास में वैश्वीकरण के प्रभावी कारक विज्ञापन की भी सच्चाई को भी प्रस्तुत किया गया है । अभिषेक (पवन का दोस्त) एक टूथपेस्ट का विज्ञापन बनाता है जिसमें - "पार्टी का दृश्य था जिसमें हीरो के कुछ कहने पर हीरोइन हँसती है । उसकी हँसी में हर दान्त से मोती गिरते हैं । हीरो उन्हें अपनी हथेली पर लोक लेता है । सारे मोती इकट्ठा होकर 'स्पार्कल' टूथपेस्ट की ट्यूब बन जाते हैं ।"<sup>97</sup> इसमें कोई यथार्थ नहीं है सच्चाई तो यह थी कि न दांत से कभी मोती गिरते हैं और न उनसे कोई टूथपेस्ट बन सकता है । यह सारे विज्ञापन, लोगों को धोखा देते हैं और बेवकूफ बनाते हैं ।

### 3.1.12 पठार पर कोहरा

राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' उपन्यास भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से 2003 में प्रकाशित है । राकेश कुमार सिंह समकालीन समय के प्रमुख साहित्यकार हैं । जिन्होंने आदिवासी समाज और साहित्य को देखने की नयी दृष्टि दी है । आपने कहानी संग्रह,

<sup>96</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-11

<sup>97</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-36

उपन्यास, किशोर उपन्यास, इतिहास ग्रंथ की भी रचना की है। आपने साहित्य की अनेक विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। 'पठार पर कोहरा' के अतिरिक्त आपने 'जो इतिहास में नहीं है', 'एक घूँट चाँदनी', 'जहाँ खिले हैं रक्त पलाश', 'साधो यह मुर्दों का गाँव', 'हुल पहाड़िया' (तिलका माझी की समरगाथा) आदि उपन्यास लिखे हैं। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास झारखण्ड पलामू जिले के गजलीठोरी के आदिवासियों पर लिखा गया है। इस उपन्यास में आदिवासियों का साहूकार जैसे शोषणकारी किस रूप में शोषण करते हैं, इसका यहाँ स्पष्ट चित्र उपस्थित होता है। यहाँ आदिवासी इलाकों में शिक्षा की दयनीय स्थिति को भी प्रस्तुत किया गया है। "झाड़-झंखाड़ से भरे भूखंड झारखंड की अधिकांश रेलपथ या सड़कें आम जनता की सुविधा-असुविधा को ध्यान में रखकर बनी भी, नहीं, बनी। असल में यातायात के लिए ऐसी सड़कें निर्मित ही नहीं होतीं यदि जादुई जमीन के गर्भ में अकूत संपदा और जमीन के ऊपर धन-ही-धन न बिखरा होता- खनिज अयस्क, कोयला और बेशकीमती वनोपज के रूप में। इस वनप्रान्तर में रेल और सड़क के मरणान्तक दोहन के उन्हीं उद्देश्यों हेतु निर्मित हुई हैं जिन उद्देश्यों की बलि चढ़ते रहे हैं, कई और वन!"<sup>98</sup> इस उपन्यास के मुख्य पात्र संजीव, सुगना, रंगेनी, साहू आदि हैं।

### 3.1.13 'पाषाण -युग'

पाषाण-युग उपन्यास संजना कौल के द्वारा लिखित उपन्यास है। यह उपन्यास वर्ष 1998, में आधार प्रकाशन, हरियाणा से प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास मूल रूप से कश्मीरी पंडितों की शारीरिक और मानसिक स्थिति, आतंक का डर, विस्थापन की समस्या, शरणार्थी जीवन जीने की पीड़ा, कश्मीर में दिन-प्रतिदिन खराब होती स्थिति आदि का चित्रण प्रस्तुत करता है। "भाईसाहब, ऐसी पस्तहिम्मती ? ज़िंदगी भर तो आपको किसी से डरते नहीं देखा। आज यह क्या हो गया आपको ? कबाइलियों का हमला हमने देखा, तीन-तीन लड़ाइयाँ हमने देखीं, यह तूफान भी थम जाएगा। यह सबसे खतरनाक तूफान है, सज्जाद, क्योंकि यह न लड़ाई है न कबाइलियों का हमला। देख लेना, यह यहाँ की जमीन पर लाशों के ढेर लगा देगा। ... अब हमारी बारी आएगी।"<sup>99</sup> इस उपन्यास की मुख्य पात्र अंजलि है। अन्य पात्र हैं - बृजमोहनजी, राजू, रवि, सज्जाद, यास्मिन, नसीम, परवीन, मिसेज अहमद आदि।

<sup>98</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ.सं.-87

<sup>99</sup> पाषाण युग, संजना कौल, पृ. सं.-37

### 3.1.14 वीरांगना झलकारी बाई

मोहनदास नैमिशराय (1949) भारतीय दलित साहित्य के बहुत बड़े साहित्यकार एवं 'बयान' पत्रिका के संपादक हैं। उनकी 35 से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिसमें -कविता-संग्रह, उपन्यास, नाटक, कथा-संग्रह, आत्मकथा तथा आलेख आदि शामिल हैं। जिनमें प्रमुख हैं -'सफ़दर एक बयान', 'अदालतनामा', 'क्या मुझे खरीदोगे', 'अपने-अपने पिंजरे', 'स्वतंत्रता संग्राम के दलित क्रांतिकारी' आदि। 'वीरांगना झलकारी बाई' (2003) भी उन्हीं का एक उपन्यास है।

'वीरांगना झलकारी बाई' एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें स्वाधीनता संग्राम की एक महिला क्रांतिकारी झलकारी बाई के जीवन संघर्ष की गाथा है। इसमें इतिहास में जाति भेद के कारण ओझल दलित वीरांगना झलकारी बाई को आधार बनाते हुए उनके बलिदान से सर्व सम्मुख को परिचित करवाया है। "देश और समाज के प्रति प्रेम और बलिदान से उन्होंने इतिहास में खास जगह बनाई थी। दुखद बात यह थी कि जाति विशेष के चश्माधारी इतिहासकारों, साहित्यकारों और पत्रकारों में से किसी भी दलित समाज की उस वीरांगना झलकारी बाई की खबर नहीं ली थी। भला हो स्वयं उन दलित और पिछड़े समाज के लेखक, पत्रकार तथा नाट्यकारों का, जिन्होंने छोटी-छोटी पुस्तकें लिखकर इतिहास के उन महत्वपूर्ण तथ्यों को उजाले में लाने का प्रयास किया, जो बरसों से अँधेरे में पड़े थे।"<sup>100</sup>

"वीरता और बहादुरी के सारे गुण तो सवर्ण समाज के क्षत्रियों के लिए सुरक्षित कर रखे थे। और दलितों, पिछड़ों के खाते में अवगुणों के साथ अयोग्यताओं की भरमार थी। फिर ऊँची जातियों के लोग आसानी से भला कैसे स्वीकार कर लेते कि कोरी जाति की एक लड़की ने बाघ को पछाड़ दिया। पछाड़ ही नहीं दिया बल्कि मार भी गिराया।"<sup>101</sup> इसमें मुख्य पात्र झलकारी बाई है जबकि गौण पात्र रानी लक्ष्मीबाई, पूरण, सदोवा, हयूरोज, दुल्हाजू आदि हैं।

### 3.1.15 'दस बरस का भँवर' :

'दस बरस का भँवर' उपन्यास रवींद्र वर्मा के द्वारा लिखित उपन्यास है, जो राजकमल प्रकाशन से 2007 में प्रकाशित है। रवींद्र वर्मा के अन्य उपन्यास हैं - 'निन्यानवे' (1998),

<sup>100</sup> वीरांगना झलकारी बाई, मोहनदास नैमिशराय, भूमिका से

<sup>101</sup> वीरांगना झलकारी बाई, मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.-23

‘मैं अपनी झांसी नहीं दूंगा’ (2004)। उनका यह उपन्यास सांप्रदायिक मनोवृत्ति तथा बाबरी मस्जिद ध्वंश और राम मंदिर के राजनीतिक मुद्दे जिसकी समाप्ति गोधरा कांड से होती है उन सबकी मार्मिक और वास्तविक छवि इसमें देखी जा सकती है। “बाबरी मस्जिद ध्वंस की जिस त्रासदी पर लाकर ‘निन्यानवे’ का समापन हुआ था, उसी घटना को केन्द्रीयता देते हुए ‘दस बरस का भँवर’ में कथा को विस्तार में बुनते हुए, पिछले दस बरस में कथा को विस्तार में बुनते हुए, पिछले दस बरस का बड़ा प्रामाणिक, सूक्ष्म और जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया गया है।”<sup>102</sup> उपन्यास के पात्र - बाँके बिहारी, रतन, नमन की बहू, नूरजहां, डॉ. अहमद आदि हैं। “मुख्य खबर गुजरात में दंगों की ही थी। कल ट्रेन में दिन-भर कुछ छिटपुट खबरें कानों में पड़ती रही थीं। यह पक्की खबर थी। परसों घटे गोधरा का बदला कल गुजरात ने लिया था। ... हत्या, लूट और आगजनी का तांडव हुआ था। ... ट्रेन में एक गुजराती अहमदाबाद का संदेश लिए था - जिसमें गोधरा में हुए बलात्कारों की खबर थी। कल प्रतिशोध अभियान शुरू हुआ। शहर जले थे। अहमदाबाद का चरम पूर्व सांसद एहसान जाफ़री का कल अपराहन दहन था। भीड़ से घिरे अपने घर के सामने दौड़ते लहलुहान जाफ़री को ज़िंदा जला दिया गया था।”<sup>103</sup>

### 3.1.16 आखिरी छलांग

‘आखिरी छलांग’ उपन्यास किसान जीवन पर शिवमूर्ति के द्वारा लिखित महत्वपूर्ण कृति है। यह उपन्यास जनवरी 2008 को ‘नया जानोदय’ पत्रिका में सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के केंद्र में अवध क्षेत्र का गाँव रहा है। किसान जीवन और ग्रामीण समाज की वर्तमान वास्तविक दुर्दशा और उत्पीड़न को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में मजदूरी, अशिक्षा, जातिवाद, खाद, पानी, बीज, कर्ज की समस्या से त्रस्त किसानों की आत्महत्या तथा उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति को लेखक ने बड़ी संवेदनशीलता से प्रस्तुत किया है।

इसके अतिरिक्त उनके अन्य उपन्यास हैं - ‘त्रिशूल’, ‘तर्पण’ आदि। इस उपन्यास के मुख्य पात्र - पहलवान है जबकि बड़ा बेटा जोगी, खेलावन, लालू सिंह, भुअर पंडित, चैतू, लल्लन बाबू, झुन्नु बाबू, राजेश कुमार, रामसुख आदि गौण पात्र हैं। “जैसे गड़ढे से खोदी गई मिट्टी उसी गड़ढे को भरने के लिए पूरी नहीं पड़ती वैसे ही खेती-किसानी

<sup>102</sup> 21वीं शदी का हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ. सं.- 254

<sup>103</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं. -12

की आमदनी खेती-किसानी के खर्च भर को भी नहीं अंटती । और कहाँ से अंटे ! डीज़ल, बिजली, खाद, कीटनाशक, जोताई-मड़ाई मजूरी -सबका रेट तो हर साल दस-पाँच रुपए बढ़ जाता है । नहीं बढ़ता तो किसान की पैदावार का दाम।”<sup>104</sup>

### 3.1.17 ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ :

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ उपन्यास रणेन्द्र का पहला उपन्यास है । यह उपन्यास भारतीय ज्ञानपीठ से 2009 में प्रकाशित है । यह उपन्यास ‘असुर’ जनजाति को आधार बनाकर लिखा गया है । यह उपन्यास असुर समुदाय के जीवन संघर्ष का दस्तावेज है । इस उपन्यास के केंद्र में झारखण्ड राज्य है । यह उपन्यास मूलतः प्रतीकात्मक है जिसमें भूमंडलीकरण पर कटाक्ष करते हुए ग्लोबल गाँव के यथार्थ को स्पष्ट किया गया है । साथ ही भूमंडलीकरण के कारण आदिवासी समुदाय किस रूप में बुरी तरह से प्रभावित है इसका चित्रण भी इस उपन्यास में किया गया है । ‘असुर’ जनजाति से जो व्यक्ति या समुदाय परिचित नहीं है उसके लिए असुर का अर्थ दानव या राक्षस ही है या उसके वंशज । किन्तु उपन्यासकार इन पूर्वाग्रहों को तोड़ते हुए यह स्पष्ट करते हैं ‘असुर’ शब्द भले ही विचित्र, भयानक, नरभक्षी और असभ्य जिसके नाखून और दाँत बड़े होने के चित्र को उभारते हों किन्तु सच्चाई इससे कोसों दूर है । मैनेजर पाण्डेय इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “असुरों का यह चित्र भारतीय साहित्य में गढ़ी गयी और प्रचारित की गयी कथाओं तथा धारणाओं की देन है । वैदिक जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है । प्रभुत्वशाली सत्ताएँ जिनका विनाश करना चाहती हैं उनका पहले दानवीकरण करती हैं, फिर उन पर हमला करती हैं और बाद में उनकी जमीन तथा जीवन पर कब्ज़ा करती हैं ...मिथकीकरण की प्रक्रिया में कल्पना की मदद से यथार्थ को अयथार्थ बनाया जाता है और इतिहास को रहस्यमय । इस छल-योजना के सहारे विरोधियों के अस्तित्व की अनिवार्यता को अस्वीकार करना आसान होता है ।”<sup>105</sup> असुर जनजाति के साथ यही हुआ । उनके अस्तित्व को विखंडित करने की भरसक कोशिश की गयी । उनके अस्तित्व को मिथकीय रूप दे कर उनके जीवन को बाधित करने का प्रयास किया जाता रहा है । उनके पेशे गत कार्य से भी उनको दूर किया गया । “इस बार कथा-कहानी वाले सिंगबोंगा ने नहीं, टाटा जैसी कंपनियों ने हमारा नाश किया। उनकी फैक्टरियों में बना

<sup>104</sup> आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, पृ.सं.-79

<sup>105</sup> नया ज्ञानोदय, मार्च 2010, अंक-, पृ.सं.-13

लोहा, कुदाल, खुरपी, गेंता, खंती सुदूर हाटों तक पहुँच गए। हमारे गलाए लोहे के औजारों की पूछ खत्म हो गई। लोहा गलाने का हजारों-हजार साल का हमारा हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया।"<sup>106</sup> इस उपन्यास में मुख्य पात्र रुमझुम है | अन्य पात्र मास्टर साहब, लालचन असुर, राम कुमार, अंसारी साहब, एतवारी, ललिता आदि हैं |

### 3.1.18 पहचान

‘पहचान’ उपन्यास अनवर सुहैल का पहला उपन्यास है | यह पुस्तक 2009 में नई दिल्ली से प्रकाशित है | यह उपन्यास अल्पसंख्यक वर्ग की अस्मिता को लेकर लिखा गया है | इस उपन्यास की विशेषता यह है कि समाज में व्यक्ति के पहचान पर यह प्रश्न खड़ा करता है | ‘पहचान’ के कई आधार होते हैं जैसे धार्मिक, पेशीय, जातीय, लैंगिक और वर्गीय | लेखक धार्मिक पहचान को दकियानूसी परम्परा के रूप में देखते हुए पेशीय पहचान की वकालत करते हैं | वह इस और इशारा करते हैं कि धार्मिक पहचान कट्टरता को लेकर उपस्थित होती है | इससे किसी का लाभ नहीं है बल्कि इसका फायदा चुनाव में सत्ता में काबिज लोग उठाते हैं | इसी धार्मिक पहचान के बल पर परस्पर धर्म के नाम पर सांप्रदायिक दंगा करवाकर अपनी रोटी सेंकते हैं | आज समाज धार्मिक पहचान के आधार पर दो खेमों में बंटा हुआ है | एक वर्ग बहुसंख्यक है तो दूसरा अल्पसंख्यक | बहुसंख्यक खुद को देश का मूल निवासी बताता है जबकि अल्पसंख्यक को बाहरी रूप से घोषित किया गया है भले ही वे क्यों न धर्मान्तरित हुए हों | दरअसल देश की राजनीति और समाज-व्यवस्था ने ‘अल्पसंख्यक वर्ग’ को हमेशा हाशिये पर रखा है | उसको हमेशा एक वोट बैंक के रूप में ही इस्तेमाल किया जाता रहा है | उपन्यासकार इस राजनीति से वाकिफ है | इसलिए उपन्यास में ‘गोधरा कांड’ के बाद हो रहे मारकाट के दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित करता है | ये दंगे राजनीतिक कुचक्र का ही परिणाम हैं | इस उपन्यास का नायक यूनस है जो एक कस्बे का रहने वाला है | गरीबी से तंग होकर रोजगार की तलाश में अपने खाला के घर पर रहता है | कोयला खदान में काम करते हुए वह यह जान लेता है कि इस धार्मिक दंगों के युग में धार्मिक पहचान के बदले पेशीय पहचान को दिखाना ही आवश्यक है | क्योंकि इस धार्मिक पहचान के कारण ही उसके भाई सलीम को मौत के घाट उतार दिया जाता है | वह यह भी समझ गया था अपनी सांस्कृतिक पहचान दरकिनार करके ही वह

---

<sup>106</sup> ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृ.सं.-83

आगे बढ़ सकता है। यूनस तकनीकी दक्षता को बढ़ाने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। वह ओपनकास्ट कोयला खदान में काम में आने वाली भीमकाय अर्थ-मूवर मशीन को चलाने में एक्सपर्ट हो जाता है। उसकी यही पहचान उसे आर्थिक जगत में स्थापित करती है। अब यूनस दकियानूसी कठमुल्ला नहीं बल्कि एक ऑपरेटर बन गया है जो उसकी नई पहचान है। यूनस इस परिवेश का ऐसा व्यक्ति है जो पूरे समुदाय को इंगित करता है। यह उपन्यास कमोबेश शिक्षा के महत्व को भी रेखांकित करता है। अतः यह उपन्यास निम्न मध्यवर्गीय अल्पसंख्यक समाज का प्रतिनिधि चरित्र है, जो अपने बनने की प्रक्रिया में हमें अपनी स्मृतियों के साथ उस पूरे परिदृश्य से परिचित कराता है, जिसमें साम्प्रदायिक ताकतों की राष्ट्रीय राजनीति में घुल मिल जाने के बाद आज भारत का मुस्लिम तबका रह रहा है। इस उपन्यास में यह स्पष्ट किया गया है कि मीडिया का भी बड़ा रोल होता है साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा देने में। इस उपन्यास में मीडिया किस तरह न्यूज़ क्रियेट करता है इसका भी वर्णन देखने को मिलता है। जैसे -“ये देखिये हाथ में पेट्रोल से भरी बोतलें लिए औरतें आगे बढ़ रही हैं। ये देखिये हरे रंग में पुता हुआ एक खास जाति के लोगों का मकान, पर्दे की ओट से झांकती बुर्का ओढ़े औरतें, छत पर पत्थर-ईंट इकट्ठा करते बच्चे, नमार्जे अदा करते बच्चे...ये देखिये हमारे संवाद दाताओं के साथ जनता कैसे बर्ताव कर रही है...रात नौ बजे पूरे घटना-क्रम पर फिर एक बार निगाह डालता हमारा दंगा-विशेष देखना न भूलें..।”<sup>107</sup>

### 3.1.19 पासवर्ड

पासवर्ड उपन्यास कमल कुमार का बहु चर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें शिल्प पक्ष को लेकर बहुत प्रयोग किये गए हैं। इस उपन्यास में आत्मकथात्मक, पत्रात्मक, डायरी, यात्रावृत्तांत, समीक्षात्मक और ई. मेल शैली को आधार बनाया गया है। इस प्रकार इस उपन्यास में उपन्यास विधा के साथ अन्य विधाओं की आवाजाही देखी गयी है। यह उपन्यास इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि भले ही लेखिका प्रेमप्रसंग को आधार बना कर कथा गढ़ती हैं लेकिन इसमें प्रेम के स्थान पर सामाजिक और साहित्यिक तत्त्व महत्वपूर्ण बन जाते हैं। लेखिका पूरी कथा ईमेल के जरिये अपने प्रेमी डॉ. आशीष से करती हैं। पुष्पपाल सिंह लिखते हैं -“इस प्रेम कथा का विकास इकहरा, एक रेखीय नहीं रहता है,

<sup>107</sup> पहचान, अनवर सुहैल, पृ.सं.-118

दुनिया-जहान की सूचनाओं से भरपूर और अनेक समस्याओं पर लेखिका एक विमर्श रचती है और अपना सुनिश्चित मत देती हैं।<sup>108</sup> उपन्यासकार एक तरह से उपन्यास के विस्तृत फलक पर हमारी दृष्टि केन्द्रित करती हैं। ई.-मेल से आधुनिक युग के मनुष्य का गहरा सम्बन्ध है क्योंकि मनुष्य तकनीक रूप से बहुत आगे बढ़ रहा है। पत्राचार की जगह भी अब ई.मेल ने ले ली है। इसलिए लेखिका ने इसी आधुनिक तकनीक को आधार बना कर उपन्यास की नयी शैली से भी हमारा साक्षात्कार कराया है। उपन्यासकार देश-दुनिया की बातों के साथ-साथ पाश्चात्य अथवा अंग्रेजी साहित्य और उन पर बनी फिल्मों की भी आलोचनात्मक ढंग से विवेचना करती हैं। उपन्यासकार विदेश यात्रा जैसे -थाईलैंड, फ्रांस, अमेरिका, लन्दन आदि जगहों की जानकारी भी देती हैं। भ्रमणों के दौरान मिले मास्टरपीस और क्लासिक कृतियों का भी चित्रण करती हैं। ऐसे अनेक विषयों पर लिखने के बावजूद उनका उपन्यास सूचनाओं का पुंज नहीं बनता उनका बेबाकी और सपाट बयान वाला रवैया चीजों की सच्चाई से अवगत कराता है। उनकी दृष्टि अमेरिकीकरण की आंधी के फलस्वरूप आये वैश्वीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति की ओर भी गयी है। वे मॉल संस्कृति और बहुराष्ट्रीय बाज़ार में बढ़ रहे देह व्यापार की भी कलाई खोलती हैं। “इतनी चीजें खरीदकर लोग क्या करते हैं? हम क्या करते हैं। हमारी अलमारियाँ कपड़ें और चीजों से भरी होती हैं। हम और खरीदकर उनमें रखते जाते हैं। आधे से ज्यादा कपड़े पहनते नहीं, चीजें इस्तेमाल नहीं करते। मन से उतर जाते हैं क्योंकि नए फैशन के खरीद लिए गए होते हैं। पुरानों का क्या किया जाए। कई बार लालच में किसी को देते भी नहीं और पहनते भी नहीं। मार्केट की ताकत है हम और खरीद लाते हैं। खरीदना एक मजबूरी बन जाता है। कई बार बीमारी भी और कई बार यह थरापी होती है। कई बार कथारिसिम् भी, लेकिन खरीदने के पीछे का जो मूल कारण था, ‘जरूरत’ वह नहीं है।”<sup>109</sup> इस उपन्यास में मुख्य पात्र -सुनीता और आशीष हैं।

### 3.1.20 ‘शिगाफ़’

‘शिगाफ़’ उपन्यास मनीषा कुलश्रेष्ठ के द्वारा लिखित उपन्यास है जो 2012 में राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने इसके अतिरिक्त ‘शालभंजिक’ नामक और एक उपन्यास की रचना की है। आपके पाँच कहानी संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं जैसे-

<sup>108</sup> 21वीं सदी का हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ.सं.-356

<sup>109</sup> पासवर्ड, कमल कुमार, पृ.सं.-14



‘कठपुतलियाँ’, ‘कुछ भी तो रुमानी नहीं’, ‘केयर ऑफ स्वात घाटी’, ‘गंदर्भ-गाथा’, ‘बौनी होती परछाई’ आदि। उनका लिखा ‘शिगाफ़’ उपन्यास बहुत चर्चा में रहा। जर्मनी के हायडलबर्ग के साउथ एशियन मॉडर्न लैंग्वेज सेंटर में इस उपन्यास का वाचन भी किया गया था। यह उपन्यास कश्मीर और वहाँ के लोगों की स्थिति का आकलन प्रस्तुत करता है। यह उपन्यास कश्मीर के सौन्दर्य तक सीमित नहीं हैं बल्कि उसकी क्रूर सच्चाई को सजीव ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें कश्मीर में रह रहे अल्पसंख्यक हिन्दू पंडितों के विस्थापन की त्रासदी और पीड़ा को अभिव्यक्ती मिली है। यह उपन्यास कश्मीर में स्थित अलगाववादी ताकतों और सेना के बीच पिसते मासूम लोगों की त्रासदी का दस्तावेज है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र अमिता है अन्य पात्र शांतनु, वसीम, यास्मीन, ज़मान आदि हैं। “कश्मीरी को तो चार तरफ से मार पड़ी है। पाकिस्तान से भारत की नीतियों से। फिर फौजी घेरा ... एनकाउंटर ... ब्यूरोक्रेसी। अब यह तो तय है ... एक तरफ वह भारतीय सुरक्षाबलों से भी खुश नहीं है तो दूसरी तरफ दहशतगर्दी से भी तंग आ चुका है।”<sup>110</sup> “कश्मीरी असामंजस्य में हैं कि इस्लाम को वे लोग कैसे बचाएंगे जो नमाजियों और दरगाहों पर ग्रेनेड फेंकते हैं? सरकार की तरफ से मिले शांति के वादे का कोई भरोसा नहीं रहा। सरकार कठपुतली है। मौकापरस्त है।”<sup>111</sup>

### 3.1.21 तीसरी ताली

‘तीसरी ताली’ उपन्यास प्रदीप सौरभ के द्वारा लिखित उपन्यास है जो वाणी प्रकाशन से 2011 में प्रकाशित है। यह उपन्यास क्वीर वर्ग पर आधारित है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि यह उपन्यास लैंगिक तौर पर उपेक्षित वर्गों को केंद्र में रख कर लिखा गया है। क्वीर वर्ग के अंतर्गत LGBTQ को लोग साधारणतः एक समझते हैं, किन्तु इसमें क्या भिन्नताएं रही हैं, इसको लेखक इस उपन्यास में स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस उपन्यास में केन्द्रीय प्रश्न किन्नरों को लेकर उभरा है। प्रदीप सौरभ ने ‘तीसरी ताली’ से इतर ‘मुन्नी मोबाइल’ और ‘देश भीतर देश’ उपन्यास की भी रचना की है। “दुनिया के दंश से अपने-आपको बचाने के लिए मैंने लगातार लड़ाई

<sup>110</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ. सं.-24

<sup>111</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ. सं.-26

लड़ी और खुद को स्थापित किया | मैं नाचना-गाना नहीं, नाम कमाना चाहता था | भगवान राम के उस मिथक को झुठलाना चाहता था, जिसके कारण तीसरी योनि के लोग नाचने-गाने के लिए अभिशप्त हैं ... परिवार और समाज से बेदखल हैं |”<sup>112</sup> इस उपन्यास में कथा किसी एक पर नहीं चलती एक साथ कई कथाएं हैं और कई विषय भी किन्तु सभी का संबंध लैंगिक भेद से हैं | लेखक इसी भेद को विभिन्न पात्र विनीत (विनीता), राजा (रानी), विजय, मंजू, यास्मीन, जुलेखा, किसन, रेखा चितकबरी, सुनयना, डिम्पल, सुविमल आदि के जरिए स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं |

### 3.1.22 ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’

मरंग गोड़ा झारखंड का एक ऐसा क्षेत्र रहा यहाँ यूरेनियम प्रचुर मात्रा में मिला | यूरेनियम के लालच में विदेशी कंपनियों ने खनन कार्य प्रारंभ किया जिसके परिणाम स्वरूप मरंग गोड़ा विषैली द्रव्यों का गढ़ बन गया | इसने वहाँ के वायु, मृदा, जल को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि इससे प्रभावित पूरा वायुमंडल और जीव-जगत हुआ है | इस उपन्यास में झारखंड राज्य की पर्यावरणीय गतिविधि को दिखाते हुआ इसकी पड़ताल अतीत में करता है | यही कारण रहा जिसकी वजह से लेखिका दो पीढ़ी की कथा को प्रस्तुत कर यह बताने का प्रयास करती हैं कि जब तक प्रशासन की गिद्ध दृष्टि नहीं पड़ी थी तब तक यह राज्य पर्यावरणीय दृष्टि से बहुत सफल स्वच्छ क्षेत्र रहा जहां पेड़-पौधे से लेकर पूरा वातावरण अच्छा रहा किन्तु जैसे ही लौह अयस्क यूरेनियम जैसे संपदा को खनन प्रक्रिया द्वारा जमीन से निकालने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तब से पर्यावरणीय संकट पनपने लगा | यह राज्य पिछड़े क्षेत्र में आता है, जहां लोगों को प्राथमिक आवश्यकताएँ को पूर्ण करने की आकांक्षा रही | इसलिए जब यूरेनियम खान में लोगों को रोजगार के अवसर मिले तभी उनमें नई उमंग का संचार हुआ और अपनी आजीविका को चलाने की जद्दोजहद ने उन्हें गर्त में ढकेला | “ऐसे पराश्रित जीवन से उक्ताकर खाँसते-खाँसते खून बलगम में लिबड़ता हुआ, पीब लहू से बजबजाते घावों को खसर-खसर खुजलाता हुआ एक दिन चल बसा जाम्बीरा | सुकुरमुनी भी ज्यादा दिनों तक खींच नहीं पाई अपने आप को कैंसर में परिणत पेट के प्रचंड दर्द से साल भर के अंदर-अंदर उसे भी लील लिया।”<sup>113</sup>

### 3.1.23 स्वर्ण मृग

<sup>112</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं.-195

<sup>113</sup> मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ, महुआ माजी, पृ. सं.-101

गिरिराज किशोर (1937) समकालीन साहित्य के महत्वपूर्ण साहित्यकार एवं 'अकार' पत्रिका के संपादक हैं। उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तक हैं - उपन्यास जैसे- 'ढाई घर', 'जुगलबंदी', 'चिड़ियाघर', 'यातनाघर', 'दो', 'दावेदार', 'इंद्र सुनें', 'तीसरी सत्ता', 'यथा-प्रस्तावित परिशिष्ट', 'अष्टचक्र' आदि, कहानी-संग्रह - 'दुश्मन और दुश्मन', 'नीम के फूल', 'चार मोती बेआब', 'पेपरवेट' आदि, नाटक - 'गाँधी को फाँसी दो', 'नरमेघ', 'प्रजा ही रहने दो', 'घास और घोड़ा' आदि और निबंध संग्रह - 'देखो जग बौराना', 'संवाद सेतु', 'लिखने का तर्क', 'एक जन भाषा की त्रासदी' आदि। 'स्वर्णमृग' भी उन्हीं का उपन्यास है जो 2012 में प्रकाशित हुआ है। 'स्वर्णमृग' 112 पृष्ठों का उपन्यास है जिसमें कथाक्रम को भूमिका, आत्म-वेदन, और निष्कर्ष के अतिरिक्त नौ भागों में बांटा है। नौ भाग निम्नलिखित हैं- अन्तर्वेदना, मंदा का व्यापार, उसका बयान, लालच की दलदल, राहत का भ्रम, घात-प्रतिघात, बातें ही बातें, नदी अनन्त थी, झूठ-सच की नाव। 'स्वर्णमृग' नामकरण गिरिराज किशोर की पत्नी मीरा किशोर ने किया है। लेखक ने इसका नाम 'गिनीपिंग' सोचा था।

'स्वर्णमृग' वैश्वीकरण की त्रासदी पर लिखा गया मौलिक उपन्यास है। यहाँ स्वर्णमृग शब्द का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप से किया गया है। 'स्वर्णमृग' से तात्पर्य सोने का हिरन है, जिसका सम्बन्ध पौराणिक मिथक से है। मिथक के अनुसार मारीच, रावण के कहने पर स्वर्णमृग बन कर सीता को मोहित करता है। और तो और उसी स्वर्णमृग के चमड़े के लालच ने राम को भी नहीं छोड़ा वे धनुष लेकर उसे मारने के लिए दौड़े इसलिए तुलसी दास लिखते हैं - "निगम नेति जोहि ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो धावा।" अर्थात् वेद जिनके विषय में नेति-नेति कह कर रह जाते हैं जो मन और वाणी से नितांत परे हैं, ऐसे राम जी माया से बने हुए मृग के पीछे दौड़ रहे हैं। कहने का तात्पर्य मायाजाल से पुरुषोत्तम राम तक नहीं बच पाए! 'वही स्वर्णमृग आज वैश्वीकरण के चोले में सारी दुनिया में घूम रहा है और बड़े-बड़े राजनेता-कूटनीतिज्ञ उसके पीछे बेतहाशा भागे जा रहे हैं..।' इसी स्वर्ण-मृग के पीछे भारत का मध्यवर्ग भी पड़ चुका है। जिसकी गति दिन-प्रतिदिन अधिक प्रवाहमान हो रही है। रचनाकार इस स्वर्णमृग के छल से वाकिफ हैं इसलिए कबीर की उक्ति - 'साईं इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय - मैं भी भूखा न रहूँ साधू न भूखा जाए' के समर्थक हैं। इस उपन्यास का नायक पुरुषो, वैश्वीकरण के जाल में फँस कर ही समकालीन दुनिया को समझ पाया है - "मैंने इन ज़बानों की जादूगिरी के मिठास में डूबे शब्दों के जाल में फँस कर बहुत कुछ खोया है। व्यावसायिकता के चलते शब्द भी इस

वैश्वीकरण की रोशनी में अपने अर्थों को खोकर निरर्थकता की चमचम करती केंचुली धारण कर चुके हैं।”<sup>114</sup>

### 3.1.24 ‘उधर के लोग’

‘उधर के लोग’ उपन्यास अजय नावरिया के द्वारा लिखित आधुनिक दलित समाज का दस्तावेज है। यह उपन्यास राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से, वर्ष 2008 में प्रकाशित हुआ है। ‘उधर के लोग’ शीर्षक से स्पष्ट है कि जिन लोगों पर यह उपन्यास लिखा गया है वे मुख्यधारा से कटे हुए हैं या मुख्यधारा उन्हें सभ्य समाज से दूर रखता है या ये कहें कि यह समाज हाशिये के लोगों पर आधारित है। दलित समाज आज भी हाशिये पर है इसलिए रचनाकार उपन्यास के शीर्षक से ही इस ओर इशारा करते हैं। समकालीन दौर में दलितों के समक्ष आई नवीन चुनौतियों को उपन्यासकार इस उपन्यास में स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस उपन्यास में दलितों के मध्य बढ़ते भेद-भाव को दिखाने के साथ-साथ धर्म की कट्टरता के कारण दलितों में बढ़ते शोषण को भी दिखाया गया है। साथ ही दलितों की आर्थिक स्थिति में किस प्रकार सुधार सही रूप से नहीं हो पाया है इसका भी चित्र इस उपन्यास में दिखाया गया है। “मैं सोच रहा था कि क्या कोई जाति, किसी दूसरी जाति से प्यार करती है ? ब्राह्मण दलितों को ही नहीं बल्कि वह किसी भी गैर ब्राह्मण को नहीं उठने देना चाहते। वशिष्ठ-विश्वामित्र, परशुराम-सहस्रार्जुन से लेकर इलाचंद्र जोशी और प्रेमचंद्र श्रीवास्तव तक यह साफ़ देखा जा सकता है। हिंदी के कहानीकार-उपन्यासकार इलाचंद्र ‘जोशी’ और कथा सम्राट के पीछे-छिपे, अप्रत्यक्ष ‘श्रीवास्तव’ पर मेरा ध्यान गाढ़े ढंग से गया था। यह उनकी जातीय पहचान थीं। क्या ब्राह्मण और ब्राह्मण या चमार और चमार के बीच भी यह संघर्ष नहीं है ? क्या दूसरे सवर्ण या पिछड़ी जातियों के लोग चाहते हैं कि ये कौमें ऊपर उठें...क्या जाट, क्या गूजर, क्या यादव, क्या कुर्मी-कोइरी या फिर रेड्डी, मराठा ...।”<sup>115</sup> इस उपन्यास के मुख्य पात्र प्रोफेसर साहब हैं जिन्हें कभी कभी मास्टर जी भी पुकारा जाता है। यहाँ उपन्यासकार स्वयं प्रोफेसर उपस्थित होते हैं। आयशा (सेक्स वर्कर), कालरा, राना, वंदना (पत्नी), संगीता (पत्नी), सुशील, वेदप्रकाश, असलम, जयंत आदि गौण पात्र हैं। यह उपन्यास ‘मैं’ शैली में लिखा गया है।

### 3.1.25 ‘नीला आकाश’

<sup>114</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-15

<sup>115</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.-75

सुशीला टाकभौरे का 'नीला आकाश' उपन्यास 2013 में विश्वभारती प्रकाशन से प्रकाशित है। उन्होंने अनेक विधाओं जैसे कविता, कहानी, नाटक, निबंध, उपन्यास और आत्मकथा में लेखन कार्य किया है। 'नीला आकाश' उपन्यास दलित जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करता है। यहाँ सवर्णों के द्वारा दलितों के शोषण और उत्पीड़न को दिखाते हुए दलितों के मध्य स्थित जातियों में भेदभाव को भी चित्रित किया गया है। चंदरी समाज के कटु यथार्थ को प्रस्तुत करती हुई कहती है - "भीकू जी, अपने दिल में सपने पाल रहे हो। मगर याद रखो, हमारे बच्चे पढ़ लिख भी जाए, तो भी उन्हें अच्छी नौकरी कौन करने देगा? गाँधी जी यही कह गए हैं - अछूत चाहे जितना पढ़-लिख लें, मगर काम-रोजगार अपने बाप दादाओं का ही करें। हमारा काम यही बताया है, सूपा, डालिया बनाओ, झाड़ू, चटाई बनाओ, सिर पर रखकर बेचो और बजाओ बाजा।"<sup>116</sup> इस उपन्यास के मुख्य पात्र भीकू, चंदरी, रामकिशन, नीलिमा और आकाश हैं। गौण पात्र राधा, लक्ष्मी, पार्वती, कालीचरण, कैलाश आदि हैं।

### 3.1.26 शाल्मली

'शाल्मली' नासिरा शर्मा के द्वारा लिखित स्त्री जीवन से संबंधित उपन्यास है। इस उपन्यास में कामकाजी स्त्री की समस्याएं तथा पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के अहं को प्रस्तुत किया गया है। शाल्मली बड़ी अफसर होने के बाद भी रिश्तों की अहमियत को समझती है किन्तु इसके ठीक उलट उसका पति उसे परंपरागत स्त्री के रूप में देखने का आकांक्षी है तथा पूर्वाग्रहों से ग्रसित पुरुष है। "शाल्मली नासिरा शर्मा का एक ऐसा विशिष्ट उपन्यास है, जिसकी जमीन पर नारी का एक ऐसा अलग और नया ही रूप उभरा है। शाल्मली इसमें परंपरागत नायिका नहीं है, बल्कि वह अपनी मौजूदगी से यह अहसास जगाती है कि परिस्थितियों के साथ व्यक्ति का सरोकार चाहे जितना गहरा हो; पर उसे तोड़ दिए जाने के प्रति मौन स्वीकार नहीं होना चाहिए।"<sup>117</sup> दाम्पत्य जीवन के भीतर शाल्मली का व्यक्तित्व जीर्ण हो रहा है। "जीवन अब सुख की अनुभूति नहीं देता, बल्कि केवल संघर्ष ही लगता है। यहाँ हर कदम पर चुनौतियों से घिर कर किसी योद्धा की तरह दोनों हाथों से तलवार चलानी पड़ती है। अब केवल जूझना मात्र सुख नहीं दे पाता, बल्कि सुख की अनुभूति की जगह उनको परास्त करना आवश्यक हो गया है। यह उसकी इच्छा नहीं है, बल्कि उस पर लादी हुई एक आज्ञा है, जिसका पालन करना उसके लिए परम

<sup>116</sup> नीला आकाश, सुशीला टाकभौरे, पृ.सं.-32

<sup>117</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.- पुस्तक के बलब से।

आवश्यक है । इस अभिशाप से दाम्पत्य जीवन को बचाने की कोशिश में उसका अपना व्यक्तित्व कहीं खो रहा है ।”<sup>118</sup>

“शाल्मली” अपने युग की स्त्री के मनोजगत में गहरे उतर कर उसके भावनात्मक द्वंद्वों, संवेदनात्मक आघातों, आकांक्षापूर्ण संघर्षों और सृजनात्मक स्वप्नों का संश्लिष्ट विश्लेषण भर नहीं है। वह खंडों में विभाजित काल की तीनों सरहदों—भूत, वर्तमान, भविष्य—का अतिक्रमण कर उन्मुक्त हवा-सी अबाध निर्द्वन्द्व घूमती प्रखर विचार मात्र है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था के स्वरूप और स्त्री मुक्ति की संभावनाओं पर बात करने से पहले स्वयं स्त्री को जानने का आह्वान करती है कि कितना मुक्त होना चाहती है स्त्री? और किससे? इसलिए कभी वह पच्चीस बरस के अंतराल को पाटते हुए ठीक आज के वक्त के बीचोंबीच घुस कर दैहिक उच्छृंखलता और खोखले राजनीतिक नारे में रिड्यूस होते स्त्री मुक्ति आंदोलन को लेकर क्षुब्ध है तो कभी बहुत पीछे प्रेमचंद (गोदान) और इब्सन (गुडियाघर) तक लौट कर उन्हीं-उन्हीं सवालों से अपने आप को लहलुहान किए दे रही है कि हम आगे बढ़े ही कहां हैं। वक्त का दरिया काया को बेशक बहा कर अपने साथ ले गया हो, चेतना तो उन्हीं मूल प्रश्नों में लिपटी आज भी निष्कृति और निर्माण के द्वारों को खोज रही है।”<sup>119</sup> इस उपन्यास की मुख्य पात्र शाल्मली है । नरेश, सरोज, श्यामल आदि गौण पात्र हैं ।

### 3.1.27 हवन

‘हवन’ उपन्यास सुषम बेदी के द्वारा लिखित पहला उपन्यास है जो 1989 में प्रकाशित हुआ । यह उपन्यास ‘गंगा’ पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा । इस उपन्यास का उर्दू तथा अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । विदेशों में रह रहे भारतीयों का भारत के प्रति अनुराग तथा अपने देश से ज्यादा आर्थिक रूप से सक्षम होने की क्षमता आज के युवा को ज्यादा प्रभावित कर रही है । इसलिए प्रवासन की परंपरा हर देश की कहानी बनती जा रही है । ‘हवन’ उपन्यास समकालीन समय में प्रवासी भारतीयों पर लिखे गये यथार्थ घटनाओं पर आधारित है । जिसमें प्रत्येक पात्र अमेरिकी संस्कृति में ढलने की जद्दोजहद में देखा गया है । कुछ पात्र राधिका, तनिमा और अनुज अमेरिकी संस्कृति में

<sup>118</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-14

<sup>119</sup> नासिरा शर्मा के उपन्यास ‘शाल्मली’ के बहाने स्त्री विमर्श पर चर्चा – रोहिणी अग्रवाल ([shabdankan.com](http://shabdankan.com))30-12-2016

खुद को ढालने में कुछ हद तक सफल हो पाते हैं किन्तु गुड़ो, अणिमा और राकेश भारतीय संस्कृति से खुद को काट नहीं पाते हैं । इस उपन्यास में राकेश एक ऐसा व्यक्ति है जो दोगले दर्जे का नागरिक है । उसे अमेरिकी स्वतंत्रता तो चाहिए किन्तु केवल स्वयं के लिए जबकि उसकी पत्नी अणिमा के लिए वह भारतीय पुरुष ही बना हुआ है । उसके लिए पत्नी वही है जो भारतीयता को ओढ़े रखे जबकि उसकी कोई अस्मिता नहीं है । मूल रूप से वह पुरुषवादी अहं से पूरी तरह ग्रसित पुरुष है जो विदेशों की हवाओं में खुद को बदल नहीं पाता । इस उपन्यास की मुख्य पात्र गुड़ो है जिससे कथा प्रारंभ होती है और उसी पर जा कर ही कथा समाप्त होती है । इस बीच अनेक पात्र जुनेजा, पिकी, गीता, बत्रा, कनिका आदि आते हैं । “हवन की भस्म तो शुभ होती है न ... नए जीवन और नई आस्थाओं की शुरुआत ... आने वाली पीढ़ियाँ जो जहाँ उगेंगी, पनपेंगी ... नई भूमि से नया रहेगी ... अकेलेपन, जड़हीनता और अस्मिता खो देने वाले अहसासों के राक्षस तब शायद राख हो चुके होंगे ... क्या सच में ... और ये स्वार्थ, नॉन कमिटमेंट, भौतिकता की बदहवास दौड़ के प्रेत ... क्या ये भस्म होंगे कभी ...?”<sup>120</sup>

### 3.1.28 ‘फांस’

‘फांस’ उपन्यास संजीव के द्वारा लिखित बहु-चर्चित उपन्यास है जो समकालीन समाज के नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करता है । यह उपन्यास वाणी प्रकाशन से 2015 में प्रकाशित है । ‘फांस’ उपन्यास किसानों की आत्महत्या पर आधारित है । ‘फांस’ में महाराष्ट्र जिले के बनगाँव को केंद्र में रख कर लिखा गया है किन्तु आंध्र प्रदेश और कर्नाटक समेत पूरे देश की झांकी इस उपन्यास में देखने को मिल सकती है । इस उपन्यास में दो दशकों से बढ़ रहे किसानों की आत्महत्या के केंद्र में स्थित आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है । इस उपन्यास में भले ही पात्र किसी स्थान विशेष से संबंध रखते हों लेकिन यह उपन्यास प्रेमचंद के ‘गोदान’ की भांति देश के सभी किसानों का प्रतिनिधित्व करता है । इस उपन्यास की विशेषता यह भी है कि यह उपन्यास किसान की आर्थिक स्थिति के कारणों की तलाश करने के साथ साथ उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी प्रस्तुत करता है । साथ ही किसानों को लेकर सरकार की उदासीनता भी इस उपन्यास में स्पष्ट है । “कारपोरेट-सोशल रीसर्पोसिबिलिटी इन देसी-विदेशी सेठों की जिम्मेवारी । आपूर्ति उतनी ही

<sup>120</sup> हवन, सुषम बेदी, पृ.सं. -190

होती है जितने में इसका ग्राहक बचा रहे | किसी को भी किसानों की आत्महत्या की फिकर नहीं, किसी को भी नहीं |... पिछले बरस सात हजार किसानों ने आत्महत्या की थी | अखबार, रेडियो, टी. वी. सबने अफीम खा ली, खबर तक न हुई |”<sup>121</sup> इस उपन्यास का मुख्य पात्र शिबू और शकुन हैं |

### 3.1.29 गुलाम मंडी :

‘गुलाम मंडी’ निर्मला भुराडिया का बहु चर्चित उपन्यास है | यह उपन्यास सामयिक प्रकाशन दिल्ली से 2016 में प्रकाशित है | निर्मला जी विशेष रूप से ‘ऑब्जेक्शन मी लॉर्ड’ के लिया चर्चा में आई | इन दो उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने ‘विश्व सुंदरी’, ‘घास के बीज’ कविता - संग्रह और ‘फिर कोई प्रश्न करो नचिकेता’ नाम से निबंध की भी रचना की है | उनके द्वारा लिखित ‘गुलाम मंडी’ उपन्यास कई विषयों को समेटता हुआ प्रस्तुत होता है, जो अपने आप में पूर्ण हैं | इस उपन्यास में किन्नरों के प्रश्नों को भी लेखिका प्रमुखता से उठाती है | लेखिका पुस्तक की भूमिका में यह स्पष्ट करने का प्रयास भी करती हैं कि उन्होंने क्यों किन्नर समुदाय के प्रश्नों को उठाया “बचपन से ही देखती आई हूँ उन लोगों के प्रति समाज के तिरस्कार को, जिन्हें प्रकृति ने तयशुदा जेंडर नहीं दिया | इसमें इनका क्या दोष ? ये क्यों हमेशा त्यागे गए, दुरदुराते गए, सताए गए और अपमान के भागी बने ? इन्हें हिजड़ा, किन्नर, बृहन्नला, कई नामों से पुकारा जाता है मगर हमेशा तिरस्कार के साथ क्यों ? आखिर बाकी इंसानों की तरह मानवीय गरिमा के हकदार क्यों नहीं ?”<sup>122</sup> यह उपन्यास विशेष रूप से किन्नरों पर आधारित नहीं है | किन्तु इसकी कथा मुख्य कथा के समानांतर चलती है तथा जुड़ती भी है | इस उपन्यास में केन्द्रीय प्रश्न जिस्म - फरोशी और मानव-तस्करी है | इस उपन्यास की मुख्य पात्र कल्याणी और जानकी हैं किन्तु यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है ये दो पात्र स्त्री हैं किन्नर नहीं हैं | इस उपन्यास में किन्नर पात्र हैं - अंगूरी, हमीदा, रानी, रमिला आदि | इस उपन्यास में किन्नरों की अस्मिता और उनकी समस्या स्पष्ट है | जिसे एक उदाहरण के माध्यम से देखा जा सकता है | “मुझे लगता था मेरा खोल तो आदमी का है पर भीतर जो है, वो तो एक लड़की है | धीरे-धीरे मैं समझने लगा था कि मेरा शरीर लड़के का है, मगर आत्मा लड़की की है पर कोई यह

<sup>121</sup> फांस, संजीव, पृ. सं.-15

<sup>122</sup> गुलाम मंडी, निर्मला भुराडिया, पृ.सं.-7 (भूमिका )



बात समझ नहीं पा रहा था |... क्राफ्ट एंड स्पोर्ट्स के ऑप्शन में जब मैंने क्रिकेट की बजाय डांस ले लिया तो डैडी ने पिटाई कर दी और हाथ खर्च भी देना बंद कर दिया मगर मैंने यह कठिन समय भी पार कर लिया क्योंकि मुझे मुहब्बत हो गई थी मगर किसी लड़की से नहीं, लड़के से |”<sup>123</sup>

### 3.1.30 ‘अकाल में उत्सव’

‘अकाल में उत्सव’ उपन्यास पंकज सुबीर के द्वारा लिखित बहु चर्चित और महत्वपूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास 2016 में शिवना प्रकाशन, मध्य प्रदेश से प्रकाशित है । यह उपन्यास समकालीन समय की कृषक-दुरवस्था पर आधारित है । ‘अकाल में उत्सव’ शीर्षक से ही स्पष्ट है कि लेखक का मूल उद्देश्य अकाल के बरक्स उत्सव को रखा है जिसमें अकाल जैसी समस्या से ग्रसित किसान आत्महत्या को स्वीकार रहा है वहीं दूसरी ओर इस स्थिति को देख कर सरकारी व्यवस्था के सिर पर जूं तक नहीं रेंग रही बल्कि इस पर राजनीति खेली जा रही है । मूल रूप से इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे आम लोगों को मूल समस्या से भटकाकर अपना उल्लू सीधा किया जा रहा है । एक तरह से यह उपन्यास भ्रष्टचरित राजनीति की पोल खोलती हुई किसानों की दुर्दशा के प्रति संवेदनशील है तथा उनके उन्मूलन का आकांक्षी है । इस उपन्यास का मुख्य पात्र -राम प्रसाद है । जबकि गौण पात्र हैं -देवाशीष मिश्रा, भागीरथ, कमला, मोहन राठी, आनंद शर्मा, रमेश आदि । “अगर किसान खेती नहीं करेगा तो आप और हम खाएंगे क्या ? और वैसे भी अब किसान धीरे-धीरे मजदूर होता जा रहा है इस देश में । उसकी जमीनें जा रही हैं । कुछ दिनों बाद इस देश में मल्टीनेशनल कंपनियां ही खेती करेंगी सारी । और देखियेगा उस समय कोई न्यूनतम समर्थन मूल्य नहीं चलेगा । जो कंपनियां चाहेंगी वही मूल्य रहेगा |”<sup>124</sup>

### 3.1.31 दर्दजा

‘दर्दजा’ उपन्यास जयश्री राँय के द्वारा लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास वाणी प्रकाशन, दिल्ली से 2016 में प्रकाशित है । जयश्री राँय समकालीन युवा-लेखिका हैं । उनके चार कहानी-संग्रह हैं -‘अनकही’, ‘तुम्हें छू लूँ जरा’, ‘खीरा पानी’, और ‘कायांतर’ । उनके चार उपन्यास हैं -‘औरत जो नदी है’, ‘साथ चलते हुए’, ‘इकबाल’ और

<sup>123</sup> गुलाम मंडी, निर्मला भुराडिया, पृ.सं.-72

<sup>124</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ.सं.-170-171

‘दर्दजा’ । इसके साथ-साथ एक कविता-संग्रह ‘तुम्हारे लिए’ भी प्रकाशित हो चुके हैं । ‘दर्दजा’ शीर्षक ही पाठकों और आलोचकों को आकर्षित करने वाला है । ‘दर्दजा’ शब्द ‘दर्द+जा’ शब्द से बना है । जिसका भावार्थ है-दर्द से जात, अर्थात् दर्द ही जिसकी जात है । ध्वन्यार्थ है -जिसकी उत्पत्ति दर्द सहने के लिए ही हुई हो । एक ओर वह पीड़ित है औरत होने के लिए, दूसरी ओर पीड़ित है शारीरिक रूप से पुरुषों से कम शक्तिशाली समझे जाने के लिए, तीसरी ओर पीड़ित है धर्म और जाति के ठप्पे के कारण, इस तरह तीसरा दुःख और तीसरा अभिशाप । पर तीसरा दुःख जो जाति का है -उसके शोषण के पैमाने अलग-अलग हैं । मुस्लिम समाज की औरतें अन्य समाज की औरतों से ज्यादा पीड़ित हैं -शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से । भारत ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य मुस्लिम समाजों में भी उनकी स्थिति में सुधार नहीं हो पाया है । उनकी स्थिति में सुधार न होने का कारण यह भी है कि वे जागरूक नहीं हैं, शिक्षित नहीं हैं, साथ ही पूर्वाग्रहों से ग्रसित हैं । ‘मर्द को हम पर शासन करने का हक है’ हमारा धर्म हमें इनके विरोध में काम करने का हक नहीं देता यही मानसिकता उन्हें जड़ और दर्द को भोगने के लिए मजबूर करती है । पितृसत्तात्मक समाज का बार-बार यह एहसास दिलाना कि ‘तुम कभी मर्दों की बराबरी नहीं कर सकती’ उन्हें मानसिक रूप से पंगु बनाने का कार्य करती है । अतः औरतों को बेचारी और बेसहारा बनाए रखने में पितृसत्तात्मक समाज की बहुत बड़ी भूमिका है । उनके पास दर्द का समन्दर है शोषण की एक लम्बी दास्तान है । यह उपन्यास का प्रधान विषय है । लेखिका ‘दर्दजा’ उपन्यास में इसी बात का स्पष्टीकरण भी करती हैं -‘बस दर्द, डर, उदासी और अकेलापन ...क्या औरत होना इसी को कहते हैं ? दर्द से पैदा होना और दर्द में मर जाना ...!’<sup>125</sup> लेखिका का यह कहना उनके उपन्यास के नामकरण की सार्थकता को सिद्ध करता है । अभय कुमार दुबे के अनुसार -“जयश्री राय की कृति ‘दर्दजा’ के पृष्ठों पर एक ऐसे संघर्ष की खून और तकलीफ में डूबी हुई गाथा दर्ज है जो अफ्रीका के 28 देशों के साथ-साथ मध्य-पूर्व के कुछ देशों और मध्य व दक्षिण अमेरिका के कुछ जातीय समुदायों की करोड़ों स्त्रियों द्वारा फीमेल जेनिटल म्यूटेशन( एफजीएम या औरतों की सुन्नत) की कुप्रथा के खिलाफ किया जा रहा है । स्त्री की सुन्नत का मतलब है उसके यौनांग के बाहरी हिस्से (भगनासा समेत उसके बाहरी ओष्ठ) को काट कर सिल देना, ताकि उसकी नैसर्गिक

<sup>125</sup> ‘दर्दजा’, जयश्री राय, पृ.सं.-18

कामेच्छा को पूरी तरह से नियंत्रित करके उसे महज़ बच्चा पैदा करने वाली मशीन में बदला जा सके। धर्म, परंपरा और सेक्शुअलिटी के जटिल धरातल पर चल रही इस लड़ाई में विश्व स्वास्थ्य संगठन और यूनेस्को जैसी विश्व संस्थाओं की सक्रिय हिस्सेदारी तो है ही, सत्तर के दशक में प्रकाशित होस्किन रिपोर्ट के बाद से नारीवादी आन्दोलन और उसके रैडिकल-विमर्श ने भी इसमें अहम भूमिका निभाई है।<sup>126</sup> इस उपन्यास की मुख्य पात्र - माहरा, मासा, माहरा की खाला, माँ आदि हैं।

### 3.1.32 'हलाला' :

मुस्लिम औरतें हलाला जैसी कुप्रथा की भी शिकार होती हैं। इस पर भगवानदास मोरवाल ने 'हलाला' उपन्यास लिखा है। यह उपन्यास वाणी प्रकाशन से 2016 में प्रकाशित है। भगवानदास मोरवाल ने विभिन्न विषयों पर विभिन्न उपन्यास लिखे हैं। उनके अन्य उपन्यास हैं - 'काला पहाड़', 'बाबल तेरे देश में', 'नरक मसीहा' आदि तथा उन्होंने अन्य विधाओं में भी लेखन कार्य किया है। 'हलाला' उपन्यास समकालीन समय में मुस्लिम समाज की सबसे बड़ी समस्या पर लिखा गया है जिस पर प्रायः मुस्लिम समाज चुप्पी साधे हुए है। पर्दा-प्रथा और बहुविवाह की प्रथा के गलत व्याख्याओं को जैसे लोगों ने अंगीकार कर लिया है ऐसी ही स्थिति 'हलाला' के साथ है। मुख्य रूप से 'हलाला' का दंश मुस्लिम स्त्रियों के लिए सबसे ज्यादा भयावह है। जिसे एक उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं - "दरअसल हलाला धर्म के नाम पर बनाया गया एक ऐसा कानून है, जिसने स्त्री को भोग्या बनाने का काम किया है सच तो यह है कि हलाला मर्द को तथाकथित सज़ा देने के नाम पर गढ़ा गया षड्यन्त्र है जिसका खामियाजा अंततः औरत को ही भुगतना पड़ता है। सज़ा भी ऐसी जिसे आदिम बर्बरता के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता।"<sup>127</sup> इस उपन्यास में रचनाकार मुस्लिम समाज में फैली रुढ़ियों और मुस्लिम स्त्री की स्थिति को प्रस्तुत करते हैं। इस उपन्यास के मुख्य पात्र डमरू, नजराना आदि हैं तथा अन्य पात्र - आमना, जमाल खां, कमाल खां, नवाब खां, नसीबन, फातिमा, आमना, नियाज आदि हैं।

### 3.1.33 कुड़ियांजान

'कुड़ियांजान' उपन्यास पर्यावरण चिंतन तथा पानी की समस्या को लेकर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह पुस्तक सामयिक प्रकाशन से सर्वप्रथम 2005 में प्रकाशित

<sup>126</sup> दर्दजा, जयश्री राय, आवरण पृष्ठ से

<sup>127</sup> हलाला, पृ. सं-188

हुआ। आलोचक नामवर सिंह ने इस उपन्यास को सदी का सर्व श्रेष्ठ उपन्यास माना है। “कुइयां” अर्थात् वह जल श्रोत जो मनुष्य की प्यास आदिम युग से ही बुझाता आया है। जो शायद जिजीविषा की पुकार पर मानव की पहली खोज थी पहली उपलब्धि जो हमने अतीत में अपनी प्राण रक्षा के लिए प्यास बुझाकर हासिल की थी और जो आज भी उतनी ही तीव्र है।”<sup>128</sup> इस उपन्यास में यह स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक समाज में पानी की कमी तो है ही किन्तु रहीम के दोहे की भांति लोगों में संवेदना भी कम होती जा रही है। यह संभावना भी लेखिका ने जताई है कि अगला विश्व युद्ध पानी के कारण होने वाला है। इस उपन्यास के पात्र - बदलू, अनवरी बेगम, शमीमा, खुरशीदआरा, समीना, कमाल, शकरआरा आदि हैं। इस उपन्यास के मुख्य पात्र कमाल हैं। “पानी और शरीर का आपसी रिश्ता बड़ा गहरा है। साफ पीने के पानी की बढ़ती कमी हमें अनेक खतरनाक बीमारियों की ओर ले जाएगी जो पुरानी बीमारियों से हटकर होंगी, जिनका उपचार और निदान जब तक नए शोध द्वारा सामने आएंगे तब तक नई बीमारियां इंसानी शरीर को क्षति पहुंचा चुकी होंगी और पीढ़ियाँ गुजर जाएंगी।”<sup>129</sup>

### 3.1.34 गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान

‘गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान’ उपन्यास विभाजन और शरणार्थी जीवन पर कृष्णा सोबती के द्वारा लिखित महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसके अतिरिक्त कृष्णा सोबती ने उपन्यास की लंबी यात्रा की है उनके द्वारा लिखित उपन्यास हैं - ‘मित्रो मरज़ानी’, ‘यारों के यार’, ‘तीन पहाड़’, ‘बादलों के घेरे’, ‘सूरजमुखी अंधेरे के’, ‘जिंदगीनामा’, ‘ऐ लड़की’, ‘दिलो दानिश’ आदि। ‘गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान’ उपन्यास राजकमल प्रकाशन से जनवरी, 2017 में प्रकाशित है। “बंटवारे के बाद बना पाकिस्तान उस त्रासदी से पहले जिनके लिए अपना प्यारा हिंदुस्तान था; वे लोग, अपने ही आजाद मुल्क में जिनके कदम विस्थापित शरणार्थियों के भेस में पड़े, यह उपन्यास उन उखड़े और दर-ब-दर लोगों की रूहों का अक्स है।”<sup>130</sup> शरणार्थी प्रसंग का एक उदाहरण द्रष्टव्य - “विभाजन एक शब्द। शरणार्थी - एक विशेषण। लुटा-पुटा गरीब। कैपों में रहनेवाला। विस्थापितों को राशन मुफ्त मिल सकता है। फार्म भरा होना चाहिए तो कंबल के भी हकदार हो सकते हैं

<sup>128</sup> ‘कुइयांजान’ के ब्लर्ब से

<sup>129</sup> कुइयांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-317

<sup>130</sup> गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, आवरण पृष्ठ से

! वह क्यों इस पर सोच रही है ? ... यह तो एक स्थिति है । अपनी जड़ों से उखड़ने की । नई जगहों पर जमने की ।”<sup>131</sup> इस उपन्यास के पात्र हैं - जुत्शी साहब, सोबती, फूली बाई, शांति मौसी, कृष्ण, भल्ला मौसा, सविता, काशीनाथ, तेजसिंह आदि ।

### 3.1.35 ‘उसके हिस्से की धूप’

‘उसके हिस्से की धूप’ उपन्यास बाल मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यास है । यह उपन्यास उषा यादव के द्वारा 2018 में सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित है । इस उपन्यास को राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत सरकार द्वारा महात्मा गांधी पुरस्कार से सम्मानित किया गया । उषा यादव ने बहुत से उपन्यास बच्चों पर लिखे हैं जैसे - ‘नन्हा दधीचि’, ‘किले का रहस्य’, ‘पारस पत्थर’, ‘लाखों में एक’, ‘हीरे का मोल’, ‘सबक’, ‘सोना की आँखें’, ‘फिर से हंसों धरती माँ’, ‘नाचे फिर जंगल में मोर’ आदि । उसके हिस्से की धूप उपन्यास में धार्मिक पाखंड के नाम पर बच्चों को किस प्रकार शोषित होना पड़ता है, उसका चित्रण किया गया है । इस उपन्यास की मुख्य पात्र वृंदा को 3 साल से हवन कुंड में तप पर बैठाया जाता है । सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इस उपन्यास का खल पात्र वृंदा के पिता हैं जो भ्रूण की अवस्था से ही वृंदा को लेकर षड्यन्त्र करते रहे हैं । तप में वृंदा को बिना खाए-पीये बैठाया जाता है । तीन साल की वृंदा भूख के मारे तड़पती रहती है पर धार्मिकता का पक्ष लेते हुए उसके पिता उनको तप से उठने नहीं देते हैं । वृंदा को तप पर बैठने के पीछे उसके पिता का एक बहुत बड़ा उद्देश्य रहा है । वह वृंदा जैसी अबोध बालिका को देवी बनाने का षड्यन्त्र रचता है । पिता की गरिमा और मानवीयता को बेचता उसका पिता शिक्षक होने के नाम पर कलंक के रूप में साबित होता है । वृंदा कोई देवी का अवतार नहीं थी किन्तु उसे जबरन देवी बनाने की कोशिश उसके पिता करते रहे । इसी दैवीत्व को स्वीकार न करने के कारण उसके पिता से मार खाती है डांट सुनती है । जहाँ तक की उसे मार देने की धमकी भी मिलती है । ऐसी स्थिति में वह मन मार कर अपने पिता के आदेशों का पालन करना चाहती है । किन्तु उसका पिता कभी उसे अपनी पुत्री के रूप में नहीं स्वीकारता बल्कि उसको धन अर्जन करने की वस्तु के रूप में देखता है । आस्था और विश्वास के नाम पर लोग उसे देवी का स्वरूप स्वीकार करते हैं यहाँ लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि आज भी धार्मिकता का जामा पहन कर ऐसे बच्चों का शोषण हो रहा है । इस उपन्यास

---

<sup>131</sup> गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, पृ. सं.-42-43

में वृंदा के शोषण की असीमता और बालपन के स्थान पर प्रौढ़ता का उपहार द्रष्टव्य है । वृंदा के शोषण की परंपरा यज्ञ से प्रारंभ होती हुई उसका खेलना, कूदना, खाना आदि का बंद होते हुए देवी रूप में उसका मौन रूप धारण करता पौष्टिक खाद्य का त्यागना, हड्डियों का कमजोर होकर टेढ़ा हो जाना तथा इसकी कमजोरी को देखकर जल समाधि तक उसके पिता का गिरना उसके शोषण चक्र को प्रस्तुत करता है । वृंदा असहनीय पीड़ा को सहन करने की अपार क्षमता के साथ प्रस्तुत होती है । पिता के इस प्रकार की प्रताड़ना से अबोध बालिका अपने बालपन को त्याग करती है जिससे उसकी मानसिकता पर गहरा आघात पड़ता है । वह जितनी शारीरिक रूप से उतनी ही मानसिक रूप से प्रताड़ित होती है । ऐसे में वृंदा की माँ उसको जीवित रखने के लिए अंतहीन कोशिश करती रहती है । वृंदा का बच्ची से प्रौढ़ हो जाना सुमिता को अंदर तक तोड़ देता है । “वृंदा अब भयाक्रांत थी । किसी बड़ी बहन के मुंह से ‘तप’ शब्द सुनते ही वह अब भी सिहर उठती थी । झोली वाले बाबा के आ कर पकड़ ले जाने और जंगल में ले जाकर चिड़िया बनाकर पिंजरे में रख लेने के आतंक से अभी तक मुक्त नहीं हो पाई थी।”<sup>132</sup>

### 3.1.36 ‘पिघले चेहरे’

‘पिघले चेहरे’ उपन्यास कथाकार सच्चिदानंद चतुर्वेदी का महत्वपूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास अमन प्रकाशन, कानपुर से 2018 में प्रकाशित है । उपन्यासकार सच्चिदानंद चतुर्वेदी जी के और दो उपन्यास ‘अधबुनी रस्सी एक परिकथा’ और ‘मझधार’ हैं । ‘पिघले चेहरे’ उपन्यास में 1984 के सिख विरोधी दंगों को आधार बनाया गया है । इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इस उपन्यास में दंगों की राजनीति, दंगों की सच्चाई की पड़ताल करने के साथ-साथ, अल्पसंख्यक समुदाय के आन्तरिक मनोभावों की परतों को भी प्रस्तुत किया गया है । रचनाकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप सिर्फ समस्या को प्रस्तुत नहीं करते बल्कि समस्या की जड़ की तलाश भी करते हैं । उनकी दृष्टि ऐतिहासिक सत्य की तलाश करना है तथा शोधपरकता से तथ्य को उपस्थित करने की रही है । वे एक ओर दंगाईयों के पक्ष को उपस्थित करते हैं तो दूसरी ओर दंगाइयों की दृष्टि क्या रही इस पार भी बात करते हैं । साथ-ही-साथ उनकी दृष्टि आम वर्ग के मानसिक स्थिति पर भी गयी और अल्पसंख्यक वर्ग की आंतरिक मनोदशा को भी उन्होंने महत्व दिया है । वे एक

<sup>132</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ. सं.-58

पक्षीय दृष्टि को आधार न बना कर बहु पक्षीय दृष्टि से हमारे समक्ष सत्य को उपस्थित करते हैं। 'पिघले चेहरे' की विशिष्टता यह भी है कि हिंदी उपन्यासकारों ने हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगों को आधार सामग्री के रूप में चुनना बेहतर समझा। जबकि उपन्यासकार ने हिन्दू और सिखों के मध्य 1984 में घटी घटना को इसका विषय बनाया है। इस रूप में रचनाकार ने हिंदी उपन्यासों के अंतर्गत समय और समाज के ऐतिहासिक विकास को 'पिघले चेहरे' में चित्रित करके हिंदी उपन्यास की विधा को सामाजिक जीवन से जोड़ने का कार्य किया है।

रचनाकार जब दंगे में आम लोगों की मानसिकता को स्पष्ट करते हैं तब वह यह संकेत करते हैं कि 1984 में इंदिरा गाँधी के हत्या कांड को लेकर लोगों का सिखों पर भड़कना वाजिब भी था क्योंकि उन्होंने प्रधान मंत्री को मारा था। किन्तु इसके विपरीत यह भी सही नहीं है कि जिन लोगों ने प्रधानमंत्री को मारा उसके पूरे समुदाय को ही इसकी सज़ा दी जाये। उस भड़के हुए माहौल में लोग भेड़ की चाल चलते हैं वे सही-गलत की पहचान नहीं कर पाते हैं और मीडिया भी दंगे को बढ़ाने में अहम भूमिका निभाता है। दंगे में लोगों के सिर पर हिंसा का भूत सवार होता है और वे एक दूसरे के जान के दुश्मन बन बैठते हैं। इस घटना के बाद आम वर्ग के मन में हत्यारों के लिए कैसी भावना पनप रही थी इसका वर्णन भी रचनाकार मनोविश्लेषणात्मक ढंग से करते हैं। "जिन्होंने (इंदिरा गाँधी जी) उनकी हत्या की है, हो सकता है कि ये सिख उन्हें जानते भी न हों। तो क्या हुआ, जाति-धर्म तो उनके एक ही हैं। विषैले वृक्ष की शाखाएँ चाहे जितनी दूर तक फैली रहें विष उनमें एक समान ही होता है। विष मिटाने के लिए वृक्ष को मूल से काटना पड़ता है।"<sup>133</sup> उस समय उनका मूल लक्ष्य अल्पसंख्यकों को सबक सिखाना रहा। ताकि वे भविष्य में कभी हिन्दुओं की ओर आँख उठाने की जुरत भी न करें।

उनकी मानसिकता के साथ दंगे के भयावह दृश्य को देखकर लग रहा होता है यह स्वयं उसके साथ घटित हुआ है। अतः जीवनानुभव वास्तव के निकट है। साथ ही रचनाकार इस दृश्य के जरिये अल्पसंख्यक की विवशता, उत्पीड़न, डर तथा असहनीय पीड़ा को व्यक्त करते हैं। जिससे पाठक तादात्म्य स्थापित कर खुद भी उस दुःख का अनुभव करता है। उपन्यासकार दंगे के दौरान हुई हिंसा के लिए जिम्मेदार सरकार और प्रशासन पर भी व्यंग्य

---

<sup>133</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ.सं.-80

करते हैं क्योंकि अगर वे ही काम अच्छी तरह से कर रहे होते तो यह साम्प्रदायिक दंगा न हुआ होता !

रचनाकार ने दंगों का मूल्यांकन तो किया साथ ही सिखों की आन्तरिक दशा को भी इस उपन्यास में दिखाया । उनका असुरक्षा की भावना से ग्रसित होना और अपनी 'पहचान' से उदासीन होने की भावना ने अपने लिए नए राष्ट्र की संकल्पना को भी बलवती किया है । उदाहरण स्वरूप -“रवि, परमी अपने केश काट डालो और मम्मी-बच्चों को लेकर घर से निकल जाओ । यह मुल्क अपना नहीं है । पापा जी ! आज हमें पहली बार ऐसा लग रहा है कि हम हिन्दुओं के देश में रह रहे हैं । क्या सिखों का कोई अलग देश नहीं हो सकता ? आज हमें खलिस्तान मिल गया होता तो शायद यह बुरा बखत हमें न देखना पड़ता ।”<sup>134</sup>

उपन्यासकार की सबसे बड़ी विशेषता पात्रों के चरित्र को बखूबी रूप से स्पष्ट करना रहा है । इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र देवदत्त है जिसके इर्द-गिर्द कथा घूमती है । किन्तु यह पात्र विशेषताओं का पुंज न होकर 'पूर्वाग्रहों से ग्रसित' पुरुष है ।

### 3.1.37 गिलिगडु

'गिलिगडु' चित्रा मुद्गल, द्वारा लिखित वृद्ध जीवन पर एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास नई दिल्ली से सामयिक पेपरबैक्स से 2019 में प्रकाशित है । चित्रा मुद्गल के अन्य उपन्यास हैं - 'आवां', 'एक जमीन अपनी', 'पोस्ट बॉक्स नंबर 203 -नाला सोपारा' । इस उपन्यास में समकालीन समय में बुजुर्गों के प्रति युवा वर्ग का नजरिया, मानसिक और शारीरिक तनाव, अकेलापन आदि समस्याओं का चित्रण है । “इस उपन्यास में सेवानिवृत्ति बुजुर्ग की एकरेखीय कहानी नहीं, जीवन के रंग बहुआयामी प्रयोगों में उभरकर आए हैं । यह उपन्यास तेरह दिन की कहानी में चलते दो बुजुर्गों के जीवन का पूरा खाका ही नहीं बताता अपितु आज के बदलते जीवन मूल्यों को भी परिभाषित करता है कि कैसे नौजवान पीढ़ी अपने बुजुर्गों को घर में सम्मान न देते हुए अकेला छोड़ देती है ।”<sup>135</sup> इस उपन्यास के मुख्य पात्र कर्नल स्वामी और जसवंत सिंह हैं । “नरेंद्र के लंबे-चौड़े भाषण ने बाबू जसवंत सिंह को नसीहत पिलाई कि आइंदा वे अपनी पसंद की गुंजाइश इस घर में न ढूँढ़ें तो

<sup>134</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ.सं.-88

<sup>135</sup> गिलिगडु, चित्रा मुद्गल, पुस्तक ब्लर्ब से



बेहतर है। नरेंद्र की सलाह वाजिब लगी कि उन्हें वक्त की मारामारी देख वक्त के साथ चलने का अभ्यास डालना चाहिए ।”<sup>136</sup>

### 3.1.38 ‘पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा’

‘पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा’ उपन्यास चित्रा मुद्गल के द्वारा लिखित बहुत चर्चित उपन्यास है । यह उपन्यास सामयिक प्रकाशन दिल्ली से 2016 में प्रकाशित है । इस पुस्तक के लिए उन्हें साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित किया जा चुका है । यह उपन्यास तृतीय लिंगी के जीवन पर आधारित है । इस उपन्यास में लेखिका नए विचार दृष्टि से किन्नर समुदाय की समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं । इस उपन्यास की मुख्य पात्र बिन्नी या बिमली है जिसके जरिए लेखिका समाज में स्थित पूर्वाग्रह और किन्नर समाज के प्रति अज्ञानता को स्पष्ट करती हैं । शारीरिक कमी के कारण किसी को बहिष्कृत कर देना समाज के एक समुदाय के प्रति अत्याचार को स्पष्ट करता है । इस उपन्यास में विनोद शारीरिक कमी के कारण बिमली बनने को विवश होता है । इसी पीड़ा को वह अपनी माँ को पत्रों के माध्यम से प्रेषित करता है । यह पत्र किन्नर बन कर नारकीय जीवन झेल रहे ऐसे किन्नर की है, जिसे किन्नर बनना ही स्वीकार नहीं था किन्तु व्यवस्था और लोगों की मानसिकता ने उसे जबरन किन्नर बनने पर मजबूर किया । “शपथ लीजिए यहाँ से लौटकर आप किसी लिंगदोषी नवजात बच्चे-बच्ची को, किशोर-किशोरी को, युवक-युवती को जबरन उसके माता-पिता से अलग करने का पाप नहीं करेंगे । उससे उसका घर नहीं छिनेंगे । उपहासों के लात-घूसों से उसे जलील होने की विवशता नहीं सौँपेंगे । जलालत का नरक भोग कुछ नहीं सीखे आप ?”<sup>137</sup>

## 3.2 ओड़िया उपन्यासों का परिचयात्मक विवेचन

### 3.2.1 नील तृष्णा

‘नील तृष्णा’ ओड़िया उपन्यासकार प्रतिभा राय के द्वारा लिखा गया एक प्रमुख उपन्यास है । यह उपन्यास आद्य प्रकाशन से वर्ष 1981 में प्रकाशित हुआ है । इस उपन्यास की

<sup>136</sup> गिलिगडु, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.- 40

<sup>137</sup> पोस्ट बॉक्स नं . 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-186

भूमिका में उपन्यासकार लिखती हैं 'The Life and World of Call Girls in India' (Vikas, 1978, Dr. Promila Kapoor) पुस्तक से प्रेरणा पाकर उन्होंने 'नील तृष्णा' उपन्यास की रचना की। यह उपन्यास कॉलगर्ल पर आधारित है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र रूपेली है जो दलित परिवार की है। रूपेली के जरिए लेखिका दलित परिवार की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को प्रस्तुत करने के साथ साथ दैहिक शोषण और उससे पनपे कॉल गर्ल की मनोस्थिति को प्रस्तुत करती हैं। फूलझरी गाँव के अछूत बस्ती में रूपेई का जन्म होता है। आर्थिक रूप से वे बहुत पिछड़े हुए हैं। उसके लिए पेट की क्षुधा को शांत करना उसकी प्राथमिक आवश्यकता है। संघर्ष करना उनकी नियति बन गई थी। ऐसे में बीमारी के इलाज के पैसे नहीं होने के कारण वह बुला बाबा के पास जाती है। लेकिन पाखंडी बुला बाबा के शोषण की शिकार हो कर गर्भवती हो जाती है। बुला बाबा, रूपेई को शहर ले जाकर रानी बना कर रखने का प्रलोभन देते हैं और शहर ले जा कर 500 रुपये में मुकुंद को बेच देता है। मुकुंद (ड्राइवर) की रखैल बन कर पत्नी सुख की प्राप्ति करती है किन्तु मुकुंद उसे पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं करता है। आर्थिक स्थिति से तंग आकर तथा अपने सतीत्व के प्रश्नों से निराश हो कर कॉल गर्ल बनने का निर्णय लेती है। यह निर्णय उसने अपने पूरे परिवार की आर्थिक स्थिति और अपने जर्जर बीमार बेटे के लिए अपनाया था। उसके लिए नारीत्व की अपेक्षा मातृत्व महत्वपूर्ण बन जाता है। दैहिक शोषण के बाद कुछ लोग उसका आर्थिक-शोषण भी करना प्रारंभ कर देते हैं। उसे कई लोग ब्लैक मैलिंग भी करने लगते हैं। लोगों के समक्ष उसकी पोल खोल देने की धमकी देते हैं। पर वह इन सबसे डरती नहीं है, अपनी निंदा को सहते हुए भी बुला बाबा जैसे ढोंगी की पोल खोलने के लिए उसने प्रतिज्ञा ली है। ऐसा इसलिए क्योंकि इस तरह के बाबा के चक्कर में आकर कोई लड़की उसकी तरह लांछित जीवन न जीये। फिर भी समाज उसे गंदी निगाह से देखता है। अपने अपराध-बोध तथा आत्म-मंथन के कारण रात के अंधेरे में अंततः खुद पर पेट्रोल डाल कर मर जाती है। लेखिका इस उपन्यास में नारी के समक्ष आई चुनौतियों को प्रस्तुत करती हैं। भले ही इस उपन्यास की पात्र दलित है, कम शिक्षित है किन्तु सभी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो इस रसातल में पड़ जाती है। यह उपन्यास पितृसत्तात्मक समाज में नारी की स्थिति और उसकी सोच को बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। साथ ही लेखिका कॉल गर्ल के जन्म के पीछे के कारकों को स्पष्ट करते हुए उनकी समस्याओं को भी चित्रित करती हैं। "दर्शक नहीं रहने पर जात्रा/नाटक प्रारंभ नहीं

होता | ग्राहक नहीं रहने से व्यवसाय भी नहीं चलता | हम कॉल पाने पर ही आपके पास आते हैं | अपने आप नहीं आते | जोर जबरदस्ती करके सभी लोगों से हम पैसा नहीं ऐंठते | वरन आप लोग हमें पैसा का लालच दिखा कर ही बुलाते हैं | दाल-रोटी की आशा में हम जाल में फंस जाते हैं | देह से ही हम जीविका निर्वाह करते हैं | ... आपसे जोर जबरदस्ती करके हम अपने रूप का ग्राहक नहीं बना सकते | जिस तरह इच्छा न रह कर भी स्त्री को बल प्रयोग करके देह जीवी बना दिया जाता है | उसे पतिता बनाया जा सकता है | पुरुष को ऐसा नहीं किया जा सकता | इसलिए इस व्यवसाय के लिए कौन जिम्मेवार है ? रूपमती नारी या रूपलोभी पुरुष ? कौन दंड का हकदार है ?”<sup>138</sup>

इस उपन्यास के पात्र हैं-कलिंग, बुलु, विप्लव,लीना, सुना, माणिक, मुकुंद, पचोरा, मानिर आदि | इसी विषय पर मोहनदास नैमिशराय का ‘क्या मुझे खरीदोगे’ उपन्यास को देखा जा सकता है जो मुंबई महानगर की एक भिन्न दुनिया को हमारे सामने लाता है ।

### 3.2.2 असवर्ण

विभूति पट्टनायक के द्वारा लिखा गया ‘असवर्ण’ ओड़िया उपन्यास दलित जीवन पर आधारित है | यह उपन्यास फ्रेंड्स पब्लिशर्स के द्वारा 1982 में प्रकाशित हुआ है | विभूति पट्टनायक ओड़िया साहित्य के प्रमुख उपन्यासकारों में से एक हैं | उन्होंने 80 से ज्यादा उपन्यासों की रचना की है | जैसे- ‘शेष वसंत’, ‘अभिमान’, ‘पर पुरुष’, ‘अदा माटी र स्वर्ग’, ‘रंगनटी’, ‘चपलछंदा’, ‘उजाणी यमुना’, ‘अश्वमेध र घोड़ा’, ‘प्रेमिका’, ‘वधु निरुपमा’, ‘पाप पुण्य’, ‘नायिका र नाम श्रावणी’, ‘राणी महमाछी’, ‘शेष रात्रि र सूर्य’, ‘धूलिघर’ आदि | आप को ‘अश्वमेध र घोड़ा’ के लिए ओड़िया साहित्य अकादमी के तरफ से पुरस्कार प्रदान किया गया था | इसके अतिरिक्त उनको अन्य सम्मानों से भी नवाज़ा गया है | जैसे -‘अतिबड़ी जगन्नाथ दास सम्मान’ (समग्र कृति के लिए, 2016), ‘केंद्र साहित्य अकादमी पुरस्कार’ (2015), ‘सरला पुरस्कार’, ‘साहित्य भारती’, ‘ओड़िशा लिविंग लिजेंड सम्मान’ (2012) आदि।

इस उपन्यास के नामकरण से ही स्पष्ट है कि यह उपन्यास दलित-जीवन पर आधारित है | विभूति पट्टनायक गैर-दलित रचनाकार हैं | उनके द्वारा लिखित ‘असवर्ण’ में दलित समाज की पीड़ा उनके दंश तथा सवर्ण समाज का उसके प्रति रवैये को स्पष्ट

<sup>138</sup> नीलतृष्णा, प्रतिभा राय, पृ.सं.-282

किया गया है। इस उपन्यास में देव भाषा, संस्कृत पर सवर्णों का अधिकार को स्पष्ट करने के साथ ही साथ शिक्षा में दलितों का संस्कृत विषय चुनने पर किस प्रकार उनका मानसिक शोषण होता है इसका स्पष्ट चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में सवर्ण समाज की आरक्षण के प्रति दृष्टि को भी प्रस्तुत किया गया है। वनाम्बर पंडित, दलितों को मिलने वाले आरक्षण पर कटाक्ष करते हुए कहता है “मैं खुद को अभिशाप देता हूँ कि अगले जन्म में मैं ब्राह्मण न बन कर हरिजन बनूँ -मेरे जन्म जातक के कारण मेरा बेटा बेकारी का दंड न भोगे।”<sup>139</sup> इस उपन्यास के मुख्य पात्र अलका (सवर्ण) और भागीरथ (दलित) हैं।

### 3.2.3 यज्ञसेनी

‘यज्ञसेनी’ उपन्यास प्रतिभा राय द्वारा लिखित बहु चर्चित उपन्यास है। यह उपन्यास आद्या प्रकाशनी से 1985 में प्रकाशित है। इस कृति पर उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ का ‘मूर्तिदेवी’ एवं ‘सारला’ पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। यह उपन्यास इतना प्रसिद्ध है कि अभी तक इसके 95 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह उपन्यास पौराणिक आख्यानों की नवीन सृष्टि है। इस उपन्यास में प्रतिभा राय महाभारत की नायिका द्रौपदी को केंद्र में रख कर लिखती हैं। आधुनिक संदर्भ से लेखिका इस उपन्यास को पुनः परिभाषित करने की कोशिश करती हैं। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि नारी- दृष्टि से यह उपन्यास लिखा गया है जो पौराणिक कथा के नाम पर स्त्री जाति के शोषण को प्रस्तुत करता है। साथ ही लेखिका इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करती हैं कि स्त्री-शोषण के लिए पितृसत्तात्मक समाज जिम्मेदार रहा है जो अपने सुविधा अनुसार नियमों को जोड़ते और घटाते आया है। अगर ऐसा न होता तो स्त्री और पुरुष के लिए नियम अलग क्यों गढ़े गए होते ? पितृसत्तात्मक समाज सदियों से स्त्री को धर्म और आदर्श के नाम पर बांधते आया है। यह उपन्यास ऐसी खोखली मान्यताओं की पोल पौराणिक कथाओं में जा कर करता है साथ ही एक स्त्री को देखने की स्तर-दृष्टि भी प्रदान करता है। यह उपन्यास ‘महाभारत’ की कथा को आधार बना कर लिखा गया है इसलिए ‘महाभारत’ के सभी पात्रों को लेखिका ने इस उपन्यास में स्थान दिया है। जैसे - द्रौपदी, कृष्ण, भीष्म, विदुर, कुंती, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव आदि। “सखा (कृष्ण)। जिस दिन कुरु सभा

<sup>139</sup> असवर्ण, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-8

मैं लांछित हुई उस दिन से पाँच पतियों पर से मेरा विश्वास टूट गया है, उस दिन सारी लज्जा त्याग कर मैंने तुम्हें ही स्मरण किया था। तुम्हें ही मैंने समर्पण किया था। आज भी मृत्युपथ पर मेरे पाँच स्वामी मुझे निस्सहाय छोड़ कर चले जाने के बाद तुम्हारे समक्ष ही मैं स्वयं को अर्पण करती हूँ। मेरे सारे दुःख, तकलीफ, लांछन, हाहाकार सब तुम्हें सौंपती हूँ। अगर मैं खुद की ही नहीं हूँ, तो मेरा दुःख क्यों मेरा होगा ?”<sup>140</sup> ‘महाभारत’ की कथा को लेकर नरेंद्र कोहली ने ‘महासमर’ नाम से उसे आधुनिक आयाम प्रदान किया है।

### 3.2.4 ‘आदिभूमि’

‘आदिभूमि’ उपन्यास ओड़िशा के प्रख्यात कथाकार प्रतिभा राय के द्वारा रचित है। यह उपन्यास आद्य प्रकाशन, कटक से 1993 में प्रकाशित है। 2015 तक इसके 14 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह उपन्यास ‘बोंडा’ जनजाति पर आधारित है। ओड़िशा के आदिवासियों में आदिम जनजाति बोंडा है। शिक्षा और सभ्यता से वे कोसों दूर हैं। उनकी आदिम संस्कृति पर विचार करते हुए लेखिका भूमिका में लिखती हैं - ‘अतीत के सम्बन्ध में वे अज्ञ, भविष्य के सम्बन्ध में निर्लिप्त और वर्तमान उनका सर्वस्व है। उस आदिम मनुष्य का संप्रदाय कब, कहाँ से आकर वंश रूप में आदिम संस्कृति का विकास हुआ - उस सम्बन्ध में विधिवत अनुसन्धान नहीं हुआ है। ‘बोंडा’ जाति का विश्वास ही उसका इतिहास है। मौखिक रूप से हस्तांतरित होता आ रहा है अलिखित, बुनियादी इतिहास, सोमा मुदली से सोम सीसा तक।’ ‘बोंडा’ जनजाति का एक तरह से पूर्ण इतिहास ‘आदिभूमि’ में लिपिबद्ध होता है। सोमा मुदली इस उपन्यास का नायक है। उपन्यासकार इस उपन्यास में ‘बोंडा’ जनजाति की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थिति का चित्रण करती हैं। ‘बोंडा’ समाज किस प्रकार शोषण का शिकार होता है इसका भी चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। उनके लोक-विश्वास, किम्बदंतियाँ, सरकारी शोषण और अंधविश्वास को उपन्यासकार इस उपन्यास में व्यक्त करती हैं। साथ ही उनके ‘मनुष्मारू’ आपराधिक व्यवहार को भी प्रस्तुत करती हैं। बोंडा समाज में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा सशक्त दिखाई देती हैं। वे घर भी संभालती हैं और बाहर का कार्य भी करती हैं क्योंकि इस समाज में स्त्री और पुरुष दांपत्य के बीच कम से कम दस बरस का अंतर होता है। इस समाज में

---

<sup>140</sup> यज्ञासेनी, प्रतिभा राय, पृ.सं.-5

स्त्रियाँ, पुरुषों से उम्र में बड़ी होती हैं और उनका पालन पोषण करती हैं | उपन्यासकार इस उपन्यास में बोंडा जाति के खिलाफ फैलाई गयी धारणाओं की सच्चाई को प्रस्तुत करती हैं | इस उपन्यास में मुख्य पात्र सोमा मुदली, लक्ष्मी टोकी, सोमवारी, मंगली, बाघ बिंदु, बूदेई आदि हैं | बोंडा लोगों की मान्यता है कि -“रुक्कबोर (पहाड़) से ऊपर की ओर बादलों की परतें हैं और उससे ऊपर आकाश की नीलिमा की ओर बढ़ते हुए पहाड़ की घाटी, डंगर, वन, (बेल बढ़ा) खेत-खलिहान, झरने (पारख), गाँव में स्थित जीव-जंतु सब के सब बोंडा के हैं | बोंडा के सिवा किसी का अधिकार नहीं है यहाँ | ...पहाड़ पर खड़े होकर जंगल से घिरी धरती तथा वहाँ से जितनी दूर तक निगाह जाती है सब बोंडा राज के अधीन है | उसी स्थान के घेरे से दीखता चंद्र और सूरज (सिंगीआर्क), तारा (मुमुर्त), बादल (रुंगरूंगा), पक्षी (फिरि) खेलते सब बोंडा के ही हैं | ...जिस जगह पर पैर रखो वह मिट्टी है बोंडा की मिट्टी - ‘तुबुक’ (बोंडा भाषा में)|”<sup>141</sup>

### 3.2.5 प्रतिबंदी

‘प्रतिबंदी’ उपन्यास ओड़ीशा की स्त्री वादी आलोचक और कथाकार सरोजिनी साहू द्वारा लिखित है | यह उपन्यास विद्यापुरी कटक से सन् 1999 में प्रकाशित है | स्त्री जीवन को लेकर सरोजिनी साहू का पहला उपन्यास है ‘उपनिवेश’ है | इसका प्रकाशन सन् 1998 में हुआ | इस उपन्यास के केंद्र में स्त्री अस्मिता और पहचान का सवाल है | इस उपन्यास की पात्र अपना परिचय खोजने के प्रयास में अतीत की ओर लौटने का प्रयास करती है अंततः पराजित हो जाती है | ‘गंभीरी घर’ उपन्यास उनका सन् 2002 ई. में प्रकाशित होता है इसमें भारतीय नारी और पाकिस्तानी युवक की कथा है | ‘बिशाद ईश्वरी’ उपन्यास सन् 2007 में प्रकाशित होता है जिसके लिए लेखिका विशेष चर्चा में रहीं | सन् 2009 में उनका उपन्यास ‘असामाजिक’ प्रकाशित है, जो समलैंगिक स्त्रियों के संबंधों पर आधारित है | ‘प्रतिबंदी’ उपन्यास के शीर्षक से यह स्पष्ट है कि यह शब्द हिन्दी के प्रतिबंध का पर्याय है जिस का अर्थ बांधना, अवरोध, कैद, रोकना आदि है | इस उपन्यास में उपन्यासकार स्त्रियों के प्रतिबंध पर बात कर रही हैं इस लिए उन्होंने इस उपन्यास का नाम ‘प्रतिबंदी’ रखा | जैसा कि हम जानते हैं स्त्री को परंपरागत रूप से बांधने का प्रयास किया जाता रहा है, यही कारण रहा कि स्त्री विमर्श जैसी वैचारिक लड़ाई, साहित्य का हिस्सा बनीं | स्त्री-

<sup>141</sup> आदिभूमि, प्रतिभा राय, पृ.सं.-5-7

विमर्श के कई मुद्दे जैसे स्त्री केवल देह ही नहीं, साथ ही स्त्री के देह पर स्वयं का अधिकार आदि इस उपन्यास के प्रमुख मुद्दे रहे। इस उपन्यास में लेखिका सामाजिक बंधनों के अस्तित्व की रक्षा के लिए बाधक तत्त्व बताती हैं। प्रियंका खुद से प्रश्न करती है कि “उसके जीवन में अन्य लोगों की दखलअंदाजी क्यों ? उसने क्या बिगाड़ा है किसी का ? उसका जीवन उसका ही तो है। किन्तु एक बार जन्म लेने के बाद क्या व्यक्ति एकनिष्ठ हो कर रहता है ? माँ कहती है मेरा लड़का या लड़की है। नाना कहते हैं मेरी नातिन या नाती है, ऐसा कि सभी संबंध के डोर से बांधना आरंभ कर देते हैं। उस संबंध के डोर को क्या काटना इतना सहज है। लेकिन क्रमशः सामाजिक होते-होते वह क्या भूल जाये उसकी इच्छा-अनिच्छा। भला-बुरा। मैं और मैं बन कर नहीं रह गयी हूँ। केवल हो गयी हूँ एक स्पेसिज (जाति) का बीज। जिसे बो कर और एक मनुष्य का जन्म होता है।”<sup>142</sup> ‘प्रतिबंदी’ उपन्यास में लेखिका डॉक्टर पेशे में स्थित प्रियंका के जीवन संघर्षों के बीच अस्तित्व की लड़ाई को रेखांकित करती हैं। साथ ही इस उपन्यास में रोजगार के पेशे में स्थित नारी की समस्याओं और समाज में उसके प्रति रवैये को प्रस्तुत करती हैं। इस उपन्यास में कई पात्र हैं जैसे प्रियंका, आदिकान्त (डॉक्टर), मानी (आदिकान्त की पत्नी), अमिय, विप्र आचार्य, रेणु दीदी, सुधाकर बाबू आदि। यह उपन्यास नारी अस्मिता पर आधारित है इसलिए इस उपन्यास की मुख्य पात्र प्रियंका है किन्तु मानी के द्वारा भी लेखिका पुरुष चरित्र को स्पष्ट करने का प्रयास करती है।

### 3.2.6 चलापथे

‘चलापथे’ उपन्यास के उपन्यासकार दयाल जोशी हैं। उनका यह उपन्यास स्टूडेंट स्टोर, कटक से सन् 2000 ई. में प्रकाशित हुआ। उनका प्रथम उपन्यास ‘आशा असित’ है। ‘चलापथे’ उपन्यास पूर्व वंग या बांग्लादेश से भागे दो शरणार्थियों पर आधारित है। इस उपन्यास के केंद्र में बांग्लादेश से भागे दो शरणार्थियों की प्रेमकथा है। इस उपन्यास के मुख्य पात्र सुनील और मालती हैं जिनका वास्तविक नाम मीही और हाफिज है। “पूर्ववंग पूर्व पाकिस्तान हुआ, फिर पाकिस्तानी सैनिकों के अत्याचारों से पूर्व वंग को छोड़कर लाखों लोग भारत में आश्रय लेते हैं। वर्तमान पूर्व वंग स्वाधीन होने के लिए युद्ध कर रहा है।”<sup>143</sup>

### 3.2.7 जटिल संपर्क :

<sup>142</sup> प्रतिबंदी, सरोजिनी साहु, पृ. सं. 113

<sup>143</sup> चलापथे, दयाल जोशी, पृ.सं.-112

डॉ. विभूति पटनायक (1937) ओड़िया के बहुत बड़े कथाकार हैं। उन्होंने लगभग 150 से अधिक रचनाएँ लिखी हैं। जिनमें विधा वार प्रमुख हैं-कहानी-संग्रह, उपन्यास, यात्रा-वृत्तान्त और आलोचनात्मक-लेखन। आप 1970-1995 तक एक अध्यापक के रूप में कार्यरत रहे। उन्होंने लगभग 50 उपन्यास लिखे हैं। जिनमें प्रमुख हैं -‘शेष वसंत’, ‘अभिमान’, ‘परपुरुष’, ‘उदा माटी र स्वर्ग’, ‘रंगनटी’, ‘चपलछंदा’, ‘अश्वमेघो र घोड़ा’ आदि। ‘अश्वमेघो र घोड़ा’ के लिए उन्हें ओड़िया साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला था। ‘जटिल संपर्क’ भी उन्हीं का एक उपन्यास है जो 2002 में प्रकाशित हुआ था। वे ‘गल्प’, ‘आसोन्ता काली’, ‘कृषक’ और ‘नवरवी’ पत्रिका के संपादक भी रहे हैं। ‘कान्हूचरण मोहंती के बाद ओड़िया के लोक-प्रिय उपन्यासकार और श्रेष्ठतम महानायक विभूति पटनायक हैं।’ अतः ओड़िया उपन्यास के विकास की परंपरा से उन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता। उनके 20 से अधिक उपन्यासों के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, इससे हम उनकी रचनाओं की लोकप्रियता का पता लगा सकते हैं। उन्होंने आधुनिक समाज की राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं को लेकर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। स्पष्टता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशिष्टता है।

‘जटिल संपर्क’ शीर्षक ही आधुनिक युग के नारी और पुरुष के अवैध सम्बन्धों की ओर इशारा करता है। शीर्षक में संपर्क भी कैसा? जटिल, जो पाठक और आलोचकों को ज्यादा आकर्षित करने वाला है। मनुष्य के संबंधों का धरातल बहुत व्यापक है। इसको समझने की कोशिश आधुनिक कथा-साहित्य में व्यापकता से हुई है। सम्बन्ध एक आयामी नहीं होते, हैं उनमें बहुआयामिता और जटिलता होना सामाजिक-संरचना से जुड़ा हुआ पहलू है। मानव सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न कथाकारों ने व्यापकता से किया है फिर भी इन जटिल संबंधों की पहली अनसुलझी ही रह गयी है। लेखक की चुनौती इस पहली को सुलझाने की है। ‘जटिल सम्बन्ध’ आंतरिक यथार्थ और मनोगत भावों से युक्त होते हैं। जिसका रूप बहिर्जगत में कम प्रकट होता है। साहित्य का आधार ही मनुष्य के मनोगत भावों और संबंधों की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है।

### 3.2.8 कवर स्टोरी

‘कवर स्टोरी’ उपन्यास सत्यप्रिय महालीक के द्वारा लिखित उपन्यास है जो टाइम पास प्रकाशन से 2007 में प्रकाशित है। उनके द्वारा लिखित अन्य उपन्यास हैं -‘अणपुरुष’, ‘शून्यकाल’, ‘अप्राप्तवयस्क’ आदि। सत्यप्रिय महालीक उन उपन्यासकारों में से एक हैं जो बिना लाग लपेट कर कथा को वास्तविकता से साथ प्रस्तुत करती हैं यही कारण रहा है



कि वह पाठकों के ज्यादा निकट हो पाई हैं। उनकी प्रत्येक रचना अपने आप में विशिष्ट और नवीन सोच को प्रस्तुत करने वाली रही है तथा अन्याय के प्रति मुखरता से प्रस्तुत करने वाली रही है। “कवर स्टोरी उपन्यास हमारी सामाजिक विसंगति और अवज्ञा की दूसरी शक्तिशाली करुणा की कथा है, जहां चार साल की छोटी सी बच्ची के साथ दुष्कर्म होता है और न्याय के लिए वह दरबंदर दौड़ लगाती है। न्याय क्या कमल का फूल है जिसे कमर तक डूब कर तोड़ा जा सके।”<sup>144</sup> इस उपन्यास की मुख्य पात्र चीनी है। गौण पात्र- नारंग, सारंग, मुचुकुन्द सेनापति, विश्व मंगल आदि है। “चार वर्ष की चीनी अचानक चौदह साल की किशोरी की तरह आचरण करने लगी थी। अर्थात् यह आचरण निश्चय ही अस्वाभाविक था और यह सब उसकी उम्र तथा मानसिकता की उपज थी। गाँव के लोग बहुत सारी बातें करते थे। नारंग एक अपराधी की भांति सिर नीचे करके चलता था, मानो मुचुकुन्द के बेटे ने चीनी का नहीं नारंग का ही बलात्कार किया हो।”<sup>145</sup>

### 3.2.9 माटी र लुह (माटी के आंसू)

‘माटी र लुह’ उपन्यास अन्नदा प्रसाद राय के द्वारा लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है। अन्नदा प्रसाद राय ओड़िया साहित्य के महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। आप साहित्यकार और संपादक होने के साथ-साथ राजनेता भी रहे। इसलिए उनके इस उपन्यास में राजनीति की कूटनीति का स्पष्ट रूप देखने को मिलता है। ‘साहित्य और राजनीति दोनों क्षेत्रों में समान हस्तक्षेप रखने के कारण वे ‘तरुण तुर्की’ नाम से एक समय में लोकप्रिय रहे।’ ओड़िया साहित्य में वाम पंथी दिग्दर्शन और प्रगतिवादी भूमिका को चित्रित कर साहित्य को एक नयी दिशा देने का काम उन्होंने किया। आपने साहित्य की अनेक विधाओं जैसे कहानी, उपन्यास और आत्मकथा में अपनी कलम चलाई। इन साहित्यिक रचनाओं में ‘माटी र लुह’ और ‘बलय’ उपन्यास उनके प्रमुख उपन्यास हैं।

ओड़िया उपन्यास ‘माटी र लुह’ वर्ष 2007 में विद्यापुरी, कटक से प्रकाशित है। इस उपन्यास के मुख्य पृष्ठ पर उपन्यासकार अपनी इस कृति को गोपीनाथ महंती को समर्पित करते हैं। ओड़िया साहित्य में आदिवासी समाज पर गहन शोध और अध्ययन कर लिखने वाले साहित्यकार गोपीनाथ महंती हैं। उन्होंने ओड़िया साहित्य में आदिवासी साहित्य को स्थापित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई। अन्नदा प्रसाद राय भी गोपीनाथ

<sup>144</sup> कवर स्टोरी, सत्यप्रिय महालीक, ब्लर्ब से

<sup>145</sup> कवर स्टोरी, सत्यप्रिय महालीक, पृ. सं.-49

महंती की इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए नज़र आते हैं। उनका 'माटी र लुह' उपन्यास आदिवासी समाज के सांस्कृतिक मूल्य और अस्मिता को केंद्र में रख कर लिखा गया है। इनके माध्यम से उपन्यासकार वर्तमान में आदिवासियों के समक्ष संकट, चुनौतियों और सत्ता में स्थित राजनीतिज्ञों के षड्यंत्र को प्रस्तुत करते हैं। इस उपन्यास में यह भी सिद्ध किया गया है कि आदिवासी, व्यवस्था विरोधी या विकास विरोधी नहीं हैं। "मैं चाहता हूँ, हमारे यहाँ विद्यालय बनाये जाए किन्तु जंगल काट कर नहीं बल्कि बंजर जमीन पर। लेकिन उस विद्यालय की उच्चता इन वृक्षों से अधिक न हो। हमारे विद्यालय में हमारी मातृभाषा में शिक्षा दी जाये। हमारे लिए अस्पताल भी हों, जिसमें हमारी वन-सामग्री निर्मित औषधि उपलब्ध हो।"<sup>146</sup> बंधुआ जैसे आदिवासी युवक विकास विरोधी नहीं हैं किन्तु वे अपने तरह से चीजों की उपलब्धता चाहते हैं जिसमें उनका और उनके परिवेश की हानि न हो। इस उपन्यास में इन्हीं समस्याओं को लेकर विरोध प्रकट किया गया है। जिसके फलस्वरूप आदिवासी आन्दोलन का बिगुल बजा है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र बंधुआ और सूकी (बंधुआ की पत्नी) है।

### 3.2.10 'भरोसा र भिटामाटी' (भरोसे का स्थल)

'भरोसा र भिटामाटी' उपन्यास श्री लक्ष्मीधर महंती के द्वारा लिखा गया ओड़िया उपन्यास है। श्री लक्ष्मीधर महंती ओड़िया साहित्य की अनेक विधाओं में लेखन कार्य कर रहे हैं। आप कहानीकार, उपन्यासकार, कवि, यात्रा-वृत्तांत के लेखक हैं। 'भरोसा र भिटामाटी' उन्हीं का पहला उपन्यास है, जो कि कटक स्टूडेंट्स स्टोर से 2008 में प्रकाशित है। यह उपन्यास कंध जनजाति पर आधारित है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने चरिघरिया टापू में स्थित कंध आदिवासियों की सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। साथ ही उस टापू में रहते हुए पर्यावरणीय-समस्या, सरकारी नीतियों का आदिवासियों पर प्रभाव और विस्थापन के दंश को भी इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास के मुख्य पात्र - शोभानी है जो कंध परिवार की लड़की है और सरकारी हाकिम सुब्रत पट्टनायक है जिसे आदिवासियों को पुनर्वास का कार्य दिया जाता है। इस उपन्यास में सुब्रत आदिवासियों की कालोनी में न जाने की वजह को बखूबी रूप से स्पष्ट कर देते हैं - "वे क्यों इस प्राकृतिक परिवेश, अपने सुख समृद्धि को छोड़ कर उस बंजर

<sup>146</sup> माटी र लुह, अन्नदा प्रसाद राय, पृ.सं.-36

जमीन में जाएंगे ? ...यह जमीन उनके बाप, दादा तथा सात पुरखों की हैं | वे विश्वास करते हैं कि इसी आकाश में उनके मृत पूर्वजों की आत्माएं घूमती हैं | नदी के सीमांत इलाके में मक्का, मंडिया, बाजरा, सीम जैसे फसल उगाकर वे अपनी आजीविका चलाते हैं |”<sup>147</sup> इस तरह इस उपन्यास में आदिवासियों के विस्थापन के दंश को प्रस्तुत करने के साथ सरकारी नीतियों के कारण आदिवासियों के जीवन में हुए जबरन हस्तक्षेप को भी प्रस्तुत किया गया है |

### 3.2.11 ‘प्राची -प्रतिची’

‘प्राची-प्रतिची’ उपन्यास सुस्मिता बागची के द्वारा लिखित उपन्यास है जो 2009 में सुचरिता पब्लिकेशन भुवनेश्वर से प्रकाशित है | इस उपन्यास का संबंध लेखिका के जीवन से रहा है | भले ही लेखिका और मुख्य पात्र वन्या के जीवन में बहुत कुछ साम्यता नहीं है किन्तु मूल रूप से अमेरिका और बैंक में रोजगार के मामले में उनका संबंध जुड़ा है | जहां से उन्होंने कई सारी घटनाओं और पात्रों को आधार बना कर उपन्यास लिखने का प्रयास किया | उन्होंने अमेरिका में दो बार प्रवास किया | पहली बार 1991 के दौरान और दूसरी बार 2001 के समय | उपन्यास के ‘अभिमुख’ में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वन्या की तरह उनकी भी उम्र 41 वर्ष रही है | उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यह कोई नौकरी करने की उम्र नहीं थी किन्तु अमेरिका के लिए यह कोई नई बात नहीं थी और वहाँ न उन्हें नौकरी पाने में कोई समस्या हुई | “जिस व्यक्तिगत समस्या से वन्या को गुजरना पड़ा उसी तरह की घटनाएं मेरे समक्ष भी रहीं | मैं अवाक् थी कि भिन्न परिवेश में, तथा विदेश की भूमि पर भारतीय नारी हर समय सिर झुका कर नहीं रह पाती है |” आगे वह स्पष्ट करती हैं कि औरत कोई लता नहीं है जो बिना आश्रय के खुद पैर पर खड़ा नहीं हो सकती | यह उपन्यास उन नारियों को समर्पित है जो विदेशों की सरजमीन में रह कर भी परिस्थितियों के सामने घुटने नहीं टेकती है बल्कि उनका सामना बड़ी हिम्मत से करती है | इस उपन्यास का पहला भाग ‘भिन्न भूमि’ के नाम से अक्टूबर 2003 में ‘सानन्दा’ से प्रकाशित हुआ | बाद में यह पत्रिका बंद हो गई इसलिए यह उपन्यास अधूरा ही रह गया | इसलिए अधूरे उपन्यास को लेखिका ने पूर्ण रूप 2009 में दिया | सुस्मिता बागची 1980 से

---

<sup>147</sup> भरोसा र भिटामाटी, श्री लक्ष्मीधर महंती, पृ.सं.- 40

ही ओड़िया साहित्य में लेखन कार्य करती आ रही हैं । इस बीच उनके पाँच उपन्यास, सात कहानी-संग्रह और एक भ्रमण कहानी भी प्रकाशित हुई हैं । उन्हें ओड़िया साहित्य अकादमी का पुरस्कार, उत्कल सम्मान पुरस्कार, विशुब पुरस्कार आदि सम्मानों से सम्मानित किया गया है । उनके पाँच उपन्यासों के नाम हैं - 'प्रवास र पक्षी', 'स्रोतपर्णा', 'स्वप्न निहारिका', 'देव शिशु' और 'प्राची प्रतिची' । 'प्राची प्रतिची' उपन्यास की मुख्य पात्र वन्या है जबकि सहायक पात्र सौरभ, मारग्रेट, पूनम, मिसेल, नीलम, सोमू, बादल आदि हैं । "जो लोग मेड सर्विस चाहते हैं, उन्हें सरकारी अनुमति लेनी पड़ती है, इंसुरेन्स लेना पड़ता है, टैक्स भी देना पड़ता है, काम करने वाले व्यक्ति को 'मिनीमम वैज' देना होता है । ... अमेरिका में बहुत इल्लीगल इमीग्रण्ट्स हैं । अपने देश से छिप कर किसी तरह सीमा पार करके गैर-सरकारी तरीके से अमेरिका में घुस जाते हैं । ये लोग प्रायः दक्षिण अमेरिका -मेक्सिको, चिली, अर्जेन्टीना, डोमिनिकन रिपब्लिक-ये सब देश के लोग । इनकी सोशल सिक्युरिटी नहीं है न ग्रीन कार्ड है ।"<sup>148</sup>

### 3.2.12 'गलापुत्र'

डॉ. सच्चिदानंद कर समकालीन समय में उभरे महत्वपूर्ण उपन्यासकारों में एक हैं जिनकी रचना है - 'गलापुत्र' । उनके तीन कथा संग्रह 'सूर्यघर' (2005), 'स्नेहर दुईबूँदा लूह' (2006), 'गल्प लेखु थीबा प्रेमिका' (2009) प्रकाशित हो चुके हैं । उन्होंने 'गलापुत्र' के अतिरिक्त और एक उपन्यास की भी रचना की है । उनका पहला उपन्यास 'पक्षीजन्म' है जो 2008 में प्रकाशित है । 'गलापुत्र' उपन्यास में कृषक आत्महत्या तथा आत्महत्या के उपरांत कृषक की पारिवारिक स्थिति और आर्थिक स्थिति को दिखाया गया है । इस उपन्यास में गंगाधर कृषक है, जिसने कर्ज के कारण आत्महत्या का रास्ता चुना । उसकी आत्महत्या के बाद उसके पिता शंकर, पत्नी पुष्पलता और बेटी कविता किस प्रकार समस्याओं का सामना करते हैं, इसका चित्रण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत किया गया है । आत्महत्या पत्र में गंगाधर लिखता है कि - "फसल का नष्ट हो जाना और कर्ज का पैसा न दे पाने के भय से मैं आत्महत्या कर रहा हूँ । मेरे इस आत्महत्या के लिए अन्य कोई जिम्मेदार नहीं है ।"<sup>149</sup>

### 3.2.13 'भिन्न एक सिद्धार्थ'

<sup>148</sup> प्राची प्रतिची, सुस्मिता बागची, -पृ. सं.-71-72

<sup>149</sup> गलापुत्र, डॉ.सच्चिदानंद कर, पृ.सं.-17

‘भिन्न एक सिद्धार्थ’ उपन्यास श्रीमती सुकामिनी नन्द के द्वारा लिखित है। यह उपन्यास कटक स्टूडेंट्स स्टोर प्रकाशन से 2010 में प्रकाशित है। यह उपन्यास वृद्ध जीवन और उनकी समस्याओं को आधार बना कर लिखा गया है। मूल रूप से यह कथा ‘आश्रय’ नामक वृद्धाश्रम पर आधारित है। जिसमें वृद्धों की मानसिक और शारीरिक स्थिति को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त किया गया है। इस उपन्यास का मुख्य पात्र सिद्धार्थ है। गौण पात्र -वसुधा, प्रियव्रत दास, कुंती, मित्रा, अभयानंद, सुखलता सत्पथी, गौतम आदि हैं। “नौकरी करते समय साफ बिस्तर पर सोने की आदत थी। चद्दर बदलने से लेकर तकिया बदलने तक सारा काम पीअन (नौकर) करता था। ये सब धोने या बदलने की उन्हें आदत नहीं थी। घर की नौकरानी को अपनी तरफ से थोड़े ज्यादा पैसे देकर यह सब काम करवाते देख बहुएँ उन पर आक्षेप लगाती थीं। अंत में वे यह सारा काम खुद करने लगी थीं।”<sup>150</sup>

### 3.2.14 भेद

अखिल नायक के द्वारा लिखा गया ‘भेद’ उपन्यास ओड़िया दलित साहित्यकार के द्वारा लिखा गया प्रथम प्रयास है। यह उपन्यास पश्चिमा पब्लिकेशन के द्वारा 2010 में प्रकाशित है। इस उपन्यास के शीर्षक से स्पष्ट है कि यह उपन्यास भेदभाव पर आधारित है। हिन्दू समाज में अछूत समझी जाने वाली जाति को आज कल दलित कहा जाता है जिसके साथ सदियों से भेदभाव किया जाता रहा है। उनके शोषण का एक लम्बा इतिहास रहा है। यह उपन्यास ओड़िशा के दलितों के शोषण का दस्तावेज है। इसमें दलित वर्ग के प्रति सवर्ण समाज की दोगम दृष्टि तथा सदियों से चली आ रही पारंपरिक जातिप्रथा पर कटाक्ष भी किया गया है। साथ ही दलितों के साथ शिक्षा अनुष्ठान में हो रहे भेद भाव भी इस उपन्यास में चित्रित हैं -हेडमास्टर मिश्रा सर स्कूल के बच्चों से कहते हैं -“और कौन ?...दस रुपए से ज्यादा देना चाहता है हाथ खड़ा करो। पंद्रह रुपये कह कर जो खड़ा होता है वह है लाल्टेंदु दूरिया, मतलब दिनामास्टर का बेटा। ...पंद्रह क्या तुम पच्चीस रुपए दोगे तब भी तुम्हें जजमान नहीं बनाया जा सकता ! बैठो ! मिश्रा सर व्यंग्य करते हैं। ...डोम लोगों के हाथ से हम मनुष्य तक पानी नहीं पीते, और उनके हाथों से सरस्वती देवी को भोग लगेगा ?”<sup>151</sup> लाल्टेंदु दूरिया (दलित) इस उपन्यास का मुख्य पात्र है।

### 3.2.15 असामाजिक

<sup>150</sup> भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नंद, पृ. सं.-26

<sup>151</sup> भेद, अखिल नायक, पृ.सं.-77

सरोजिनी साहू के द्वारा लिखा गया 'असामाजिक' उपन्यास 2011 में प्राची साहित्य प्रतिष्ठान से प्रकाशित है। सरोजिनी साहू ओड़िया भाषा की एक प्रमुख साहित्यकार हैं। आप स्त्री विमर्श से जुड़ी कृतियों के लिए विशेष रूप से चर्चित रही हैं। सरोजिनी चेन्नई से प्रकाशित अंग्रेजी पत्रिका 'इंडियन एज' की सहयोगी संपादक हैं। 'कोलकता से प्रकाशित अंग्रेजी पत्रिका 'दी कैंडल' ने उन्हें भारत की 25 श्रेष्ठ 'माइंडसेट वीमेन' की श्रेणी में स्थान दिया है। अब तक उनकी अठारह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें दस कहानी-संग्रह और आठ उपन्यास शामिल हैं। उनके उपन्यास -'उपनिवेश' (1998), 'प्रतिबंदी' (1999), 'स्वप्न खोजाली माने' (2000), 'महायात्रा' (2001), 'गंभीरी घर' (2005), 'विषाद ईश्वर' (2006), 'पक्षीवास' (2007) तथा 'असामाजिक' (2011) आदि प्रकाशित हैं। 'असामाजिक' उपन्यास स्त्री समलैंगिकता पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखिका स्त्री अस्तित्व और स्त्री अस्मिता के प्रश्न को उजागर करती हैं और समाज में इस प्रकार का जीवन जीने वाली स्त्रियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण, उनकी व्यथा, प्रताड़ना और शोषण को सिरजती हैं। इस उपन्यास की मुख्य पात्र चिना और फूल हैं। एक उदाहरण निम्न लिखित हैं -फूल सोचती है "क्यों दूसरों की तरह अलग जगह जाना उसे उचित नहीं लगा। क्यों चिना के पास सुखी जीवन जीने के लिए लालायित रही। क्यों उसे चिना के बिना जीवन जीना कठिन लगता है? कौन से बंधन में वे दोनों बंधे हुए हैं? इस सम्बन्ध को क्या नाम दिया जा सकता है?"<sup>152</sup>

### 3.2.16 जंगली

'जंगली' ओड़िया उपन्यास डॉ. आरती महांत के द्वारा लिखा गया है जो 2011 में चिन्मय प्रकाशन कटक से प्रकाशित है। यह उपन्यास मयूरभंज के बरेईपानी में स्थित आदिवासियों की जीवन शैली पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में आदिवासी लोगों के भोलेपन, उनका सरल व्यक्तित्व, दिक्कतों के द्वारा उनका शोषण, नशे की लत, उनमें व्याप्त अन्धविश्वास आदि को आधार बनाया गया है। इस उपन्यास में शुक्रा और बउल दो आदिवासी युवक-युवती हैं जिनसे तीन संतानें उत्पन्न होती हैं - झिल्ली, लव और कुश। पूरी कथा इस परिवार के इर्द-गिर्द घूमती है। इस ग्रन्थ की सीमा यह है कि इसमें आदिवासियों के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। उपन्यासकार आदिवासी समुदाय के सम्बन्ध में लिखती हैं

<sup>152</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहू, पृ.सं.-135

-“इस गाँव में आदिवासियों को शेर के गर्जन से डर नहीं लगता, किन्तु शहरी बाबुओं से वे बहुत डरते हैं। जिनके हाथ में होता है बंदूक और जिसकी लोलुप दृष्टि इस गाँव की सरल-निरीह आदिवासी लड़कियों और औरतों पर रहती है।”<sup>153</sup> दूसरा उदाहरण है -“ इस गाँव का साहूकार बड़ा अर्थलोभी/ लालची है। वह दूसरों का गला दबाने वाला आदमी है। महाजनी कारोबार करते हुए ही संपत्ति बढ़ाते चला है। कितने लोगों का उसने निवास स्थान नहीं छिना है इसका कोई ठिकाना नहीं है। उसने कितने युवती और विधवाओं को निराश्रित किया है, उनके यौवन के साथ खेला है, उसका उपभोग किया है। मीठी बातें करके पाप के गर्त में उनको डाला है इसका कोई ठिकाना नहीं है।”<sup>154</sup>

### 3.2.17 छाई आलुओ र खेल

‘छाई आलुओ र खेल’ उपन्यास संयुक्ता महंती के द्वारा लिखित महत्वपूर्ण उपन्यास है जो जगन्नाथ रथ प्रकाशन से 2011 में प्रकाशित है। इस उपन्यास में बाजारवाद के कारण सामाजिक संबंधों में आयी तिकतता और अजनबीपन को प्रस्तुत किया गया है। यह उन चंद उपन्यासों में से एक है जिसमें बाजारवाद के प्रभावों को स्पष्टता से दिखाया गया है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि भले ही ओड़िशा के छोटे राज्य कटक शहर पर आधारित है पर इस उपन्यास के पात्र पूरे भारत वर्ष के लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। “एक हृदय के समीप खड़ा संबंध पर किसने बाजार निर्मित किया। पराई लड़की बाहर से आई है। वह क्या समझेगी? उस संबंध की अंतरंगता भाई का बहन के प्रति कुछ कर्तव्य होता है, वह अनुभव अब यहाँ नहीं है।”<sup>155</sup> इस उपन्यास की मुख्य पात्र बेला है। गौण पात्र - अनुराधा, निशाकर, तोपू, शोभा, अविनाश, नूतन, उषा बजाज, कैलास, आनंद आदि हैं।

### 3.2.18 ‘धर्मयुद्ध’

‘धर्मयुद्ध’ उपन्यास सातकड़ी होता के द्वारा लिखित उपन्यास है जो 2009 में प्रकाशित है। यह उपन्यास सांप्रदायिकता और दंगों को विषय बनाकर लिखा गया है। इसके मुख्य पृष्ठ पर लेखक यह स्वीकार करते हैं - “धर्म को लेकर सामाजिक विभाजन किया जाता है। राजनेता अपने स्वार्थ की आपूर्ति करते हैं किन्तु धर्मयुद्ध में धर्म का एकत्रीकरण का

<sup>153</sup> जंगली, डॉ.आरती महंत, पृ.सं.-3

<sup>154</sup> जंगली, डॉ.आरती महंत, पृ.सं.-23

<sup>155</sup> छाई आलुओ र खेल, संयुक्ता महंती, पृ. सं.-8

मैंने प्रकाश किया है।<sup>156</sup> एक अन्य उदाहरण है- “दो दिन से ऐसे ही व्यवस्था मंदी चल रहा है बाबू। पता नहीं हिन्दू-मुस्लिम दोनों भाई-भाई की तरह रह रहे थे, उसी मस्जिद के पास किसी एक ने मरे हुए सूअर को डाला क्या पता ... उसी दिन से लड़ाई शुरू ...।”<sup>157</sup> इस उपन्यास के मुख्य पात्र सत्यकाम हैं। गौण पात्र- निकुंज दास, सुनंदा, फादर अब्राहम, श्रीमयी, अर्क पट्टनायक, हुमायूँ कबीर, लक्ष्मी, बीजू पट्टनायक, असीमा, राजा साहेब, शेख अख्तर, अक्षत सानल आदि हैं।

### 3.2.19 पोड़ापोड़ी

वासुदेव सुनानी ओड़िया दलित साहित्य के बहुत प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। आपके द्वारा लिखा गया ‘पोड़ापोड़ी’ उपन्यास ओड़िया दलित साहित्य में विशेष स्थान रखता है। आप कवि के रूप में भी बहुत प्रसिद्ध रहे हैं। आपको ‘बोधहुए भोलो पाइबा मोते जना नहीं’ कविता संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया था। उनके द्वारा लिखी गयी रचनाएँ हैं - ‘अनेक किछी घतिबार अच्छी’, ‘महुलवण’, ‘अस्पृश्य’, ‘करडी घाट’, ‘कालिया उवाय’, ‘वाड़ी कुकुड़ा’, ‘दलित संस्कृतिर इतिहास’, ‘छेडी कथा’, ‘अगणार बतख’, ‘पोड़ा पोड़ी’। उनके द्वारा लिखा गया ‘पोड़ा पोड़ी’ उपन्यास पक्षीघर प्रकाशन, कटक से, 2014 में प्रकाशित है। यह उपन्यास मूलतः ओड़िशा में जातिवादी हिंसा के शिकार हुए दलितों को समर्पित है जिनके घरों को बहु संख्या में जला दिया गया था। यह उपन्यास में घटी घटना पश्चिमी ओड़िशा के वांजीपाली, लाठोर, लकीं आदि गाँवों में घटी घटना को आधार बना कर लिखा गया है। इस उपन्यास में ओड़िशा में स्थित ‘गणा’ अर्थात् दलितों की स्थिति को बहुत सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया गया है। “अपने गाँव के स्थित जाति-प्रथा का शिकार होकर 50 वर्ष पूर्व मकारू को सामाजिक प्रताड़ना ने फेंक दिया था उसे एक अनजान शहर में? अब वही पुरातन अन्धविश्वास के कलंकमय जातिप्रथा ने ही आग लगा कर जला दिया था उसके भाई, बिरादरी, सगे-सम्बन्धियों के घर को।”<sup>158</sup> चित्र कहता है - “अरे ये बातें मुझे भी नहीं मालूम थी कि गलती हमारी ही है। इस बूढ़े उम्र में यह समझ पा रहा हूँ कि ये सारी गलती हमारी ही है। देख! दिल्ली से अनुसूचित जाति के अध्यक्ष आये थे। हमारे सभी के जले घरों को देखा, प्रायः अनेक लोगों के साथ बातचीत की। राज्य सरकार की

<sup>156</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ.सं.- आवरण पृष्ठ से

<sup>157</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ.सं.-88

<sup>158</sup> पोड़ापोड़ी, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.- 211



तरफ से भी अनेक अधिकारी आये थे | उन्होंने कहा कि हम गणा (दलित) हो कर नहीं रह पाए, हर वक्त उच्च जाति का होने के लिए कोशिश करते रहे |”<sup>159</sup>

इस उपन्यास का मुख्य पात्र मकारू और चित्रसेन है (जो मगलू का बेटा है) जो गणा दलित है | मकारू जहाँ अशिक्षित है वहीं चित्रसेन शिक्षित गणा दलित है |

### 3.2.20 सेई सबु दिन

‘सेई सबु दिन’ उपन्यास सहदेव साहु के द्वारा लिखित उपन्यास है | यह उपन्यास सुधा प्रकाशन कटक से 2014 में प्रकाशित है | यह उपन्यास वैश्वीकरण के प्रभाव के फलस्वरूप आए सामाजिक परिवर्तन पर आधारित है | इस उपन्यास में उपन्यासकार यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि किस प्रकार आधुनिक युग की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए किए गए उदारीकरण, निजीकरण तथा वैश्वीकरण जैसी नीति ने आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के अलावा व्यक्ति की चेतना को भी प्रभावित किया है | इस उपन्यास की विशेषता यह है कि उपन्यासकार पात्र का चुनाव आधुनिक व्यवस्था के अनुरूप ही नहीं करते बल्कि आधुनिक समाज के साथ विगत अतीत के पात्रों का तुलनात्मक सामंजस्य भी स्थापित करते हैं | इस उपन्यास में सनातन और लता की प्रेम कथा एक ओर चलती है तो वहीं पुरवी और निरंजन की कथा दूसरी ओर चलती है | सनातन निरंजन का पुत्र है और लता की पुत्री पुरवी है | सनातन और लता एक-दूसरे से प्रेम करते हुए भी एक नहीं हो पाते हैं | लेकिन वहीं वैश्वीकरण के आगमन ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में कड़वाहट पैदा कर दी है अब विवाह जैसे बंधन श्रेयस्कर नहीं हैं | एकल-जीवन तथा सह-जीवन ने पारिवारिक व्यवस्था को चुनौती दी है | यह परिवर्तन पश्चिमीकरण के फलस्वरूप आया है | निरंजन और पुरवी इसके उदाहरण हैं जो एक दूसरे से प्रेम तो करते हैं पर विवाह जैसे बंधन में बंधना नहीं चाहते हैं | पुरवी कहती है -“हम विवाह नहीं करेंगे | निरंजन अपने माँ-बाबूजी को छोड़ नहीं सकते, इसलिए उन्हें यहाँ रहना पड़ेगा | मैं भी यहाँ नहीं रह सकती, मेरा पेशा एवं कैरियर के लिए मुझे जाना होगा | हम अच्छे दोस्त बनकर रहेंगे |”<sup>160</sup>

### 3.2.21 अस्पृश्य

‘अस्पृश्य’ अजय महापात्र के द्वारा लिखा गया दलितों के जीवन पर आधारित उपन्यास है | यह उपन्यास पक्षीघर प्रकाशन से 2015 में प्रकाशित है | उपन्यास के नाम

<sup>159</sup> पोड़ापोड़ी, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.- 196

<sup>160</sup> ‘सेई सबु दिन’, सहदेव साहु, पृ.सं-95

से ही स्पष्ट है कि यह उपन्यास दलित-जीवन पर आधारित है। किन्तु इसे दलित उपन्यास नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें दलित विरोधी दृष्टि को आधार बनाया गया है। दलितों के प्रति संवेदना भी इस उपन्यास में प्रस्तुत की गई है। लेकिन इसमें दलितों को मिलने वाले आरक्षण का विरोध किया गया है तथा सभी को समान दृष्टि से देखने की पहल की गयी है। “अचेतन अवस्था में धराशायी हो कर भी नारद देखते हैं मनुष्यों को, जो मनुष्य अस्पृश्य के लाइन में लग कर पीड़ा महसूस कर रहे हैं, वे भी मुक्ति चाहते हैं केवल मुक्ति, अस्पृश्य की केंचुली से मुक्ति - बनना चाहते हैं मनुष्य केवल मनुष्य।”<sup>161</sup>

साथ ही इस उपन्यास में दलित-चिंतन, अस्मिता और अम्बेडकरवादी दर्शन का अभाव है। उपन्यासकार इस उपन्यास में कभी दलितों का पक्ष लेते तो कभी सवर्णों का। उपन्यासकार सेकुलर दृष्टि अपनाने की कोशिश करते हैं लेकिन उनकी दृष्टि इसके ठीक उलट दिखाई देती है। इस दृष्टि से इसे दलितों के सम्बन्ध में अच्छा उपन्यास नहीं माना जा सकता। ‘अस्पृश्य’ उपन्यास के मुख्य पात्र नारायण (नारद) और भगवान हैं जो पृथ्वी लोक में आकर लोगों का मूल्यांकन करते हैं।

### 3.2.22 ‘ओ एकाकी’

अनिल कुमार पाढ़ी के द्वारा लिखा गया ‘ओ एकाकी’ उपन्यास ओड़िया साहित्य में जिगालो (पुरुष जिस्म फरोशी) को लेकर लिखा गया पहला उपन्यास है। यह उपन्यास ओड़िशा बुक स्टोर द्वारा 2017 में प्रकाशित है। यह उपन्यास टाइम्स ऑफ़ इंडिया ग्रुप की ओड़िया पत्रिका ‘आम समय’ (हमारा समय) में 2008 में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। उपन्यास की भूमिका में डॉ. ममतामयी चौधरी लिखती हैं कि इस उपन्यास को प्रकाशित करवाने के लिए लेखक को बहुत परेशान होना पड़ा था। 2006 में ही उन्होंने यह उपन्यास लिख लिया था। कुछ प्रकाशकों ने इस उपन्यास को पढ़ कर इसकी प्रशंसा तो की लेकिन इसे छापने के लिए वे कुंठाग्रस्त रहे। आगे वह यह भी बताती हैं कि उपन्यासकार अनिल कुमार पाढ़ी को यह उपन्यास लिखने में एक साल की अवधि का समय लगा था। ‘जिगालो’ को लेकर टी. वी. में आये एक क्लिपिंग को देख कर उपन्यासकार ने यह निश्चित किया था कि वे उस विषय पर एक उपन्यास लिखेंगे। यह पुस्तक अनिल जी अपनी पत्नी को समर्पित भी करते हैं। अनिल पाढ़ी उपन्यासकार के साथ-साथ कहानीकार और निबंधकार

<sup>161</sup> अस्पृश्य, अजय महापात्र, पृ.सं.-26

भी हैं | उनके द्वारा लिखे गए चार उपन्यास हैं | जैसे -‘मेघ रात्रि’, ‘सारा रास्ता’, ‘ओ एकाकी’ और ‘धर्मपद’|

साहित्य में शील और अश्लील का कोई अर्थ नहीं होता | इसलिए समाज का प्रत्येक विषय साहित्य का हिस्सा होना स्वाभाविक है | इस उपन्यास का नायक ब्रजसुन्दर है जो पूंजीवाद के अधीनस्थ स्वैच्छा से काम करने वाले कर्मचारी, यौन व्यापारी के चंगुल में फँस जाता है | ब्रजसुन्दर के माध्यम से उपन्यासकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि ऐसे अनेक नौजवान गाँव से शहर रोजगार की तलाश में आते हैं और वे इन देह व्यापारियों के हाथ में पड़ कर ‘जिगालो’ में परिवर्तित हो जाते हैं | ब्रजसुन्दर पुरुष से किस तरह जिगालो में परिवर्तित हो कर उस पेशे में बंध कर मानसिक यातना का शिकार होता है इसका चित्रण इस उपन्यास का मुख्य विषय है | उपन्यास में सेक्स को लेकर लोगों की विभिन्न दृष्टियों को भी प्रस्तुत किया गया है | “मिसेस ब्रिगेन्जा के अनुसार सेक्स केवल एक आह्वान है | एक इच्छा | दूसरी इच्छा की तरह | सुधा के लिए सेक्स आसथेइज्म | क्लाइंट नंबर एक्स 876 के लिए सेक्स यह एक प्रजनन का साधन है | कोई सेक्स को दर्शन के रूप में देखता है तो कोई मानसिकता के रूप में | कोई विज्ञान के रूप देखता है तो कोई आवश्यकता के रूप में | असल में सेक्स है क्या ? इसी प्रश्न में उलझ कर रह जाता है ब्रज सुन्दर |”<sup>162</sup> मनुष्य की जरूरत के आधार पर मनुष्य चीजों को दूसरी तरह देखता है | ब्रज सुन्दर के विभिन्न क्लाइंट के साथ इसका कांसेप्ट भी बदल जाता है | किसी के लिए यह एक जीवन जीने की इच्छा बन जाती है तो किसी के लिए शारीरिक आवश्यकता | यह उपन्यासकार की विशेषता है कि इस उपन्यास में ब्रजसुन्दर के व्यावसायिक पेशे को प्रस्तुत करते हुए उपयोगकर्ता की मानसिकता और समस्याओं का मूल्यांकन भी प्रस्तुत करते हैं |

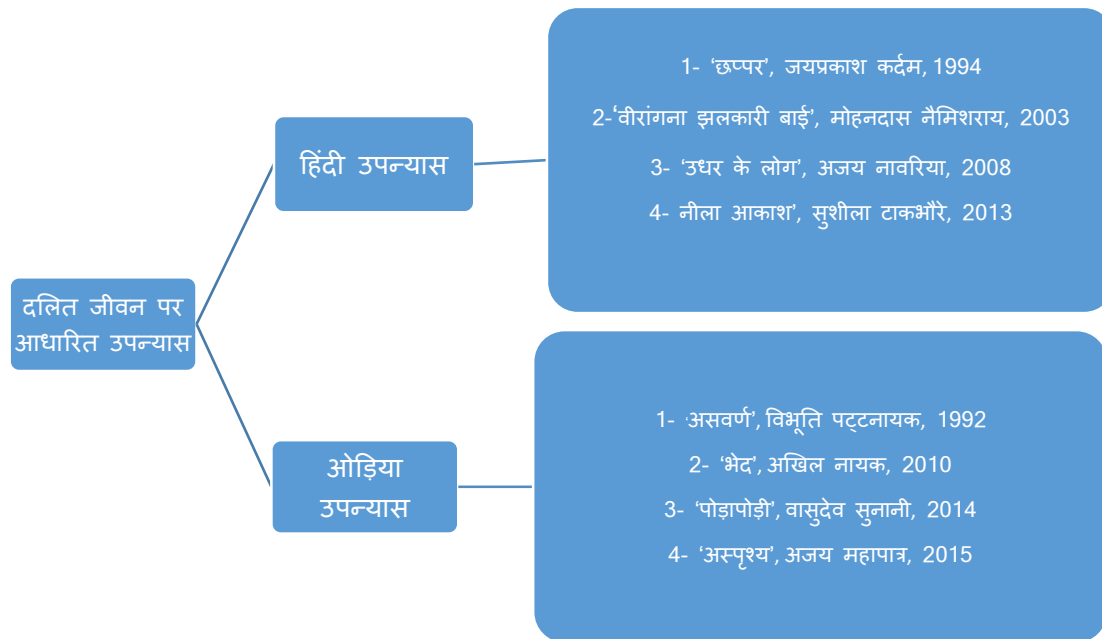
### 3.2.23 चुप युद्ध चालिछी

‘चुप युद्ध चालिछी’ उपन्यास विभूति पट्टनायक के द्वारा लिखित है | यह उपन्यास ‘कथा’ पत्रिका के वार्षिक विशेषांक में 2020 फरवरी में छपा था | यह उपन्यास कश्मीर जीवन और भारतीय सेना के जीवन पर लिखा गया है | “संविधान में 370 धारा जब हटा दिया गया तब जम्मू-कश्मीर के जो स्वतंत्र सुविधा और अधिकार थे, उसका अंत हुआ है | इसके विरुद्ध में हिंसक प्रतिवाद के नेतृत्व लेने के लिए कोई राजनीतिक नेता सामने

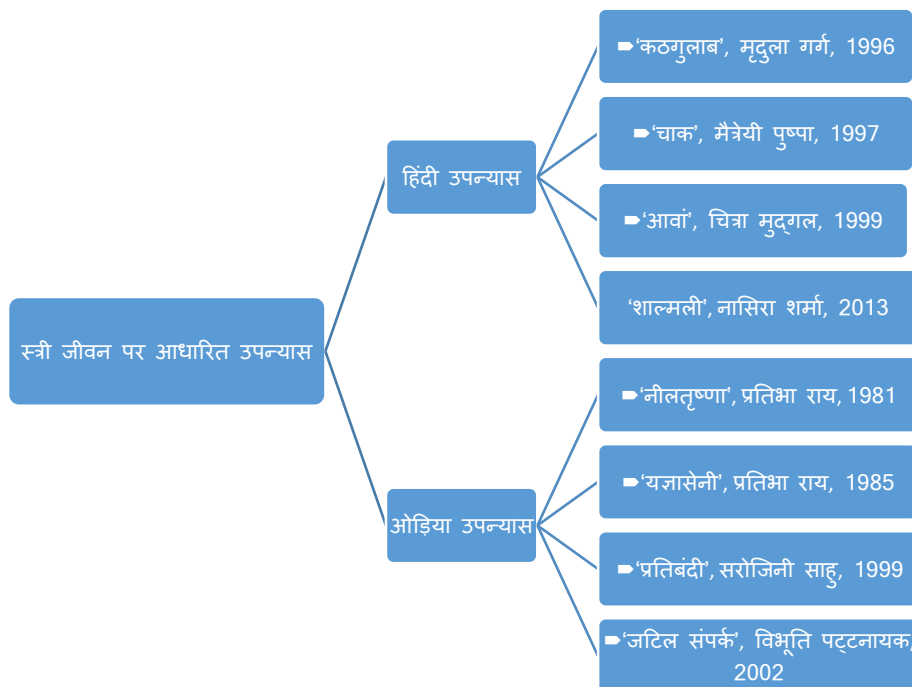
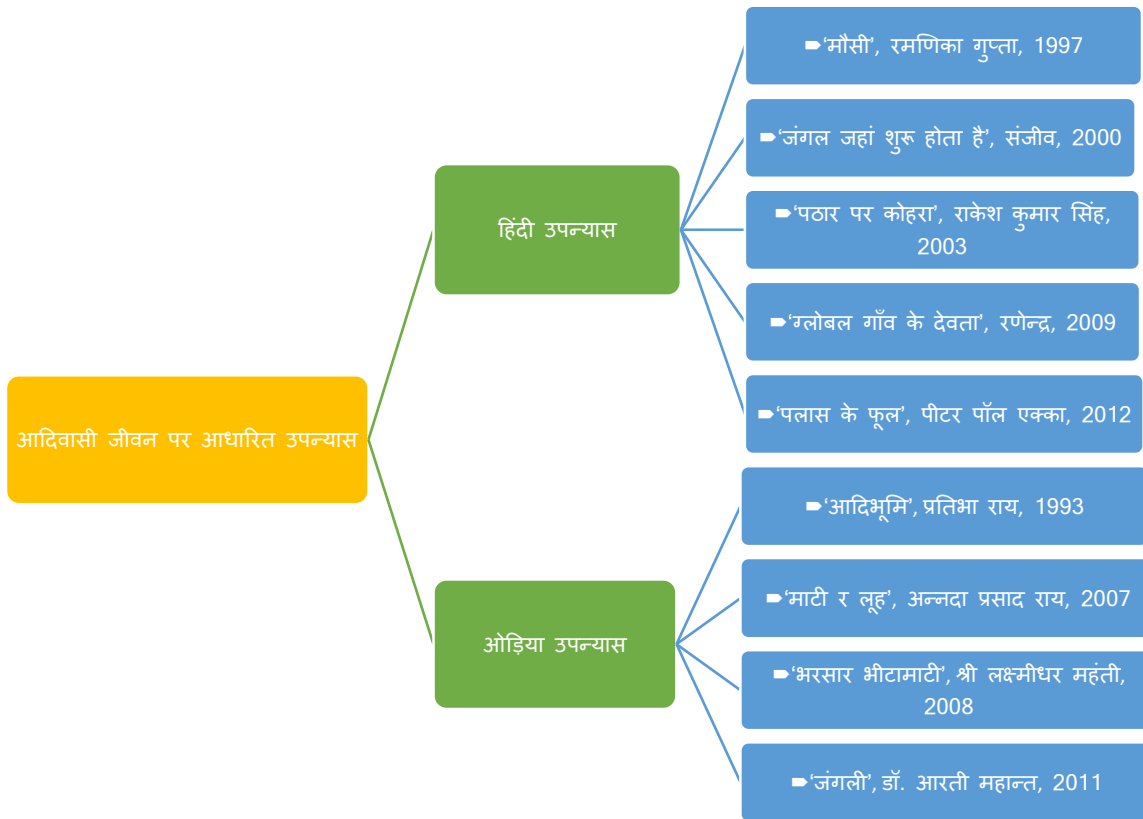
---

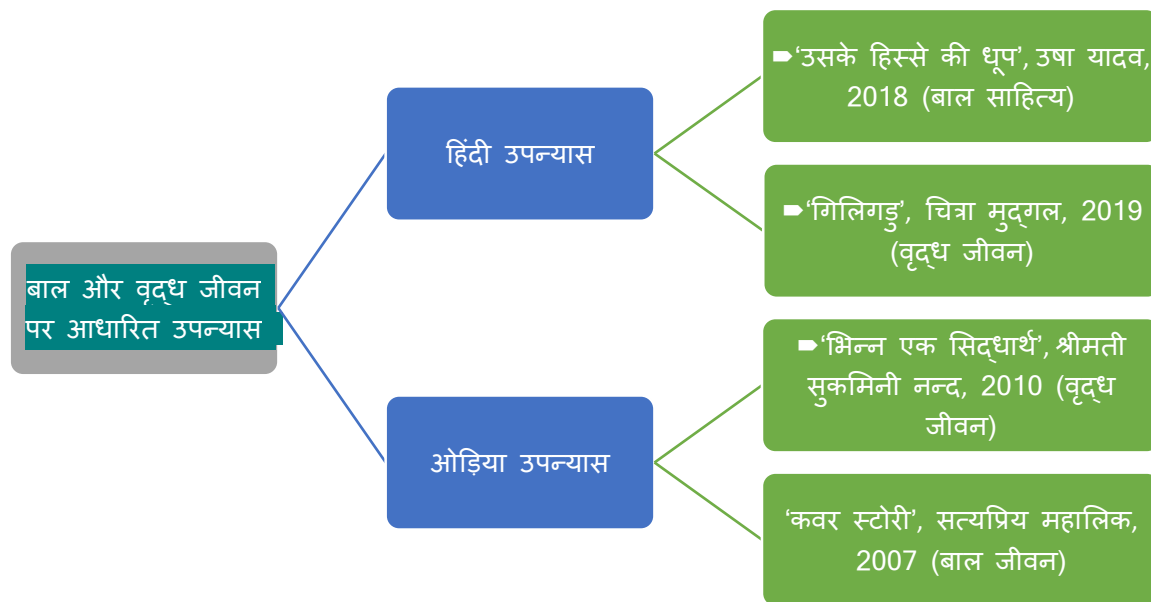
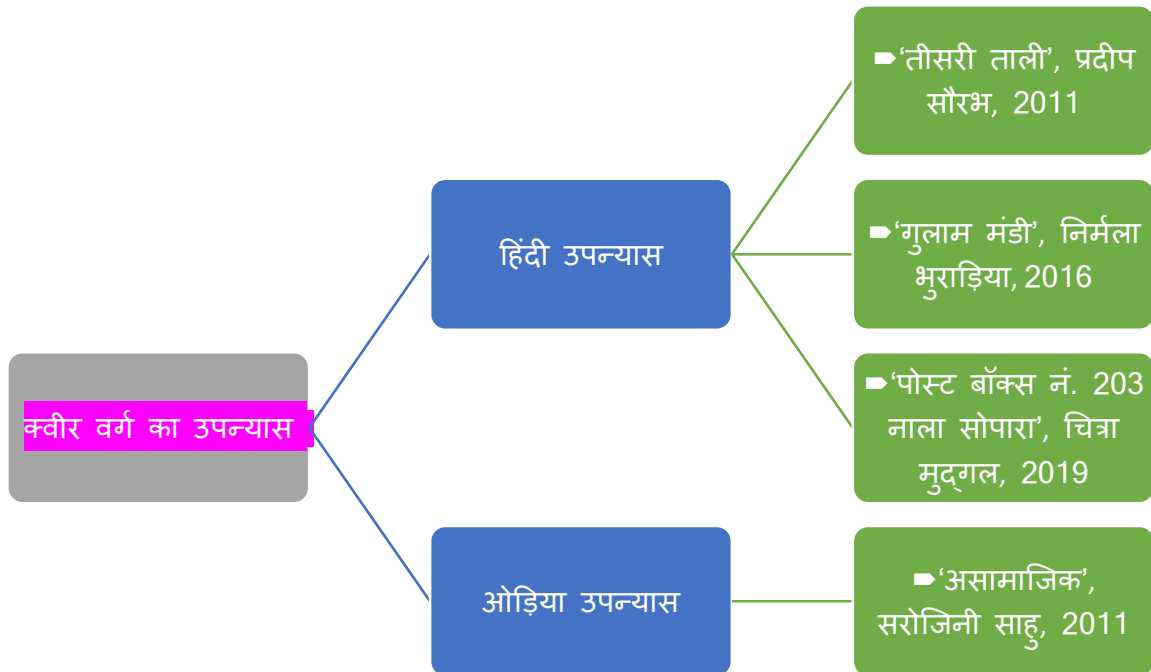
<sup>162</sup> ओ एकाकी, अनिल कुमार पाढ़ी, पृ.सं.- 127

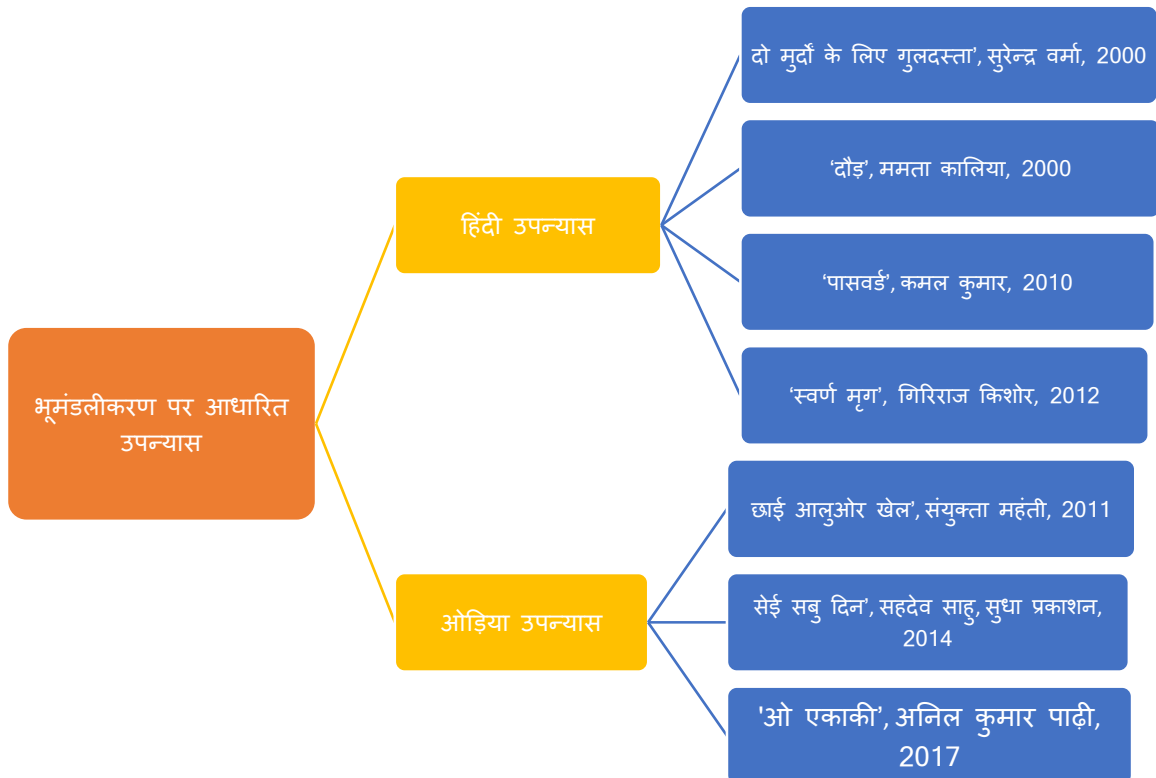
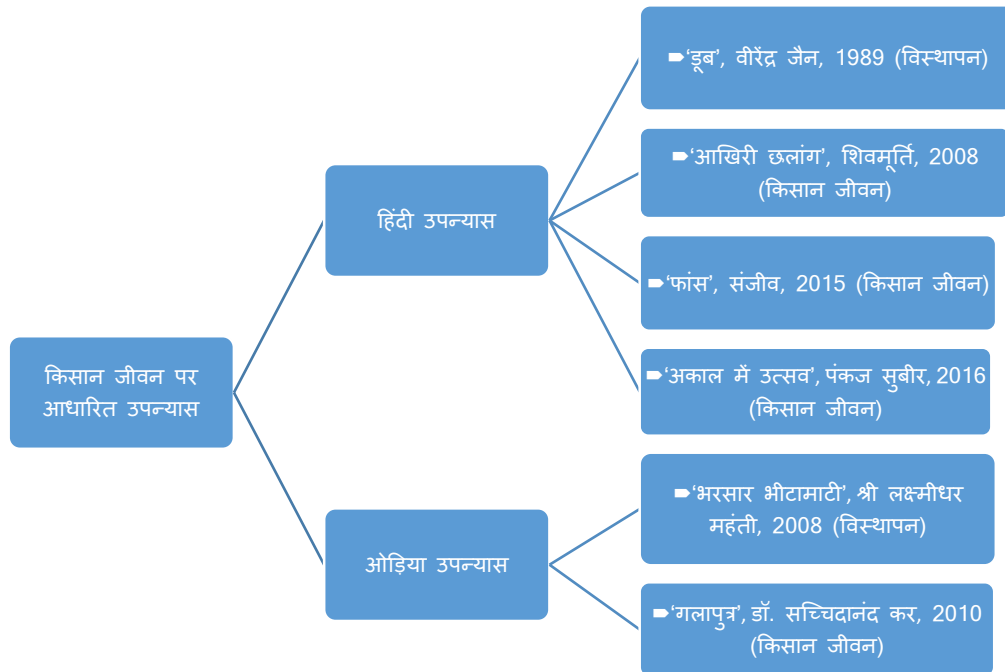
नहीं आया । सभी जेल में बंद बंदी के समान दुबके रहे, किन्तु सीमांत शहर उरी में पाकिस्तानी आतंकवादियों द्वारा हिन्दुस्तानी जवानों पर आक्रमण की आशंका के कारण दिन भर 144 धारा एवं रात में कर्फ्यू जारी रखा गया । कोई भी अगर कानून का विरोध करे तो जवानों को गोली मारने तक का कड़ा निर्देश दिया गया ।”<sup>163</sup> इस उपन्यास का मुख्य पात्र पत्रकार अभय है । गौण पात्र - मनोरमा, अक्षय नायक, वन्या, राय साहब, अनन्या, रघु ठाकुर अरविन्द सामंतराय, अरुणा, बारमुल्ला, वानी, मूसा आदि हैं । निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी और ओड़िया के (सन् 1980 के बाद) चयनित उपन्यासों में देशजता, स्थानीयता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वर प्रबल हुआ है । इसमें समस्याओं को जन-केंद्रित करके विवेकशील दृष्टिकोण अपनाया गया है । मानवतावाद सभी उपन्यासों के मूल में है । हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासकार वैश्विक सजगता के साथ जुड़कर रचनाएं लिख रहे हैं । इन रचनाओं में ‘समस्या’ और ‘मुद्दे’ प्रधान दृष्टिकोण नजर आता है । इसके साथ ही संवेदनशील दृष्टिकोण भी ।

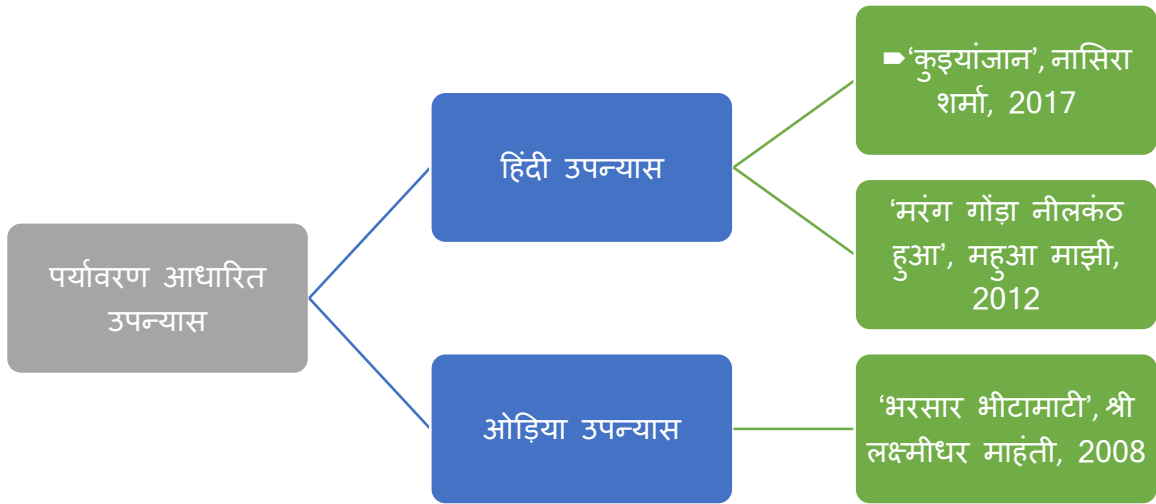


<sup>163</sup> चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, पृ. सं.- 50

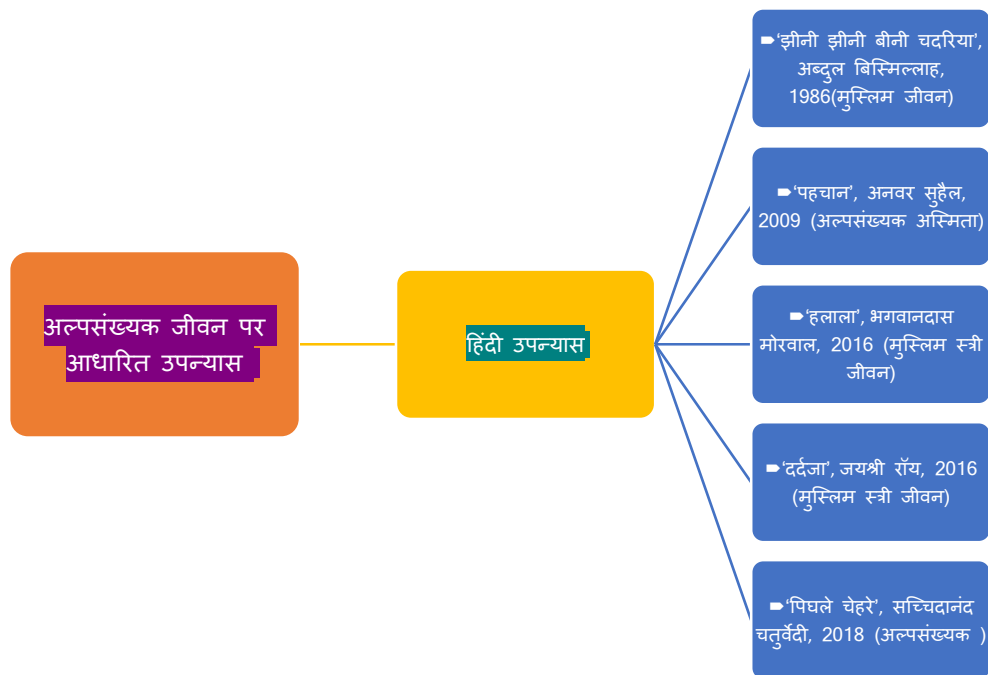
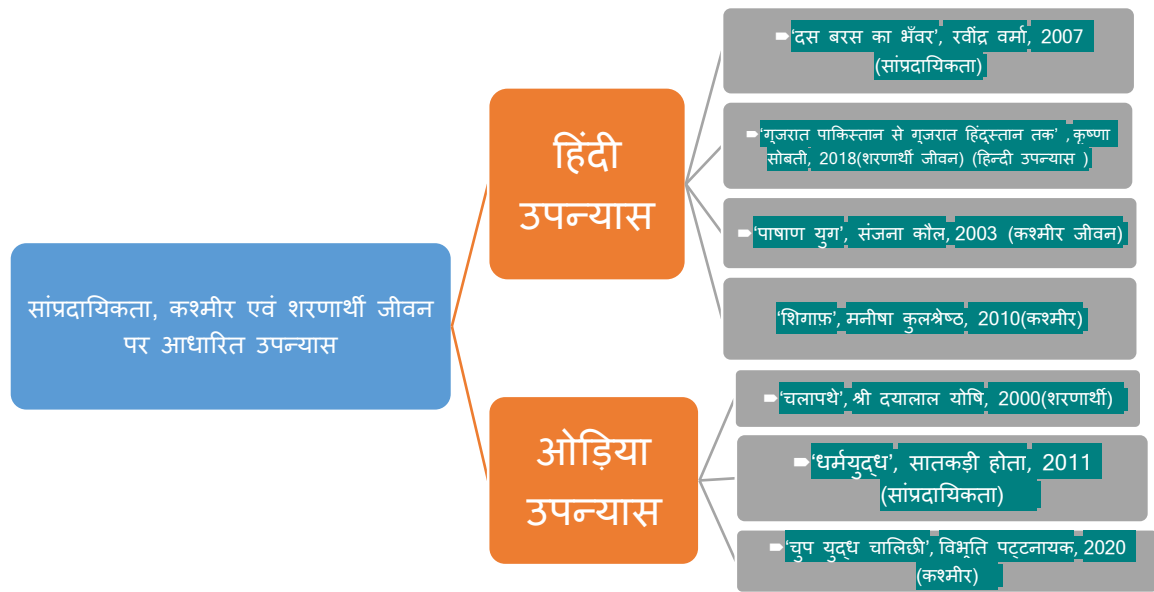












## चतुर्थ अध्याय

### हिन्दी और ओड़िया के चयनित उपन्यासों में आदिवासी और दलित जीवन

#### 4.1 आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास

##### 4.1.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

##### 4.1.2 विवेच्य उपन्यास

#### 4.2 दलित जीवन पर आधारित उपन्यास

##### 4.2.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

##### 4.2.2 विवेच्य उपन्यास

सन् 1980 के बाद हिंदी और ओड़िया के उपन्यासों में साम्यपरक विशेषताएँ तलाशने से पूर्व यह जानना हमारे लिए आवश्यक है कि क्यों 80 और उसके बाद का दौर उपन्यास जगत का स्वर्ण युग है। यह दौर उपन्यास जगत के लिए इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसी दौर के बाद उपन्यास विधा में विमर्शों का विशाल और व्यापक साहित्य लिखा गया। विमर्श का गहरा साहित्य उपन्यास विधा में लिखा जाना उपन्यास की केन्द्रीयता और समाज में उपन्यासों के प्रति बढ़ते रुझान को स्पष्ट करता है। यह वही दौर रहा जब केवल हिंदी में ही नहीं बल्कि भारतीय भाषाओं में उपन्यास की प्रधानता सिद्ध हुई। इस दौर में उपन्यास विधा के अग्रसर होने के पीछे कई महत्वपूर्ण आलोचकों और प्रकाशकों की भूमिका रही। प्रतिवर्ष उपन्यासों की संख्या इतनी बढ़ती गयी कि जिसका आकलन और मूल्यांकन करना समीक्षकों के लिए संकट पैदा करता रहा है। इस दौर में आलोचकों ने उपन्यासों में भी श्रेष्ठ उपन्यासों का मूल्यांकन कर पाठक को क्लासिक उपन्यासों से परिचित करवाया। कहने का तात्पर्य यही है कि समाज में आये परिवर्तन और अस्मिता मूलक विमर्शों ने हिंदी उपन्यास विधा को नयी गति प्रदान की। आज के दौर में हिंदी उपन्यासों का फलक काफी विस्तृत और बहुआयामी रहा है। विषयवस्तु के साथ-साथ शिल्प में भी नए परिवर्तन और प्रयोग देखे जा रहे हैं।

इस अध्याय के अंतर्गत इसलिए मैंने 80 और उसके बाद के दौर को आधार बनाते हुए हिंदी और ओड़िया उपन्यासों का मूल्यांकन कर एक तुलनात्मक खाका प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

#### 4.1 आदिवासी-जीवन पर आधारित उपन्यास

इस अध्याय के अंतर्गत उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियों में से जातीय और प्रजातीय आधार पर ही बात की जाएगी। जातीय आधार से आशय जातिगत भेदभाव पर लिखित उपन्यासों से है जिसमें हिन्दी साहित्य में लिखित दलित जीवन संबंधी उपन्यासों को लिया गया है। वहीं प्रजातीय आधार से आशय है साहित्य में स्थित नस्लीय भेदभाव के आधार पर लिखित आदिवासी साहित्य से। ये दो वर्ग ऐसे वर्ग हैं जिन पर 80 के दशक के बाद भारतीय साहित्य में गंभीर चर्चाएं होने के साथ इससे संबंधित विपुल साहित्य भी लिखा गया है। इसका कारण सदियों से इनके प्रति उपेक्षा के भाव का जोर पकड़ना भी रहा है। यह दौर अस्मितावादी दौर रहा है जिसमें ऐसे साहित्य का लिखा जाना इस दौर की प्रगतिशील चेतना को प्रस्तुत करता है। साथ ही यह दौर अपनी अस्मिता को सदियों से तलाशते उपेक्षित वर्ग की आवाज बन कर उभरता है जिसकी काफी सराहना की गई है। यह स्थिति लगभग सभी भारतीय साहित्य की रही है। इसलिए दलित और आदिवासी संबंधी लेखन को देखते हुए इस काल की दो प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में इसे देखा जा सकता है।

##### 4.1.1 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

भारतीय भाषाओं में आदिवासी जीवन सम्बन्धी उपन्यास बीसवीं सदी के प्रारंभिक दौर से लिखे जाने लगे। हिंदी और ओड़िया में भी यह परम्परा बीसवीं सदी से ही प्रारंभ हो गयी थी। इस सम्बन्ध में आलोचक रमेशचन्द्र मीणा और स्व. प्रो. दिनेश्वर प्रसाद, रामचीज सिंह 'वल्लभ' द्वारा लिखित 'वन विहंगिनी' (1909) को हिंदी का प्रथम आदिवासी उपन्यास मानते हैं। इस उपन्यास की कथावस्तु संथाल परगना के आदिवासियों पर आधारित है। ओड़िया भाषा में भी आदिवासी उपन्यास 'भीमाभूयाँ' सर्वप्रथम 1908 में लिखा जाता है। यह उपन्यास गोपालवल्लभ दास के द्वारा लिखा गया। यह उपन्यास भूयाँ जनजाति पर आधारित है, जिसमें उनकी जीवन-चर्या, सामाजिक-परंपरा, संस्कृति आदि को चित्रित किया गया है। यहीं से हिंदी और ओड़िया भाषा में आदिवासी उपन्यास लेखन की शुरुआत होती है। इसी क्रम में हिंदी में रामानंद शर्मा का 'कोरा कुमारी'; योगेन्द्र नाथ सिन्हा का 'वन लक्ष्मी', 'वन के मन में'; फणीश्वर नाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल'; वृन्दावन लाल वर्मा का 'कचनार'; देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिए'; रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ', 'धरती मेरा घर'; राजेंद्र अवस्थी का 'जंगल के फूल', 'सूरज किरण की छाँव' आदि

उपन्यास प्रकाशित हुए। ओड़िया भाषा में इस दौर में गोपीनाथ महंती आदिवासियों के जीवन को आधार बनाते हुए उपन्यास लिखते हैं। उनका 'अमृतर संतान' (1947) (कंध जनजाति), 'दादी बूढ़ा' (परजा जनजाति के संघर्षमय जीवन पर) (1944), 'परजा' (परजा जनजाति) (1945), 'अनाम' (कंध जनजाति), 'शिव भाई' (कंध जनजाति की जीवन शैली के साथ भूदान आन्दोलन का चित्रण) (1955), 'अपहंच' (अपहूँच) (कंध जनजाति) (1961) आदि उपन्यास ओड़िशा में स्थित विभिन्न आदिवासी समाजों की जिजीविषा से हमें परिचित करवाते हैं। केदार प्रसाद मीणा 'आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति' पुस्तक में गोपीनाथ महंती के सम्बन्ध में लिखते हैं - "लेकिन इतना बताना जरूरी है कि उड़िया के उपन्यासकार गोपीनाथ महंती से बढ़कर आदिवासी जीवन पर किसी और उपन्यासकार ने नहीं लिखा है। इनके उपन्यासों को डॉ. वीर भारत तलवार ने हार्वर्ड फास्ट के उपन्यास 'द लास्ट फ्रंटियर' के बराबर माना है।"<sup>164</sup> रणेंद्र भी लिखते हैं - "गोपीनाथ महंती और महाश्वेता देवी जैसा लगाव, जुनून और एकात्मता इस दौर के आदिवासी विषयक उपन्यासों में नहीं दिखता।"<sup>165</sup> इस तरह देखें तो गोपीनाथ महंती की महत्ता केवल ओड़िया भाषा के उपन्यासकार के रूप में न होकर भारतीय श्रेष्ठ आदिवासी उपन्यासकार के रूप में हुई। उनके द्वारा लिखे गये आदिवासी जीवन सम्बन्धी उपन्यास, उस दौर के उपन्यासों में 'मील का पत्थर' साबित होते हैं। जिसकी सराहना हिंदी साहित्य के आलोचक भी करते हैं। 80 के दौर तक हिंदी और ओड़िया उपन्यासों के विकास के पैमाने को दिखाकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि दोनों भाषाओं में लगभग आदिवासी उपन्यास एक ही दौर से प्रारंभ हुए। साथ ही इसके द्वारा यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि दोनों भाषाओं का आदिवासी सम्बन्धी उपन्यास कितना समृद्ध रहा। यहाँ एक चीज़ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 80 के दशक से पूर्व हिंदी और ओड़िया दोनों भाषाओं में आदिवासी अस्मिता मूलक विमर्श के स्वर को महत्व नहीं दिया गया था। डॉ. वीरभारत तलवार ने 'तद्भव' -34 (2016) में 'आदिवासी और आदिवासी साहित्य की अवधारणा' शीर्षक लेख में आदिवासी सम्बन्धी साहित्य की जो श्रेणियाँ बनाई हैं उसे आदिवासी उपन्यास के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है- 1. प्रथम श्रेणी में वे आदिवासी लेखक या उपन्यासकार

<sup>164</sup> आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, केदार प्रसाद मीणा, पृ.सं.-53

<sup>165</sup> आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, सं.-अनुज लुगुन, पृ.सं.-86

आते हैं जो आदिवासियों के सम्बन्ध में सतही जानकारी रखते हैं | उनके सम्बन्ध में उनका पूर्वाग्रह ही काम करता है |

2. दूसरे श्रेणी के अंतर्गत वे उपन्यास आते हैं जो आदिवासियों पर लिखा गया | इसमें मूल रूप से उनकी बाहरी जीवन की समस्याओं और आदिवासी जीवन शैली को आधार बनाया गया | एक तरह से इन उपन्यासों में बाहरी दृष्टि से ही आदिवासी समाज पर लिखा गया है |

3. तीसरे श्रेणी के अंतर्गत वे उपन्यास आते हैं जिन्हें गहन शोध करके लिखा गया है | इसमें ऐसे उपन्यास महत्वपूर्ण हैं जिन्हें आदिवासियों के परिवेश में रह कर लिखा गया |

4. इस श्रेणी के अंतर्गत वे उपन्यास आते हैं, जो आदिवासियों के द्वारा लिखा गया | जिसमें आदिवासियों की समस्या को सजीवता से प्रस्तुत किया गया है |

ऊपर के तीन तरह की श्रेणी मूलतः 80 के दशक से पूर्व लिखे गए, दोनों भाषाओं के उपन्यासों की रही है | 80 के बाद का दौर आदिवासी उपन्यास के क्षेत्र में नए परिवर्तन के साथ प्रस्तुत होता है | 90 के दशक में उपन्यासों में उदारवाद, बाजारवाद और भूमंडलीकरण के उभार के कारण आये आदिवासी जीवनचर्या पर प्रभाव को आधार बनाया गया | भारत में आई नयी आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण प्रक्रिया को अधिक बढ़ावा दिया जिसके फल स्वरूप विमर्श का पहलू प्रमुखता से उभरा | यह दौर आदिवासी उपन्यास जगत में इसलिए महत्वपूर्ण बना क्योंकि इस समय आदिवासी वर्ग स्वतः अस्मिता और पहचान के प्रश्न को लेकर सजग होता है | आलोचक हरिराम मीणा लिखते हैं -“इस दौर में आदिवासी समाज मुख्य धारा के समाज के अन्य वर्गों की तुलना में भौतिक स्तर पर कितना ही अभावग्रस्त व पिछड़ा रहा हो लेकिन सांस्कृतिक स्तर पर वह अपनी परम्परागत धरोहर को संजोये व संरक्षित किये रहा | इसलिए आदिवासी अस्मिता का यह दौर सबसे महत्वपूर्ण दौर कहा जा सकता है |”<sup>166</sup>

इस दौर में एक ओर जहाँ विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीन छिनी जाने लगी दूसरी ओर उनके अंचलों में बाहरी सत्ताओं की घुसपैठ भी बढ़ती गयी | “स्थानीय स्तर पर आदिवासियों की अपनी प्रशासनिक व्यवस्था थी जो कहीं से भी कभी भी अलोकतांत्रिक नहीं रही है, लेकिन लोकतंत्र के विकेंद्रीकरण के नाम पर आदिवासियों की उन संस्थाओं को

---

<sup>166</sup> आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ. सं-173

ध्वस्त कर दिया गया गद्यादय इस तरह की व्यवस्था ने आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासी सुरक्षा अधिनियमों के होते हुए भी बहुत तेजी से गैर आदिवासियों को कानूनी व्यवस्था देकर प्रवेश कराया | यह प्रवेश इसलिए चिंताजनक साबित हुआ क्योंकि इसने फिर से आदिवासी समाज को शोषण के नए दौर में धकेल दिया |<sup>167</sup> इस तरह आदिवासी दोहरे शोषण का शिकार होते गए | सबसे बड़ी समस्या उनके समक्ष यह रही कि उनके भूमि अधिग्रहण तो किये गए लेकिन उनका पुनर्वास करने की योजना सफल रूप से नहीं बनाई गयी | उन्हें ऐसे कॉलोनी में बसाया गया जहाँ जमीन बंजर थी और वह अंचल प्राकृतिक सम्पदा से भी भरापूरा नहीं रहा | एक तरह से उनकी आजीविका छीन ली गयी साथ ही उनकी जीवन शैली को भी बदलने का प्रयास किया गया | जिससे उनकी जीवन-शैली बाधित हुई | ऐसी नीतियों के नाम पर उनके साथ छल किया गया जिससे उनका पूरा समुदाय प्रभावित हुआ | अनुज लुगुन इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि -“आदिवासियों के विकास के लिए खाका तैयार करते समय उनके सम्पूर्ण मनोविज्ञान का अध्ययन नहीं किया गया |”<sup>168</sup> इन विकास की नीतियों से जब आदिवासी समाज सहमत नहीं हुआ तब उन्हें नक्सली की संज्ञा दी गयी | वैश्वीकरण के बढ़ते वर्चस्व ने उनके बाहरी जीवन को तो प्रभावित किया ही साथ ही आंतरिक जीवन भी इससे बहुत ज्यादा प्रभावित हुआ | दिक्कतों के संस्पर्श में आकर उनकी संस्कृतियों में भी घालमेल शुरू हो गयी | कई आदिवासी समुदाय ऐसे भी रहे जिन्होंने अपने परंपरागत संस्कृतियों में परिवर्तन को तो स्वीकारा उससे प्रभावित हो कर अपना नाम भी परिवर्तन कर दिया | जो नाम कभी उनके अस्तित्व का एक अंग हुआ करता था अब उस पर भी गहराता संकट दिखने लगा था | साथ ही धर्मांतरण की प्रक्रिया ने भी आदिवासी अस्मिता को बहुत गहरे रूप में प्रभावित किया है | उनकी संख्या अब नाम मात्र की रह गयी है | वैश्वीकरण ने सबसे ज्यादा आंचलिक संस्कृतियों को प्रभावित किया | यह दौर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का है जिसमें स्वदेशी-संस्कृति को लील ने की होड़ लगी है ऐसे में आदिवासी समुदाय के समक्ष भी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का संकट उभरकर आता है | हरिराम मीणा आदिवासी अस्मिता के सवाल को राजनीतिक आधार पर भी देखने का प्रयास करते हैं “आदिवासी अस्मिता के मुद्दे को वर्तमान लोकतंत्र में राजनीति के स्तर पर भी देखा जाना चाहिए | प्रश्न यह है कि संसदीय प्रणाली में जो राजनेता

<sup>167</sup> आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, सं.-अनुज लुगुन, भूमिका -xi

<sup>168</sup> आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, सं.-अनुज लुगुन, भूमिका -xi

आदिवासी अंचलों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं वे आदिवासी अस्मिता को लेकर कितने चिंतित हैं | परम्परागत रूप से आदिवासियों की एक विशेष प्रकार की राजनैतिक प्रणाली रही है जो पंचायत व स्वायत्तता पर आधारित रही है | यह व्यवस्था व स्वायत्तता आदिवासी अस्मिता के लिए महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए |”<sup>169</sup> आदिवासी भाषाएँ भी दिन-प्रतिदिन मरती जा रही है अर्थात् उसको बोलने वालों की संख्या दिन-ब-दिन कम हो रही है | अतः 80 के बाद से अद्यतन आदिवासी उपन्यासों में इन्हीं विषयों पर विशेष रूप से जोर दिया जाने लगा है | साथ ही इस दौर के आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी समाज का दर्शन जिसमें प्रकृति-प्रेम और प्रकृति के संरक्षण का सवाल प्राथमिकता से उभरता है | 80 के बाद हिंदी में आदिवासी जीवन को विषय बनाकर लिखने वाले उपन्यासकार हैं -संजीव, राकेश कुमार सिंह, रणेंद्र, महुआ माजी, पुन्नी सिंह, तेजिंदर, मैत्रेयी पुष्पा, पीटर पॉल एक्का, हरिराम मीणा, मनमोहन पाठक आदि | इस दौर के प्रमुख उपन्यास हैं ‘धूणी तपे तीर’ (हरिराम मीणा); ‘पलास के फूल’, ‘जंगल के गीत’, ‘मौन घाटी’ (पीटर पॉल एक्का); ‘सावधान नीचे आग है’, ‘पाँव तले की दूब’, ‘धार’(संजीव); ‘पठार पर कोहरा’, ‘हुल पहाड़िया’, ‘जो इतिहास में नहीं है’ (राकेश कुमार सिंह), ‘रेत’ (भगवान दास मोरवाल), ‘मरंग गोडा नीलकंठ हुआ’ (महुआ माजी); ‘काला पादरी’ (तेजिंदर); ‘ग्लोबल गाँव के देवता’, ‘गायब होता देश’ (रणेंद्र), ‘अल्मा कबूतरी’ (मैत्रेयी पुष्पा) आदि।

ओड़िया आदिवासी उपन्यासों में गोपीनाथ मोहंती के बाद व्यापक साहित्य दिखाई देता है | उनकी इसी परम्परा में 80 के दशक के बाद ऐसे अनेक आदिवासी उपन्यास लिखे गए जो महत्वपूर्ण हैं | आदिवासियों के जीवन शैली पर 80 के बाद महत्वपूर्ण रचनाकारों में अन्नदा प्रसाद राय, श्री लक्ष्मी महंती, तरुण कान्ति मिश्र, प्रतिभा राय आते हैं | इस दौर में आदिवासी ओड़िया उपन्यास हैं-‘जंगली’ (आरती महान्त), ‘माटी र लुह’ (अन्नदा प्रसाद राय), ‘भरोसा र भिटा माटी’ (श्री लक्ष्मी महंती), ‘काइका लेली’ (कंध समाज का चित्रण) (1959) - (कान्हूचरण); (परशुराम मुंडा) ‘मूलिया पीला’ (कंध जनजाति), ‘वसुंधरा माटी’ (कंध जनजाति); (नारायण महापात्र) ‘कड़े गोमांगो’, ‘कहानी : सबुज उपत्याका र’; (गोविंद दास) - ‘लासू’ (कंध जीवन पर); अनादी साहू - ‘मूँड मेखला’; भगीरथी नेपाक -‘राउलकेला र रात्री’; ज्ञानीन्द्र वर्मा- ‘अरण्य र कुंजझटिका’; बलराम मिश्र ‘डूम्बा’; तरुण कान्ति मिश्र -

<sup>169</sup> आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, पृ.सं-176



‘शरदः शतम’ (भूमिआ संप्रदाय) और प्रतिभा राय का ‘आदिभूमि’ आते हैं। इस तरह यह देखा जा सकता है ओड़िया आदिवासी उपन्यास प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आदिवासी उपन्यास में आदिवासी समुदाय के द्वारा लिखित आदिवासी उपन्यासों की कमी रही है। ओड़िशा आदिवासी बहुल इलाका रहा है, यहाँ आदिवासियों की 62 जनजातियाँ रहती हैं।

हिंदी और ओड़िया के उपन्यासों में साम्य मूलक प्रवृत्ति का अध्ययन करते हुए आदिवासी सम्बन्धी उपन्यासों में मैंने हिंदी और ओड़िया के कुछ उपन्यासों को आधार बनाया है वे निम्नलिखित हैं -

#### हिंदी भाषा के उपन्यास

जंगल जहाँ शुरू होता है  
पठार पर कोहरा  
ग्लोबल गाँव के देवता  
मौसी  
पलास के फूल

#### ओड़िया भाषा के उपन्यास

माटी र लुह  
भरोसा र भिडामाटी  
जंगली  
आदिभूमि

इस कालावधि के हिंदी और ओड़िया उपन्यासों के अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि दोनों भाषाओं में आदिवासी जीवन सम्बन्धी उपन्यासों की एक मुख्य प्रवृत्ति रही। हिंदी में उपरोक्त दिए चार उपन्यास हिंदी के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। हिंदी में लिए गए चार उपन्यासों में ‘मौसी’ उपन्यास को इसलिए आधार बनाया गया जिससे आदिवासी स्त्री सम्बन्धी पहलू उपेक्षित न रह जाए।

### 4.1.2 विवेच्य उपन्यास

‘पलास के फूल’(1982) उपन्यास में अंग्रेजों के जाने के बाद सरकार की विकास नीतियों के नाम पर आदिवासियों की प्राकृतिक सम्पदा का अधिग्रहण का चित्रण हुआ है। विकास अगर समावेशी न हो तो उसकी सार्थकता और औचित्य पर सवाल खड़ा होना स्वाभाविक है। सरकार विकास के नाम पर आदिवासियों की भूमि अधिग्रहण कर रही है। वे दो तरफ से प्रताड़ित हो रहे हैं। एक ओर वे प्रताड़ित हैं- दि कुओं के शोषण से, तो दूसरी

और प्रताड़ना सरकार दे रही है | उन्हें तो मुआवजे के नाम पर लूटा और ठगा भी जा रहा है | उनके लिए जो भी सरकारी योजनाएँ बनाई जा रही हैं, वह तो ज्यादातर कागजों में ही सिमट कर रह जाती हैं | साथ ही कुछ योजनाओं की रकम जो मिलती है वह भी एक चौथाई भाग ही कहा जा सकता है | दलालों के हाथों से गुजरकर उन्हें उतना ही पैसा मिल पाता है जिससे महीना भर का राशन ही खरीदा जा सकता है | बाद में ये योजनाएँ भी दिखावे के साथ खत्म हो जाती हैं और आदिवासी समुदाय भाग्य के भरोसे बैठ असहनीय पीड़ा सहता है | इस उपन्यास में आदिवासी के हाथ किस तरह निराशा ही हाथ लगती है, इसका स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया है | जैसे-“बेहिसाब खदान, कोलियारी खुलेगी | नदियों में पुल बनेंगे | बिजली तैयार होगी, नहरें खुलेंगी | वर्षों की मेहनत से बनी बनाई जमीन डूब जाएगी | मुआवजे के नाम पर दिखावे की रकम मिलेगी | घर-बार छोड़ना होगा | घर के आदमी विस्थापित कर दिए जाएंगे | दूर के इलाके से आये लोगों का राज हो जाएगा | स्थानीय आदिवासी चाय बागानों, ईट-भट्टों की राह लेंगे |”<sup>170</sup>

आदिवासी समुदाय की दशा दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है | वे बंजारे की ज़िन्दगी जीने के लिए मजबूर हो रहे हैं | क्योंकि वे जिन जंगलों और प्राकृतिक स्थल पर अपना घर बना रहे हैं सरकारी योजना उनका पीछा करते हुए वहां तक पहुँच रही है | वे अनेकों जंगलों और स्थानों में विस्थापित हो रहे हैं | सोचने वाली बात यह है कि विकास के नाम पर जितने भी बदलाव किये जा रहे हैं, उस विकास में आदिवासी कहाँ है ? ये आज की व्यवस्था की सबसे बड़ी सच्चाई है | इस उपन्यास का प्रमुख पात्र आनंद बाबू इस क्रूर व्यवस्था की सच्चाई से अवगत कराते हुए कहता है कि -“यह भी नियति का कैसा मजाक है | जिनके लिए इतनी मेहनत से सड़कें, पुल बनवाता रहा, उस पर चलने वाले ही लोग गाँव-घर छोड़ कर बहुत दूर अनदेखी दिशाओं में चले जा रहे हैं | इन आदिवासियों के भाग्य में क्या यही लिखा है | जो बाँध बनते हैं, नहरें खोदी जाती हैं, जो सड़कें बनती हैं, खानें खुलती हैं, वह सब उनके लिए नहीं होता है, औरों के लिए होता है | उनके लिए हमेशा की वही मजूरी है, बेगारी, जंगल के जानवरों की सुबगती निरीह, बेरौनक-सी जिंदगी है |”<sup>171</sup>

आदिवासी समुदाय जल-जंगल और पहाड़ों पर ही पूरी तरह आश्रित है | इसलिए वे जंगल के द्रवों को बेच कर अपना जीविकोपार्जन करते रहे हैं | जिस धरती पर वे बसते

<sup>170</sup> पलास के फूल, पीटर पॉल एक्का, पृ.सं.-59

<sup>171</sup> पलास के फूल, पीटर पॉल एक्का, पृ.सं.-59

हैं, उनके गर्भ में खनिज सम्पदा है और ये खनिज सम्पदा नदियाँ और जंगल में है। अब उनके लिए सरकार ने 'फारेस्ट एक्ट' बना दिया है। इसके तहत वहाँ उनका प्रवेश वर्जित है। यहाँ ये प्रश्न खड़ा होता है कि जिस जंगल की रखवाली आदिवासी समाज कर रहा है, उसी जंगल पर उनका अधिकार क्यों नहीं है? वे प्रकृति को जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि कौन से द्रवों से जंगल को नुकसान होगा। साथ ही वे जंगल में ही अपने अराध्य देव/देवी को देखते हैं, फिर उनके लिए ये पाबंदी क्यों? इससे तो एक बात यह साफ़ हो गयी कि ये नीतियाँ सरकारी स्वार्थ को पूरा करने के लिए बनी हैं, जिसमें आदिवासी कहीं नहीं हैं। इस तरह के कानून के पास होने की वजह से आदिवासियों की आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा है, वे कृषक से मजदूर बन गए हैं। उनकी आर्थिक स्थिति का बेहतर न होना ही उन्हें मजदूरी करने के लिए मजबूर करता रहा है। उन्हें जल, जंगल, जमीन जैसी मूल अधिकारों से वंचित किया जा रहा है विडम्बना यह है कि ये सब उनके विकास या उनकी स्थिति में सुधार के नाम पर हो रहा है।

रमणिका गुप्ता का 'मौसी' उपन्यास आदिवासी स्त्री पर आधारित है। इसमें लेखिका मौसी के जरिये आदिवासी स्त्रियों की सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति को प्रस्तुत करती है। इस उपन्यास के जरिये उपन्यासकार यह स्पष्ट करती हैं कि आदिवासी समाज में पुरुषों की तुलना में नारी अधिक सशक्त और श्रमजीवी है। उसका घर और बाहर दोनों में समान अधिकार है। दिकू समाज में स्त्री स्वतंत्रता के लिए अनेक आन्दोलन किये गए और किये जा रहे हैं लेकिन यहाँ 'स्त्री' पहले से ही स्वतंत्र है। इसका एक कारण यह भी रहा कि यह समाज मातृसत्तात्मक समाज रहा है। इसलिए स्त्री का ज्यादा वर्चस्व रहा है। किन्तु यहाँ स्पष्ट करने वाली बात यह है कि मातृसत्तात्मक समाज होने के कारण भी यहाँ लैंगिक समानताएं हैं, यहाँ पुरुषों का शोषण नहीं है। यहाँ आदिवासी स्त्री-अस्मिता पहले से ही बरकरार रही है। किन्तु प्रश्न अब यहाँ यह खड़ा होता है कि फिर आदिवासी-अस्मिता जैसे प्रश्न क्यों खड़े हुए हैं। यहाँ ये स्पष्ट करना आवश्यक है कि दिकुओं का प्रभाव अब आदिवासियों के समाज पर पड़ रहा है इसलिए उनमें भी तथाकथित सभ्य समाज के कुसंस्कार हावी होते जा रहे हैं। वे भूमंडलीकरण के दौर में दिकुओं के प्रभाव में अपनी संस्कृति, परम्परा को भूल कर मुख्यधारा में शामिल होने की कगार पर है इसलिए उनमें भी आदिवासी संस्कृति के इतर मुख्यधारा की संस्कृति हावी होती जा रही है। जो समाज मातृसत्तात्मक नींव पर आश्रित रहा वही समाज अब पितृसत्तात्मक बनता

जा रहा है। ऐसे में आदिवासी समाज के समक्ष अपने अस्तित्व का संकट उभर रहा है। जिसके कारण स्त्रियों पर धीरे-धीरे अंकुश लगाये जा रहे हैं। लेकिन आदिवासी स्त्रियों में बोलने की स्वतंत्रता के कारण वे इनका विरोध करती हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है -“तो चल, तू और हम दोनों मजूरी करके, खटके खायब ! न तू ठाकुर -न हम मुंडाइन। न तू बड़ जात न हम छोट जात। दोनों मजूर। हम तोर कमाई पर न रहब। हम अपनेई कमायाब। मंजूर हय तो बोला। हम न तोर गाँव में रहब, ना अपन गाँव में।”<sup>172</sup> यह उपन्यास वर्तमान में ‘आदिवासी स्त्री’ के समक्ष आई चुनौतियों को प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार, इस उपन्यास के जरिये यह स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि आदिवासी समाज दिक्कों के प्रभाव में आकर दिक्कों जैसा बर्ताव करने लगा है जिसके फलस्वरूप आदिवासी स्त्रियों के शोषण के पैमाने बदलते जा रहे हैं। पहले पहल आदिवासी स्त्रियाँ बाहरी पुरुषों से शोषित होती रहती थीं लेकिन अब आदिवासी पुरुष भी वह भूमिका निभा रहे हैं। दिक्कों में स्त्रियों के प्रति बंदिशों से प्रभावित आदिवासी पुरुष भी होने लगा है। एक तरह से स्त्रियों को लेकर आदिवासी समाज का खुलापन किस रूप में संकुचित होने लगा है, इसका स्पष्ट निर्देश इस उपन्यास में है।

यह उपन्यास एक तरह से आदिवासी स्त्री की समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए अपनी अस्मिता को बचाए रखने की जद्दोजहद से परिपूर्ण है। इस उपन्यास में एक तरह से आदिवासी अस्मिता को पहचानने की पहल भी है। यह पहल इस उपन्यास की मुख्य पात्र मौसी करती है जो ‘आदिवासी स्त्री अस्मिता’ के प्रश्नों को स्पष्ट करने के साथ-साथ आदिवासी समाज के लोगों को अपनी अस्मिता को जागृत करने की पहल भी करती है। उदाहरण स्वरूप “क्यों छाती पर साँप लोटे लगत है इन सबनी के, मोरा खुशी देखके ? मौलवी साहब से निकाह हुआ, कोइयो नाय बोलते ! ... आइज जब माधो हमर संग रहे खोजे है, तो सब जात-कुजात खोजे लगल है। मियाँ-जात लगता था ? बाबू साहब जात था ? दुसाध क्या आदमी नाय होत है ? मांझी-मुंडा के कौन बाबू लोग छुआ खात हैं, जे अपन के बड़जात मानत हैं ?”<sup>173</sup> मौसी का यह प्रश्न इसलिए प्रासंगिक है क्योंकि आदिवासी समुदाय में शारीरिक संबंधों की कोई जटिलताएँ नहीं थी। जबकि आज के आदिवासी समाज में शारीरिक संबंधों को लेकर समस्याएँ उभर रही हैं जो इस उपन्यास में द्रष्टव्य है।

<sup>172</sup> मौसी, रमणिका गुप्ता, पृ.सं.-84

<sup>173</sup> मौसी, रमणिका गुप्ता, पृ.सं.-9

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ ‘असुर’ जनजाति को आधार बनाकर लिखा गया है । उपन्यासकार इस उपन्यास में असुर जनजाति का इतिहास और उनके शोषण की दास्तान को प्रस्तुत करते हैं । इस उपन्यास में उपन्यासकार यह भी स्पष्ट करते हैं कि भारत देश में आदिवासी आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा रहा है । इसका एक कारण सरकार और कंपनियों का आदिवासियों के प्रति दोहरी दृष्टि और नस्लीय भेद है । इस उपन्यास में यह स्पष्ट किया गया है किस तरह आदिवासी क्षेत्रों में शैक्षिक संस्थान अन्य शैक्षिक संस्थानों से पिछड़े रहे हैं । उनके जीवन मूल्यों को किस प्रकार सरकार और कंपनियाँ नजरंदाज कर रही है साथ ही किस तरह कंपनियों ने मुनाफे की नीतियों को ही प्रश्रय दिया है । आदिवासी अंचलों में बॉक्साइट खनन के बाद कैसे गड्डों को ऐसे ही छोड़ दिया जाता है जिससे बारिश में वहाँ के आदिवासी बहुत गहरे रूप से प्रभावित होते हैं, इस पर चिंता व्यक्त की गयी है । “सबको केवल बॉक्साइट से मतलब है । उसके बाद मिट्टी भरने का खर्च कंपनी को भारी लगने लगता है । चाहे मुनाफा करोड़ों से अरबों की ओर उछलता जा रहा हो, ये लोग पाट क्षेत्र में एक पैसा खर्च करने के लिए तैयार नहीं । दरअसल असली बात यह है कि ये हम लोगों को आदमी में गिनते ही नहीं हैं । अब तक इन खुले खदानों की बरसाती जमे पानी में पल-बढ़कर मच्छरों ने हमारा जीना हराम कर रखा है । हमारे होश में चार दर्जन से ज्यादा नयी उमर के लड़के माथा बुखार-सेरेब्रल मलेरिया से मरे हैं । बूढ़े बुजुर्गों की तो गिनती ही नहीं । हमारे दुःख से इन्हें क्या, इनको तो बस अपने मुनाफे से मतलब है ।”<sup>174</sup> आदिवासी समुदाय आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होने के कारण साहूकार भी उनका शोषण करते हैं । उनका भोला होना, शिक्षित न होना, उनके लिए समस्या उत्पन्न करता है ।

यह उपन्यास मूलतः भूमंडलीकरण के दौर में आई ‘ग्लोबल विलेज’ की अवधारणा की विडंबना को प्रस्तुत करता है । ‘ग्लोबल विलेज’ जैसे विचारों ने विश्व को एक गाँव के रूप में देखने की दृष्टि विकसित की, लेकिन विकास के नाम पर आई इस आंधी ने सबसे ज्यादा आदिवासियों के समक्ष संकट पैदा किया । इस उपन्यास में उपन्यासकार दो कंपनियों जैसे -पहला विदेशी कंपनी वेदांता है और दूसरा टाटा का हवाला दे कर उन्हें ‘देवता’ के उपनाम से विभूषित करते हैं । इन कंपनियों ने आदिवासी समुदाय से उसकी पहचान ही

<sup>174</sup> ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, पृ.सं.- 62

नहीं छिनी बल्कि उसका पेशा तक छिना | असुरों के लोहा गलाने और औजार बनाने के हुनर का अंत कर दिया | उपन्यासकार असुर समुदाय का हवाला देकर भारत के सभी आदिवासियों की समस्या की जड़ को इस उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं | भूमंडलीकरण के प्रेत ने आदिवासी समुदायों से उनकी प्रकृति, पुरखौती जमीन, जंगल, संस्कृति आदि सब कुछ छीन लिया है | यहाँ तक की उनकी जिंदगी पर भी संकट है | जिसकी वजह से अपनी आत्मरक्षा और अस्तित्व रक्षा का प्रश्न उनके लिए महत्वपूर्ण बन गया है | मैनेजर पाण्डेय 'यथार्थ से मिथक बनते एक समुदाय की व्यथा कथा' में लिखते हैं -“आज आदिवासी जिस विकराल संकट का सामना कर रहे हैं उसका मूल कारण है राष्ट्र-राज्य की अपार ताकत और आतंककारी हिंसक प्रवृत्ति |”<sup>175</sup> जिसके केंद्र में भूमंडलीकरण का सिद्धांत काम कर रहा है | “ग्लोबल गाँव का देवता एक ऐसा उपन्यास है जिसमें भारत के विशेष रूप से झारखण्ड के आदिवासी समुदाय का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लम्बे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है |”<sup>176</sup>

‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ थारू जनजाति पर आधारित है | यह उपन्यास मूलतः शोधपरक है जिसमें प्रकृति के गोद में फैले हुए अपराध की जड़ों की तलाश की गयी है | ये अपराध कैसे और किस लिए हुए इसकी पड़ताल करते हुए उपन्यासकार नज़र आते हैं | इस उपन्यास में उपन्यासकार यह स्पष्ट करते हैं कि थारू जनजाति कैसे जंगलों में रहने के बावजूद पीड़ित, शोषित और प्रताड़ित है | उनका शोषण एक तरफ सेठ साहूकार कर रहे हैं दूसरी तरफ पुलिस तो तीसरे तरफ जंगल में बढ़ रहे अपराधी डाकुओं ने भी उनका जीवन दुश्वार कर दिया है | ऐसे में सरकार भी उन सभी से ज्यादा खतरनाक रवैया अख्तियार की हुई है | समाज का रक्षक ही अगर भक्षक बन बैठे तो जनता की दुर्गति क्या होगी ? इस उपन्यास में यह स्पष्ट है | इस उपन्यास में थारूओं की संस्कृति के साथ-साथ इतिहास की भी पड़ताल की गयी है | साथ ही स्त्री शोषण की समस्या जिसके जिम्मेदार साहूकार, डाकू और पुलिस तीनों थे, इसका भी स्पष्ट चित्रण इस उपन्यास में देखा जा सकता है | “हम गरीब नीच जाति की औरतों की क्या इज्जत ? खुला दरवाजा है, जो चाहे मुँह मार ले |”<sup>177</sup> इस उपन्यास में आदिवासी स्त्री की तस्करी जो भारत और नेपाल के बीच होती

<sup>175</sup> नया जानोदय, पृ.सं.- 14

<sup>176</sup> नया जानोदय, पृ.सं.- 13

<sup>177</sup> जंगल जहाँ शुरू होता है, सजीव, पृ.सं.-182

है उसकी भी पोल खुली है | उपन्यासकार इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करते हैं कि डाकुओं के निर्माण में उस क्षेत्र की प्राकृतिक-दशा, भूमि-सुधार का अभाव, ढीला प्रशासन, पोलिटिकल शेल्टर, रोजगार की समस्या, राजनीति और धर्म आदि चीज़ें काम करती हैं | काली सरकारी दुर्नीति को स्पष्ट करता हुआ कुमार से प्रश्न करता है -“गाँव उजार देहलीं | सर्च के नाम पे गाँव-गाँव औरतन के मजा लुटलीं जंगल में मंगल करलीं | अऊर चाहीं का ? एनकाउंटर के नाम पे मरडर कइलीं, आइल रहलीं फिरौती खत्म करे, खुद-ए-वसूले लगलीं फिरौती ! अऊर चाहीं का ?”<sup>178</sup> सत्ता में स्थित राजनीतिज्ञों की भी पोल खोली गयी है जो जनता के सामने हीरो बनने का दावा करते हैं, लेकिन होते कुछ और हैं | सत्ता की गोद में बैठे ये लोग आतंकी और पनाह देने वाले हैं, जिससे जनता और सरकार परिचित है ही, लेकिन उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती | “अगर जोगी, मलारी और काली और श्यामदेव अपराधी हैं तो परशुराम, लल्लन, चन्द्रदीप और मुख्यमंत्री और वो तांत्रिक क्या हैं ? फिर एक के लिए सज़ा, दूसरे के लिए सम्मान - ऐसा क्यों ? जोगी को तुम शूट कर सकते हो मगर परशुराम को नहीं | उलटे उनसे तुम्हें माफ़ी माँगनी पड़ेगी, उस शातिर अपराधी से माफ़ी, जो है तो एक और जोगी ही, मगर चुनाव जीतकर सारे कलंकों से मुक्त हरामजादे का दामाद बन गया है |”<sup>179</sup> इससे यह स्पष्ट है कि प्रशासन की ढील और गैर जरूरी कार्यों ने किस प्रकार लोक तंत्र को लूटतंत्र बना दिया है |

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास की भूमिका में राकेश कुमार जी इस उपन्यास को लिखने के पीछे के कारणों को स्पष्ट करते हैं | आप लिखते हैं -“भारतीय बुद्धिजीवी समाज के जिन लेखकों ने आदिवासी जनजीवन पर लिखा है उसमें अधिकांश ने हर गैर-आदिवासी को खलनायक के रूप में ही चित्रित करने की रूढ़ि का अनुगमन किया है | इस रूढ़िवादी लेखन ने आदिवासी क्षेत्रों के बाहर हर गैर-आदिवासी को ‘दिक्’ (डाकू/ दिक्कत करने वाला बाहरी घुसपैठिया ) के रूप में स्थापित कर एकरस, एकतरफा और एकांगी सोच को विकसित किया है जबकि नए परिप्रेक्ष्य में इस सम्बन्ध को पुनः परिभाषित करने तथा आदिवासी - गैर-आदिवासी के बीच की आदिम खाई को पाटने की फौरी जरूरत है |”<sup>180</sup> इस उपन्यास

<sup>178</sup> जंगल जहाँ शुरू होता है, सजीव, पृ.सं.- 285

<sup>179</sup> जंगल जहाँ शुरू होता है, सजीव, पृ.सं.- 283

<sup>180</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, भूमिका, पृ.सं.-9

में संजीव के माध्यम से अपनी कही गयी बात को उपन्यासकार पूर्ण रूप से परिपुष्ट करते हैं ।

आदिवासी समुदाय खुद को दिक्कतों से अलग और विरोधी के रूप में देखता है । “छोड़ो ... ! हमें पढ़ाओ मत । पढ़-लिखकर लाट-कलट्टर नई बन जाएंगे हमारे छाँड़ा-छाँड़ी । मुंडा तो जन्म से ही मुंडा होता है । पढ़-लिखकर तो मुंडा भी नई रहता । बनासकांठा वालों की तरह दीक् बन जाता है । हमें नई बनना दीक् ... ।”<sup>181</sup> ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में सदियों से दीक् और आदिवासी के बीच बढ़ते खाई का चित्र उपस्थित कर लेखक उसको पाटने की कोशिश संजीव के द्वारा करते हैं । संजीव इस उपन्यास का मुख्य पात्र है जो आदिवासियों की नज़र में दिक् है किन्तु अन्ततः वह यह स्पष्ट करता है कि बाहर से आये सभी व्यक्ति दिक् नहीं हैं । उपन्यासकार इस उपन्यास के जरिये आदिवासियों से आग्रह करते हैं कि कोई बाहरी व्यक्ति दिक् है या नहीं ये फैसला तुम अपनी समझ से लो तथा पढ़ लिख कर कोई व्यक्ति दीक् नहीं बन जाता । इस उपन्यास में एक उदाहरण के माध्यम से यह आग्रह स्पष्ट है -(सोनारा आदिवासी बच्चे से संजीव कहता है ) “कल मैं रहूँ न रहूँ, पर बन्धु ! मेरे बाद कोई संजीदा भी गाँव में आये तो उसे बस कम्युनिस्ट मानकर उससे दूर-दूर मत भागने लगना । कोई कुछ भी तुम्हें समझाए, अपनी समझ पर भरोसा करना ।”<sup>182</sup> इस उपन्यास में उपन्यासकार साहूकारों की शोषक संस्कृति की पोल खोलते हुए भी नज़र आते हैं । इस उपन्यास में यह द्रष्टव्य है कि किस तरह आज भी निर्धन आदिवासी महाजनों के कर्ज में जन्म लेता है और साहूकारों की बेगारी खटते ही मर जाता है । उनका यह उपन्यास शोषक संस्कृति को खत्म करने की पहल है जो कि वह संजीव के द्वारा करवाते हैं ।

यहाँ आदिवासी इलाकों में शिक्षा की दयनीय स्थिति को भी प्रस्तुत किया गया है । किस प्रकार आदिवासी समाज में शिक्षा बस सरकारी कागजों में सिमट कर रही है इसकी भी मुखालफत की गयी है । सरकारी सहायता कैसे उन आदिवासियों तक नहीं पहुँच पा रही है इसके कारणों की भी तलाश इस उपन्यास में की गयी है । “विद्यालयों में आदिवासी बच्चों के लिए निःशुल्क भोजन, वस्त्र और पठन-सामग्री के अलावा आवासीय सुविधाओं का प्रावधान है । संजीव यह बताना चाहते थे कि गजलीठोरी में भी एक विद्यालय है जिसे

<sup>181</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ.सं.-149

<sup>182</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ.सं.- 242



कागज पर से हटाकर जमीन पर उतारा नहीं गया है । जिस विद्यालय के लिए हर महीने जिला कल्याण पदाधिकारी आवश्यक राशि आबंटित करते हैं, वह शिक्षकों, बेचू तिवारी या जंगल सेना की जेबों में जाती रही है । इसी दफ्तर में, इसी जिला कल्याण पदाधिकारी के नाक तले हर माह की आबंटित राशि में से पंद्रह प्रतिशत रकम कमीशन के रूप में काटी जाती रही है ।<sup>183</sup>

जंगल में रह रहे आदिवासियों की जमीन में छिपे बहुमूल्य पदार्थों के कारण उनको बड़े पैमाने पर निर्वासित तो किया ही गया साथ ही जंगलों को भी उजाड़ा गया । जिससे पर्यावरण का दोहन भी ऐसे आदिवासी बहुल इलाके में देखा जा सकता है । लेखक इस उपन्यास में यह स्पष्ट करते हैं जितनी भी विकास की स्थिति हम आदिवासी बहुल इलाकों में देख रहे हैं इसका मुख्य कारण सरकार की जमीन में छिपे संसाधनों को प्राप्त करने की लालसा रही है । “झाड़-झंखाड़ से भरे भूखंड झारखंड में भी अधिकांश रेलपथ या सड़कें आम जनता की सुविधा-असुविधा को ध्यान में रखकर बनी भी नहीं बनी । असल में यातायात के लिए ऐसी सड़कें निर्मित ही नहीं होतीं यदि जादुई जमीन के गर्भ में अकूत संपदा और जमीन के ऊपर धन-ही-धन न बिखरा होता- खनिज अयस्क, कोयला और बेशकीमती वनोपज के रूप में । इस वनप्रान्तर में रेल और सड़क के मरणान्तक दोहन के उन्हीं उद्देश्यों हेतु निर्मित हुई हैं जिन उद्देश्यों की बलि चढ़ते रहे हैं कई और वन !”<sup>184</sup> आदिवासी समुदाय जब पर्यावरण संरक्षण की बात करता है या सरकार को अपनी जमीन देने का विरोध करता है तब उन्हें बर्बर तथा विकास विरोधी की संज्ञा दी जाती है । अतः आजादी के बाद आदिवासियों के कल्याण के लिए ऐसे सैकड़ों योजनाएं बनी हैं जिसका या तो क्रियान्वयन नहीं हुआ या तो वह कागजों तक सिमट कर रह गई और जो हुए भी उनमें आदिवासियों को ध्यान में रख कर योजनाएं ही नहीं बनाई गई । आज तक आदिवासी इसलिए पिछड़ेपन का शिकार रहा है ।

‘माटी र लुह’ उपन्यास की कथावस्तु ओड़िशा के कलिंगघाटी नामक आदिवासी अंचल में शिल्प प्रतिष्ठा के फलस्वरूप हुए नरसंहार से सम्बंधित है । इस नरसंहार में बहुत से आदिवासियों की ज़िंदगियाँ गयीं जिसके फलस्वरूप कलिंग घाटी रक्त रंजित हो गया था ।

<sup>183</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ.सं.-178

<sup>184</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ.सं.-87

इस उपन्यास में इस घटना के जरिये आदिवासी आन्दोलन की परिणति और आन्दोलन को लेकर चलने वाली राजनीति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

इस उपन्यास का केंद्र बिंदु आदिवासी समाज की समस्याएँ हैं । जिससे भारत का प्रत्येक आदिवासी जूझ रहा है । आदिवासियों की समस्याओं की अगर पड़ताल की जाए तो ज्ञात होगा कि यह समस्या अंग्रेजों के आगमन से उपरांत प्रारंभ होती हुई 'आधुनिकता' जैसी चकाचौंध में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई नजर आती है । आधुनिकता ने लोगों को बौद्धिक धरातल पर बहुत विकसित किया है, शिल्प-प्रतिष्ठानों की होड़ इसका सबसे अच्छा उदाहरण है । किन्तु मानसिक और मानवीय धरातल पर व्यक्ति का विचार शून्यता में रूपांतरित हो गया है । आज समाज औद्योगीकरण और बाजारबाद के गिरफ्त में आ गया है । और इसी औद्योगीकरण और बाजारबाद ने लोगों को मशीनों में तब्दील कर दिया है । जिसके फलस्वरूप नरसंहार जैसी अमानवीय क्रिया बढ़ती जा रही है ।

वह सदैव चिंतित इसलिए हैं कि क्या इस चकाचौंध में आदिवासी समाज के लोग भी बहक जाएंगे ? "उनकी संस्कृति, जीवन शैली, सोच, कल्पना आज भी कितने सहज और स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं, उसे वे क्या फेंक पाएंगे ? आधुनिकता के तथाकथित साज-सज्जा में हमारे नाच, गीत और मुक्त मन की स्वच्छन्द जीवनधारा और संस्कृति की महिमा को खोने के लिए वे क्या बाध्य हैं ।"<sup>185</sup> वह यह सोच भी नहीं पा रहा है कि थोड़े से पैसे के लिए लोग अपने देश के भूगोल या अपनी माटी से कैसे छेड़-छाड़ कर सकते हैं ? औद्योगिक क्रांति के बाद से ही इस खनन कार्य को ज्यादा प्रश्रय मिला है । अब शहरों में हर जगह कारखाने बन रहे हैं इसके कारण वायु, जल, ध्वनि आदि प्रदूषित हो रहे हैं । कुछ शहरों में तो साँस लेना तक दुश्वार हो रहा है । वायु वहां इतनी मात्रा में प्रदूषित हो गयी है कि जिससे लोगों को अनेक तरह की बीमारियां हो रही है । बंधुआ को परिवेश के खिलाफ काम करना परिवेश के प्रति विश्वासघात करने जैसा लगता है । यह सोच बंधुआ जैसे आदिवासी लोगों की है जो प्रकृति और मानव प्रेमी हैं । "मैं चाहता हूँ, हमारे यहाँ विद्यालय बनाये जाए किन्तु जंगल काट कर नहीं बल्कि बंजर जमीन पर । लेकिन उस विद्यालय की उच्चता इन वृक्षों से अधिक न हो । हमारे विद्यालय में हमारी मातृभाषा में

---

<sup>185</sup> माटी र लुह, अन्नदा प्रसाद राय, पृ.सं.-1

शिक्षा दी जाये | हमारे लिए अस्पताल भी हों, जिसमें हमारी वन-सामग्री निर्मित औषधि उपलब्ध हो |”<sup>186</sup>

इस उपन्यास का पात्र बंधुआ आदिवासियों के प्रति हो रहे शोषण का विरोध करते हुए, आदिवासी आन्दोलन का नेतृत्व करता है | “आज के आन्दोलन की यह सफलता, भविष्य में आन्दोलन को आगे बढ़ने में हमें शक्ति देगा | यह आन्दोलन किसी व्यक्ति के विरोध में नहीं है, पुलिस के विरोध में नहीं है, मुख्यमंत्री के विरोध में भी नहीं है; यह आन्दोलन राजनीतिक शासन तंत्र में हो रहे दमन के विरोध में है, आर्थिक शोषण के विरोध में तथा विज्ञान के परिवेश के नाम पर विनाश का विरोध है |”<sup>187</sup> ऐसे में वह किस प्रकार षड्यंत्र का शिकार होता है, इसका वर्णन इस उपन्यास में किया गया है ।

‘भरोसा र भिटामाटी’ उपन्यास समाज की संस्कृति, समस्याएँ और विस्थापन के दंश पर आधारित है | यह उपन्यास ‘चारिघरिया’ नामक टापू पर लिखा गया है जो आदिवासियों का निवास स्थल है | अत्यधिक बाढ़ इस गाँव के लोगों के लिए समस्या उत्पन्न करती है | बार-बार इस तरह इस गाँव का उजड़ना सरकार के लिए भी एक गंभीर समस्या रही है | अत्यधिक बाढ़ के कारण उनसे संपर्क भी साधना मुश्किल बन जाता है और न ही उनके पास ही सरकारी सहायता भी पहुँच पाती है | हर बार की इस बाढ़ ने भले ही उन आदिवासियों के जीवन को नर्क न बनाया हो लेकिन उससे त्रस्त सरकार जरूर थी | इसलिए सरकारी योजना के तहत उन आदिवासियों को उस टापू से निकालकर एक नयी कॉलोनी में पुनर्वास करना आवश्यक बन पड़ा था | किन्तु इस उपन्यास में यह प्रश्न खड़ा किया गया है कि क्या पुनर्वास ही उसका एक मात्र उपाय है ? अगर उन्हें पुनर्वासित किया भी जा रहा तो उनकी आवश्यकताओं को क्यों महत्व नहीं दिया जा रहा | उन्हें जबरन आधुनिक बनाने की कोशिश क्यों की जा रही है ? सरकार क्यों अपने दृष्टिकोण से समस्याओं का समाधान चाहती है क्यों वह आदिवासियों की समस्याओं को उनके अनुरूप ही समाधान नहीं करती है | आदिवासी समुदाय प्रकृतिजीवी मनुष्य है इसलिए प्रकृति के साथ रह कर ही वह खुश है | सुब्रत पट्टनायक कहता है -“प्राकृतिक परिवेश उनका एक जीवन प्रवाह है -जिसे जीवनधारा भी कह सकते हैं | कलेक्टर साहब क्या उस बंजर या

<sup>186</sup> माटी र लुह, अन्नदा प्रसाद राय, पृ.सं.-36

<sup>187</sup> भरोसा र भिटामाटी, श्री लक्ष्मीधर महंती, पृ.सं. -46

सूखी जमीन में सृष्टि कर सकते हैं ये नदी, ये पहाड़, ये जंगल, ये पेड़ ? तब क्यों ये लोग इस जमीन को छोड़ें ? बाढ़ जब भी आती है तो वे दो दिन ही तो परेशान होते हैं । वे क्या सरकार के पास खाद्य पदार्थ के लिए हाथ फैलाते हैं ? तब क्यों ये आयोजन ? उन लोगों की क्या समस्याएँ हैं, वे कभी तो सरकार के समक्ष नहीं बताते हैं ? फिर क्यों इस प्रकार का निष्ठुर निर्देश ??? क्या केवल घर या कुछ जमीन देने से ही सरकार का काम खत्म हो जाता है ? उनके परिवेश, मानसिक उत्साह/आनंद, भाव प्रवणता, सौन्दर्य-ज्ञान एवं जीवन के छंद आदि पर सरकार को विचार करना होगा । नदी, नाला, पहाड़, पर्वत, झरना आदि ये सब उनके रक्तकण में बसे हुए हैं । ये सब मिल कर ही उनकी जीवनधारा अबाध रूप से गतिशील और प्रवाहित होती है । उनके रक्तकण में ही मिली हुई है इसी मातृभूमि/ (भिटामाटी/ निवास स्थान) की महक ।”<sup>188</sup> लेकिन इसके विपरीत सरकार उन्हें प्रकृति से अलग कर उनको सुविधाएँ उपलब्ध करवाना चाहती है । जो उनके प्रति की गई ज्यादतियाँ और शोषण हैं । सरकार यह दावा तो करती है कि हम आदिवासियों की समस्याओं को दूर करना चाहते हैं किन्तु वहीं वे आदिवासियों को बर्बर, जंगली या व्यवस्था विरोधी स्वीकार करते हैं । किन्तु अपने अनुरूप जीवन जीने की इच्छा मनुष्य को क्या बर्बर और असभ्य बना सकता है ? दरअसल कभी भी सरकारी योजनाओं में उन्हें ध्यान में रख कर योजना ही नहीं बनाई गयी । इसलिए आदिवासी समुदाय भी अपने को अलग-थलग रख कर खुश है । आदिवासी अपनी पुरखौती जमीन, परम्परागत पेशा और जीवन शैली को लेकर ही जी रहा है । सरकारी हाकिम सुब्रत पट्टनायक को आदिवासी लोगों को समझा बुझा कर नई कालोनी में लाने का दायित्व सौंपा जाता है । सुब्रत पट्टनायक उन आदिवासियों के साथ रहने के दौरान उनके सरल, निष्कपट व्यवहार और उसके प्रति की गयी स्नेह श्रद्धा से स्तब्ध हैं ।

आदिवासी मुख्यतः जंगल में रहते हैं इसलिए संभवतः लेखिका ने उन पर ‘जंगली’ उपन्यास लिखा है । किन्तु इस उपन्यास का नामकरण औचित्यपूर्ण नहीं लगता । क्योंकि ‘जंगली’ शब्द ‘जंगल-निवासी’ के रूप में रूढ़ न हो कर बर्बर, अशिक्षित होने को दर्शाता है । समाज में जंगली को एक असम्मान सूचक शब्द के रूप में भी देखा जाता है । भले ही लेखिका का आशय उसे उस रूप में दिखाना न रहा हो पर इससे इनकार नहीं किया जा

<sup>188</sup> भरोसा र भिटामाटी, श्री लक्ष्मीधर महंती, पृ.सं.-41

सकता कि इस नामकरण का ध्वन्यार्थ द्विअर्थी है। लेखिका इस उपन्यास में मयूरभंज के बरईपानी आदिवासी बहुत इलाका को केंद्र में रख कर लिखती हैं। लेखिका इस उपन्यास में आदिवासी संस्कृति, परम्परा और जीवन-शैली को दिखाने के साथ-साथ उनकी समस्याओं और चुनौतियों को भी प्रस्तुत करती हैं। किन्तु इस उपन्यास में लेखिका गंभीरता पूर्वक उनकी समस्याओं को चित्रित करती हुई नजर नहीं आती हैं। उनके उपन्यास में यह समस्याएँ औपचारिकता का ही प्रदर्शन करती हैं। एक तरह से आदिवासी पारिवारिक स्थिति को चित्रित करने में लेखिका सफल तो हो पाई हैं किन्तु उनके प्रश्नों को इस उपन्यास में उतनी प्रमुखता से नहीं उभार पाई हैं। संभवतः यह लेखिका का प्रथम प्रयास होने की वजह से यह समस्याएँ वहीं हो किन्तु आदिवासी साहित्य लेखन गंभीर शोध की मांग करता है। इस दृष्टि से लेखिका का यह उपन्यास आदिवासियों का एक आंशिक सांस्कृतिक चित्रण मात्र बन कर रह जाता है। ओड़िया साहित्य में आदिवासी परंपरा को देखते हुए यह उपन्यास कमजोर प्रतीत होता है।

इस उपन्यास में नारी पात्र झिली को अधिक सशक्त दिखाया गया है जो साहूकार जैसे बलात्कारी पुरुष की हत्या कर देती है। और प्रतिउत्तर में जज को बयान देती है कि -“मैंने किसी मनुष्य को नहीं मारा। मैंने पशु शिकार किया है, एक भयंकर हिंस्र पशु का ! जो कि बाघ या शेर से भी ज्यादा भयंकर है, हिंस्र और क्षतिकारक साहूकार मनुष्य नहीं था। वह पशु बन गया था। जंगल में कभी बाघ अगर हिंस्र हो जाता है तो उसका शिकार शिकारी करता है। उसी प्रकार नारी देह का लोभी साहूकार गाँव के लड़कियों का सतीत्व, इज्जत, लज्जा और नारीत्व को नष्ट करने लगा था।”<sup>189</sup> उन्होंने इस उपन्यास में आदिवासी स्त्रियों को सशक्त और साहसी व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही इस उपन्यास में आदिवासी पुरुषों को आदिवासी स्त्री की तुलना में कमजोर दिखाया गया है। इस उपन्यास में लेखिका आदिवासी समाज में स्थित नशा पान और अंधविश्वास को भी प्रस्तुत करती हैं। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि पूरे उपन्यास में आदिवासियों का सहज और सरल व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है जो साहूकार जैसे शोषक के हाथों शोषित होता रहता है।

<sup>189</sup> जंगली, डॉ. आरती महान्त, पृ.सं.- 68

‘आदिभूमि’ उपन्यास गोपीनाथ महंती की परंपरा से जुड़ा हुआ उपन्यास है। यह उपन्यास 80 के दौरे के बाद का अकेला उपन्यास है जो अन्वेषण और गहन अनुसन्धान के बल पर लिखा गया है। यह उपन्यास ओड़िशा के बोंडा आदिवासी समाज के लोगों की जीवन चर्या और परिवेश की जीवंत कथा है। यह जनजाति कोरापुट जिले के मलकानगिरी सब-डिवीज़न में माछकुंड नदी के उत्तर-पश्चिम में स्थित बोंडा पहाड़ पर हजारों वर्षों से रहते आये हैं। अन्य आदिवासियों की तरह बोंडा जनजाति के लोगों का लिखित साहित्य या इतिहास नहीं है। यह उपन्यास इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। लेखिका इस उपन्यास में ऐसे तथ्यों से वाकिफ़ करवाती है जिससे प्रायः हम अनभिज्ञ हैं। उन्होंने उपन्यास की पूर्वपीठिका में लिखा कि बोंडा जनजाति का नामकरण उनके स्वयं के द्वारा न हो कर पहाड़ के नीचे रह रहे लोगों के द्वारा किया गया। बोंडा का अर्थ नंगा और असभ्य है। वे खुद को ‘रेमो’ कहते हैं, रेमो का अर्थ मनुष्य है। जाति धर्म को लेकर बोंडाओं में विभेदीकरण नहीं है वे खुद को एक मनुष्य रूप में देखना पसंद करते हैं। “बोंडा पहाड़ में रहने वाली एक जाति। उस जाति का नाम है ‘रेमो’ (मनुष्य। हाँ कुछ जाति या गोत्र नहीं मानते)।”<sup>190</sup> इस जनजाति की विशेषता यह रही कि जिस जाति धर्म को लेकर समाज में इतनी हिंसा और रक्तपात हो रहा है, वे उसे स्वीकार ही नहीं करते। उनकी दृष्टि में सभी रेमो हैं यानी मनुष्य। बोंडा समाज की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ पाप-पुण्य जैसे मूल्य मायने नहीं रहते यहाँ सम्बन्धों में स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता यहाँ सबसे बड़ा मूल्य है। साथ ही मातृसत्तात्मक समाज होने के कारण स्त्रियों को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ बलात्कार जैसे दुर्यवहार नहीं होते। यहाँ स्त्री-पुरुष को शारीरिक सम्बन्धों की भी आज़ादी है। यहाँ स्त्री कभी निराश्रित नहीं रहती है। यहाँ सतीत्व जैसे सामाजिक मूल्यों का भी कोई मोल नहीं है। बोंडा जनजातियों की सबसे बड़ी कमजोरी उसका गुस्सा है। गुस्से में वह अपने समाज के लोगों को भी मार डालता है। इसलिए उनको ‘मनुष्यमारू’ भी कहा जाता है। उनकी सहजता यह है कि वे स्वयं पुलिस के पास जा कर हत्या के लिए आत्म समर्पण भी करते हैं। उनकी विचारशीलता की उदारता का यहाँ वास्तविक रूप देख सकते हैं। इस उपन्यास में लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि ये आदिवासी आदिम जनजाति की श्रेणी में आता है। लेकिन मनुष्यता उनमें आज भी व्याप्त है। भले ही वे

<sup>190</sup> आदिभूमि, प्रतिभा राय, पृ.सं.-127

अन्य लोगों के लिए बर्बर और असभ्य हो सकते हैं लेकिन उनकी वैचारिकता उन्हें सभ्य माने जाने वाले लोगों की कोटि से अलग और विशेष बनाता है ।

इस उपन्यास में पाँच पीढ़ियों की कहानी है जिसमें प्राचीन काल से बोंडा समाज की जीवनशैली उनकी जय-पराजय, जीवन संघर्ष प्रस्तुत है । उपन्यासकार इस उपन्यास में सोमा मुदली और विभिन्न चरित्र का निर्माण करके बोंडा समाज के जीवनचर्या और इतिहास को प्रस्तुत करती हैं । इतिहास के साथ-साथ उनकी जीवन-संस्कृति उनके लोक-विश्वास आदि को भी इस उपन्यास में चित्रित करती हैं । जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया गुस्से में बोंडा पुरुष हिंसक हो जाता है इसलिए वह मनुष्य हत्या करता है । इस उपन्यास में बाघबिंधु नामक पात्र मंगला मान्द्रा की हत्या करके पुलिस के पास आत्मसमर्पण करता है । बोंडा पुरुष की मृत्यु औसत से ज्यादा है क्योंकि या तो वह खुद शिकार बनता है या शिकार करके जेल जाता है । सोमा मुदली एक ऐसा बोंडा पुरुष है जो कई बार तीर का शिकार तो बना है लेकिन उसने कभी शिकार नहीं किया । उपन्यास के अंतिम भाग में विद्रोहियों के तीर का शिकार हो कर उसकी मृत्यु हो जाती है और सोमा सीसा के विद्रोही व्यवहार के कारण पुलिस उसे गोली मार देती है । सोमा मुदली का यह सपना रहा कि बोंडा पहाड़ से हिंसा, मार-काट, रक्तपात दूर हो । लेकिन यह सपना उसका कहाँ तक पूरा हुआ है यह एक सोचने वाली बात है ।

इस उपन्यास में बोंडा आदिवासियों में सापुंग (मदिरा) पीने की प्रथा को प्रस्तुत करती हैं । साथ ही सहज-जीवन जीने की प्रथा को भी इसमें दिखाया गया है । इस उपन्यास में बोंडा आदिवासियों का शोषण कर रहे साहूकारों की भी कलाई खोली गयी है । यहाँ लेखिका बोंडा समाज में सरकारी शिक्षा के नाम पर हुए छल को भी प्रस्तुत करती हैं । “पुराने शिक्षक मोहनबाबू कहते हैं -सच कहूँ सर ! हम यहाँ नहीं रहते । जिस दिन बाहर यह सुनने में आता है कि कोई आने वाला है उस दिन हम बाध्य हो कर दल बनाकर आते हैं । साथ में पुलिसकर्मी भी लेकर आते हैं । स्कूल खोल कर पहाड़ के निचले हिस्से में रह रहे छोटे बोंडा आदिवासी बच्चों को लेकर बिठाते हैं । पुलिस को साथ में न ला कर कोई बाहर से आया ऑफिसर यहाँ नहीं आता । प्रतीक्षा करते हैं कि कोई आ जाएगा क्या ! फिर स्कूल में ताला लगा कर चले जाते हैं । यहाँ रात को कोई नहीं रहता पुलिस भी नहीं रहती

यहाँ तो अभी तक स्कूल परिदर्शक या अन्य ऑफिसर भी नहीं आये हैं।<sup>191</sup> सरकारी स्कूल व्यवस्था के नाम पर बोंडा पहाड़ में सिर्फ जालसाजी ही है। यहाँ प्रशासन शिक्षा के नाम पर आँखों में धूल झोंक रहा है। सीतानाथ इस उपन्यास में एक ऐसा पात्र है जो बोंडा लोगों को प्रगति के पथ पर चलाना चाहता है। बोंडा आदिवासियों को शिक्षित कर उन्हें सभ्य बनाना चाहता है। “सीतानाथ आये हैं सभ्य देश से। असभ्य, आदिम, हिंस्र, वन्य, खूनी, बर्बर के रूप में जाने जाने वाले रेमो जाति के वनमानुष को सभ्य-उन्नत, परिमार्जित करने के लिए।”<sup>192</sup>

इस उपन्यास में बोंडा आदिवासी, सरकार की विभिन्न योजनाओं के नाम पर आये अर्थ से किस प्रकार वंचित रहे हैं, इसका चित्र भी यहाँ प्रस्तुत किया गया है। लेखिका इस उपन्यास में सरकारी नीतियों पर व्यंग्य करती हुई लिखती हैं जिस बोंडा देश में कोई बोंडा अनाथ नहीं रहता या पतिता/विधवा जैसे शब्दों का कोई मोल नहीं है वहाँ अनाथ आश्रम और विधवाश्रम जैसी योजनाएं कितना हास्यास्पद लगती हैं यह सोचने वाली बात है। यहाँ लेखिका सरकारी ऑफिसरों के अन्याय, अत्याचार, दुर्नीति, भ्रष्टाचार और शोषण को प्रस्तुत करती हैं। एक तरह से इस उपन्यास में बोंडा जनजाति के जीवन-मूल्य, सांस्कृतिक-धरोहर, लोक-विश्वास आदि का चित्रण करने के साथ-साथ वैश्वीकरण के दौर में विकास के नाम किये गए शोषण को चित्रित किया है।

निष्कर्षतः दोनों भाषाओं के उपन्यासों को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि स्वाधीनता से पूर्व और स्वाधीनता के पश्चात् आदिवासी जीवन पर दोनों भाषाओं में उपन्यास लिखे गए हैं। एक ओर हिन्दी उपन्यासों में जहाँ आदिवासी समाज की अस्मिता और पहचान का सवाल, दि कुओं के प्रति आक्रोश, दि कुओं की उनके प्रति दृष्टि, बर्बर और विकास विरोधी समझे जाने की पीड़ा, आदिवासी भाषा का प्रश्न के साथ आदिवासी भूमि अधिग्रहण, मुआवजे के नाम पर आशवासन, विस्थापन, धर्मांतरण की तकलीफ, सेठ साहूकारों का शोषण, सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखने की जद्दोजहद, प्रकृति का संरक्षण, विकास के नाम पर आदिवासियत को नुकसान, आदिवासी स्त्री की समस्याएं आदि प्रश्न प्रमुखता से उभरते हैं। वहीं ओड़िया उपन्यासों में आदिवासी-संस्कृति, दि कुओं के प्रति आदिवासियों की दृष्टि, आदिवासियों की नशे की लत, अशिक्षा, पर्यावरण-संरक्षण, आदिवासी आंदोलन की

<sup>191</sup> आदिभूमि, प्रतिभा राय, पृ.सं.-280

<sup>192</sup> आदिभूमि, प्रतिभा राय, पृ.सं.-341



आवश्यकता, आदिवासियों को ध्यान में रखकर नीतियों का निर्माण, भूमि-अधिग्रहण, विस्थापन, सेठ साहूकारों का शोषण, आदिवासी स्त्री के प्रति लोलुप दृष्टि, आदिवासी समाज की स्वतंत्रता और खुलापन, हठधर्मिता आदि को आधार बनाया गया है ।

दोनों भाषा के आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी जन-समुदाय विभिन्न प्रजातियों में विभक्त हैं । हिंदी प्रदेशों में अनुसूचित जनजातियां भिन्न प्रकार की हैं और ओड़िशा में उनसे भिन्न प्रजातियों के आदिवासी समुदाय हैं । इस दृष्टि से आदिवासी समुदायों के विषय में ज्यादा से ज्यादा जानकारी के लिए दोनों भाषा के उपन्यास सहायक हैं । साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट है कि दोनों तरह के उपन्यासों में विषयगत और प्रजातिगत भिन्नता होने के बावजूद आदिवासियों की समस्याएँ प्रायः समान प्रकार की हैं जो एक दूसरे को परस्पर जोड़ती हैं । यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि भाषा की सीमा भी आदिवासियों की समस्याओं को व्यक्त करने में बाधाग्रस्त नहीं हैं । हिंदी और ओड़िया के उपन्यासों की अगर तुलना की जाए तो हमें यह मिलेगा कि जहाँ हिंदी में आदिवासी समुदाय भी आगे बढ़ कर लिख रहे हैं, वहीं ओड़िया में इस प्रकार के उपन्यासों की संख्या अत्यल्प है । जैसा कि हम जानते हैं आदिवासी साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति का सवाल नहीं है । इसलिए ये सवाल भी मायने नहीं रखते हैं । लेकिन यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि हिंदी में आगे बढ़ कर लिखने वाले आदिवासी समुदाय के कारण साहित्य में सजीवता तो आई ही साथ ही 'अस्मिता' का सवाल भी प्रमुखता से उभरा । जबकि ओड़िया में इस कमी के कारण 'आदिवासी अस्मिता' जैसे प्रश्न प्रमुखता से नहीं उभर पाए हैं । हिंदी में आये इसी परिवर्तन के कारण साहित्य में अब 'आदिवासी दर्शन' की बात की जा रही है, उसके तत्व उपन्यासों में भी तलाशे जा रहे हैं । हिन्दी और ओड़िया आदिवासी उपन्यासों की यह विशेषता रही है कि इन उपन्यासों को लिखते वक्त उपन्यासकार आदिवासियों के बीच जाकर उपन्यास लेखन का कार्य करते हैं, जिसे हम अन्वेषण/अनुसन्धान परक उपन्यास के रूप में देख सकते हैं ।

## 4.2 दलित जीवन पर आधारित उपन्यास

### 4.2.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

दलित साहित्य में अन्य विधाओं की तरह उपन्यास लेखन की भी एक सशक्त विधा है। भारतीय भाषाओं में दलित जीवन को केंद्र में रख कर बहुत सारे उपन्यास लिखे गए। हिंदी और ओड़िया भाषा में भी दलित उपन्यास लिखे गए। इसकी एक लंबी परम्परा रही है। हिंदी में इसकी शुरुआत 20वीं सदी के अंतिम दशक से हुई है। जबकि, ओड़िया दलित उपन्यासों की शुरुआत 21वीं सदी है। दलित आलोचकों के अनुसार हिंदी में दलित उपन्यास की शुरुआत जयप्रकाश कर्दम के 'करुणा' उपन्यास (1986) से मानी जा सकती है। इसके बाद डॉ. धर्मवीर के उपन्यास 'पहला खत' (1991) में आया। इसके बाद 'छप्पर' (1994) जयप्रकाश कर्दम; 'मिट्टी की सुगंध' (1995) प्रेम कपाड़िया; 'जस तस भई सबेर' (1998) सत्य प्रकाश; 'मुक्तिपर्व' (2002), 'आज बाज़ार बंद है' (2004), 'जख्म हमारे' (2011) मोहनदास नैमिशराय; 'मिस रमिया' (2007) कावेरी; 'थमेगा नहीं विद्रोह' (2008) उमराव सिंह जाटव; 'उधर के लोग' (2008) अजय नावरिया; 'नीला आकाश', (2013), 'तुम्हें बदलना होगा' (2014), 'वह लड़की' (2018) सुशीला टाकभौरे आदि। ओड़िया दलित उपन्यास 'कवर स्टोरी' (2007), 'भेद' (2010), अखिल नायक; 'पोड़ापोड़ी' (2014), वासुदेव सुनानी प्रमुख हैं।

हिंदी भाषा में दलित उपन्यासों का विश्लेषण करने से पूर्व यह देखना होगा कि हम दलित उपन्यास किसे कहें? क्योंकि प्रेमचंद-युग से ही साहित्य में दलित पात्र आते हैं ऐसे में उन्हें दलित उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है क्या? तब यह पाया गया कि उपन्यास के प्रारंभिक दौर में अछूत/दलित जीवन को आधार बना कर उपन्यास नहीं लिखा गया लेकिन दलित पात्र अवश्य आये। उन उपन्यासों में 'अछूत' पात्र आलसी, चोर, मूर्ख, अशिक्षित आदि के रूप में दिखाए गए। इन उपन्यासों में एक तरह से अछूत के सम्बन्ध में पूर्वाग्रह ही काम कर रहा होगा। इस दौर में मुख्य रूप से सवर्णों के द्वारा साहित्य लिखा गया इसलिए इन उपन्यासों में दलितों के लिए आदर्श रूप को गढ़े जाने की आशा व्यर्थ है। इस समय ऐसे उपन्यास भी लिखे गए जिसमें गांधीवाद के फल स्वरूप 'अछूत उद्धार' जैसे आन्दोलनों का भी समावेश किया गया। जिसमें अछूतों का मंदिर में प्रवेश और आन्दोलन दिखाया गया। प्रेमचंद के 'कर्मभूमि' उपन्यास में इसका स्पष्ट चित्र देख

सकते हैं। इसके बाद दलितों को केंद्र में रख कर लिखे गए उपन्यासों की परंपरा चली जिसमें दलित और गैर दलित दोनों उपन्यासकारों ने लिखना प्रारंभ किया। इन उपन्यासों में यह पाया गया कि जो सवर्ण उपन्यासकार रहे उनके उपन्यास में दलित समाज का बाहरी जीवन चरित्र है। दलित और गैर दलित दोनों उपन्यासों में दलित विरोध करते हुए नहीं देखे गए भले ही उसमें दलित जीवन की समस्याओं को चित्रित किया गया। डॉ. सुशीला टाकभौरे 'हिंदी दलित उपन्यास' नामक लेख में यह स्पष्ट करती हैं कि "सवर्णों के द्वारा दलित-जीवन पर लिखे उपन्यासों की अपेक्षा दलित साहित्यकारों द्वारा उपन्यासों में दलित-चेतना है। साथ ही दलित अस्मिता की बात है। मदन दीक्षित का उपन्यास 'मोरी की ईंट' में दलित स्त्री को भोग्या रूप में बताया गया है। यहाँ दलितों की स्थिति 'मोरी की ईंट' के समान बताई गयी है। यह दलितों के लिए अपमान की बातें हैं। इसी प्रकार 'धरती धन न अपना' उपन्यास में दलित जागृति और अस्मिता की बात नहीं है।"<sup>193</sup> दलित आलोचना में स्वानुभूति बनाम सहानुभूति के सवाल खड़ा होने पर स्वानुभूति के साहित्य को तवज्जो दिया जाने लगा। इसलिए दलित साहित्य में अस्मिता का सवाल प्रमुखता से उभरा। इसलिए विमर्श जैसे मुद्दे सामने आये। अब उपन्यासों में दलित-चेतना, आक्रोश और विद्रोह का होना अनिवार्य बन गया। दलित उपन्यासों में ज्योतिबा फुले और अम्बेडकरवादी विचारधारा के तत्व भी तलाशे गए। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि दलित आलोचकों ने फुले और अम्बेडकरवादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य को ही दलित साहित्य माना है इस दृष्टि से दलितों के जीवन पर आधारित सभी उपन्यासों को दलित उपन्यास नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से देखा जाए तो दलित उपन्यासों को प्रारंभिक दौर से अभी तक 3 श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1. हिंदी साहित्य में गौण पात्र के रूप में दलित पात्र को लिया जाना। जिसमें दलितों को लेकर पूर्वाग्रह हों (प्रेमचंद का 'रंगभूमि' उपन्यास)। लेकिन गाँधी के प्रभाव से 'अछूतोद्धर आन्दोलन' का समावेश उदाहरण स्वरूप 'कर्मभूमि' उपन्यास।
2. दलितों को लेकर लिखा गया उपन्यास। इसमें वे उपन्यास आयेंगे जो दलित और गैर दलितों के द्वारा लिखा गया। गैर-दलित उपन्यासकारों ने दलितों के बाहरी

<sup>193</sup> हिंदी दलित साहित्य का विकास, प्रमोद कोव्रत, पृ.सं.-173

जीवन का चित्रण किया गया | साथ ही ऐसे उपन्यासों में दलित पात्र में जागृति, चेतना, अस्मिता नहीं होती है | “सवर्ण उपन्यासकार ऐसे दलित पात्रों को मनमाने रूप में प्रस्तुत करके उनकी दीन-हीन स्थिति को पाठकों के मनोरंजन की सामग्री बना देते हैं | उन दलित पात्रों को आदर्शवादी और गाँधीवादी विचारधारा के समर्थक रूप में दिखाया गया है |”<sup>194</sup> दलित उपन्यासकारों ने ‘दलित जीवन’ और ‘दलित चिंतन’ को तो आधार बनाया लेकिन विद्रोह का स्वर इसमें नहीं दिखाई दिया | “करुणा” उपन्यास में दलित चेतना की अपेक्षा बौद्ध धर्म की ओर झुकाव अधिक है | ‘पहला खत’ में दक्षिण भारत के यात्रावृत्तांत का सांस्कृतिक चित्रण के साथ अनुभव कथन है | भगवान दास मोरवाल के उपन्यास ‘रेत’ के कंजर जाति की स्त्रियाँ देह व्यापार का व्यवसाय करती हैं और इसी में खुश रहती हैं, यह उपन्यासकार का अपना दृष्टिकोण है | इस उपन्यास में दलित चेतना है न ही आंबेडकरवादी प्रगति परिवर्तन की कोई बात |”<sup>195</sup>

3. दलितों में आक्रोश, विद्रोह, दलित-चेतना, दलित-स्त्री-अस्मिता, दलित जागरण और अम्बेडकरवादी विचार का अन्वेषण हुए दलित उपन्यास | इसके अंतर्गत ‘छप्पर’, ‘जस तस भई सबेर’, ‘डंक’, ‘मुक्तिपर्व’, ‘उधर के लोग’ आदि उपन्यास आते हैं | इसमें मुख्य रूप से उनको ही दलित उपन्यास माना गया है जो दलित उपन्यासकारों के द्वारा लिखे गये |

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया हिंदी की अपेक्षा ओड़िया में दलित साहित्य का विकास बहुत बाद में हुआ इसलिए इसमें साहित्य बहुत कम उपलब्ध है | इसके अन्य कारण भी रहे हैं जैसे ओड़िया के साहित्यकार ये मानते हैं कि यहाँ दलित कौन है ?, ओड़िशा में दलित जैसा कोई प्रसंग ही नहीं है तब इस तरह के साहित्य को शामिल करके विवाद क्यों किया जा रहा है | साथ ही यह भी कहा गया कि साहित्य किसी जाति विशेष का नहीं है इसलिए साहित्य को दलित साहित्य कह कर भाग-भाग नहीं किया जाए | ओड़िशा के ‘दलित साहित्य’ लेखन पर विरोध प्रकट किया गया है | यहाँ तक की अखबार और पत्र-पत्रिकाओं में इसके विरोध में कई लेख भी लिखे गए | इस तरह के विवादों को देखते हुए यह भले ही कहा जा सकता है कि शायद दलित साहित्य के लेखन के प्रारंभिक दौर में इस

<sup>194</sup> हिंदी दलित साहित्य का विकास, प्रमोद कोव्रत, पृ.सं.-125

<sup>195</sup> हिंदी दलित साहित्य का विकास, प्रमोद कोव्रत, पृ.सं.-173

तरह के रवैये और दलित साहित्य को स्वतंत्र फलक नहीं प्राप्त हो पाया | बहरहाल ओड़िया में सभी विधाओं में दलित लेखन की शुरुआत हो चुकी है | अगर ओड़िया के दलित साहित्य की नींव की पड़ताल की जाए तो यह स्पष्ट होगा कि ओड़िया भाषा के प्रथम संत कवि 'भीमाभोई' (1855-1895) से ही ओड़िया दलित कविता की शुरुआत हो जाती है | उनकी कविताओं में इसलिए दलित साहित्य तत्व विद्यमान है क्योंकि 'उनकी कविता में अस्पृश्य के घर में खाद्य ग्रहण करना एक नियम रहा ; लेकिन ब्राह्मण के घर पर जल तक ग्रहण नहीं करना चाहिए, यह घोषणा किया था | पूजा किये जाने वाले तुलसी के पौधे को गाय-बकरी की तरह चबा कर खाने वाले हिन्दू लोगों के व्यवहार के वे कठोर समालोचक थे |"<sup>196</sup> जिस प्रकार हिंदी में दलित साहित्य के शुरुआत के बीज रैदास और कबीर में तलाशे जाते हैं उसी प्रकार ओड़िया में इसके बीज भीमाभोई से तलाशे जा सकते हैं | सही मायने में वासुदेव सुनानी से ही दलित साहित्य की शुरुआत होती है | आप भीमाभोई की परम्परा को आगे बढ़ाते नजर आते हैं | उनकी 'दलित चेतना से सम्बंधित कविता संग्रह 'अस्पृश्य' 2001 में प्रकाशित होती है | इस तरह बाद में साहित्य के अन्य विधाओं में दलित साहित्य लेखन प्रारंभ हो जाता है | किन्तु ये बड़ी दुःख की बात है कि ओड़िया में दलित उपन्यास बहुत कम लिखे गए | दलित सम्बंधित उपन्यास कुछ सवर्ण उपन्यासकारों ने लिखे | लेकिन इसे दलित साहित्य के अंतर्गत रखा जाना चाहिए या नहीं यह बहुत बड़ा सवाल है | इस सम्बन्ध में सुप्रिया मलिक 'दलित साहित्य : एक आलोचना' लेख में लिखती हैं "आधुनिक युग में गैर दलित साहित्यकारों की रचना, जिसमें दलित चरित्र, चित्र, परंपरा और संस्कृति को विकृत और वीभत्स करने का प्रयास जारी रहा है ऐसे में इन सभी को दलित साहित्य के अंतर्गत नहीं लिया जा सकता |"<sup>197</sup> अतः इससे स्पष्ट है कि ओड़िया में भी दलित साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति जैसे सवाल केंद्र में आ रहे हैं | दलित आलोचक सुप्रिया मुख्तः दलितों के द्वारा लिखित दलित साहित्य की पक्षधर हैं | आगे वह लिखती हैं "वर्तमान ओड़िशा में खड़ा हुआ नया विवाद है गैर दलित साहित्यकारों के द्वारा लिखित दलित सम्बन्धी रचनाओं को 'दलित साहित्य' के रूप में विवेचना करना, ये एक असम्भव विचार है | जैसा कि पहले ही स्पष्ट है कि दलितों की अनुभूति, स्मृति और आत्मपरिचय ही दलित साहित्य का उत्स है | गैर-दलितों की रचना केवल कल्पना आधारित

<sup>196</sup> ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-159

<sup>197</sup> ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-263

हैं। उसमें अनुभूति, प्राण, हृदय की भाषा नहीं है केवल मस्तिष्क की भाषा का प्रयोग करके रचित रचनाएँ भाषा और शैली की दृष्टि से सुंदर और सुखात्मक हो सकते हैं किन्तु भाव और चेतना की दृष्टि से ब्राह्मणवादी साहित्य गोपीनाथ मोहंती के 'परजा' और 'हरिजन' का उदाहरण लिया जा सकता है।<sup>198</sup>

ओड़िया के दलित उपन्यासों के अध्ययन के क्रम में ये देखा गया -

1. ओड़िया साहित्य के उपन्यासों में पहले पहल साहित्य में दलित पात्र गौण रूप से आये। उसमें लेखक मूलतः सवर्ण होने के कारण अछूतों के प्रति उनकी दृष्टि अच्छी नहीं रही। बाद में 'हरिजन' (1948) उपन्यास अछूतों को आधार बनाकर लिखा गया। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि दलित जीवन पर लिखित साहित्य दलित साहित्य के श्रेणी में नहीं आ सकता। स्वानुभूति वाली बात को अगर महत्व दिया जाए तो इस उपन्यास को दलित उपन्यास नहीं माना जा सकता क्योंकि लेखक सवर्ण हैं और उन्होंने सहानुभूतिपूर्ण साहित्य लिखा है। साथ ही इस उपन्यास को दलित उपन्यास क्यों नहीं माना जा सकता इसका स्पष्ट चित्रण सुप्रिया मलिक करती हैं - "हरिजन' उपन्यास में दलित पुरुष चोर, शराबी, डाकू जैसे खल-चरित्र/खलनायक के रूप तक ही सीमित हैं। दलित नारी यौनता का प्रतीक है। वह मर्यादा और अमर्यादा के अन्दर फर्क नहीं कर पाती है। वह केवल एक देह-तृष्णा है। मन और विवेकहीन यौनमूर्ति मात्र है। पुनी, जेमा, टभा, रंग, कजलमति जैसे मेहतरानी से आरम्भ हो कर यशोदा तक सभी अज्ञानता वश पुरुष के यौनक्षुधा को परितृप्त करती हैं। परिणामतः यशोदा नौकरानी बनती है और जेमा जन्म देती है अविनाश की पुत्री पुनी को। जिसके पीछे सामाजिक स्वीकृति नहीं है। पुनी भी स्वेच्छा से सवर्ण अघोरी के साथ सम्बन्ध बनाती है। ...ऐसे की अविनाश के संपत्ति लालच ने मेहतर समुदाय के बस्ती को भी आग लगा देने के बावजूद पुनी अघोर की अपेक्षा करती है। ... 'परजा' और 'हरिजन' उपन्यास साहित्यिक मानसकिता से ही लिखा गया है। इसमें दलित-चेतना का प्रश्न ही नहीं है।"<sup>199</sup> इस प्रकार देख सकते हैं 'हरिजन' उपन्यास में भले ही दलित जीवन के बारे में उपन्यास लिखा

<sup>198</sup> ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-260

<sup>199</sup> ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी पृ.सं.-263

गया है लेकिन इसमें दलित चेतना और अस्मिता का अभाव रहा है। इसमें दलित पात्र आक्रोश व्यक्त नहीं करता है बल्कि परिस्थिति और पीड़ा से उभर नहीं पाता है। इसी परम्परा में विभूति पट्टनायक का 'असवर्ण' उपन्यास 1982 में प्रकाशित होता है।

2. इसके बाद दलित उपन्यासों की शुरुआत दलित लेखकों के द्वारा होती है। अभी तक ऐसे तीन उपन्यास ही उपलब्ध हो पाए हैं जिसके लेखक दलित हैं। अखिल नायक (भेद), वासुदेव सुनानी (पोड़ापोड़ी), सत्यप्रिय महालिक (कवर स्टोरी)। ये उपन्यास मूलतः दलित चेतना पर आधारित हैं, जिनमें दलितों का आक्रोश और अम्बेडकरवादी विचारधारा प्रस्तुत है।

#### 4.2.2 विवेच्य उपन्यास

हिंदी दलित उपन्यासों में 'छप्पर' (जयप्रकाश कर्दम) उपन्यास का विशेष स्थान है। इस उपन्यास में दलितों के सामाजिक और आर्थिक शोषण को चित्रित किया गया है। इससे पूर्व उपन्यासों में दलित चेतना, आक्रोश, दलित-जागृति का अभाव रहा। लेकिन इस उपन्यास में ये तत्व विद्यमान हैं। डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी 'दलित अस्मिता और हिंदी उपन्यास' में लिखते हैं कि "उस उपन्यास ने एक अभाव की पूर्ति की थी और उससे यह आशा बंधी थी कि अब दलित साहित्य उपन्यासों के मामले में भी दरिद्र नहीं रहेगा।"<sup>200</sup>

इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार सुकखा जैसे दलित वर्ग की स्थिति और चन्दन के माध्यम से दलित शिक्षा की महत्ता को स्थापित करते हैं। इस उपन्यास के केंद्र में उत्तर प्रदेश का मातापुर गाँव है जिसके जरिये उपन्यासकार दलितों की गाँव की स्थिति जो दलितों का शोषण का कारखाना है उनका यथार्थ चित्रण उपस्थित करते हैं। 1994 के दौर में उत्तरभारत में दलित जागृति को लेकर अनेक आन्दोलन हो रहे थे। इससे प्रभावित लेखक इस आन्दोलन में लेखन के जरिये शिरकत कर रहे थे। यह उपन्यास इसी आन्दोलन के प्रति योगदान है। इस उपन्यास में अम्बेडकर दृष्टि का स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है जहाँ उनके जीवन-दर्शन और विचारों का अभूतपूर्व क्रियान्वयन देखने को मिलता है। अम्बेडकर का 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो' उक्ति इस उपन्यास की आधारशिला है। इस उपन्यास में दलित समाज को शिक्षा के प्रति जागरूक होने का

---

<sup>200</sup> दलित अस्मिता और हिंदी उपन्यास, डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, पृ.सं.- 28

आह्वान उपन्यासकार चन्दन के माध्यम से देते हैं | इस उपन्यास में चन्दन के माध्यम से उपन्यासकार यह स्पष्ट करते हैं कि दलितों को शिक्षा की बहुत आवश्यकता है जिसके जरिये ही उनकी स्थिति में सुधार हो सकता है | शिक्षा के जरिये ही वे अपनी अस्मिता को समझ सकेंगे साथ ही अपने प्रति हो रहे शोषण चक्र से भी वाकिफ हो पाएंगे | एक ओर जहाँ इस उपन्यास में दलित शिक्षा पर जोर दिया गया है वहीं दलितों का शिक्षा के प्रति अग्रसर होने पर सवर्णों की मानसिकता को भी स्पष्ट किया गया है | इसे एक उद्धरण के माध्यम से देखा जा सकता है - “लेकिन चन्दन की देखा-देखी सब चमार-चूहड़े पढ़-लिख जाएँ और सब के सब नौकरी करने लगेंगे तो कल को हमारे खेतों और घरों में कौन काम करेगा ?”<sup>201</sup>

इस उपन्यास में हिन्दू धर्म की कुरीतियों पर भी प्रहार चन्दन के माध्यम से किया गया है साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि वर्णवाद को बहुत हद तक बढ़ावा देने में धार्मिक ग्रंथों की भूमिका रही है | सुक्खा के परिवार के माध्यम से उपन्यासकार गाँव में वर्ण व्यवस्था और जाति वादी शोषण और अत्याचार को प्रस्तुत करते हैं | इस उपन्यास में सवर्ण सामंतों के शोषण से दलित समाज को जागृत करने का भी प्रयास किया गया है | उपन्यासकार इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि दलितों के शोषण के मामले में शहर भी पीछे नहीं हैं |

इस उपन्यास के ‘फ्लैप’ पर इस उपन्यास का सार द्रष्टव्य है - “यह सोचना ठीक नहीं है | समाज हमें समानता का दर्जा नहीं देता, वह हमें हमारे मनुष्यत्व के साथ स्वीकार नहीं करता यह समाज का दोष है | समाज धर्म द्वारा प्रेरित और संचालित है | हमारी सामाजिक स्थिति, धार्मिक आदेशों का ही परिणाम है | धर्म ग्रन्थ ही हमारे शोषण और अत्याचार की जड़ें हैं | इन जड़ों को उखाड़ फेंकने की जरूरत है और उसके लिए जरूरी है कि लोग अधिक से अधिक पढ़ें ताकि इन धर्म ग्रंथों में निहित अन्याय और असमानता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए स्वयं को तैयार कर सकें | हमारे शोषण का आधार क्या है, हमारे उत्थान और विकास में कौन से तत्व बाधक हैं यह जाने बिना संघर्ष नहीं किया जा सकता | यह ज्ञान शिक्षा से ही हो सकता है | इसलिए शिक्षा का होना बहुत जरूरी है | जीवन की लड़ाइयों को लड़ने के लिए शिक्षा सबसे ज्यादा मारक और शक्तिशाली शस्त्र है,

---

<sup>201</sup> छप्पर, जयप्रकाश कर्दम, पृ.सं.-38



शिक्षा ही उत्थान और विकास का आधार है | इसलिए आप अपने बच्चों को अवश्य पढ़ाइए | इस नर्क की जिंदगी से ऊपर उठना है तो शिक्षित होना पड़ेगा अन्यथा हमें यँहीं मूर्ख बना कर हमारा शोषण किया जाता रहेगा |”<sup>202</sup> इस उपन्यास में कई विशेषताएँ रहने के बावजूद कुछ कमियाँ भी रही हैं जैसे इसमें सवर्ण को दलित का शोषणकर्ता (साहूकार, ठाकुर हरनाम सिंह) और हितैषी (रजनी) भी बताया गया है | इसमें गाँधीवाद का भी प्रभाव देखा जा सकता है | जैसे सभी में आदर्श पात्र का चित्रण करना साथ ही साहूकार का ‘हृदय परिवर्तन’ होना और मजदूरों को जमीन बाँटना आदि | सुशीला टाकभौरे लिखती हैं -“छप्पर उपन्यास की कथा बहुत ही सौम्य भाव से लिखी गयी है | उपन्यास के पात्रों को आदर्श रूप में ही अधिक दिखाया गया है जिससे विरोध और विद्रोह संयमित है |”<sup>203</sup> इस तरह से देखें तो इस उपन्यास में विरोध का स्वर उग्र रूप में नहीं उपस्थित है |

‘झलकारी बाई’ उपन्यास हिंदी साहित्य के इतिहास में दलितों के प्रति उपेक्षा को प्रस्तुत करता है | यह उपन्यास दलित नारी चरित्र पर आधारित है जिसे सवर्ण समाज ने दलित मान कर उपेक्षित किया | दलित लेखकों ने इसी कमी को देखते हुए पुनः इतिहास लेखन की मांग की | उन्होंने स्वयं ही अपने इतिहास को तलाशने की कोशिश की जिसमें झलकारी बाई के चरित्र को ढूँढ़ कर उनके योगदान को लोकसामान्य से परिचित करवाया | ऐसे कई मुद्दे मिले जिसे जाति के नाम पर ओझल कर दिया गया था | सवर्णों के द्वारा लिखित साहित्य में शम्बूक को खल पात्र के रूप में चित्रित करके उसकी हत्या राम के द्वारा करवायी | इसी प्रकार एकलव्य का अंगूठा का प्रकरण पर दलित आलोचक विरोध प्रकट करते हुए नए सिरे से दलित साहित्य को प्रस्तुत करते हैं एक तरह से दलितों के प्रति किये गए अन्याय को विभिन्न कृतियों में प्रस्तुत करते हैं | मोहनदास नैमिशराय भी इसी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं -“देश और समाज के प्रति प्रेम और बलिदान ने उन्होंने इतिहास में खास जगह बनाई थी | दुःखद बात यह थी कि जाति विशेष के चश्माधारी इतिहासकारों, साहित्यकारों और पत्रकारों में से किसी ने भी दलित समाज की उस वीरांगना झलकारी बाई की खबर नहीं ली थी | भला हो स्वयं उन दलित और पिछड़े समाज के

<sup>202</sup> छप्पर, जयप्रकाश कर्दम, आवरण पृष्ठ से

<sup>203</sup> हिंदी दलित साहित्य का विकास, प्रमोद कोव्रत, पृ.सं.-130

लेखक, पत्रकार तथा नाट्यकारों का, जिन्होंने छोटी-छोटी पुस्तकें लिखकर इतिहास के उन महत्वपूर्ण तथ्यों को उजाले में लाने का प्रयास किया, जो बरसों से अँधेरे में पड़े थे।”<sup>204</sup>

झलकारी बाई कोई रानी नहीं थी, और न उसे अलंकारों का मोह था, उसे प्रेम था तो सिर्फ अपने देश से, जिसके लिए उसने अपने प्राण तक की परवाह नहीं की थी। 1857 का संग्राम जिसे पहला ‘स्वाधीनता संग्राम’ कहा जाता है उसमें और उसके बाद अनेक वीर एवं वीरांगनाओं ने अपनी शहादत दी थी। कुछ लोगों का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा गया और कुछ को इतिहास में दर्ज करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। पर ‘लोक’ का बहुत बड़ा महत्व रहा। लोक मान्यताओं ने उन्हें अपनी लोक-गीतों और लोक कहानियों में जिलाए रखा। उन्होंने अपने लोक-नायक या नायिका को अपनी संस्कृति का हिस्सा बनाया। यही लोक परंपरा के कारण ही स्वाधीनता आन्दोलन में वीर और वीरांगनाओं की शहादत गुमनाम हो कर नहीं रह पाई। बुन्देलखंडी लोक-गीतों में आज भी झलकारी बाई महत्वपूर्ण है। “जिस इतिहास ने 1857 की स्वतंत्रता संग्राम की परिस्थितियों का निर्माण किया था। उसकी निर्मात्री अकेली रानी लक्ष्मीबाई ही नहीं झलकारी भी थी।”<sup>205</sup> झलकारी बाई अंग्रेज शासन के विरोध में रानी लक्ष्मीबाई का साथ देती है। जिसका रूप लक्ष्मीबाई से मिलता जुलता था इसलिए वह लक्ष्मीबाई का जीवन बचाने के लिए अंग्रेजों को गुमराह करती है। झलकारी बाई की वजह से ही रानी लक्ष्मीबाई जिन्दा, अपने पुत्र को लेकर भाग पाती है।

झलकारी बाई आज तक इसलिए उपेक्षित रही क्योंकि इसके पीछे जाति का कारक काम कर रहा था। सवर्णों का मानना था प्रतिभा केवल सवर्णों में ही होती है। इसलिए उनके लिए यह स्वीकार करना असह्य लग रहा था कि वह एक कोरी जाति की लड़की थी जिसमें प्रतिभा बहुत थी। झलकारी की बहादुरी की बात सुन कर तो लोग उसे शाबासी देते, पर जाति का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते। माता पिता के नाम से पहले लोगों के मुंह में सहज ही जाति आ जाती। लोगों की पहचान जाति, कुल, गोत्र से होती है। वही उनकी योग्यता का मापदंड हुआ करता। “कोई व्यक्ति जाति से बाहर न था। चाहे राजा

---

<sup>204</sup> वीरांगना झलकारी बाई, मोहनदास नैमिशराय, भूमिका से

<sup>205</sup> वीरांगना झलकारी बाई, मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.-44

हो या रंक, अवर्ण हो या सवर्ण । सब के हिस्से में अपनी-अपनी जातियों के खाने थे । वे जातियां उन्हें विरासत में मिली थीं । जिसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोग आगे बढ़ाते थे ।”<sup>206</sup>

इस उपन्यास में इतिहास और कल्पना का समागम हुआ है । पर इतिहास से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गयी वरन् लोगों के सामने एक ऐसे इतिहास को लाने का प्रयास किया गया जो समाज की नजरों से ओझल था । यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें इतिहास के तथ्यों को रक्षा करते हुए कथा क्रम को बुना गया है । यह उपन्यास केवल दलित साहित्य का दस्तावेज नहीं है इसके अलावा भी रचनाकार ने समाज की कुप्रथा जैसे -बाल विवाह, अंतरजातीय विवाह पर रोक, जाति के नाम पर प्रताड़ना आदि को अपने उपन्यास का हिस्सा बनाया है । साथ ही इसमें स्त्रियों की सामाजिक जीवन की झांकी भी देखने को मिलती है । अतः एक तरह से दलित नारी के सशक्तिकरण पर भी जोर दिया गया है । इसमें स्वाधीनता-संग्राम मूल में है ही लेकिन उस समय की सामाजिक-परिस्थिति को भी रचनाकार इस उपन्यास में स्पर्श करने का प्रयास करते हैं ।

भारतीय समाज में वर्णभेद और जातिभेद सबसे बड़ी समस्या है । जिसके कारण किसी वर्ग को उच्च स्थान प्राप्त है तो कोई वर्ग निम्न स्थान में रहने के लिए अभिशप्त है । भारत में व्यक्ति गरीब से धनी हो सकता है लेकिन जाति से वे परिवर्तित नहीं हो सकता । जहाँ जाति भेद इस तरह पैठी हुई है कि जिससे मृत्यु के साथ ही पीछा छुड़ाया जा सकता है । सुशीला टाकभौरे का उपन्यास ‘नीला आकाश’ जातिभेद और वर्णभेद की मुखालफत करता है । एक वर्ग ने किस प्रकार अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए जाति-प्रथा को षड्यंत्र के रूप में इस्तेमाल किया इसकी चर्चा इस उपन्यास में की गयी है । साथ ही लेखिका इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करती हैं कि जाति-प्रथा को मिटा कर ही दलितों को न्याय मिल सकता है । लेकिन भारत में जिस प्रकार जाति प्रथा पैठी हुई है इससे निकलना कमोबेश मुश्किल है । इसलिए दलित उन्नयन के लिए समाज में जाति-प्रथा पर जागृति और दकियानूसी सोच को परिवर्तन करने की आवश्यकता है । लेखिका इस उपन्यास की भूमिका में लिखती हैं कि -“भारतीय समाज रचना में वर्णभेद और जातिभेद की भावना है । यह पहले बहुत विकराल रूप में थी । धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ है, मगर यह भावना अभी भी है । इसे पूरी तरह खत्म करके, सवर्ण और अछूत का भेद मिटाया जा सकेगा ।

---

<sup>206</sup> वीरांगना झलकारी बाई, मोहनदास नैमिशराय, पृ.सं.-25

इसके लिए सबसे अधिक जरूरत है, दलितों के बीच एकता, संगठन और भाईचारे की। 'नीला आकाश' यही सन्देश देने के लिए अग्रसर हुआ है।<sup>207</sup> इससे यह स्पष्ट है उपन्यासकार अम्बेडकरवादी चिंताधारा से प्रभावित हैं क्योंकि अम्बेडकर ने 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो' का नारा दिया था। इतना ही नहीं उपन्यासकार इस उपन्यास में यह स्पष्ट करती हैं कि अम्बेडकर के विचारों और दर्शन को अपना कर ही दलित समाज का उत्थान हो सकता है।

नीलिमा और आकाश दोनों अम्बेडकरवादी चिंतन के अनुयायी हैं जो अंबेडकर के योगदान से समूह को परिचित करवाते हैं उनके आदर्शों पर चलने के लिए अनुप्राणित करते हैं। यह उपन्यास दलित आन्दोलन से साहित्य को जोड़ता हुआ आगे बढ़ता है। यहाँ दलित चिंतकों की परम्परा को प्रस्तुत करते हुए उनके योगदान को भी प्रस्तुत किया गया है। इसके माध्यम से पाठक दलित-चिंतन दृष्टि से बखूबी रूप से परिचित हो सकता है। इस उपन्यास में दलित समाज की सबसे बड़ी समस्या अशिक्षा या अज्ञानता को रेखांकित करते हुए दलित की शिक्षा पर ही अधिक बल दिया गया है। एक तरह से इस उपन्यास में दलित-उत्थान और दलित-मुक्ति की आकांक्षा को साकार रूप देने की कोशिश की गयी है। उपन्यासकार ने महाराष्ट्र के दलितों को आधार बनाकर मातंग, वाल्मीकि, महार, चमार, खटिक आदि जातियों के शोषण और उत्पीड़न को प्रस्तुत करने के साथ-साथ सामूहिक दलित एकता की बात करती हैं। दलितों के मध्य भेदभाव के कारण दलित समाज और भी पिछड़ा जा रहा है इसलिए दलितों के मध्य एकता अनिवार्य शर्त के रूप में सामने आती है। इस उपन्यास में सवर्ण परम्पराओं का विरोध करने के साथ उनके आक्रोश को भी दिखाया गया है। "हिंदूवादी रीति ने हमें क्या दिया है-छुआछूत, अपमान, अन्याय, शोषण, अत्याचार। क्या कभी किसी ने सोचा है, हम हिन्दू केवल इसलिए हैं कि हम सवर्ण हिन्दू समाज की सेवा करते रहें। क्योंकि वे जानते हैं -जिस दिन सफाईकर्मी समाज, ईसाई, मुसलमान या बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेगा, फिर वह उनके घर सफाई करने नहीं जाएगा। कम से कम, अब तो हमारे लोगों को इस बात को समझना चाहिए।"<sup>208</sup> इस उपन्यास में आकाश और नीलिमा का अंतरजातीय विवाह करवा कर उपन्यासकार दलितों के उत्थान के लिए इसे आवश्यक सिद्ध करती हैं। इस उपन्यास के पात्र भीकू और चंदरी, नीलिमा

<sup>207</sup> नीला आकाश, सुशीला टाकभौरे, पृ.सं.-7

<sup>208</sup> नीला आकाश, सुशीला टाकभौरे, पृ.सं.-103

और आकाश आदि पात्रों के द्वारा महिला जागृति और सशक्तिकरण पर भी जोर दिया गया है। दलित स्त्रियों को जागृति का सन्देश से दलित स्त्री-विमर्श के पक्ष को और भी बढ़ावा मिला है।

‘उधर के लोग’ उपन्यास उत्तराधुनिक दौर में दलितों की स्थिति को प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि यह उपन्यास दलितों की समस्याओं को देखने की नयी दृष्टि प्रदान करता है। उत्तराधुनिक दौर में बढ़ते जातिवादी हिंसा ने दलितों के समक्ष नयी चुनौती पैदा कर दी है। हिंसात्मक समस्याओं से वे किस प्रकार आतंकित हैं आये दिन अखबारों में इसका चित्र देखा जा सकता है। प्रोफेसर कहते हैं - “हरियाणा के छोटे से कस्बे गोहना में, दलितों की एक पूरी-की-पूरी बस्ती, आग लगाकर राख में बदल दी गयी थी।...यह आग हमारे घरों में लगाई लगी थी।”<sup>209</sup> यह गैर दलितों में बढ़ी धार्मिक हिंसा का ही परिणाम है कि दलितों की बस्ती को ही जला दिया गया। दलितों की बस्तियों में आग लगाने तथा उन्हें जबरन अपनी जमीन से विस्थापित करने की घटना अनेक राज्यों में घट रही है। किसी बस्ती को अवर्णों की बस्ती के रूप में तब्दील करना तथा उन्हें अछूत मान कर शोषण करना संविधान के नियमों के विपरीत है, लेकिन प्रशासन चुप्पी साधे बैठा है। जिससे दलितों के पास सबसे बड़ी चुनौती अपने जीवन और अस्तित्व को बचाने की है।

इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट किया गया है कि भले ही समाज उत्तर-आधुनिक हो गया है लेकिन आज भी समाज वैचारिक दृष्टि से पिछड़ा है। उनका दलितों के प्रति पूर्वाग्रह ही इसका सबसे बड़ा सबूत है। “ये डोम लोग बहुत गंदे रहते हैं।”<sup>210</sup> उपन्यासकार यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं कि भले ही वह गंदे हो सकते हैं इसके पीछे सवर्ण समाज को उसकी दयनीय आर्थिक स्थिति नहीं दिखाई देती बल्कि उसके स्थान पर उनका पूर्वाग्रह ही काम करता है। जिसके पास खाने को दो जून की रोटी उपलब्ध नहीं है वे अन्य आवश्यकताओं को कैसे पूरा कर सकते हैं। यहाँ ये प्रसंग विचारणीय हैं।

इस उपन्यास में दलितों के साथ किये गए जाति भेद को प्रस्तुत करने के साथ साथ उपन्यासकार दलितों के मध्य पनपे जातीय भेद-भाव को भी प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि हिन्दू समाज में बढ़ती जातीयता से दलित भी प्रभावित हैं

<sup>209</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.-9

<sup>210</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.-25

| अब उनमें भी छुआछूत जैसी कुप्रथा फैलने लगी है | सुशील कहता है -“मैंने कब कहा कि जाटव जाति से मैं चिढ़ता हूँ | मुझे उन जाटव लोगों से चिढ़ है, जो हमारे लोगों से छूत-छात करते हैं | ये साले भी छिपे हुए वेदप्रकाश हैं |”<sup>211</sup> साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया कि अशिक्षित वर्ग भले ही इस तरह के दकियानूसी नियमों का पालन कर सकता है लेकिन शिक्षित वर्ग से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस तरह की कुप्रथाओं से दूर रहें | लेकिन सच्चाई यह है कि क्या शिक्षित वर्ग इस तरह के नियमों से दूर हो पाया है ? आज के दौर में शिक्षित दलितों में एक-दूसरे की जाति को लेकर हीन भावना पनपी है | जयंत जाटव है जो दलितों के एक समुदाय से आता है | किन्तु जयंत और सुशील (वाल्मीकि) की बातों से स्पष्ट है दोनों अपनी जाति को लेकर चिंतित हैं | उनमें दलित एकता के सूत्र नहीं तलाशे जा सकते | “वाल्मीकियों को या किसी और जाति को हमने तो मना नहीं किया था कि मत पढ़ो-लिखो, मत अम्बेडकरवादी विचारों को मानो | अब कोई झाड़ू लगाने के आरक्षण को ही अकेले उठाना चाहे, तो उठाए, खूब उठाए |”<sup>212</sup> इस तरह हम देख सकते हैं कि ये दलित जातियां ही एक-दूसरे की मदद करना नहीं चाहती | इसके जरिये उपन्यासकार यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि दलितों का उन्नयन नहीं होने के पीछे सवर्ण समाज का शोषण तो है ही लेकिन दलितों में एकता की कमी भी इसका सबसे प्रमुख कारण है |

इस उपन्यास में केवल दलितों का शोषण ही नहीं दिखाया गया है बल्कि अनेक कोणों से दलितों की समस्याओं का मूल्यांकन करने का भी प्रयास किया गया है | इसलिए इस उपन्यास में दलितों की सामाजिक समस्याओं को दिखाने के साथ साथ आर्थिक और राजनीतिक स्थिति को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है | आरक्षण जैसे सवाल पर भी उपन्यासकार की स्पष्ट बयानी पाठक को आकर्षित करती है | उन्होंने इस बात से इनकार नहीं किया कि आरक्षण के द्वारा ही दलितों के स्थिति में सुधार हुआ है लेकिन आप इस उपन्यास में यह स्पष्ट अवश्य करना चाहते हैं कि आज भी कई दलित समुदाय ऐसे हैं जिन्हें आरक्षण नहीं मिलती है | वे आज भी शैक्षिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं | “सारा का सारा आरक्षण चमार खा गए ...अछूतों (खटिक) में शामिल भी कर दिया

<sup>211</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.-55

<sup>212</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.-57

और फायदा भी नहीं देंगे | मजाक बना दिया ये तो |”<sup>213</sup> यहाँ दलितों में सही रूप से आरक्षण का बंटवारा न होना को दिखाने के साथ यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि दलितों में जाति-भेद के कारणों में से यह भी एक सबसे बड़ा कारण है |

इस उपन्यास में भले ही स्त्री-पुरुष संबंधों पर बात की गयी है लेकिन उपन्यासकार का इस तरह की कथा को विकसित करने के पीछे खास वजह रही | उन्होंने इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि दलितों की स्थिति को सुधारने के लिए अंतरजातीय विवाह हर स्थान पर कारगर सिद्ध नहीं हो पाते हैं | प्रोफेसर का वंदना नाम की सवर्ण लड़की से प्रेमपूर्वक विवाह हो जाता है लेकिन उनमें तनाव होता रहता है | भले ही स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में तनाव के कई कारक होते हैं लेकिन दोनों के मध्य जातीय भेद भाव भी इस तनाव का एक कारण है | यहाँ यह दिखा कर सवर्णों का दलितों के प्रति दृष्टि और रवैये को प्रस्तुत किया गया है |

अंत में यह कहना आवश्यक है कि भाषा, शिल्प और विषय की दृष्टि से इस उपन्यास में नए प्रयोग देखे गए हैं जो इस उपन्यास को विशिष्ट बनाता है | लेकिन यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपन्यासकार की स्त्रियों के प्रति दृष्टि को लेकर सहमतियाँ और असहमतियाँ रही हैं | जिसमें वंदना, आयशा का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण है | ऐसे में इस उपन्यास को स्त्री दृष्टि से भी मूल्यांकन करने की आवश्यकता है |

ओड़िशा में ही नहीं बल्कि भारत में आये दिन दलितों पर शोषण की खबर छपती रहती है | आधुनिक समाज में बढ़ती सजगता ने जैसे दलितों के प्रति बढ़ते शोषण को और बढ़ावा दिया है | भले ही दलितों के प्रति हो रहे शोषण का विरोध किया जा रहा है लेकिन उनके प्रति हो रहे शोषण में शायद ही कमी आई हो | कभी-कभी उन्हें दलित होने के कारण सवर्ण बस्ती से बाहर कर दिया जाता है तो कभी उनके घरों में आग लगा दी जाती है, कभी-कभी उन्हें बेदम पीटा जाता है | 2012 में ओड़िशा के बलांगीर में स्थित लाठोर में दलितों को दुर्गापूजा में शामिल होने से 38 दलित परिवारों के घर में आग लगा दी जाती है | इसी यथार्थ घटना पर ‘पोड़ापोड़ी’ उपन्यास आधारित है | इसमें हिन्दू समाज में स्थित जाति-प्रथा के नाम पर कट्टरता और बर्बरता को प्रस्तुत किया गया है | उपन्यासकार इस उपन्यास में पश्चिम ओड़िशा में दलितों के घर जलाने के पीछे के कारणों की तलाश करते

---

<sup>213</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.-114

हैं । उन्होंने उपन्यास में यह स्पष्ट किया है कि- दलित, वर्तमान में सवर्ण समाज के उच्च जातियों की परंपरा को अपनाने लगे थे । सवर्ण समाज को यह शंका होने लगी है कि कहीं दलित उनकी बराबरी करने न लगे । इस उपन्यास में कुछ दलित पात्र गणेश, विकास, मानस, सुरेश सवर्णों की तरह दुर्गा-पूजा और देवी-देवताओं को पूजने लगते हैं । अपने लिए मंदिर का निर्माण करते हैं । क्योंकि सवर्ण मंदिरों में उनका प्रवेश निषेध है । सत्ता में स्थित सरकार भले ही अपना उल्लू सीधा करने के लिए गणा दलितों की मंदिर की मांग को पूरा करते हुए हनुमान मंदिर का निर्माण करवाते हैं किन्तु सवर्ण समाज इसका विरोध करता है बाद में उस मंदिर में भी उनका प्रवेश वर्जित हो जाता है । दलितों में शिक्षा की बढ़ोतरी से भी सवर्ण समाज खुश नहीं है क्योंकि दलित हर उस चीज़ पर प्रश्न खड़ा करता है जिससे वह वंचित रहता आया है । सवर्ण अपनी वर्चस्ववादी शक्ति को खोता देख परेशान थे जिसका हल उन्होंने दलितों का घर जला कर किया था । इससे एक बात यह स्पष्ट हो गयी कि दलितों में आये अस्तित्वबोध और अपने प्रति हो रहे शोषण के प्रति विरोधात्मक स्वर ने सवर्णों को और ज्यादा क्रूर और जातिवादी बना दिया है । वे दलितों की प्रगति से खुद को हीन भावना से ग्रस्त मानने लगे । इसलिए दलितों को अनेक तरह से प्रताड़ित करते हैं । समय की गतिशीलता के कारण दलितों के समक्ष नयी चुनौती आ रही है सबसे बड़ी चुनौती खुद को सुरक्षित रखने के साथ-साथ आत्मविश्वास और अस्तित्वबोध को बचाए रखने की रही है । अतः यही कहना होगा कि समकालीन परिदृश्य में दलितों के शोषण के पैमाने बदल जरूर रहे हैं, लेकिन जरूरत है इस राजनीति को समझने की । सवर्णों को दलितों का शोषण उसी रूप में करने के आकांक्षी हैं जिस तरह वे करते आये हैं । दलितों में आये बदलाव ने सवर्ण मानसिकता को गहरी चोट पहुंचाई है जैसे - “वास्तव में जो गणा लोग उसके सामने खड़ा नहीं हो पाते थे, एक घाट में नहा नहीं पाते थे, रास्ते में साथ नहीं चल पाते थे, छींक आने पर छींक नहीं पाते थे, थूक आने पर उसे पी जाते थे, केस या मुकदमा होने पर उनके परामर्श के बिना कुछ नहीं कर पाते थे । रास्ते में चलते समय झुक कर प्रणाम करते थे । वे फिर ऐसा दंड विधान कर सकते हैं ? उनके(दलित) निर्देश पर कान पकड़ कर एक पैर पर खड़ा होना पड़ेगा ?....इस तरह दयनीय एवं दंडविधान करने



के बाद गणा लोग उन्हें और न खातिर करेंगे और न सम्मान पूर्वक उनसे बातें कर सकेंगे  
|”<sup>214</sup>

इस उपन्यास में दलित-प्रवासन को भी स्पष्ट किया गया है जिसके मूल में उनका शोषण और भेदभाव की समस्या रही है। दलितों को ग्रामीण स्तर पर सार्वजनिक स्थलों या निजी स्थलों से पानी लेने पर तो रोक है ही लेकिन गाँव में स्थित घाटों में भी छुआछूत के कारण भिन्नताएँ देखी जाती हैं। जैसे -गणा के लिए घाट, चमारों के लिए घाट, ब्राह्मणों के लिए घाट, आदि, आदि। उपन्यासकार का मूल उद्देश्य दलितों में भी स्थित जातीय भेदभाव को भी चित्रित करना रहा है। गाँव और शहरों का हवाला लेकर उपन्यासकार यह स्पष्ट करने का भी प्रयास करते हैं कि दलितों का शोषण शहरों में तो है ही लेकिन गाँव की स्थिति इससे ज्यादा बदतर है। दलित स्त्री शोषण का विरोध भी इस उपन्यास में देखा गया है।

‘भेद’ उपन्यास ओड़िशा में स्थित भेद-भाव की स्थिति को प्रस्तुत करता है। ये भेद-भाव दलितों के लिए कितने पीड़ा दायक होते हैं इसका चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि भारतीय समाज में व्यक्ति विशेष से अधिक जाति का महत्त्व है। जाति भेद ही दलितों के शोषण का कारण है। जिसकी वजह से दलित प्रताड़ित होता है। ‘भेद’ उपन्यास में कथा की शुरुआत दो सवर्ण और दलित बच्चों की लड़ाई से होती है। उपन्यासकार इन दोनों के जरिये सवर्ण समाज के दकियानूसी नियम-कानून की पोल खोलते हैं। सवर्ण समाज दलितों को अछूत तो मानता है ही साथ ही शुद्धिकरण जैसे दकियानूसी नियमों का भी वे अनुपालन करते आये हैं। दलितों से शुद्धिकरण के नाम पर पैसे ऐंठे जाते हैं जो उनके लिए सबसे बड़ी समस्या होती है धर्म के नाम पर तो उनका शोषण होता ही है लेकिन सवर्ण समाज आर्थिक रूप से भी उनका शोषण करता है। दलितों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण सवर्ण समाज उनकी शिक्षा पर कटाक्ष करता है। बाया वकील कहता है -“जो भी हो सेठ, घर गन्दा होने पर डोम लोग जिस तरह से चिढ़ जाते हैं वह कहा नहीं जा सकता है ! और दो अक्षर क्या सीख लिया मानों वेद उपनिषद् उनकी मुँह जुबानी है ! मानो जो जहाँ रहना चाहिए वह वहाँ न रह कर ऊपर उठ जाएँगे, वे और इंद्रचन्द्र (देवी-देवता) को मानेंगे ? ....दो अक्षर क्या पढ़ लिया तो

---

<sup>214</sup> पोड़ापोड़ी, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-162

क्या तुम ब्राह्मण बन जाओगे ?...सात जन्म छोड़ कर सौ जन्म तपस्या करने पर भी क्या सूअर, गाय बन सकता है ? त्रेता युग में तुम्हारी बिरादरी के शम्बूक को ब्राह्मण बनने की तपस्या करने के कारण उसकी हत्या की गयी । स्वयं प्रभु श्रीरामचन्द्र ने उसका धड़ और सिर अलग कर दिया था ।”<sup>215</sup> इसलिए दलित धार्मिक ग्रंथों का विरोध करते आये हैं । वे ‘मनुस्मृति’ का भी विरोध करते हैं क्योंकि ये ग्रन्थ ही उनके शोषण के प्रमुख कारक हैं । इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय ओड़िशा में स्थित दलित समाज के उत्पीड़न और शोषण को प्रस्तुत करना रहा है । इसलिए इस उपन्यास में दलितों का आक्रोश भी उपस्थित है । “कौन से शास्त्र में लिखा है कि डोम जाति के लोग मंदिर नहीं जा सकते ? वह शास्त्र तुमने लिखा या तुम्हारे बाप दादाओं ने या तुम्हारे चौदह पुरुषों ने । जले मुंह तेरा शास्त्र का रौब दिखाता है । हम क्या शास्त्र नहीं पढ़े हैं ! बड़े ठाकुर जगन्नाथ चंडालनी की निंदा करने के कारण बारह घरों में भिक्षा मांगे थे । यह क्या शास्त्र में नहीं लिखा है ?”<sup>216</sup> इस उपन्यास का मुख्य पात्र दिनामाष्ट्रे का बेटा लल्टू है । लल्टू के माध्यम से उपन्यासकार दलित मनोस्थिति को प्रस्तुत करते हैं और सवर्ण समाज के दकियानूसी नियमों का विरोध करते हैं । साथ ही दलितों को अछूत मानते हुए पानी को लेकर विरोध को भी दर्शाया गया है । दलित /डोम लोगों से सवर्ण पानी तक नहीं पीते और प्यास लगने पर पानी के मटके तक को छूने का अधिकार नहीं है । अन्य कोई सवर्ण आ कर उन्हें पानी दे सकता है अन्यथा वे पानी के लिए तरसते रहते हैं । लाल्टेंदु दुरिया के साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाता है । इस उपन्यास में अम्बेडकरवादी विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है । साथ ही सवर्ण समाज की सांस्कृतिक इतिहास की भी पोल खोली गयी है । उपन्यासकार इस उपन्यास में स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मणों द्वारा लिखित आचार संहिता में स्पष्ट है कि ब्राह्मण लोग पहले गाय खाते थे किन्तु बुद्ध के अहिंसा धर्म का प्रभाव जब उन पर पड़ा तब उन्होंने गाय खाना छोड़ दिया था । इस तरह यह उपन्यास दलित चेतना से ओतप्रोत है जिसमें कोई दो राय नहीं है ।

‘असवर्ण’ उपन्यास के केंद्र में दलितों के सामाजिक सम्मान और सवर्ण समाज में उनके प्रति रवैये को स्पष्ट किया गया है । इस उपन्यास में जाति आधारित पेशों को प्रस्तुत करते हुए उच्च जाति में स्थित धर्म के कट्टर रूप को प्रस्तुत किया गया है । इस

<sup>215</sup> भेद, अखिल नायक, पृ.सं-52

<sup>216</sup> भेद, अखिल नायक, पृ.सं-65

उपन्यास में दलितों को मिलने वाले आरक्षण को लेकर मुख्यधारा के लोगों की प्रतिक्रिया को भी स्पष्ट किया गया है। इस उपन्यास में दलितों के विरुद्ध सवर्ण समाज किस तरह की मानसिकता रखता है इसका भी सजीव चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में उपन्यासकार यह स्पष्ट करते हैं कि शहरों की बाहरी जिंदगी में भले ही अब भेदभाव न दिखाई देता हो लेकिन मन में यह बात आज भी जड़ जमाए बैठी है कि दलित अछूत हैं और वे निम्न जाति से हैं। उपन्यासकार इस उपन्यास में दो पात्र भगीरथ (दलित) और अलका (सवर्ण) के अंतरजातीय विवाह के द्वारा इन ग्रंथियों को प्रस्तुत करते हैं। अलका से उसके पिता ब्रह्मानंद कहते हैं -“ तुम अगर भगीरथ से विवाह करोगी तो तुम्हें अनेक चीजों का त्याग करना पड़ेगा। हो सकता है यह घर भी तुम्हारा नहीं रहेगा। मुँह में असवर्ण विवाह की प्रशंसा करने के बावजूद समाज के उच्च वर्ण के सवर्ण तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखेंगे। सामाजिक प्रतिष्ठा सम्मान के अतिरिक्त तुम जो कुछ प्राप्त करोगी क्या तुम उसमें खुश हो पाओगी।”<sup>217</sup> इस उपन्यास में दलित युवक भगीरथ की आन्तरिक मनोदशा का चित्रण करने के साथ-साथ उसके परिवार और दलित समाज की स्थिति को भी चित्रित किया गया है। दलित लोगों के शोषण और उत्पीड़न को भी इस उपन्यास में दिखाया गया है। “अन्य बच्चे तालपत्र से बने चटाई पर बैठ कर ट्यूशन पढ़ते थे जबकि वह (भगीरथ) उनसे दूर मिट्टी पर बैठ कर संस्कृत शब्द रूप और धातुरूप सीखता था। अन्य बच्चों से उच्चारणगत अशुद्धियों पर संस्कृत के पंडित कान मरोड़ कर उनकी भूल सुधारते थे जबकि यदि वह शब्द रूप, धातुरूप ठीक से उच्चारण नहीं कर पाता था तो कहीं उसको छूने पर कपड़े अछूत न हो जाए इसी डर से पंडित उनके पास नहीं आते थे। इसलिए उनके निर्देश पर हाफ पेंट पहने किसी छात्र, वे आकर उसका कान मरोड़ता था। उनकी (सवर्णों) यह धारणा रही थी कि धोती पहन कर छूने पर अछूत हो जाते हैं जबकि पेंट पहनकर अस्पृश्य लोगों को छूने पर छूत नहीं लगता है।”<sup>218</sup> इस उपन्यास में यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि कैसे किसी भाषा को जाति विशेष के साथ जोड़ दिया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट किया है कि दलितों का सवर्ण समाज के लोगों के प्रति विरोधी भावनाओं को भी प्रस्तुत किया गया है। अलका से भगीरथ का विवाह करना सवर्णों को सबक सिखाने की मानसिकता पर आधारित है। एक तरह से सवर्ण समाज की पीड़ा

<sup>217</sup> असवर्ण, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-16

<sup>218</sup> असवर्ण, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-37

भी इसमें व्यक्त की गयी है | पंडित का आरक्षण न मिलने पर बेटे की नौकरी का न होना साथ ही अलका के पिता का अलका का विवाह भगीरथ नामक दलित युवक के विवाह करने के उपरांत दुःख का अनुभव करना आदि | यह उपन्यास गैर-दलित लेखक के द्वारा लिखे जाने के कारण दलितों के प्रति गहरी वेदना प्रस्तुत न करके सहानुभूति ही प्रकट करता है | भले ही उन्होंने दलितों की समस्याओं को सेकुलर हो कर चित्रित किया हो लेकिन इसमें विद्रोह की कमी देखी जा सकती है साथ ही दलित अस्मिता का स्वर और अम्बेडकरवादी विचारधारा की कमी देखी जा सकती है |

‘अस्पृश्य’ उपन्यास दलित जीवन पर आधारित उपन्यास है लेकिन इसे दलित उपन्यास नहीं कहा जा सकता | इसमें मूल रूप से आदर्शवादी सोच को प्रधानता मिली है | उपन्यासकार, उपन्यास में समतावादी दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं | सवर्ण समाज की मानसिकता के आधार पर यह उपन्यास समतावादी हो सकता है पर दलितों की दृष्टि से यह उपन्यास दलित विरोधी है | उपन्यासकार इस उपन्यास में दलितों से आग्रह करते हैं कि अपने अन्दर मनुष्य होने की भावना को जगाओ | आत्मचेतस हो कर अस्पृश्य या दलित के आवरण को तोड़ कर मनुष्य बनो | अब सवाल यह खड़ा होता है कि क्या दलित खुद को मनुष्य नहीं समझते हैं ? मनुष्य वे सदैव से रहे ही लेकिन सवर्ण समाज उसे मनुष्य होने का दर्जा नहीं देता है ! उसे अस्पृश्य या अछूत समझता है | जहाँ तक रही स्वाभिमान की बात आज उनके अन्दर आई अस्मिता के कारण ही वे सवर्णों के शोषण के विरुद्ध खड़े हैं | आज वे शास्त्र से भी परिचित हैं और धार्मिक शास्त्रों का हवाला देकर शोषणकारी से भी | वे ‘मनुस्मृति’ जैसे ग्रंथों का भी विरोध करते हैं जिसके कारण उन्हें सदियों से शोषित होना पड़ा है | सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके अन्दर यह अस्मिता की भावना को जगाने का काम ज्योतिबा फूले और अम्बेडकर जैसे विद्वानों ने किया | उपन्यासकार फिर किस अस्मिता/मनुष्य को जगाने की बात कर रहे हैं ?

एक तरफ जहाँ उपन्यासकार दलितों को मनुष्यता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं वहीं दूसरी तरफ जातिगत आरक्षण का विरोध करके दलित विरोधी दृष्टि को अपनाते हैं | आज अगर दलितों की उन्नति हो पायी है तो इसका सबसे बड़ा कारक आरक्षण ही है | वे अगर खुद को दलित न भी समझे तो भी क्या सवर्ण समाज उसे मनुष्य के रूप में देखेगा | ये आदर्शवादी सोच भले ही हो सकती है लेकिन यथार्थ यही है कि आज उनका उन्नयन होने के बावजूद उसे नीच और अछूत के रूप में सवर्ण समाज देखता है | जातिगत समस्या का

हल होना इतना आसान नहीं है । आज भी सवर्णवादी मानसिकता में दलित मनुष्य नहीं है । आरक्षण पर कटाक्ष करते हुए उपन्यासकार लिखते हैं - नारद कहता है -“प्रभु ! कोटा ! कोटा के द्वारा ही यह सब संभव है यह विज्ञान का युग है ! यहाँ इंजीनियर बनने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं है -मनुष्य यहाँ बंदर को भी इंजीनियर बना सकता है ।”<sup>219</sup> दूसरा उदाहरण “अब कोटे के दम पर अर्थ और क्षमता का प्रलोभन देकर शिक्षित मनुष्य को अस्पृश्य बना रहे हैं ।”<sup>220</sup> उपन्यासकार इस उपन्यास में कहीं पर भी सवर्णों का विरोध नहीं करते हैं और न उनके शोषण के इतिहास का ही जिक्र करते हैं ।

उपन्यासकार दलितों को मिलने वाले आरक्षण की निंदा करते हुए कहते हैं दलित आत्म स्वाभिमान खो कर ही आरक्षित कहलाये हैं । आज वे समाज में आगे बढ़ते हुए दिख तो रहे हैं लेकिन सवर्ण समाज उन्हें ‘कोटे’ का पिछलग्गू मानता है । इसलिए दलितों के उच्च पद पर आसीन लोगों के लिए ‘कोटा डॉक्टर’, ‘कोटा इंजीनियर’, ‘कोटा शिक्षक’ आदि नामों से उन्हें विभूषित किया जाता है।

उपन्यास के अंत में उपन्यासकार का यह स्पष्ट करना कि आरक्षण जातिगत न हो कर वर्गगत होना चाहिए उनकी दृष्टि को साफ जाहिर करता है । “सच कहूँ तो कोटा ने मनुष्य को जितना ऊपर उठाया है, उतना ही जातिगत भेदभाव की भी वृद्धि हुई है । जाति का स्वरूप, समाज के सामने नग्न रूप में खड़ा है जैसे मेघनाथ का प्राचीर हो ।”<sup>221</sup> किन्तु इस बात से इसलिए सहमत नहीं हुआ जा सकता है कि जातिगत भेदभाव आरक्षण से ही बढ़े हैं क्योंकि जातिगत भेदभाव के भयावह रूप से तंग आकर इस तरह के नियम लागू लिए गए हैं । इतिहास गवाह है कि दलित सदियों से किस तरह प्रताड़ित रहे हैं । आज अगर यह धारणा सवर्णों ने बना ही ली है कि आरक्षण के कारण ही दलित ऊपर उठ रहे हैं लेकिन वह कभी उनकी बराबरी नहीं कर सकते तो उनका इस तरह के सोचने के पीछे उनका पूर्वाग्रह ही काम कर रहा है न की आरक्षण की नीति । उपन्यासकार, सवर्ण समाज को दलितों के प्रति दृष्टि को बदलने के पक्षधर नहीं हैं । उपन्यास में यह कहीं पर भी जिक्र नहीं करते हैं । उनका जोर सिर्फ जातिगत आरक्षण को खत्म करना रहा है जो दलितों के उन्नयन के लिए सबसे बड़ा संकट है । उपन्यासकार एक तरह से अंबेडकर विरोधी दृष्टि

---

<sup>219</sup> अस्पृश्य, अजय महापात्र, पृ.सं.-66

<sup>220</sup> अस्पृश्य, अजय महापात्र, पृ.सं.-108

<sup>221</sup> अस्पृश्य, अजय महापात्र, पृ.सं.-46

को अपनाते हैं | इस उपन्यास में उपन्यासकार की दायम दृष्टि नजर आती है | एक ओर कभी वह दलितों के प्रति सहानुभूति दिखाने का प्रयास करते हैं वहीं दूसरी जगह प्रतीकात्मक रूप से उन्हें गधे के रूप में चित्रित करते हैं।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि दलित समाज विषयक ओड़िया की अपेक्षा हिंदी में अधिक उपन्यास उपलब्ध हैं | हिंदी में दलित साहित्य और दलित आलोचना का विकास होने के कारण दलित सम्बन्धी चिन्ताएं स्पष्ट हैं | ओड़िया में दलित साहित्य की तो शुरुआत हो चुकी है लेकिन दलित आलोचना का विकास नहीं हो पाया है | अभी तक ओड़िया दलित उपन्यासों से सम्बन्धित कोई लेख प्राप्त नहीं हो पाए हैं या दलित उपन्यास के विकास को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत ही नहीं किया गया है | 'दलित साहित्य एक आलोचना' नामक लेख में दलित उपन्यास से पूर्व की पृष्ठभूमि का तो हवाला दिया गया है लेकिन दलित उपन्यासों पर सुप्रिया मलिक कुछ नहीं लिखती | वासुदेव सुनानी 'ओड़िया दलित साहित्य' पुस्तक के विषय प्रवेश में दलित साहित्य की अन्य विधाओं की तो चर्चा करते हैं वहीं दलित उपन्यासों को लेकर वह प्रायः नीरव रहते हैं | दलित उपन्यास के सम्बन्ध में आलोचना अपेक्षित है | यह भी यहाँ कहा जा सकता है कि दलित उपन्यासों की दृष्टि से दलित साहित्य अभी प्रारंभिक चरण में है | ओड़िया में दलितों के शोषण दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे लेकिन ऐसे में दलितों के विरोध में कोई आन्दोलन या विरोध न होना यह बहुत दुःखद स्थिति है | ऐसे में दलित साहित्य भी दलित समाज के यथार्थ को व्यक्त करने के लिए दलित उपन्यासों की मांग करता है | अभी तक देखा जाए तो सही मायने में दलित उपन्यास तीन ही हैं |

बहरहाल दलित उपन्यास चाहे वह ओड़िया, हिंदी या अन्य भाषा को क्यों न हो उसकी पृष्ठभूमि यथार्थ पर आधारित है | इसलिए दलित उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कह सकते हैं | शोषण, उत्पीड़न जैसी समस्याओं की दृष्टि से सभी दलित उपन्यास एक दूसरे से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं | इन उपन्यासों को भारतीय दलित उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है | भारतीय भाषाओं में लिखित दलित साहित्य से भारत के विभिन्न स्थानों में दलितों के प्रति शोषण कैसे और किस रूप में किये जा रहे हैं साथ ही वहाँ समाज इस मायने में कितना सजग है इसका भी जायजा लिया जा सकता है |

दोनों भाषाओं के दलित उपन्यासों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि दलित उपन्यासों में विषय व्यक्ति केन्द्रित न हो कर समाज केन्द्रित है | यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक

हो गया है कि सवर्णों के द्वारा लिखित उपन्यासों से दलितों के द्वारा लिखित उपन्यासों में भिन्नताएँ हैं। सवर्णों या गैर-दलितों के द्वारा लिखित उपन्यासों में भले ही दलितों को लेकर संवेदनाएँ हैं, लेकिन उनमें दलित अस्मिता का अभाव रहा है। कभी-कभी गैर-दलित उपन्यासकार पात्रों को इस रूप में चित्रित कर देता है जो चमत्कृत करने के साथ-साथ मनोरंजनपरक भी होता है। दलित उपन्यासों की स्थिति ठीक उलट है, इसमें अस्मिता, पहचान का सवाल प्रमुखता से उभरा है। दलित उपन्यास मूलतः संगठनबद्धता को महत्व देता है और धार्मिक आड़म्बरों पर कुठाराघात करता है। यथास्थिति वादी समाज में सभी को समान दृष्टि से देखने का स्वर दलित उपन्यासों में उठाया गया है। इस तरह इनमें समतावादी तत्व के साथ साथ देशीय एकता की प्रधानता देखी जा सकती है। दलित साहित्य में सभी को जागृत कर इतिहास, संस्कृति और सभ्यता को दुबारा टटोलने की पहल है। इन उपन्यासों में शांति नहीं बल्कि विद्रूपताओं को दूर करने के लिए क्रांति पैदा करने की ताकत है। जीवन के कटु यथार्थ से परिचित होने के कारण उनकी भाषा आक्रोश पूर्ण है, इसलिए इन उपन्यासों में अलंकृत और सौम्य भाषा की जगह कठोर और यथार्थपूर्ण भाषा की अधिकता है। इस तरह के उपन्यासों में अभिधात्मक शैली का प्रयोग किया जाता है। अंत में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हिंदी और ओड़िया दोनों उपन्यासों में ये सभी तत्व विद्यमान तो हैं ही लेकिन ओड़िया दलित उपन्यासों में दलित स्त्री की अस्मिता का सवाल प्रायः उपेक्षित है। संभवतः दलित लेखिका के अभाव के कारण भी ऐसा देखा जा सकता है।

पंचम अध्याय  
लैंगिक, बाल, वृद्ध जीवन पर आधारित विवेच्य-  
उपन्यास

5.1 लैंगिक-आधार

5.1.1 स्त्री-जीवन और स्त्री-दृष्टि

5.1.2 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.1.3 विवेच्य उपन्यास

5.1.3.1 कवीर-वर्ग

5.1.3.2 किन्नर

5.1.3.3 समलैंगिकता

5.1.3.4 कानूनी संघर्ष और प्रावधान

5.1.3.5 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

5.1.3.6 विवेच्य कृतियों की समीक्षा

5.2 बाल-जीवन

5.2.1 बाल-साहित्य का ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.2.2 विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा

5.3 वृद्ध-जीवन

5.3.1 पृष्ठभूमि

5.3.2 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

5.3.3 साहित्यिक-साक्ष्य



इस अध्याय के अंतर्गत समकालीन समय में बदलते पारिवारिक दृश्य को प्रस्तुत करने के साथ साथ परिवार में वर्षों से उपेक्षित समुदाय की स्थिति का आकलन प्रस्तुत किया गया है । पारिवारिक व्यवस्था में स्त्री परिवार की धुरी है जिस पर पूरा परिवार आश्रित है । किन्तु पारिवारिक जिम्मेदारियों में दबा स्त्री-मन कई बार लैंगिक भेद का सामना करता आया है । आज समाज में ऐसे अनेक समुदाय हैं जिसे लैंगिक दृष्टि से उपेक्षित किया गया है । जिसमें स्त्री के अतिरिक्त समलैंगिक पुरुष, समलैंगिक स्त्री, किन्नर आदि आते हैं । ये ऐसे उपेक्षित समुदाय हैं जिन पर लोगों की दृष्टि पूर्वाग्रहों से ग्रसित तथा परंपरावादी रही । यही कारण रहा है कि आज ये वर्ग लैंगिक भेदभाव को दूर करने की मांग करते हुए खुद को मनुष्य समझे जाने तथा उनकी मानसिक और आंतरिक स्थिति को समझने की भी मांग करते हैं । इस उत्तराधुनिक दौर की यह विशेषता रही है कि यहाँ उपेक्षित समुदाय अपनी समस्या को प्रस्तुत करने के साथ साथ अपनी अस्मिता के प्रश्नों को लेकर भी प्रस्तुत हो रहा है, ऐसे में इन वर्गों की अपनी समस्या को लोगों के समक्ष लाना इस दौर की प्रगतिशीलता को प्रस्तुत करता है । इस दौर में ऐसे अवस्थाविशेष की समस्याएं भी सामने आ रही हैं जो नए उपेक्षित वर्ग हैं । जिसमें बालकों के प्रति बढ़ती समस्या तथा बुजुर्गों की समस्या देखी जा सकती है । अतः ये सारी समस्या पारिवारिक समस्या से जुड़ती है ।

इस अध्याय के अंतर्गत उपरोक्त उपेक्षित समुदायों पर उपन्यासों को केंद्र में रख कर बात की जाएगी । साथ ही ओड़िया और हिन्दी के उपन्यासों में इन समुदायों वर्गों को लेकर लिखित दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है । अतः इस दौर में ऐसे उपेक्षित समुदाय पर बहु-मात्रा में दोनों भाषाओं में साहित्य लिखा जा रहा है । इसलिए इस दौर की प्रमुख प्रवृत्तियों में इन वर्गों की समस्याओं को देखा जा सकता है । साथ ही इस अध्याय में दोनों भाषाओं के प्रवृत्तियों को आधार बनाकर तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा ।

## 5.1 लैंगिक-जीवन

### 5.1.1 स्त्री-जीवन और स्त्री-दृष्टि

प्रकृति ने स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के पूरक के रूप में जन्मा है। विज्ञान की भाषा में कहें तो यह सिद्ध है कि स्त्री में xx (क्रोमोजोम) गुणसूत्र पाए जाते हैं जबकि पुरुषों में xy (क्रोमोजोम) गुणसूत्र पाए जाते हैं। पुरुष और स्त्री में भेद मूल रूप से इन गुणसूत्रों की वजह से रहा है। आपसी इसी भिन्नता ने एक-दूसरे को प्रभावित किया और संसार की रचना हुई। यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि प्रकृति ने दोनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में गढ़ा है लेकिन समाज में जो रूप हमारे सामने उपस्थित है वह इसके विपरीत है। समाज में स्त्री को पुरुष से कमतर आंकने का प्रयास किया जाता रहा है। प्राचीन दौर से स्त्री को कमजोर मान कर उसकी उपेक्षा की गयी है। यहाँ यह गौर करने वाली बात है कि क्या संसार को गढ़ने वाली स्त्री कमजोर हो सकती है? फिर ऐसा भेदभाव क्यों? अनुसंधान करने पर यह पाया गया कि प्रारम्भिक दौर में समाज मातृसत्तात्मक रहा लेकिन बाद में इसका रूप बदला और समाज पितृसत्तात्मक बना। समाज के केंद्र में स्थित पितृसत्ता ने अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए या ये कहें षड्यंत्र के तहत स्त्री को कमजोर सिद्ध करने का प्रयास किया। यहीं से लैंगिक राजनीति (जेंडर पॉलिटिक्स) का विकास होने लगा। इसी जेंडर पॉलिटिक्स के तहत स्त्रियों को सामाजिक और राजनीतिक चीजों से वंचित किया गया। इस पर ध्यान केंद्रित करने का कार्य दास प्रथा के खिलाफ उठे विरोधात्मक स्वरों ने किया। पश्चिम में स्त्रियों ने इस लैंगिक राजनीति को समझते हुए स्त्री अधिकार जैसे मुद्दों को प्राथमिकता दी और स्त्री अस्तित्व केंद्र में आया। स्त्री चिंतक सिमोन द बोउआर का यह कहना -‘स्त्री पैदा नहीं होती बनाई जाती हैं’ इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि बचपन से पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री बनाने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए वे मानती हैं कि स्त्री अगर खुद को असहाय और पुरुष के अधीनस्थ पा कर ही सुरक्षित महसूस करती है तो इसमें दोष पुरुषवादी समाज का है, क्योंकि उनमें इतना आत्मविश्वास नहीं विकसित हो पाता है कि वे स्वतंत्र सभी कार्य के लिए सक्षम हैं। भारतीय इतिहास को अगर टटोल कर देखा जाए तो यह मिलेगा कि वेदों में पुरुष को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया और स्त्रियों को गौण स्थान दिया गया। सही मायने में अगर देखा जाए तो यहीं से जेंडर पॉलिटिक्स के शुरुआती लक्षण देखे जा सकते

हैं | स्त्री चिंतक सरोजिनी साहू 'ओड़िया कथा साहित्य में नारीवाद' नामक लेख में लिखती हैं - "ये लैंगिक भेद आज का नहीं है | वेद-वेदांत, उपनिषद, पुराण और इतिहास की ओर देखने से आश्चर्य होगा कि वेद-वेदान्त में मुनिऋषि भी लैंगिक भेद की राजनीति से अछूते नहीं हैं | उदाहरण के रूप में सांख्य दर्शन को देख सकते हैं | ...उन्होंने(कपिलमुनि) कहा था कि प्रकृति और पुरुष का मिलन ही सृष्टि का मूलतत्त्व है | प्रकृति जड़ और एक है, पुरुष चेतन और अनेक | ... आगे इसकी विशद व्याख्या करते हुए कहते हैं- पुरुष पहले है | उससे ही निष्पन्न होती है पृथ्वी |"<sup>222</sup> आगे वह स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि उपनिषद, रामायण, महाभारत सभी में जेंडर पॉलिटिक्स देखा जा सकता है | "रामायण में जब राम दो-दो बार सीता से उसके सतीत्व का प्रमाण मांगते हुए उन्हें अग्नि परीक्षा देने के लिए कहते हैं, तब किसी एक व्यक्ति ने भी उनका विरोध नहीं किया | सीता राम के बिना कई वर्ष अकेली रहीं | उस समय राम के चरित्र पर क्यों किसी ने उँगली तक नहीं उठाई | सबसे आश्चर्य की बात यह है कि स्त्री वाचक शब्द सतीत्व की तरह पुरुष वाचक शब्द क्यों नहीं है |"<sup>223</sup> लेखिका ऐसे कई प्रश्नों को हमारे समक्ष रख कर लैंगिक राजनीति के परतों को खोलने का प्रयास करती हैं | महाभारत में द्रौपदी के साथ हुआ छल इसका एक प्रमाण हैं | उदाहरण स्वरूप जब यह स्पष्ट हो गया था कि द्रौपदी कोई वस्तु नहीं है जिसे बाँटा जा सके तो फिर क्यों उसको संशोधित नहीं किया गया | साथ ही जब कुरु सभा में वस्त्रहरण के समय उनके पतियों की उपस्थिति के बावजूद उनका विरोध न कर पाना हमें क्या शिक्षा देता है ? साथ ही अंतिम स्वर्ग की यात्रा में जब द्रौपदी द्वार तक नहीं पहुंच पाती हैं, तब युधिष्ठिर का यह कहना सब को अपना कर्म का फल भोगना पड़ता है, यह कहाँ तक न्यायोचित है | यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि द्रौपदी के विवाह के उपरांत उसकी कोई गलती नहीं थी, उसने अपनी पत्नी धर्म निभाने की कोशिश की | ऐसे में सभी को समान रूप से समय न दे पाना क्या उसकी भूल थी ? क्या अपने विरोध में बात कहना उसे पाप की भागिनी बना सकता है, तो बाँट कर खाने वाले स्वर्गभोगी क्यों हैं ? सभा के बीच नारी के प्रति हो रहे अन्याय के विरुद्ध खड़ा न होकर उसका मजाक बनता देखते रहने वाले क्या पापी नहीं हैं ? उनका पुरुष होना ही क्या उनकी गलतियों को माफ़ कर देता है ? अंत में स्त्री को ही क्यों पापी कह कर स्वर्ग द्वार तक जाने का अधिकार

<sup>222</sup> ओड़िया कथासाहित्य : नारीवाद, प्रो. सविता प्रधान, पृ.सं.-52

<sup>223</sup> ओड़िया कथासाहित्य : नारीवाद, प्रो. सविता प्रधान, , पृ.सं.-52

से वंचित रखा गया | ये सारे धार्मिक ग्रंथों में नारियों के प्रति इस प्रकार की दृष्टि से स्पष्ट है कि ये पुरुषों के द्वारा किया गया लैंगिक राजनीति का हिस्सा है | जिसमें स्त्री का सतीत्व रूप ही वन्दनीय है, मानो वह मनुष्य ही नहीं | पुरुषों को स्त्री केवल और केवल दैवी रूप में ही ग्रहणीय है जबकि सामान्य मनुष्य की तरह वह ग्रहणीय है ही नहीं अगर है भी, तो आदर्श के केंचुली में बंधी | प्रश्न यह खड़ा होता है कि अगर पुरुष खुद को देव (सज्जन) नहीं बना सकता तो स्त्री से इस प्रकार की आशा क्यों ? नारी के अस्तित्व को हर बार नजरंदाज करने का प्रयास किया गया है, लेकिन नारी इन सबसे अनभिज्ञ पुरुष को अपना सर्वशक्तिमान बना कर पूजती आई है | धार्मिक ग्रंथों के अलावा भी ऐसे दार्शनिक, विद्वान और आलोचक हुए जिन्होंने इन्हीं तथ्यों को सर्वसर्वा मान कर स्त्री को कमतर आँका |

हिंदी साहित्य भी इस लैंगिक राजनीति से अछूता नहीं रहा है | सिद्ध, नाथों से होते हुए भक्ति काल के शंकराचार्य, तुलसी, कबीर और रीति काल के कवियों तक की दृष्टि नारी को एक भोग्या के अतिरिक्त शायद ही कुछ और देखा जाता रहा है | जैसा कि पहले ही स्पष्ट है कि नारी का सती रूप ही इस दौर तक ग्रहणीय रहा जबकि कामिनी रूप की निंदा की गयी | कबीर ने स्त्री को महाठिगनी के रूप में देखा तो तुलसी ने उसे ताड़न के अधिकारी के रूप में चित्रित किया लेकिन गौर करने वाली बात यह है कि दोनों पतिव्रता नारी को सम्मान देते हैं। कबीर का यह कहना 'पतिव्रता नारी भली काली कुचित कुरूप' इस दृष्टि को पुष्ट करता है | कहने का तात्पर्य यही है कि नारी के आदर्श रूप को सराहा गया बल्कि अन्य को वे हेय की दृष्टि से देखते रहे | किन्तु यह विश्लेषण करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मध्यकाल में मीरा जैसी व्यक्तित्व भी हैं, जिन्होंने पारंपरिक समाज को चुनौती देने का कार्य किया | उस दौर में अपनी स्वतंत्र राह को चुन कर आगे बढ़ना मीरा का एक क्रांतिकारी कदम था | आलोचक रोहिणी अग्रवाल कहती हैं कि -“आश्चर्य है कि भक्त कवयित्री की संज्ञा देकर हिंदी की परंपरावादी आलोचना मीराबाई के समूचे साहित्यिक अवदान को अदृश्य कर देती है | वह राजसत्ता, कुलकानि और पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देकर अपनी स्वतंत्र राहों का अन्वेषण करने हेतु बाहर की विस्तृत दुनिया में निकली स्त्री-चेतना का पर्याय हैं लेकिन दुर्भाग्यवश कभी इस रूप में विश्लेषित

नहीं की जातीं।”<sup>224</sup> यहाँ आप मीराबाई के उपेक्षित पहलुओं को स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि इसका कारण और कुछ नहीं बल्कि पुरुषों की पुरुषवादी दृष्टि ही है, जो मीराबाई के एकांगी पहलू को प्रस्तुत करता है। रीतिकाल में भी नारी की स्थिति इससे बेहतर नहीं रही, उन्हें भी राजाओं तथा पाठकों के इंद्रिय सुखों के लिए ही इस्तेमाल किया हुआ देखा जा सकता है। आधुनिक काल के प्रारम्भिक दौर में नारी के विषय में तो सोचा गया लेकिन नारी की दृष्टि से नहीं बल्कि पुरुष दृष्टि से। राजा राम मोहन राय, केशव चन्द्र सेन जैसे विद्वानों ने स्त्री समस्याओं जैसे बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध आदि कुप्रथाओं का विरोध तो किया लेकिन स्त्री के प्रति उनकी दृष्टि वही पुरुषवादी ही रही। भारतेन्दु हरिश्चंद्र का ‘बाला-बोधनी’ पत्रिका इसका प्रमाण है क्योंकि इसमें स्त्रियों को सुसंस्कृत करने का कार्य किया गया तथा आदर्श नारी की महत्ता को समझाया गया और उसकी शिक्षा दी गयी। यह स्थिति प्रेमचंद युग तक देखी जा सकती है। प्रेमचंद के गोदान उपन्यास को अगर देखें तो स्पष्ट होगा कि झुनिया का चरित्र प्रेमचंद को ग्रहणीय और शोभनीय है जबकि मालती के प्रति उनकी दृष्टि अच्छी नहीं है उसको लेकर यह कहना ‘मालती ऊपर से तितली और अंदर मधुमक्खी’ है, इससे हमें उनकी स्त्री-दृष्टि स्पष्ट है। रोहणी अग्रवाल स्त्रियों के प्रति किए गए दोहरी दृष्टि को समझती हैं और यह स्पष्ट करने का प्रयास भी करती हैं कि इसका कारण उनका स्त्रियों के प्रति पूर्वाग्रह ही रहा है, इससे न आम पुरुष वंचित हैं और न आलोचक या विद्वान। “एक, पुरुष-रचनाकारों द्वारा स्त्री को देखे-समझे-चित्रित किए जाने की पारंपरिक दृष्टि जो रचनाओं में पात्र अथवा सूक्ति बन कर उभरती है और प्रकारांतर से समाज व्यवस्था को पुष्ट करती है, जैसे कबीर एवं तुलसी की स्त्रीविरोधी उक्तियाँ, या प्रेमचंद द्वारा आधुनिक एवं चेतन स्त्री मालती को सही संदर्भ में चित्रित न कर पाने की अक्षमता। इस दृष्टि के केंद्र में पितृसत्तात्मक व्यवस्था रहती है, अतः जाने-अनजाने रचनाकार स्त्री-पुरुष की रूढ़ छवियों को पोषित करता चलता है।”<sup>225</sup> यह स्थिति प्रेमचंद युग के बाद भी देखी जा सकती है जैसे सुभद्रा कुमारी चौहान को केवल एक राष्ट्रीय कवयित्री के रूप में देखा जाना। “उन्हें (सुभद्राकुमारी चौहान) मात्र एक कविता ‘खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी’ तक सीमित कर राष्ट्रीय धारा की कवयित्री बना दिया जाता है, जबकि अपनी कहानियों के

<sup>224</sup> साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिन्दी समय.कॉम

<sup>225</sup> साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिन्दी समय.कॉम

माध्यम से वे न केवल अपने युग की स्त्रियों के मानस को अभिव्यक्ति देती हैं, बल्कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अमानुषिक रूप को भी उद्घाटित करती हैं। इसी शृंखला में शिवरानी देवी और 'सीमंतनी उपदेश' की रचयिता को भी लिया जा सकता है। शिवरानी देवी अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक 'प्रेमचंद : घर में' तथा कहानी संग्रह 'नारी हृदय' में जिस निर्भीकता और ईमानदारी के साथ युग-सत्य और स्त्री-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देती हैं, और पुरुष की स्त्रीविरोधी दृष्टि की पड़ताल करते हुए स्वयं स्त्रियों से स्वतंत्र भारत के निर्माण में कूद पड़ने का आग्रह करती हैं ('समझौता' कहानी), वह उन्हें अनिवार्य रूप से प्रेमचंद का विलोम बनाता है। किंतु इस प्रखर एवं ऊर्जस्वी कहानीकार की हिंदी साहित्य द्वारा निरंतर उपेक्षा होती रही है।<sup>226</sup> ये उपेक्षा बार-बार स्त्रियों के साथ की गयी। नारी दृष्टि को केंद्र में रख कर अगर शोध किया जाए तो स्पष्ट होगा कि हिन्दी साहित्य में पुरुषवादी दृष्टि कई हजार-हजार वर्षों तक हावी रही है और स्त्री दृष्टि का सदैव अभाव रहा। यहाँ यह कहते हुए मैं यह नहीं भूल रही हूँ कि स्त्रियों का लेखन भी सदैव समानान्तर गति से चलता रहा है। लेकिन अनुसंधान करने पर यह स्पष्ट होगा कि स्त्रियों के अनुभव जो पुरुष समाज को चुनौती देने वाले साहित्य में अभिव्यक्त हुए उनको या तो सामने ही नहीं आने दिया गया या उनकी उपेक्षा कर दी गयी। महादेवी वर्मा का यह कहना स्पष्ट करता है कि नारी के हृदय का स्पष्टीकरण एक नारी ही कर सकती है जबकि एक पुरुष की दृष्टि वहाँ तक पहुँच नहीं पाती है। "पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है परंतु अधिक सत्य नहीं। विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, परंतु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सके।"<sup>227</sup> यहाँ यह स्पष्ट करना की आवश्यकता है कि स्त्रियों का विरोधात्मक स्वर भले ही समय-समय पर भारतीय साहित्य में उभरते रहे, लेकिन पश्चिम के प्रभाव स्वरूप ही हिन्दी साहित्य में स्त्री दृष्टि को सही मायने में अंगीकार किया गया और स्त्री अस्मिता जैसे पहलू सामने आए और स्त्री विमर्श की नींव पड़ी। आज हिन्दी साहित्य में हमारे समक्ष अब स्त्री विमर्श के चार लहरें मौजूद हैं जिसमें स्त्रियों के कई समस्याओं को सम्मिलित करने के साथ पुरुष के समान समानता तथा स्वतंत्र अस्तित्व

<sup>226</sup> साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिन्दी समय.कॉम

<sup>227</sup> शृंखला कि कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ.सं.-63

की मांग को प्रमुखता से उभारा गया है। साथ ही इन लहरों में स्त्री के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर सवाल खड़ा किया गया। इस मुद्दे को आधार बनाकर वर्जीनिया वूल्फ लिखती हैं - 'a woman must have money and a room of her own if she is to write fiction.' कहने का तात्पर्य आर्थिक रूप से सक्षम होने पर ही स्त्रियों का विकास हो सकता है। वर्तमान हिन्दी साहित्य में मातृत्व का सवाल, पहचान और अस्मिता की तलाश, नारी यौन मुक्ति, नारी सशक्तिकरण, women's body women's right, समलैंगिक स्त्री के सम्बन्धों आदि मुद्दों पर विचार किया जा रहा है। नारीवाद में कई मुद्दे जुड़ जाते हैं इसलिए इसे 'Umbrella term' भी कहा गया जिसमें नारी अस्मिता के अनेक पहलू आश्रित हैं। आधुनिक नारी, नारियों के प्रति किए गए षड्यंत्र से वाकिफ है, इसलिए आज का स्त्री चिंतन इन स्त्रियों के प्रति होते रहे और हो रहे शोषण का विरोध करता है। आज का स्त्री-लेखन हर उस चीज़ पर प्रश्न उठाता है, जिसने स्त्री को केवल कमतर ही नहीं माना बल्कि उन्हें चार दीवार में आबद्ध भी किया। एक तरह से 'स्त्री अस्मिता' आज के साहित्य का केंद्र है जो स्त्री के प्रति दृष्टि को परिमार्जित करने का कार्य करती है।

### 5.1.2 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

इस अध्याय में उपन्यासों का मूल्यांकन स्त्री दृष्टि से किया जाने का प्रयास किया जाएगा। क्योंकि उपन्यासों को स्त्री दृष्टि से देखने पर ही स्पष्ट होगा कि क्यों आज स्त्री-लेखन या स्त्री-विमर्श की आवश्यकता आ पड़ी? यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यक है कि इस अध्याय में उपन्यासों को आधार बना कर ही स्त्री-लेखन को स्पष्ट किया जाएगा। स्त्री-दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि प्रारम्भिक दौर में लिखे उपन्यासों में स्त्री चरित्र पुरुषों के द्वारा आश्रित रही या ये कहें नारी का व्यक्तित्व पुरुष दृष्टि के अधीन रहा। इसका एक कारण यह रहा कि प्रारम्भिक दौर में पुरुष उपन्यासकार अधिक रहे और महिलाएं न के बराबर रहीं क्योंकि पुरुष आलोचकों ने स्त्रियों के द्वारा लिखित उपन्यासों को अपरिपक्व सिद्ध किया। इसको खारिज करने का एक कारण यह भी रहा कि उन उपन्यासों में स्त्री का अनुभव व्यक्त हुआ था। 'सुहासिनी' उपन्यास 1890 ई. में साध्वी सती प्राण अबला द्वारा लिखा गया पहला उपन्यास है। ब्रजरत्न दास के अनुसार उनका मूल नाम मल्लिका देवी था। यह उपन्यास अप्राप्त है। इसकी प्रामाणिकता को लेकर डॉ.

उर्मिला गुप्त के द्वारा लिखित पुस्तक 'हिन्दी कथा साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान' में चर्चा मिलती है। उन्होंने इस पुस्तक में यह स्पष्ट किया है कि प्रारंभिक दौर के उपन्यास जैसे - 'राज कुमार', 'दयावती', 'मेम और साहब', 'कामना कुसुम' आदि को आदर्शवादी कह कर हाशियकृत किया गया। दूसरा कारण यह रहा कि नारी को लेकर उनकी पूर्वाग्रह दृष्टि ही काम कर करती रही। तीसरा कारण महिला उपन्यासकारों में शिक्षा की कमी, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, अनुभव का सीमित क्षेत्र, पुरुष समर्थन का अभाव, प्रकाशन की समस्या और समय की कमी रही। चौथा कारण आलोचकों की पुरुष पक्षधरता और स्त्री-अनुभव की कमी के कारण प्रारम्भिक दौर में स्त्री उपन्यास की कमी रही। अब प्रश्न यहाँ यह भी खड़ा होता है कि अन्य विधाओं में स्त्रियाँ कैसे पदार्पण कर पाईं तो यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाएगा कि उपन्यास विधा जीवन के अधिक निकट है, जिसमें अनुभव की अधिकता होती है संभवतः यह इसका एक कारण हो सकता है।

उपन्यासों में स्त्री दृष्टि पर बात करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि यह दौर नवजागरण का रहा दूसरा यह दौर भारतेन्दु के आदर्शों को अपने में अंगीकृत करते हुए चला। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि यह 'आदर्श' पुरुषों द्वारा निर्मित रहे, जो स्त्रियों को परंपरा और संस्कृति जैसे साँचों में बांधती रही, इसलिए स्त्री चरित्र इन आदर्शों में बंधी लिपटी हुई देखी गई। हमें यहाँ यह भी याद रखना होगा कि इस दौर में एक ऐसी कृति भी आती है जो उस समय की कटु यथार्थ को प्रस्तुत करती है। जिसे 'सीमांतनी उपदेश' के नाम से जानते हैं। यह कृति रीतिकालीन उपभोग वादी दृष्टि और संस्कार के नाम पर स्त्रियों के शोषण का जीवंत दस्तावेज़ बन कर उभरती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस दौर में दो समानान्तर चल रही प्रक्रिया में उपन्यासकारों ने स्त्रियों को संस्कृति और परंपरा में जोड़ते हुए स्त्रियों के आदर्श को ही उपन्यासों में चित्रित किया। इसका एक कारण यह था कि उनकी पुरुषवादी दृष्टि का हावी होना, जिसने स्त्रियों को कभी विरोध करते हुए नहीं दिखाया बल्कि स्थितियों को सहने की अपार क्षमता का द्योतक सिद्ध किया। जिसके कारण स्त्रियों को यह आभास होते रहे कि स्त्रियों के प्रति पुरुष की दृष्टि बदली है। लेकिन स्त्रियों कि अंतरमन का विश्लेषण न होना यह सिद्ध करता है कि पुरुष वादी दृष्टि के चिंतन में 'नारी का हृदय' केंद्र में नहीं रहा। "महादेवी वर्मा की मान्यता के अनुमोदन में वर्जीनिया वुल्फ की उस टिप्पणी को भी लिया



जा सकता है जहाँ वे सिद्ध करती हैं कि पुरुष द्वारा रचित साहित्य में स्त्री के अंतर्जगत को जानने की उत्सुकता नहीं, बल्कि उसे अपनी मर्दानगी की प्रयोगशाला बनाने की लालसा है। उनकी दृष्टि में पुरुष पुस्तकों को एक ऐसा मायावी दर्पण बना देना चाहते हैं जिनमें “मर्दों की आकृति को उसके स्वाभाविक आकार से दोगुना करके दिखलाने की जादुई और मजेदार शक्ति हो।”<sup>228</sup> साथ ही इस दौर में ऐसे उपन्यास भी लिखे गए जिसमें स्त्रियों के सामाजिक शोषणों पर बात की गयी जैसे- विधवा विवाह निषेध, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि। यह परंपरा आगे प्रेमचंद युग तक देखी जा सकती है। प्रेमचंद के कई उपन्यास ‘प्रेमा’, ‘सेवासदन’, ‘निर्मला’ आदि उपन्यासों में दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, विधवा विवाह निषेध, बाल विवाह जैसी कुरीतियों पर बात की गई। लेकिन इन उपन्यासों में नारी विरोध करती हुई नहीं देखी गई। प्रेमचंद नारी को आदर्श के कठहरे में देखने के ही समर्थक दिखाई देते हैं। उषा देवी मित्रा इस दृष्टि से प्रेमचंद के पूरक दिखती हैं। उनके उपन्यास ‘जीवन की मुस्कान’, ‘सोहनी’, ‘नष्ट नीड़’, ‘वचन का मोल’, ‘पिया’ आदि उपन्यासों में परंपरागत भारतीय नारी की पीड़ा, स्वाधीनता आंदोलन में देश सेवा की भावना तथा दहेज प्रथा पर कुठराघात आदि अभिव्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो पाएंगे कि दोनों की लेखनी में काफी अंतर है। अंतर इसलिए भी है क्योंकि ये कुरीतियाँ समाज को बरगला रही थी। पुरुषों में यह कार्य मूल रूप से समाज को संस्कारित तथा समाज सुधार के लिए रहा, स्त्री को समझने की ओर नहीं। जबकि स्त्री इस दौर में अपनी बाहरी और आंतरिक स्थिति को प्रस्तुत कर रही थी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पुरुषों की स्त्रियों की प्रति दृष्टि बाहरी रही। उसका अन्तर्मन उनके उपन्यासों में उपेक्षित रहा। मीरा की उक्ति यहाँ सटीक लगती है -‘जाके पैर न फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई।’ रोहिणी अग्रवाल इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझाने का प्रयास करती हैं -“प्रेमचंद के उपन्यास ‘निर्मला’ और शिवरानीदेवी की कहानी ‘साहस’ के लिए कही जा सकती है जहाँ दहेज प्रथा एवं अनमेल विवाह के प्रतिकार के लिए उठी कलम एक कृति (निर्मला) में स्त्री को सहानुभूति देकर उसकी बेबसी को सींचती है, और दूसरी कृति (साहस) में उसे नायकत्व देकर स्वयं स्थितियों से टकराने और अपना रास्ता खोजने की दृढ़ता देती है। स्त्री-दृष्टि से साहित्य का पाठ करने पर ज्ञात होता है कि साहित्य में भी स्त्रियाँ कठपुतलियाँ हैं,

<sup>228</sup> साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिन्दी समय. कॉम

हाशियाग्रस्त हैं और 'स्त्रियोचित मूल्यों' की संवाहक हैं, जबकि मूल्यों को 'स्त्रियोचित' विशेषण में बाँधने का कोई औचित्य नहीं क्योंकि मूल्य मनुष्य के व्यवहार को नियमित करने के लिए हैं, उसे लिंग में बाँट कर 'छूट' देने के लिए नहीं।<sup>229</sup> स्त्री को आदर्श की केंचुली में आबद्ध करने का दूसरा कारण यह रहा कि यह दौर नवजागरण का था जिसने लोगों में नई सोच भर दी है, ऐसे में पितृसत्तात्मक समाज को यह डर था कि कहीं स्त्री विरोधात्मक प्रवृत्ति को न अपना ले साथ ही पुरुष स्वयं को प्रगतिशील श्रेणी में लाने की होड़ में साहित्य में महिला सशक्तिकरण के विषयों को उकेरा। आलोचक रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं -सामाजिक कुरीतियों का विरोध, स्त्री शिक्षा का प्रसार एवं स्त्री की स्थिति बेहतर बनाने के लिए कानूनी अधिकारों का प्रावधान - ऊपरी दृष्टि से नवजागरण आंदोलन स्त्री-मुक्ति का पैरोकार दीखता है, किंतु गहराई में उतरते ही पता चलता है कि यह मामूली परिवर्तन के साथ यथास्थितिवाद को बनाए रखने का उपक्रम है।<sup>230</sup> प्रेमचंद युग के बाद भी स्त्री के प्रति दृष्टि में उपन्यासों में आंशिक भी परिवर्तन नहीं देखा गया था। क्योंकि उनमें भी सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा में स्त्री को देखने की जड़ता देखी जा सकती है। उपन्यासों में स्त्री-दृष्टि में परिवर्तन सशक्त स्त्री उपन्यासकार के आगमन के स्वरूप आया। उपन्यासों में स्त्री उपन्यासकार का सशक्त रूप में उभरने के पीछे महिलाओं में आए अपने अधिकारों के प्रति जागृति या कहें स्त्री 'अस्मिता' के प्रश्नों को अपने में समेटे हुए स्त्री विमर्श के गर्भ से हुआ। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस अस्मिता मूलक वैचारिक लड़ाई में प्रगतिशील पुरुषों की भी भागीदारी रही है। जिन्होंने उपन्यासों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि स्त्री पुरुष दोनों प्रकृति के पूरक तत्व हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है तथा वे इस वैचारिक बहस में स्त्रियों के समर्थक हैं। इस पक्षधरता ने स्त्री विमर्श को सही मायने में गति देने का कार्य किया जिसके फल स्वरूप यह विमर्श पुरुषों का विरोध नहीं करता बल्कि उस दृष्टि का करता है जो स्त्री अस्तित्व को विखंडित करने की भरसक कोशिश करता रहा है। "नारी के प्रति पुरुष जैसी समांतर संवेदना से सम्बद्ध नागार्जुन, अमृतलाल नागर, शैलेश मटियानी, पंकज विष्ट, अमृत राय, राजेंद्र यादव, गोविंद मिश्र आदि कितने पुरुष उपन्यासकार साहित्य के क्षेत्र में उतरते हैं किन्तु उनका यह लेखन स्त्री विमर्श के प्रति नवजागरण के बदलाव से प्रभावित सामाजिक विमर्श

<sup>229</sup> साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिन्दी समय. कॉम

<sup>230</sup> साहित्य की स्त्री दृष्टि, हिन्दी समय. कॉम

के संदर्भ से मुख्य रूप से जुड़ा है।<sup>231</sup> 70 के दशक के बाद साहित्य में आए इसी बदलाव ने स्त्री-विमर्श के कई पहलुओं को अपने उपन्यासों में समेटा। समाज में हुए निरंतर बदलाव के कारण स्त्री-विमर्श में कई पहलू जुड़ते और घटते हुए देखे जा सकते हैं। बहरहाल 70 के दशक के बाद शिवानी, कृष्ण सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, मन्नू भण्डारी, मंजुल भगत, प्रभा खेतान आदि उपन्यासकार स्त्री-विमर्श के अनेक पहलू को लेकर उपन्यासों में उपस्थित होती हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह विमर्श पुरुष और स्त्री को खँचो में नहीं बांधता बल्कि पुरुष के समान स्त्री को समानता की पहल करते हुए पुरुष दृष्टि में परिवर्तन चाहता है।

ओड़िया साहित्य की ओर अगर दृष्टिपात करेंगे तो पाएंगे कि बलरामदास द्वारा लिखित 'लक्ष्मी पुराण' नारी दृष्टि को प्रस्तुत करता है। इस पुराण में लक्ष्मी को जगन्नाथ का विरोध करते हुए देखा गया। उनके प्रति लगाए गए ये आक्षेप कि उन्होंने दलित के घर जा कर अपराध किया है। इसे वह अस्वीकार करती हुई श्री मंदिर से निकल जाती हैं, उनका यह कदम जगन्नाथ को दस द्वार के भिक्षा की ओर प्रवृत्त करता है। किन्तु इसमें भी आदर्श नारी की शिक्षा दी गई है। नारीवाद का जो स्वर पश्चिम में उभरा दरअसल उसका विकास भारतीय परिप्रेक्ष्य में 16 वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो चुका था। भले ही उसे नारीवाद की दृष्टि से नहीं देखा गया लेकिन नारी के प्रति स्वर 16वीं शताब्दी से विभिन्न भारतीय साहित्य में देखा गया जिसे हम स्त्री विमर्श के प्रारंभिक चरण के रूप में देखते हैं। हम यहाँ यह भी स्वीकार करना चाहते हैं कि पश्चिम के नारीवाद के स्वर से भारतीय नारी का स्वर भिन्न रहा। बहरहाल आधुनिक काल तक आते आते नारियों की बाहरी समस्याओं की ओर ध्यान दिया गया। यह स्थिति सभी भाषाओं के साहित्य में देखी जा सकती है।

### **ओड़िया उपन्यास :**

ओड़िया साहित्य में स्त्री जीवन को लेकर सही मायने में उपन्यास का विकास 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में होता है। दरअसल कुंतला कुमारी सावत का 'भ्रान्ति' उपन्यास (1923) को ध्यान में रखते हुए यहाँ से स्त्री जीवन सम्बन्धी उपन्यासों की शुरुआत मानी गयी है। कई आलोचक उन्हीं के द्वारा रचित 'काली बहु' (1925) से इसकी शुरुआत मानते हैं।

---

<sup>231</sup> हिन्दी साहित्य का इतिहास और उनकी समस्याएँ, योगेंद्र प्रताप सिंह, पृ.सं.- 482

ओड़िया साहित्य के आलोचक मूल रूप से कुंतला कुमारी सावत को ओड़िया स्त्री लेखन के पुरोधा के रूप में देखते हैं। क्योंकि उनके साहित्य में स्वाधीनता संग्राम में नारियों को जागृति का सन्देश है। साथ ही स्वाधीनता आन्दोलन में नारी-पुरुष दोनों के सहभागिता की आवश्यकता और नारी मुक्ति और प्रगति का सन्देश उन्हें स्त्री लेखन से जोड़ता है। बहरहाल ओड़िया उपन्यासों के अध्ययन के क्रम में यह पाया गया कि इसके चार चरण हैं।

1. ओड़िया उपन्यासों के प्रारंभिक चरण में नारी पात्र पुरुष पात्र के सहयोगी पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं जिसमें स्त्री की कोई विशेष भूमिका नहीं होती है। साथ ही अगर हैं भी तो उनका व्यक्तित्व आदर्श के केंचुली में ही आबद्ध दिखाई देगा। ज्ञान देवाशिस मिश्र 'दुई आखी र दुनिया' नामक लेख में लिखते हैं " इस समय में लिखित उपन्यासों में नायकत्व का नारी स्वरूप ही सामने आता है। जैसे -फ़कीर मोहन का 'लछमा' उपन्यास को लें, इसमें पाठक लछमा में नारी के स्वरूप का परिचय कम प्राप्त होगा बल्कि इससे ज्यादा लछमा के नायकत्व को ही प्रधानता मिली है।"<sup>232</sup> अर्थात् कहने का यही तात्पर्य है कि इस समय 'पुरुष प्रधान' उपन्यास का महत्त्व रहा। नारी चरित्र की गौण भूमिका रही। साथ ही इस समय के उपन्यासों में नारी का देवी रूप, करुणा, त्याग और आदर्श के प्रतिरूप के रूप में देखा गया है। इससे पूर्व ओड़िया के प्रथम उपन्यास जैसे 'पद्ममाली' और 'विवासिनी' नायिका के नामों पर भले ही आधारित हों लेकिन यहाँ नारी कोई साधारण नारी नहीं है उनका सम्बन्ध राज घरानों से रहा है। इसमें नारी चरित्र 'प्रेम' जैसे प्रसंगों तक ही सीमित रहीं साथ ही उपन्यास के विषयवस्तु में ऐतिहासिकता और कल्पना का मिश्रण नारी के सामान्य रूप को एक तरह से प्रस्तुत नहीं कर पाता। 'कलावती' (अपन्ना पंडा), 'शकुन्तला' (शशिभूषण रथ), संयुक्ता (दयानिधि मिश्र) आदि उपन्यास इसी कोटि के अंतर्गत आते हैं।
2. दूसरा चरण कुंतला कुमारी सावत के 'वासंती' उपन्यास से प्रारंभ होता है। इससे उपन्यास जगत में नया मोड़ आता है। "वासंती" में हम एक नारी चरित्र का संघर्षशील जीवन का परिचय मिलता है।"<sup>233</sup> उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'भ्रान्ति' (1923), 'नअ तुंडी' (1925), 'कालीबोहु' (1925), 'रघुअरक्षित' (1928) जैसे

<sup>232</sup> ओड़िया कथा साहित्य : नारीवाद, प्रो. सविता प्रधान, पृ.सं.-243

<sup>233</sup> ओड़िया कथा साहित्य : नारीवाद, प्रो. सविता प्रधान, पृ.सं.-243

उपन्यासों में नारी के दयनीय स्थिति को देखा जा सकता है। इस दशक में कुंतला कुमारी सावत के जरिये नारी स्वतंत्रता के बीज खोजे जा सकते हैं। उनके साहित्य में नारी को दैवी रूप से सामान्य नारी का दर्जा दिया गया। साथ ही नारी में जागरण का स्वर फूँका गया। इसी दशक में नन्दकिशोर बल का 'कनकलता' उपन्यास आता है इस उपन्यास में बाल विधवा, दहेज़ प्रथा आदि कुप्रथाओं को प्रश्नांकित किया गया है और विधवा विवाह का समर्थन किया गया है। इस चरण में ऐसे उपन्यास आये जो तत्कालीन समय में नारी की समस्या जैसे बाल विधवा, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध आदि से समाज को अवगत कराते हुए उन्हें दूर करने का प्रयास करते हैं।

3. कुंतला कुमारी नारी सशक्तिकरण को लेकर जिस प्रकार जागरण का स्वर उठाती हैं वही स्वर आगे चल कर धीमा पड़ जाता है। लेकिन एक तरह से नारी जीवन को लेकर निराशाजनक स्थिति यहाँ नहीं थी। चालीस से लेकर सत्तर के दशक के प्रारंभ तक ओड़िया उपन्यासों में स्त्री को विरोध करते हुए नहीं देखा गया। भले ही नारी जीवन की पीड़ा की अभिव्यक्ति उसमें हुई लेकिन इस व्यवस्था से निकलने की छटपटाहट का उनमें अभाव रहा। एक तरह से इस दौर में पारंपरिक आदर्श के केंचुली में स्त्री आबद्ध रही। 'अमडा बाड़' और 'मन र मनुष्य' आदि उपन्यास नारी की स्थिति से अवगत कराते रहे हैं।
4. 70 के बाद उपन्यासों में नारी लेखन में स्वतंत्रता आई। इस दौर में नारी के अंतर्मन को टटोलने का प्रयास किया गया। इसलिए इस दौर के उपन्यासों में स्त्री अस्मिता के सवाल खड़ा होने के साथ लैंगिक भेदभाव, पितृसत्तात्मक सोच और जेंडर पॉलिटिक्स को महत्व दिया गया। इस दौर में उपन्यासों में नारी लेखिकाओं का भी आगमन होता है जो सबसे बड़ा क्रांतिकारी कदम रहा। उन्होंने स्त्री समस्या, प्रताड़ना, उत्पीड़न को अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। एक तरह से स्त्री जीवन की आंतरिक परतों को परत-दर-परत खोलने का प्रयास किया गया। सन् 75 के बाद ओड़िया उपन्यासों में प्रतिभा राय के आगमन से स्त्री लेखन में एक नया मोड़ आता है। "1970-75 पूर्व रचित उपन्यासों में लेखिकाएँ नारी की स्वतंत्र सत्ता गौण थी, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में शोषण और लांछन विरोध जैसे सवालों में ही सीमित रहीं। ...लेकिन इस समय समाज तथा पुरुष

निर्मित नियमों और यौनिकता के सम्बन्ध पर उपन्यासिका प्रश्न खड़ा करती हैं |<sup>234</sup> जैसा कि हम जानते हैं, समाज में हो रहे बदलाव ने स्त्री लेखन को और सशक्त रूप देने का कार्य किया इसलिए सदियों से नारियों के प्रति हो रहे शोषण और शोषण की राजनीति को पर्दाफाश करने का समय आ चुका था | नारियों के लिए ही सिर्फ समाज में ऐसे अनेक नियम गढ़े गए जिससे उसे बांधा जा सके उसकी विचार शक्ति को ही खत्म कर दिया जाए | प्रतिभा राय नारियों के प्रति किए गए अन्यायों का विरोध करती हैं | उनके द्वारा लिखित उपन्यास 'उपनायिका' (1979), 'अपरिचिता' (1979), 'उत्तरमार्ग' (1988) आदि में पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता को स्पष्ट करते हुए परम्परा, रीति और लोकविश्वास जैसे तत्व से नारी को मुक्त होने का सन्देश देती हैं | बाद में नारी शोषण की जड़ की तलाश करती हुई लेखिका पुराणों की ओर लौटती हैं और 'याज्ञसेनी' और 'महामोह' उपन्यास में नारी चरित्र के प्रति किये गए अन्याय की पोल द्रौपदी और अहल्या के माध्यम से करती हैं | इस दौर में एक तरह से स्त्री अस्मिता का स्पष्ट चित्र उपन्यासों में उपस्थित हुआ | प्रतिभा राय के अतिरिक्त ऐसे अनेक लेखिकाएँ स्त्री लेखन को और पुख्ता बनाने का कार्य करती हैं जिसमें - सरोजिनी साहू का प्रतिबन्दी, गंभीरी घर, विषाद ईश्वरी; रश्मि राउल 'तीनी गारो सेपाखो र स्त्री'; विजयिनी दास का 'देवदासी', 'डायरी'; सुलोचना दास 'स्वप्नहता', 'मरुतिर्थ'; ज्योत्सना राउत राय 'पराजिता सामराग्नि'; इंदिरा दास का 'बंधन नुहें बंधुत्व चाहें' आदि उपन्यास आते हैं |

80 के दशक के बाद हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों में आई स्त्री जीवन संबंधी प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित कुछ उपन्यासों को आधार बनाया गया है | जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि दोनों ही भाषाओं में इस प्रवृत्ति पर लेखन कार्य उपन्यासों के हवाले से किस प्रकार हुआ है ? सर्वप्रथम इस अध्याय में हिन्दी के स्त्री जीवन संबंधी उपन्यासों को चित्रित किया गया है और उसके बाद ओड़िया में चित्रित उपन्यासों को चित्रित किया गया है |

### 5.1.3 विवेच्य उपन्यास

<sup>234</sup> ओड़िया कथा साहित्य : नारीवाद, प्रो. सविता प्रधान, पृ.सं.-20

हिन्दी में 'आवां' उपन्यास समकालीन समाज के विसंगतियों को लेकर उपस्थित है। इस उपन्यास को केवल नारी विषयक उपन्यास कहना गलत होगा क्योंकि इसमें मजदूरों की समस्याएँ भी सम्मिलित हैं लेकिन यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि उपन्यासकार की दृष्टि नारी चरित्र को प्रस्तुत करने की ओर ज्यादा रही है। इस उपन्यास में मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं लेकिन मैंने इस उपाध्याय में स्त्री-दृष्टि को ध्यान में रख कर उपन्यास को विश्लेषण करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास को स्त्री-दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि इस उपन्यास में नारी पात्र का विशेष महत्व है जबकि पुरुष पात्र नारी पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने में सहायक हैं। साथ ही पुरुष पात्र इस उपन्यास में पितृसत्तात्मक समाज के पुरुषों की विशेषताओं से परिपूर्ण हैं जिन पर पुरुष दृष्टि हावी है। यह उपन्यास स्त्री समस्याओं के आधुनिक संदर्भों को प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की कथा को स्पष्ट करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यहाँ नारी पात्र 3 तरह की हैं। प्रथम में वे नारी पात्र आती हैं जो पुरुष मानसिकता से संचालित हैं। दूसरे में वे नारी पात्र आती हैं जो विद्रोही प्रवृत्ति की हैं, जो पुरुष समाज को चुनौती देती हैं। तीसरी प्रकार में वे स्त्रियाँ आएंगी जो पुरुष दृष्टि का विरोध तो करना चाहती हैं पर कर नहीं पाती हैं लेकिन समय और समाज के रवैये के कारण वे अस्मिता की रक्षा करना सीख जाती हैं। प्रथम श्रेणी में नमिता की माँ, कुंती मौसी, अंजना वासवानी, गौतमी आदि आती हैं। दूसरी श्रेणी में स्मिता, सुनन्दा, आदि आती हैं और तीसरी श्रेणी में नमिता पांडे, किशोरी बाई आदि आती हैं।

नमिता की माँ नमिता को संस्कारित करना चाहती है तथा परंपरागत ढांचे में बांधना चाहती है इसका समर्थन उसकी मौसी करती है। किन्तु नमिता की माँ स्वाभिमानी भी है। पति के लकवा ग्रस्त होने के कारण खुद काम करके घर संभालने की कोशिश करती है। नमिता परंपरागत आदर्शों को तोड़ना चाहती है। बार बार नमिता में इसके लिए साहस हर्षा (दोस्त) भरती है। अंजना वासवानी ऐसा व्यक्तित्व है जो उत्तर आधुनिक समाज के उपभोक्तावाद और बाज़ारवाद पर आश्रित है। पहले पहल नमिता के लिए उसका व्यक्तित्व डूबते को तिनके का सहारा के रूप में प्रस्तुत होता है। परंतु उपन्यास के अंत में उसकी सच्चाई स्पष्ट होती है, वह एक देह व्यापारी है जिसने संजय कनोई के इशारे पर नमिता से हमदर्दी दिखाई और उसका इस्तेमाल करके खूब पैसा कमाया। आज की इस वैश्विक बाज़ार में 'स्त्री देह' की जरूरत देखी जा सकती है चाहे इसमें स्त्री देह को प्रदर्शित करके

माल बेचना हो या स्त्री देह या स्त्री गर्भ को । "बाबा ज्येलर्स की अंजना वासवानी हो या उसके साथ एकरस हो उठी गौतमी, वे स्त्रियाँ हैं जो अभी भी पितृसत्तात्मक भव्यता के प्रति आस्थावान हैं और किसी भी स्थिति में उस संघर्ष के लिए राजी नहीं हैं जो उन्हें चल या अचल संपत्ति से अलग कोई दर्जा दिला सके ।"<sup>235</sup> गौतमी भी इसी उपभोगवादी परंपरा की दास हैं उसकी अधिक पाने की चाह और खुद को ग्लैमेर्स की दुनिया में देखने की होड़ ने उसे पुरुष भोगी स्त्री के रूप में रूपांतरित कर दिया था ।

इस उपन्यास की सशक्त और विद्रोही स्त्री स्मिता है । जो मुंबई के मटका किंग की बेटा है । अपनी बहन को उसी के पिता द्वारा किए गए यौनशोषण ने विक्षिप्त बना दिया था इसी यंत्रणा ने उसमें पुरुषों के प्रति विरोधात्मक रूप अख्तियार किया था । यह पात्र नमिता पांडे की विलोम दिखती है । क्योंकि उसने जमाने की ठोकलों में अपने जिस्म को हथियार बनाने की कला सीख ली थी । वह मर्दों से भयभीत नहीं है बल्कि मर्दों से खेलना जानती है । वह पुरुषों को सबक सिखाना चाहती है साथ ही उन्हें आधी औरत बना कर उन्हें रोते हुए देखना चाहती है । चित्रा जी ने पुरुषों के प्रति स्मिता में अंगारे भर दिये हैं जो आवें की तरह सुलगी और धधकी हैं । पुरुष समाज को चुनौती देती हुई दूसरी पात्र किशोरी बाई की पुत्री सुनन्दा भी है, जो अपने प्रेमी सुहैल से प्रेम कर अविवाहित गर्भवती हो जाती है । सुहैल उससे विवाह तो करना चाहता है लेकिन धर्म परिवर्तित करके, ऐसे में वह अपने प्रेम को अपमान समझती है और समाज का मुकाबला करती हुई एक बेटा को जन्म देती है । सुनन्दा आर्थिक रूप से सक्षम नहीं है साथ ही एक मजदूरिन भी है । ऐसी स्थिति में समाज को चुनौती देना एक क्रांतिकारी कदम रहा है । सुनन्दा पुरुषवादी विद्रूपता और परंपरागत रूढ़ियों को विरोध करने की अपार क्षमता लेकर उभरती है । "देखिये, दीदी, सुविधा का प्रावधान गर्भवती स्त्री और उसके बच्चे को लेकर है, न कि कुंआरी माँ या ब्याहता माँ के विशेषणों के लिए । कुंआरी माँ क्या ब्याहता माँ के ही समान जचकी के घोर कष्टों से होकर नहीं गुजरती ? उसे आराम की जरूरत नहीं होती ? माँ बनना किसी के निजी मामले की बजाए कंपनी मामला कैसे हो गया ? सुनन्दा का स्वर आक्रोश में थर्राया ।"<sup>236</sup> सुनन्दा के विषय में आलोचक रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं - 'मे एंड बेकर' फैक्ट्री के

<sup>235</sup> उपन्यास समय और संवेदना, विजय बहादुर सिंह, पृ.सं.-81

<sup>236</sup> आवां, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-110



पैकिंग विभाग में कार्यरत सुनन्दा जो कुंवारी माँ की जचकी का केस लड़कर मातृत्व को विवाह जैसी पुरुष वर्चस्ववादी कसौटियों से मुक्त करने की अनुपम मिसाल है।<sup>237</sup>

नमिता पांडे इस उपन्यास की मुख्य पात्र तो है किन्तु सभी गुणों से परिपूर्ण नहीं। उपन्यासकार इस पात्र में सभी गुणों का समावेश न करके पात्र को वास्तविक जीवन के अति निकट ले आती हैं। नमिता प्रथमतः अपनी आर्थिक स्थिति से मजबूर हो कर कामगार आघड़ी में काम करने के लिए राज़ी होती है किन्तु वहाँ भी अन्ना साहब जैसे खोखली आदर्शवादी चरित्र से उसकी मुठभेड़ होती है। मजदूरों के रक्षक किस प्रकार नमिता के लिए भक्षक की भूमिका निभाता है यह इस उपन्यास में स्पष्ट है। अन्ना साहब के जरिये उपन्यासकार पुरुषों में स्थित दोगम चरित्र को प्रस्तुत करती हैं। इसी कामगार आघड़ी में पवार से उसकी भेंट होती है। पवार की दृष्टि नारी के प्रति आदर्शवादी रही है। पवार नमिता का इस्तेमाल अपनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए करना चाहता है। नमिता लेकिन संजय कनोई से प्रेम करती है। प्रेम के इसी मोहपाश में पड़ कर वह उसके बच्चे की माँ बन जाती है। यहाँ नमिता को प्रेम के अंधत्व में डूबा हुआ दिखाया गया है जबकि संजय कनोई की यह सोची समझी चाल/ षड्यंत्र थी। क्योंकि उसको अपना बच्चा किसी ऐसी औरत से नहीं चाहिए था जो इस प्रवृत्ति में लिप्त हो। “जानती हो ? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया ? उस मामूली औरत अंजना वासवानी की आँकात है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके ? उसका जिम्मा सिर्फ इतना-भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे और सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए। वह ऐसी पचासों लड़कियों को परोस सकती थी, जो मुझसे यौन-संबंध कायम कर केवल पचहत्तर हजार में मुझे बाप बना सकती थीं। मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था ... मुझे नहीं गवारा थी ऐसी किराये की कोख !”<sup>238</sup> नमिता को यह बात तब पता चलती है जब उसका प्राकृतिक कारणों से उसका गर्भपात हो चुका होता है। उसका विश्वास चूर्ण हो गया था। ऐसे विश्वासघात ने उसे जमीन पर धकेल दिया था जहाँ वह चाह कर भी उठ नहीं पा रही थी ऐसे में पाश की कविता उसमें प्रतिवाद करने का मंत्र भरता है ‘हम लड़ेंगे साथी उदास मौसम के खिलाफ/ हम चुनेंगे साथी जिंदगी के टुकड़े /हम लड़ेंगे साथी जब तक दुनिया में /लड़ने की जरूरत बाकी है।’ नमिता के लिए अब सारे रास्ते बंद हो चुके थे

<sup>237</sup> हिन्दी उपन्यास समय से संवाद, रोहिणी अग्रवाल, पृ.सं.-155

<sup>238</sup> आवां, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-539

लेकिन इस समय में भी उसका अपने जीवन को न खत्म करने का निर्णय साथ ही अंतिम समय में कामगार मजदूर किशोरी बाई यहाँ अपने अस्तित्व को बरकरार रखने की सुध ने स्त्री विमर्श को एक नया आयाम दिया । उसने मौत नहीं बल्कि अपना अस्तित्व चुना । आखिरकार पितृसत्तात्मक समाज ने उसे यह अहसास दिला ही दिया कि छल के कई रूप हैं, स्त्री छलती आई है और छली जा सही है लेकिन आत्म विश्वास की कमी और अपने अस्तित्व को न पहचाने की भूल ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा है । यह उपन्यास स्त्री जीवन के स्वाभिमान और स्वाधीनता के प्रश्नों से जुड़ा हुआ है । इस उपन्यास में यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता वादी संस्कृति स्त्री के शोषण को किस प्रकार नया रूप दे रही है । साथ ही उपन्यासकार की दृष्टि समाज में बढ़ते कॉल गर्ल की संख्या और वुमेन ट्राफिकिन जैसे मुद्दों पर भी गयी है जो आज के मुद्दे हैं जिस पर बहस होना आवश्यक है । इस उपन्यास में उपन्यासकार स्त्री-विमर्श में समलैंगिक साइकी को भी प्रस्तुत करने का प्रयास करती हैं । स्त्री केवल देह नहीं यह मुद्दा भी इस उपन्यास के केंद्र में है । कहने का तात्पर्य यह है कि लेखिका स्त्री विमर्श के अनेक पहलू को इस उपन्यास में समेटने का प्रयास विभिन्न नारियों के चरित्रों के माध्यम से करती हैं । इस उपन्यास में नारी शिक्षित भी है अर्धशिक्षित भी, घर परिवार से घिरी भी है और रोजगार पेशे में लिप्त भी । बहरहाल लेखिका ने यहाँ यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि स्त्री विमर्श में पुरुष के समक्ष स्त्री को समानान्तर रूप में देखने की पहल खोखली है क्योंकि पुरुष भले ही आदर्श के खोल में आबद्ध है लेकिन जैसे ही उससे पर्दा हटता है यह स्पष्ट है कि पुरुष की दृष्टि नारी के प्रति दोयम दर्जे की रही है । यह पुरुष मानसिकता ही है जिसने स्त्री के अस्तित्व को तार-तार करने की कोई कमी नहीं छोड़ी है ।

'कठगुलाब' नारियों के समक्ष आने वाली समस्याओं और प्रताड़नाओं को व्यक्त करता जीवंत दस्तावेज़ है । जो अतीत, वर्तमान और भविष्य में नारी की स्थिति का आकलन भी प्रस्तुत करता है । यह उपन्यास स्त्री विमर्श को समग्रता में प्रस्तुत करता है । इस उपन्यास में पाँच मुख्य स्त्री पात्र हैं और छठा पुरुष पात्र है । किन्तु लेखिका इस उपन्यास में चार स्त्रियों पर चार खंड और पाँचवाँ खंड पुरुष पर केन्द्रित करती हैं । स्मिता, मरियम, नर्मदा, असीमा और नीरजा के जरिये उपन्यासकार नारियों के उत्पीड़न के कारक, शोषण और नारी मुक्ति की अनुगूँज को स्पष्ट करती हैं । इस उपन्यास में वर्तमान समय

में स्त्री विमर्श के समक्ष आई चुनौतियां भी प्रस्तुत हैं। ये पात्र मुक्ति चाहती हैं उस मानसिकता से जिसने शोषण के सिंकचे बनाए, साथ ही उस समाज से भी जो आज भी स्त्रियों के अन्तर्मन को समझने से इंकार करता है।

इस उपन्यास की मुख्य स्त्री पात्रों में से स्मिता भी है जिससे कथा की शुरुआत होती है। स्मिता एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसके साथ बालयौन शोषण होता है जिसके शोषककर्ता उसके जीजा होते हैं। अनुसंधान करने पर यह पाया भी गया है कि दैहिक शोषण का शिकार होने वाले बच्चे खास कर अपने परिवार के लोगों के द्वारा ही प्रताड़ित होते हैं। बहरहाल यहाँ लेखिका बाल शोषण के प्रभाव और मनोविश्लेषण अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। “तेज रोशनी और बड़े आईनों से मुझे हमेशा के लिए नफरत हो गई थी। हॉस्टल के मेरे कमरे में कोई आईना नहीं था। बिजली का एक बल्ब भी पच्चीस वॉट का लगा था। पढ़ने के लिए लैम्प जरूर था पर पढ़ने बैठने पर ही मैं उसे जलाती और पढ़ाई पूरी करते ही बुझा देती।”<sup>239</sup> स्मिता इस पीड़ा से ऐसे प्रताड़ित हो जाती है कि कई सालों तक जीजा से प्रतिशोध लेने की अग्नि में जलती रहती है।

दूसरी ओर अमेरिका के न्यूयॉर्क में उसकी मुलाकात डॉ. जारविस से होती है जिससे वह विवाह भी करती है। जारविस पेशे से डॉक्टर होने के नाते स्मिता का इलाज करते हैं। जारविस सोचता है वह स्मिता को ठीक करने में सफल हो गया है लेकिन स्मिता अंतरमुखी व्यक्ति में से एक है जिसने कभी अपनी समस्याओं को जारविस को स्पष्ट रूप में नहीं बताया बस उसकी हाँ में हाँ मिलाती गयी। हाँ में हाँ मिलाते उसने कब विवाह के लिए उसने मंजूरी दे दी उसे यह भी पता नहीं चला। आंतरिक पीड़ा के कारण ही उसने विवाह में सम्बन्धों की ऊष्मा को नहीं पहचाना। साथ ही असमय और पशुवत पीड़ा ने उसे कभी पुरुष की ओर आकर्षित भी नहीं किया। कुंठा, भय जैसी चीजों से स्मिता डूबी रही। स्मिता का जीजा के प्रति विद्रोह न करने की कुंठा ने उसे बहुत ज्यादा प्रताड़ित किया था। “वह मर गया, इससे मेरा प्रतिशोध कहाँ पूरा हुआ? बल्कि भयानक छल हुआ मेरे साथ। मैं ताकत बटोरती रह गई और किसी और ने उसका काम-तमाम कर दिया। किसी और ने क्या? खुद भगवान ने। पर जो भगवान मेरी अस्मिता नहीं बचा पाया वह मेरा बदला क्यों ले?”<sup>240</sup> जारविस को जब यह पता चलता है कि स्मिता ने कभी उसे अपनी समस्याओं

<sup>239</sup> कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ.सं- 25

<sup>240</sup> कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ.सं- 39

को स्पष्ट ही नहीं किया तो उसका पुरुषत्व और पशुवत व्यवहार प्रारम्भ हो जाता है तब स्मिता उसके पशुवत व्यवहार का जवाब देती है। क्योंकि इतने दिनों में उसने इतना साहस बटोर ही लिया था जिससे उसके प्रति हो रहे अन्याय का विरोध कर सके। “अब वह ड्रेकुल जैसा भयानक लग रहा था। फ़ाहश गालियां बकते हुए, ... फिर बैल्ट से उस पर वार करते-करते उसका गाउन खींचकर अलग किया और उसका भोग करने की कोशिश की। पर इस बार वह बंधनमुक्त थी। उसने जिम को पटकनी देकर जमीन पर गिरा दिया। उसकी बैल्ट छीन ली। और अच्छी तरह उसकी धुनाई करके रख दी।”<sup>241</sup> जब उसे यह ज्ञात होता है कि उसके पेट में जारविस का बच्चा था और दैहिक शोषण के कारण वह मर गया तब उसे दूसरी ठेस लगती है। उसे फिर से ऐसा लगने लगता है कि उसके साथ फिर से धोखा हुआ। तब उसमें जारविस के प्रति प्रतिशोध की भावना और प्रबल हो जाती है। साथ ही उसे वह माफ नहीं कर पाती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि स्त्री के अंदर अस्तित्व भावना अगर जाग जाये और अपने प्रति हो रहे अन्याय के प्रति सजग है तो वह उसका विरोध कर सकती है। शोषण की लंबी परंपरा ने तथा अस्तित्व की लड़ाई ने स्त्रियों में एक ऐसा अदम्य साहस भरा है कि अब उसका रूप परंपरागत ढांचा को स्वीकारता नहीं है।

उपन्यासकार की एक विशेषता यह भी है कि सिर्फ पुरुष सत्ता का ही विरोध नहीं करती बल्कि नर्मदा जैसी औरतों की सोच को भी प्रश्नांकित करती हैं, जिनकी सोच पुरुष मानसिकता से संचालित होती है या यह कहें उनमें पुरुष मानसिकता हावी हो जाती है। आधुनिक समाज में नारी शोषण की लंबी परंपरा के बावजूद कुछ ऐसी नारियां भी हैं जो चाह कर पुरुष मानसिकता इतर सोच नहीं पाती हैं, खुद को उसी परंपरा में रख कर ही खुश हैं। इस तरह की औरतों में पुरुष के प्रति विरोध लेस मात्र भी नहीं मिलता। उसका जीजा उसका बहुत शोषण करता है साथ ही उससे धोखे से शादी भी करता है किन्तु उसका विरोधात्मक स्वर उसमें नहीं दिखाई देता न उसे पुरुष जात से घृणा होती है बल्कि नमिता के पति ने नमिता का भरसक शोषण किया तथा स्मिता का बलात्कार भी किया यह जानते हुए भी उसके पति के प्रति संवेदनात्मक रुख अपनाती है।

उपन्यासकार ऐसी नारीवादी स्त्रियों की भी मुखालफत करती हैं जिसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष दृष्टि पुरुष विरोधी है। अर्थात् उग्र स्त्रीवादी महिलाओं की समर्थक नहीं हैं। इस

<sup>241</sup> कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ.सं- 55

उपन्यास की नायिका असीमा नारीवादी उन्हीं चिंतकों में से है। जिसका सीधा शोषण पुरुषों ने तो नहीं किया लेकिन परोक्ष रूप से उसका प्रभाव पड़ा है। उसके पिता उसकी माँ को छोड़ कर दूसरा विवाह करते हैं किन्तु कभी उन्होंने अपनी पत्नी को प्रताड़ित नहीं किया। फिर भी पिता का दूसरा विवाह करना तथा उसकी माँ को छोड़ कर चले जाना उसे कष्ट पहुंचता है जिसके कारण उसकी नजर में उसके पिता गंदे हो जाते हैं इसलिए वह उन्हें हरामी नंबर 1 कहती है। भाई अपने पिता के अनुरूप होने के कारण वह हरामी नंबर 2 बन जाता है। किन्तु यहाँ उनकी माँ की भूमिका आत्मनिर्भर, सुलझी, स्वाभिमानी स्त्री के रूप में रही है जो परिस्थितियों को ओढ़ती और बिछाती नहीं है बल्कि उसका जम कर मुकाबला करती है। साथ ही उनके पास इतना हौसला है कि वह नर्मदा जैसी स्त्रियों की सहायिका भी बनती हैं। असीमा का व्यक्तित्व उनके सामने बहुत कमजोर दिखाई पड़ने लगता है। पुरुषों के प्रति भरे गुबार के कारण पुरुषों को दुश्मन समझने लगती है। नमिता के पति अथवा स्मिता का दोषी से मिलने के बाद उसकी धारणा बदलती है इसलिए वह उन्हें हरामी नंबर 1 की संज्ञा देती है। साथ ही उसे पीट कर सुख प्राप्त करती है। असीमा में पुरुष के प्रति विरोधात्मक स्वर इतना बढ़ जाता है सभी पुरुषों को समान दृष्टि से देखने लगती है। यहाँ लेखिका यह भी स्पष्ट करना चाहती हैं कि कुछ पुरुष विरोधी चिंता ने तथा पुरुष को ही शोषक कर्ता के रूप में देखने की होड़ ने नारीवाद को गलत दिशा प्रदान की है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि लेखिका स्त्री समलैंगिकता को नारीवाद का ज्वलंत मुद्दा में स्वीकारने के सख्त खिलाफ हैं। तथा कई मामले में लेखिका इसका तर्क प्रस्तुत करती हैं “क्या लैज़िबियन के मन में बच्चा जनने की इच्छा नहीं होती ? क्या औरतें मर्द से सिर्फ, इसलिए आकर्षित होती हैं, क्योंकि वह उसे बच्चा दे सकता है ? अगर औरत मर्द के बिना, स्पर्म दान द्वारा, बच्चा पैदा कर सके तो क्या औरत-मर्द के बीच का आकर्षण समाप्त हो जाएगा ?”<sup>242</sup> उनका मानना है कि स्त्री समलैंगिकता आपसी सहमतियों से बनती है इसे हमें आवश्यक बताना कहाँ तक उचित है।

इस उपन्यास में लेखिका भारतीय और यूरोपीय पृष्ठभूमि में स्त्री समस्याओं को स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं। वह यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि केवल भारतीय परिवेश में ही नहीं यूरोपीय देशों में भी नारी की स्थिति बेहतर नहीं है। मरियम

---

<sup>242</sup> कठगुलाब, मृदुला गर्ग, 190

इस उपन्यास की पात्र है जो मातृत्व की ललक से भरी हुई है | मरियम यूरोपीय परिवेश में बड़ी एक औरत है जिसके सौतेले बाप ने उसे जीने का हौसला दिया | जॉर्ज निहायती संवेदनशील पुरुष था जिसके कारण मरियम सभी पुरुषों को एक ही साँचे में फिट नहीं कर पाती है | उसके पहले पति व्हिटमैन के लिए जितनी घृणा उसमें है उतनी घृणा उसके दूसरे पति गैरी कपूर के लिए नहीं है क्योंकि उसके पहले पति ने छल पूर्वक उसकी कथानक या सामग्री का अधिग्रहण करके अपने सृजन का स्रोत गढ़ता रहा | मरियम का निश्चल प्रेम ने कभी उसको शक की निगाह से देखने पर मजबूर नहीं किया बल्कि इसके विपरीत उसके खोखले मनुहार को एक आदर्श स्त्री के रूप में मानती गई | यही कारण था जिसकी वजह से उसका कोख सुनी रह गई | बार-बार कोख को साफ कराने के कारण प्रकृति ने उससे बदला लिया जिसके कारण चाहने के उपरांत भी कभी वह बच्चा पैदा नहीं कर पाई | लेकिन यहाँ यह स्पष्ट है कि पति का छल पूर्वक शोषण ने उसके प्रति विरोधात्मक स्वर को जन्म दिया लेकिन उसमें पुरुष जाति के प्रति यह विरोध नहीं मिलता जैसे स्मिता और असीमा में मिलता है | उसके रौंदते हुए अस्तित्व की चोट ने उसे सृजनतामक कलाकार तो बना दिया किन्तु एक माँ नहीं बना पाया | मरियम का आक्रोश और विरोध और कुछ कर गुजरने की होड़ को देख कर स्मिता यह प्रश्न करती है कि तू क्या मर्द बनना चाहती है | तब मरियम का यह उत्तर पूरा पुरुषवादी समाज को चुनौती देता है कि मैं मर्द नहीं बनना चाहती | जो कमजोर होती हैं, वे मर्द बनना चाहती हैं, मैं मर्द नहीं सर्जक बनना चाहती हूँ | स्त्रीवादी सोच को लेकर समाज की यही धारणा रही है कि कुछ स्त्रियाँ मर्द बनना चाहती हैं इसी सोच को लेखिका स्पष्ट करती हैं | स्त्रीवाद पुरुषत्व की बेड़ी को तोड़ने का साहस लिए हुए जन्मा है जो स्त्री को पुरुष से कमतर नहीं मानता | बाद में मरियम का यह स्पष्ट करना कि “हाँ, मैं एकदम पारंपरिक, जाहिल, गंवार, प्राकृत औरत हूँ | औरत हूँ मैं | औरत हूँ | तो? क्यों न हूँ औरत ? मैं चिल्ला-चिल्ला कर कहती हूँ, मैं एक बच्चा पालना चाहती हूँ ... मैं उसका पहला शब्द सुनना चाहती हूँ ... मैं अपनी आखों के सामने, अपने पर निर्भर बच्चे को आत्म-निर्भर बनते देखना चाहती हूँ | उसे आत्मनिर्भर बनाने में इन्वेस्ट करना चाहती हूँ | मैं पालन-पोसना, सहेजना-संवारना चाहती हूँ | मैं एक सर्जक होना चाहती हूँ |”<sup>243</sup> इस भ्रम को दूर करता है कि यहाँ मरियम खुद को बच्चा पैदा करने में असमर्थ

<sup>243</sup> कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ. सं-112

माँ बन कर अपने अस्तित्व या अपूर्ण नहीं मानती है बल्कि उसके अंदर एक ऐसी चाह है जो प्राकृतिक है जिसने स्त्रियों में मातृत्व का बीज बो कर उन्हें पुरुष से श्रेष्ठ बनाया है ।

नमिता इस उपन्यास की ऐसी पात्र है जो अपने पति से कई वर्षों तक प्रताड़ित है । इसी प्रताड़ना ने उसके अंदर भी प्रतिशोध की भावना को जन्म दिया है किन्तु इस पात्र की एक कमी यह रहती है कि यह पात्र पति के स्वस्थ रहते तक उसका विरोध नहीं करती बल्कि असह्य पीड़ा को झेलती रहती है किन्तु जैसे ही उसका पति लकवा ग्रस्त होता है तभी उससे प्रतिशोध लेती है । सबल का निर्बल पर अत्याचार तो यह होता आए हैं लेकिन शक्तिशाली पुरुष हो या स्त्री समय आने पर शोषक की भूमिका निभाता ही है । किन्तु लेखिका इस तरह के सोच रखने वाली के समर्थक नहीं हैं । किन्तु इस पात्र के जरिए यह भी स्पष्ट करती हैं कि ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो सत्ता मिलते ही अपना रूप दिखाने में पीछे नहीं हटती हैं । उसकी बेटी नीरजा आधुनिक सोच से अनुप्राणित है । इसके जरिए लेखिका आधुनिक युवा पीढ़ी की आधुनिक सोच को प्रस्तुत करती हैं साथ ही आगामी पीढ़ी में आई स्त्री-पुरुष संबंधों में आने वाली गिरावट की पड़ताल करती हैं । वर्तमान का दौर वैज्ञानिक दौर है और आगामी दौर इससे ज्यादा प्रयोगात्मक होगा इसमें कोई दो राय नहीं है । आज के इस दौर में विवाह व्यवस्था की नींव वैसे भी हिलने लगी है ऐसे में भविष्य का क्या रूप होगा यह सहज ही पता लगाया जा सकता है । आज के दौर में एकल जीवन जीने की लालसा तथा सह-जीवन जीने की होड़ ने युवा पीढ़ी को संबंधों से दूर किया है तथा उनमें दूसरे के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई देती है । नीरजा और विपिन का संबंध आगामी पीढ़ी की भयावहता को प्रस्तुत कर रहा है जो भोग, विलास में लिप्त है । विज्ञान ने भले ही जितना प्रगति क्यों न किया हो लेकिन इसका प्रभाव परिवार व्यवस्था तथा संबंधों पर भी पड़ा है । “आज विज्ञान ने स्त्री-पुरुष के दैहिक रहस्यों को इतना पारदर्शी बना दिया है और जर्जर विवाह संस्था ने उनकी आस्था को इस कदर डगमगा दिया है कि प्रजनन के अतिरिक्त दोनों की संपृक्ति की बात गले नहीं उतरती ।”<sup>244</sup>

पुरुष पात्र विपिन के जरिये उपन्यासकार इस उपन्यास में पुरुष प्रधान समाज की मनोग्रंथियों को स्पष्ट करने के साथ यह भी स्पष्ट करती हैं कि स्त्री-विमर्श पुरुष का विरोध नहीं करता है बल्कि पुंस मानसिकता का विरोध करता है जिसकी सोच में नारी आज भी

---

<sup>244</sup> हिन्दी उपन्यास समय से संवाद, रोहिणी अग्रवाल, पृ.सं- 97

एक भोग्या और वस्तु है । विपिन संतान प्राप्ति की तीव्र इच्छा लेकर प्रस्तुत होता है जिसमें पुरुषत्व का अहं देखा जा सकता है पर वह पुरुषवादी मानसिकता का पोषक नहीं है बल्कि उसकी सोच अच्छी है, जिसमें स्त्री का स्थान सम्मानीय है । यही कारण रहा जिसकी वजह से असीमा की दृष्टि में अच्छा बना रहता है, किन्तु नीरजा से संबंध बना कर उसे पुरुषवादी सोच का द्योतक सिद्ध किया जाता है, जिसमें उसका पुरुष स्वार्थ को देखा जाता है । किन्तु स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि विपिन अन्य पुरुषवादी शोषक प्रवृत्ति का समर्थक नहीं है बल्कि स्त्री मन को समझने की कोशिश उसमें विद्यमान है । जबकि अन्य पुरुष पात्र जिम, ईर्विंग, जीजा, गनपत, आदि पात्र पुरुषवादी सोच की संकीर्णताओं तथा कट्टर मानसिकता के द्योतक हैं । विपिन की सोच भले ही संतान प्राप्ति को लेकर जो रही हो किन्तु परिस्थितियों के कुचक्र में वह यह जान पाता है कि स्त्री-पुरुष का संबंध ही शाश्वत है जिस के केंद्र में सम्बन्धों की ऊष्मा है, प्रेम है । पुरुष को पुरुष का अहं नहीं बल्कि एक स्त्री का प्रेम उसे पुरुष बनाता है । जब उसे नीरजा से सही मायने में प्रेम होता है तब नीरजा उसे त्याग कर दूसरे से विवाह कर लेती है । नीरजा में प्रेम के संचार को समझाने की विपिन बहुत कोशिश करता है पर वह न कामयाब रहता है । “विपिन स्त्री की नीरजा (यंत्र मानव) के रूप में परिणति से संव्रस्त हो अंततः प्रकृति की गोद में शरण लेता है । वह न असीमा के पास जाता है न स्मिता के पास । जाता है गोधड़, जहां अपनी तरह से उसे बंजर हो रही धरती और संवेदनशून्य हो रही नारी को उर्वर करना है । यह उसका प्रायश्चित्त है ।”<sup>245</sup>

‘चाक’ उपन्यास मैत्रेयी पुष्पा के द्वारा रचित बहुत प्रसिद्ध उपन्यास है । आलोचकों ने इस उपन्यास की बहुत आलोचना की है । समय समय पर आलोचना होने के बाद भी यह उपन्यास अपने आप में विशेष है । यह उपन्यास ग्रामीण नारी की पीड़ा और संघर्ष को प्रस्तुत करता है । लेखिका ग्रामीण नारी को पिछड़ेपन की दृष्टि से देखने की समर्थक नहीं हैं । उपन्यास में आप यह भी स्पष्ट करती हैं कि समय-समय पर गाँव की महिलाओं ने भी पुरुष सत्ता के प्रति विरोध दर्ज करने की कोशिश की है । किन्तु पुरुष व्यवस्था ने उन स्त्रियों के साथ भी न्याय नहीं किया । लेखिका स्पष्ट करती हैं कि सीता की तरह पुरुष को आदर्श की मूर्ति मानती महिलाओं के साथ भी न्याय नहीं हुआ । ऐसी तमाम महिलाओं

<sup>245</sup> हिन्दी उपन्यास समय से संवाद, रोहिणी अग्रवाल, पृ.सं- 109



ने परंपरा और समाज के नाम पर खुद को कुर्बान किया किन्तु इसके एवज़ में उन्हें क्या मिला ? “ रस्सी के फंदे पर झूलती रुक्मणी, कुएं में कूदनेवाली रामदोई, करबन नदी में समाधिस्थ नारायानी ... ये बेबस औरतें सीता मइया की तरह ‘भूमि प्रवेश’ कर अपने शील-सतीत्व की खातिर कुरबान हो गईं ।”<sup>246</sup> चाक रूपी समयचक्र में परिस्थितियाँ बदली हैं किन्तु लोगों के सोच में कोई परिवर्तन नहीं आया है । आज भी पुरुष समाज स्त्री को उसी परंपरागत रूप में देखने का आदि है किन्तु ऐसी महिलाओं की भी कमी नहीं रही जो पुरुष समाज को चुनौती देने का कार्य न करती रही हों । किन्तु समस्या यह है कि कभी भी व्यवस्था उनका साथ नहीं देती बल्कि उसकी हस्ती भी मिटा देती है । इस उपन्यास की पात्र रेशम की गलती बस इतनी ही थी कि वह खुद को एक वस्तु से ज्यादा जीवित मनुष्य मानने लगी थी जिसकी आशाएं और आकांक्षाएं होती हैं । विधवा रेशम व्यवस्था के विधि को उलटने चली थी नतीजतन पुरुष समाज का आक्रोश उस पर पड़ा । “अम्माँ, तुम तो बिरथा ही दाँत किटकिटा रही हो । तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती ? जीतों-मरतों का भेद भी भूल गईं तुम ? बेटा के संग में भी मरी मान ली ?”<sup>247</sup> लेखिका यहाँ स्त्री को स्त्री दृष्टि से देखने की पहल करती हैं । यह कैसी व्यवस्था है, जहां मुर्दों के साथ जीवित व्यक्ति को भी मुर्दा मान लिया जाता है ? सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यह विधि का विधान केवल स्त्री के माथे ही चढ़ाया गया जबकि पुरुषों के लिए ऐसे कोई नियम कानून नहीं हैं । रेशम की बहन सारंग भी इसी स्वभाव की स्त्री है । जो रेशम के कातिल को सज़ा दिलाकर ही दम लेती है । सारंग इस उपन्यास की मुख्य पात्र है जिसके इर्द-गिर्द ही कथा घूमती रहती है । सारंग विवाहित स्त्री के प्रति बनाई गई मान्यताओं को अपने ऊपर नहीं थोपती बल्कि स्वैच्छा से जीवन को जीने की आकांक्षी है, जिसे पुरुष समाज कब का दफन कर चुका है । आलोचकों ने सबसे ज्यादा विरोध अगर किसी पात्र का किया वह है सारंग । लेखिका सारंग के विवाहेतर प्रेम सम्बद्ध को दिखा कर समाज की वास्तविकता को दिखाने का प्रयास करती हैं किन्तु वहीं पुरुष समाज आदर्श की केंचुली में बंधा नैतिकता का पक्षधर है । भारत में अनुसंधान करते हुए यह पाया गया है कि अमूमन विवाह के पश्चात तथा संतान प्राप्ति के बाद पुरुषों में अपनी स्त्रियों के प्रति विकर्षण की भावना बढ़ती दिखाई देती है वहीं यह कहना गलत न होगा कि यह स्थिति

<sup>246</sup> चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं- 7

<sup>247</sup> चाक, मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं-19

स्त्रियों के साथ भी है । रंजीत का सारंग के अनुरूप न ढलना तथा सारंग का रंजीत के अनुरूप कार्य न करना कहीं न कहीं दोनों के संबंधों की तिक्तता को भी व्यक्त करता है । संबंधों में आई तिक्तता और एक साथी की कमी के एहसास ने सारंग को श्रीधर की ओर आकर्षित किया । श्रीधर के प्रति बढ़ते लगाव से पूरा समाज सारंग पर विक्षुब्ध था, साथ ही रंजीत भी । लेखिका इसके जरिए यहाँ यह भी स्पष्ट करना चाहती हैं कि पुरुषों की पुरुषत्व से स्त्री प्रभावी नहीं होती बल्कि औरत के प्रति संवेदनशीलता और स्त्री मन को समझने की कोशिश पुरुष को स्त्री के समीप लाती है । रंजीत में सारंग के प्रति प्रेम प्रगाढ़ है तथा सारंग का रंजीत के प्रति प्रेम प्रगाढ़, इसमें कोई संदेह नहीं है । किन्तु सारंग की मानसिक साथी की कमी को श्रीधर मास्टर पूरा करते हैं । इस उपन्यास में यह भले ही नहीं कहा जा सकता कि यह रिश्ता उचित या अनुचित है । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह उपन्यास स्त्री दृष्टि को समझने की पहल करता है साथ ही स्त्री आकांक्षाओं को भी पंख देने की आशा करता है । यह उपन्यास भले ही अनेक संदर्भों को अपने अंदर समाहित किए हुए है किन्तु स्त्री पात्रों को नवीन दृष्टि से देखने की पहल इसे खास बनती है जिसे इस उपन्यास की मुख्य प्रवृत्ति के रूप में देख सकते हैं ।

मुख्य रूप से इस उपन्यास में गाँव में स्थित स्त्रियों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक हिस्सेदारी को प्रस्तुत किया गया है । इस उपन्यास में स्त्रियाँ सशक्त रूप से सामने आती हैं जो निजी फैसलों पर किसी पर निर्भर नहीं हैं । एक तरह से लेखिका परंपरागत ग्रामीण औरतों को देखने के नजरिये को स्पष्ट करती हैं । चाक की भूमिका 'अपनी बात' में लेखिका यह स्पष्ट भी करती हैं कि 'वह मान्यता थोथी-खोखली है, जिसके तहत ग्रामीण स्त्री को अनपढ़, असभ्य और चेतनाशून्य मानकर गैरतलब नहीं समझा गया ।' यह उपन्यास पितृसत्तात्मक व्यवस्था से सीधे टकराते हुए दिखता है । इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसकी नायिका पितृसत्तात्मक समाज को करारा जवाब देते हुए स्त्री दृष्टि और अस्मिता के सवाल को केन्द्रीयता से उठाती है । मैत्रेयी पुष्पा 'चाक' उपन्यास में पितृसत्तात्मक समाज के द्वारा बनाई यौन शुचिता की बनी बनाई अवधारणा को तोड़ने का कार्य इस उपन्यास की कलावती चाची, सारंग और रेशम के द्वारा करती हैं । कलावती चाची एक पुरुष के अंदर पुरुषत्व को जगाकर गढ़ी-गढ़ाई मान्यताओं को उलट देती हैं । वहीं दूसरे संदर्भ में प्रेम पर समर्पित सारंग स्त्री मन की परतों को खोलती है । तीसरा संदर्भ रेशम का आता है जो अपने आप में ही एक सशक्त चरित्र है जो स्त्री के प्रति समाज

की पुरानी सोच को दिखाने के साथ स्त्री को देखने की नई दृष्टि भी प्रदान करता है । एक तरह से इस उपन्यास में स्त्री आकांक्षाओं को तिलांजलि देते समाज पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है ।

‘शाल्मली’ उपन्यास नायिका प्रधान उपन्यास है । यह उपन्यास स्त्री जीवन पर आधारित विशिष्ट उपन्यास है । इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें कामकाजी स्त्री का पारिवारिक संघर्ष और उसके प्रति पुरुष समाज का दृष्टिकोण बड़ी बारीकी से प्रस्तुत है । यह उपन्यास आधुनिक सोच में जीती स्त्री की है जो स्त्री-पुरुष की समानता की बात करती है । स्त्री अस्मिता को बरकरार रखने की जद्दोजहद स्त्री को कितना आतंकित और प्रताड़ित करता है इसका भी चित्रण इस उपन्यास में किया गया है ।

शाल्मली विवाहित स्त्री है जो नरेश नामक पुरुष से विवाह करती है । इस उपन्यास में नरेश आधुनिक पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है और शाल्मली आधुनिक समझदार और अपने अस्तित्व को बरकरार रखने वाली स्त्री की भूमिका में है । विवाह से पूर्व शाल्मली कामकाजी या नौकरशाह नहीं थी । किन्तु विवाह के उपरांत वह नौकरी करना चाहती है । नरेश भले ही आधुनिक पुरुष की भूमिका में हो किन्तु उसकी सोच खासी स्त्रियों के प्रति वही परंपरागत ही रहा है । उससे पूछता है क्या करोगी नौकरी करके ? आगे कहता है पढ़ाई-लिखाई को गोली मारो । जीवन भर इस मगजपच्ची से क्या मिलेगा ? नरेश की सोच स्त्री और लड़कियों को लेकर यही रही है कि उनके घर वाले उन्हें विवाह के लिए ही पढ़ाते हैं । विवाह के उपरांत पत्नी का बस यही धर्म होता है कि पति की सेवा करे और उसका ध्यान रखे । यह सोच पुरुष समाज की औरतों के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है ।

इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि पुरानी मानसिकता के अनुसार स्त्रियों को भगवान भी नहीं समझ सकते किन्तु मर्दों को समझना क्या इतना आसान रहा है ? पुरुषों ने भले ही अपने दिल की बात को स्पष्ट कर दिया हो किन्तु औरतों ने कभी यह स्पष्ट नहीं किया । शादी के बहुत दिनों के बाद भी वह नरेश को समझ नहीं पाती । “वह खुलता ही नहीं । जब भी उसने कोशिश की, हर बार बंद दरवाजे से माथा टकराया ।”<sup>248</sup>

---

<sup>248</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-26

शाल्मली जहां स्त्री और पुरुष को समान दर्जे में रखने की आकांक्षी है वहीं नरेश स्वामी और स्त्री संबंध का पक्षपाती है । “विवाह के कुछ दिनों बाद से ही उसे लगने लगा कि उनके बीच कुछ टूटा था, जिससे एक ही ध्वनि गूंजी थी कि नरेश पति है और वह पत्नी । स्वामी और दासी का यह संबंध एक काली छाया बन उसके और नरेश के बीच एक मजबूत दीवार का रूप धरने लगी थी ।”<sup>249</sup> शाल्मली एक समझदार स्त्री है जो आरंभ से ही स्त्री-पुरुष के संबंध के परंपरागत ढांचे बने रिश्ते में बदलाव कर एक पारस्परिक समझ और बराबरी का रिश्ता कायम करना चाहती थी । किन्तु कई कोशिशों के बाद भी वह नाकामयाब रही बल्कि इससे उसके रिश्ते में और दूरियाँ आती गईं । उसकी संकल्पशक्ति, चुनौती और संघर्ष और जीवन जीने का दृष्टिकोण सब कुछ धरा का धरा रह गया । उसके मन-मस्तिष्क में विवाह से पूर्व नरेश में कुछ मिली भिन्नताओं से प्रसन्न होकर गृहस्थी सजाने के बीज बोए थे किन्तु दोनों के बीच आपसी असहमतियों ने तथा संबंधों में आई तिक्तता ने सब कुछ उलट कर रख दिया था । संबंधों में आई तिक्तता के कारणों की पड़ताल इस उपन्यास की विशेषता है । नरेश शाल्मली को परंपरागत स्त्री के रूप में देखने का पक्षपाती है जो पुरुषों के मसले में जबान नहीं लड़ाती या उससे प्रश्न नहीं करती ? “मैं तुम से बहस नहीं कर सकता । तुम्हारे तर्क मुझे अपने बॉस की याद दिला देते हैं । ... पत्नी हो, पत्नी की तरह रहो, समझी ।”<sup>250</sup>

विवाह के उपरांत स्त्री देह और स्त्री मन को रौंदे जाने का चित्र भी इस उपन्यास में सजीवता से उकेरा गया है । “इस समय मेरा मन नहीं है, नरेश, प्लीज, कुछ बात करो ... हाथ हटाओ ! नरेश के लहजे की सख्ती से शाल्मली टूट-सी गई । आत्मसमर्पण के सिवा कोई रास्ता न था । नरेश की उग्रता से वह कांप उठी । क्या कहे, किससे कहे ? उसकी आवाज हलक में घुट गई थी, बदन बेहिस लुंज-पुंज हो गया था । सिर्फ आँखों के कोरों से गर्म पानी बह कर उसके बालों और तकिये को भिगोता रहता ।”<sup>251</sup> पुरुष का बहसीपन और दुर्व्यवहार वैवाहिक जीवन की यथार्थता को प्रस्तुत करता है । पुरुष के लिए नारी केवल एक देह है जिसे भोग कर सुख प्राप्त किया जा सके । पुरुष स्त्री मन को कभी समझने

<sup>249</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-10

<sup>250</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-13

<sup>251</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-40

की कोशिश करता ही नहीं है और न ही उसे उनकी कद्र करना ही आया है । अतः संबंधों में आई तिक्तता से ही मन में खालीपन भर जाता है ।

नरेश शाल्मली को बार-बार नौकरी छोड़ने की जिद करता है । शाल्मली के निर्णय में बदलाव लाने के लिए उसने सारी हदें पार कर दी इसके लिए शाल्मली को कितनी पीड़ाएं और यातनाएं सहनी पड़ीं । पुरुषों में बढ़ते अहं की भावना कितनी घातक सिद्ध हो सकती है यह भी इस उपन्यास में स्पष्ट है -“तुम औरतें अपने आप को जाने क्या समझती हो ? बाहर नहीं निकलोगी, काम नहीं करोगी, तो संसार के सारे काम ठप्प हो जाएंगे ... यह जान लो तुम, यह फैसला मेरी भावनाओं के मूल्य पर नहीं, बल्कि इस घर के मूल्य पर कर रही हो ।”<sup>252</sup>

पुरुष समाज औरतों को बढ़ने की कोशिश सदैव करता रहा है । आज भी उसकी मानसिकता में बदलाव नहीं आया है । साथ ही पुरुष समाज औरत को कमतर देखने का आदि रहा है । साथ ही पुरुष स्त्री को अपनी संपत्ति के रूप में देखता है जिस पर उसका जन्म सिद्ध अधिकार है । “मैंने तुम्हें नौकरी की छूट दी, इसका अर्थ नहीं कि तुम अपने को पूर्ण स्वतंत्र समझने लगो । ... कहीं भी गईं, मगर मेरे बिना क्यों गईं ?... अब तुम मेरी नकल मत करो ! मैं मर्द हूँ, कहीं भी आ-जा सकता हूँ । तुम औरत हो और अपनी मर्यादा को पहचानो !”<sup>253</sup>

स्त्री का भी कोई अस्तित्व है । पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के अस्तित्व कभी स्वीकार नहीं करता बल्कि स्त्री को पुरुषों के इशारे पर ही चलना पड़ता है । सबसे पहले पिता, पति और फिर पुत्र के इशारों पर स्त्री का जीवन व्यतीत होता है । क्या यह पुरानी सोच नहीं ? क्या स्त्री को कोई स्वतंत्रता नहीं ? क्या उसका कोई अस्तित्व या पहचान नहीं ? क्या उसकी कोई आकांक्षा नहीं ? ऐसे कई सवाल इस उपन्यास में उठाए गए हैं -“मान लो आज मैं सारे जतन करके तुम्हारी दृष्टि को आँख बंद करके अपना लूँ और एक लंबे समय तक तुम्हारी खुशी के लिए अपना पिछला जीवन भूल जाऊँ । जब तुम्हारी मेहनत की महक की आदत पड़ जाएगी, तो एक दिन बेटा अपनी इच्छा के अनुसार मुझे ढालने की कोशिश करेगा । बताओ, हम औरतें क्या हैं ? गीली मिट्टी ? कितनी बार हम अपने को मिटाकर नए-नए रूप में ढले ? यानी हमारा कोई अस्तित्व नहीं, अधिकार नहीं, विवाह का अर्थ है,

<sup>252</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-47

<sup>253</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-74

अपना जन्म-स्थान भुला देना और एक मनुष्य की इच्छा और रुचि का दास बन जाना ?”<sup>254</sup> नारी कभी स्वतंत्र हो ही नहीं पाई न यह स्थिति पहले थी न ही यह स्थिति है । “हम तो बहू, री ! दासी थे । तुझे देखा, तो मन में सोच कि चल कर कहीं तो औरत स्वतंत्र है । भयभीत भी हुई थी कि तू निभाएगी भी या नहीं ? शहर की लड़की .. बहुत बातें सुन रखी थीं । इन वर्षों में तेरे साथ रहकर जान पाई, बहू, री ! औरत जन्मजली कहीं स्वतंत्र नहीं । कहीं खूँटे से तंग बंधी, तो कहीं उसके गले में बंधी रस्सी थोड़ी लंबी या अधिक लंबी ।”<sup>255</sup> समय की गतिशीलता के साथ औरत भी अपनी केंचुली में बदली है और मर्द भी किन्तु फर्क बस इतना है कि औरतें सदियों से पड़ी बेड़ियों को तोड़ कर आगे बढ़ना चाहती है और मर्द उसे देख कर आतंकित हो उठा है । नरेश के जेहन में शाल्मली पर कब्जा में रखने की चाहत बीमारी की तरह बढ़ती जा रही थी । उसे बस इतना पता था कि शाल्मली उसकी पत्नी है जो उसकी आज्ञा के बिना सांस भी नहीं ले सकती । यहाँ पुरुष का दंभ और अहं अपनी चरम सीमा पर है । वहीं शाल्मली इस सोच से आतंकित है कि आज जमाना कहाँ से कहाँ पहुँच चुका है पर पुरुषों की सोच स्त्री को लेकर वही गढ़ी गढ़ाई ही है । शाल्मली अंततः कई बार आहात होती है, पुरुष व्यवस्था से टकरती है किन्तु हार मान कर अपनी अस्मिता को समझौता करने के लिए राजी नहीं है । आधुनिक नारी सोच “औरत के पास दो ही अभिव्यक्ति है या सर झुका देना या समस्या को अधूरा छोड़, सर कटा लेना । मेरा विश्वास न घर छोड़ने पर है, न तोड़ने पर, न आत्महत्या पर है, न अपनी को किसी एक के लिए स्वाहा करने में है । मैं तो घर के साथ औरत के अधिकार की कल्पना भी करती हूँ और विश्वास भी । अधिकार पाना यानी ‘घर निकाला’ नहीं और घर बना रहने का अर्थ ‘सम्मान’ को कुचल फेंकना नहीं है । यह जो हमारे मन-मस्तिष्क में अति का भूत सवार हो गया है, वही जीवन के लिए विष समान है ।”<sup>256</sup>

समाज में सबसे बड़ी भूमिका सामाजिक संबंधों की होती है, जिससे प्रत्येक मनुष्य परस्पर जुड़ा रहता है । स्त्री-पुरुष सम्बन्ध भी इनमें से एक सम्बन्ध है, जिसे समाज ने निर्मित किया है । भारत में स्त्री-पुरुष के विवाह बंधन को पवित्र रिश्ता माना गया है ।

<sup>254</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-75

<sup>255</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-94

<sup>256</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-164

आधुनिकता तथा पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में कड़वाहट घोल दी है। नैतिक रिश्ते जो विश्वास की नींव हुआ करते थे, वे टूटते जा रहे हैं। रिश्तों में नैतिकता की जगह अनैतिकता ने ले ली है। 'जटिल-सम्बन्ध' उपन्यास भी संबंधों की इसी जटिलता को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। यह उपन्यास बार-बार एहसास दिलाता है कि आधुनिकता की आड़ में हमने रिश्तों की मिठास कम कर दी है। संबंधों में कड़वाहट, अकेलापन, शारीरिक-क्षुधा आदि ज्यादा महत्वपूर्ण हो गए हैं। औद्योगीकरण ने मनुष्य को एक मशीन के रूप में निर्मित कर दिया है। 'यूज़ एंड थ्रो' की कल्चर को ज्यादा तवज्जो दी जा रही है जिसमें संबंधों के स्तर पर संवेदना को प्राथमिकता नहीं मिल रही है। मानव सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न कथाकारों ने व्यापकता से किया है फिर भी इन जटिल संबंधों की पहली अनसुलझी ही रह गयी है। लेखक की चुनौती इस पहली को सुलझाने की है। जटिल सम्बन्ध आंतरिक यथार्थ और मनोगत भावों से युक्त होते हैं। जिसका रूप बहिर्जगत में कम प्रकट होता है। साहित्य का आधार ही मनुष्य के मनोगत भावों और संबंधों की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। आधुनिक समाज की विडम्बना है - संबंधों की कड़वाहट और उनमें जटिलता।

इस उपन्यास में चार पात्र हैं जो परस्पर ऐसे सम्बन्ध में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं जिसे रचनाकार ने जटिल सम्बन्ध जैसा आकर्षक नाम दिया है। जेएनयू में पढ़ रहे हिमांशु आधुनिक छात्र की भूमिका निभाता है। उसका अनेक लड़कियों के साथ 'आई लव यू' वाला संपर्क बनता है, कहने का आशय है अनेक लड़कियों के संस्पर्श में वह आता है। उनमें से एक लड़की तमशा है जिसके दिल में हिमांशु के लिए प्रेम है और वह उससे विवाह भी करना चाहती है। हिमांशु उसके साथ विवाह के लिए राजी नहीं होता है। आधुनिक समाज में कॉलेज में प्रेम 'टाइम-पास' का जरिया होता है। 'तू नहीं कोई और सही' वाली नीति का पालन किया जाता है। यह संस्कृति युवाओं को बिगाड़ने का कार्य करती है। इसे एक तरह से उपभोग की संस्कृति कह सकते हैं। हिमांशु अनेक लड़कियों के फेरे में पड़ कर भी 'सुचित्रा' से बहुत प्रेम करता है जो उसका प्रथम एकतरफा प्रेम है, वह सुचित्रा से प्रेम करता है यह कहने में वह असमर्थ रहता है। बहुत साल बाद जब अध्यापक के रूप में उसकी मुलाकात सुचित्रा (उसकी छात्रा) से होती है तब हिमांशु साहस जुटा कर उससे अपने दिल की बात कहता है और अंततः उससे विवाह करता है।

सुचित्रा एक आधुनिक लड़की है जो आधुनिक प्रपंचों से अनभिज्ञ नहीं है। वह अच्छे से जानती है अमरेन्द्र उसे एक दोस्त के रूप में नहीं चाहता बल्कि दोस्त से बढ़कर 'प्रेमिका' के रूप में पाना चाहता है। पर कभी उसे कहता नहीं है - "इसका अर्थ यह नहीं है कि अमरेन्द्र उसे चाहता नहीं है। वरन अगर किसी लड़की के पास उसने घुटने टेक, प्रेम की भिक्षा माँगी है, तो वह एक मात्र लड़की सुचित्रा है।"<sup>257</sup> किन्तु सुचित्रा प्रेम के बंधन में पड़ना नहीं चाहती वह उसे साफ़-साफ़ कह देती है - "वह पढ़ने के लिये कॉलेज आती है - प्रेम करने के लिए नहीं।"<sup>258</sup> जिस दिन वह सुचित्रा के विरुद्ध उसे छूने का प्रयत्न करेगा उस दिन वह दोस्ती भी तोड़ देगी। वह अच्छे से जानती है कि अमरेन्द्र जैसे छात्र नेता खुद को बहुत बड़ा प्रेमी मानते हैं। उन्हें सभी अच्छी लड़कियों को प्रपोज करने का अधिकार है, वह यह भी सोचने लगता है सभी सुन्दर दिखने वाली लड़कियां उनके प्रेम में घायल होने के लिए तैयार हैं। वह उसकी उसी मानसिकता को तोड़ती है। वह एक गहरी समझ-बूझ वाली आधुनिक लड़की है, जो दोस्ती करना भी जानती है और गलती पर फटकारना भी, और अपना उल्लू सीधा करना भी। वह किसी भी तरह कमजोर नहीं पड़ती अंततः अपनी बातों में अडिग रहती है। यहाँ आधुनिक नारी की अपनी अस्मिता और पहचान तथा निर्भीकता को देखा जा सकता है क्योंकि स्त्री विमर्श ने आधुनिक दौर में स्त्रियों में एक अदम्य साहस भरने का कार्य किया है।

इस उपन्यास में समकालीन समाज में चल रहे 'एसिड अटैक' का भी जिक्र मिलता है। आज कल अखबारों में यह कारनामे होते रहते हैं, आये दिन कोई न कोई लड़की इसका शिकार होती है। प्रेम तो त्याग सिखलाता है। प्रेम एक-दूसरे के सुख में सुखी होना है, पर आज प्रेम का भयावह रूप भी हमारे सामने उपस्थित है। प्रेम ने प्रतिशोध लेना भी सीख लिया है। एसिड अटैक आज इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। "कुछ दिन पहले ही अखबार में छपा था एक स्त्री डॉक्टर के पहले आशिक ने उसके विवाह के प्रस्ताव को मना करने पर उसके चेहरे पर एसिड डाल कर उसे विकलांग बना दिया था।"<sup>259</sup> अमरेन्द्र को विवाह के लिए मना करने के पश्चात सुचित्रा के घरवालों को डर है कहीं सुचित्रा के साथ भी ऐसा न हो। उनकी यह चिंता करना उन सभी माँ-बाप का प्रतिनिधित्व करता है जो अपनी बेटी

<sup>257</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-10

<sup>258</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-10

<sup>259</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-25



को लेकर सदैव चिंतित रहते हैं कि उनकी बेटी सही-सलामत घर पहुंचेगी या नहीं । समकालीन समय का यह चित्र बड़ी सजीवता से इस उपन्यास में प्रस्तुत है ।

इस उपन्यास में नारी विमर्श के कई पहलुओं को प्रस्तुत हुए हैं । जैसे -“शादी के बाद जन्म दी गयी संतान को नदी में बहा सकती हूँ , तुम उसका प्रतिवाद नहीं कर सकते ? वह केवल संभोग का अधिकारी है, संतान पर उसका कोई जोर नहीं रहेगा !”<sup>260</sup> कहने का तात्पर्य है बच्चे पैदा करने का निर्णय सुचित्रा का होगा । इसलिए हिमांशु उसे बाध्य नहीं कर सकता है । स्त्री विमर्श के केंद्र में कई सवाल रहे । किन्तु उनमें एक सवाल यह भी उठाया गया है बच्चा पैदा करने का अधिकार आखिर एक स्त्री को क्यों नहीं ?

स्त्रियों का यह पूर्वाग्रह रहा है कि जब वे माँ नहीं बनती तब तक उनका कोई अस्तित्व नहीं होता है । नारी तभी पूर्ण होती है जब वह किसी बच्चे को अपने गर्भ से जन्म दे । सुचित्रा इस पूर्वाग्रह को तोड़ती तो है ही साथ ही स्त्री अस्मिता में बाधक तत्व के रूप में मातृत्व को नहीं स्वीकार करती है । “उसके लिए संतान को गर्भ में धारण नहीं करने से उसका नारी जीवन वृथा हो जाएगा यह धारणा उसके मन में शादी के सात माह होने के उपरांत भी नहीं आयी थी ।”<sup>261</sup>

पुरुषों की मानसिकता को भी लेखक इस उपन्यास में उजागर करते हैं । लिखते हैं -“विवाहित जीवन में सुखी रहने के लिए नव-विवाहिता को रात में प्रेमिका एवं दिन में माँ की भूमिका निभाने का अभिनय करना पड़ता है । प्रत्येक पति यही चाहता है कि -उनकी पत्नी बिस्तर पर निस्संकोच हो कर उसका साथ निभाए एवं बिस्तर से निकलते ही स्नेहमय माँ की तरह उसके शरीर का ध्यान रखे ।... देह की क्षुधा और पेट की भूख मिटाने के लिए ही पुरुष विवाह करना चाहता है ।”<sup>262</sup> पुरुष मानसिकता ही है जो स्त्रियों से केवल अपेक्षा ही करता आया है । जबकि स्त्री की दृष्टि इससे भिन्न है । स्त्री की आकांक्षा उससे प्रेम और उसको समझने की रही है । साथ ही आधुनिक स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सचेत है और समानता की मांग भी करती है । स्त्री अपना सर्वस्व त्याग कर प्रेम की आकांक्षा करती है वहीं पुरुष देह की लालच में प्रेम का ढोंग करता है । इसी पुरुष मानसिकता तथा स्त्री को न समझने तथा शरीर पर एकाधिकार करने के कारण संबंधों में तिक्तता आ गई है ।

<sup>260</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-30

<sup>261</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-34

<sup>262</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-34

एक ओर जहाँ सुचित्रा और अमरेन्द्र के बीच जटिल संबंध बनता है वहीं दूसरी ओर तमाशा और हिमांशु के बीच भी यह जटिल संबंध बनता है। अगर संबंध सरल होता तो अमरेन्द्र क्यों उसके लिए पढ़ाई में मन नहीं लगा पा रहा था ? उसकी चिंता के कारण वह फेल होने के कगार पर क्यों पहुँच जाता है ? -“सुचित्रा ! तुम्हारी बातें सोच-सोच कर मैं पढ़ाई में मन नहीं लगा पाया था। कॉपी कर पास करने पर तुम कहीं मुझसे घृणा न करने लगे, इसलिए मैं कॉपी तक नहीं कर पाया था। फिर भी तुम मुझे छोड़ कर जा रही हो...”<sup>263</sup> यह वाक्य सुचित्रा का साथ छोड़ता नहीं है। हिमांशु से विवाह के पश्चात् भी अमरेन्द्र का वही मूर्छित चेहरा उसके सामने आ जाता है। मित्रा वराल का अमरेन्द्र पर बलात्कार का आरोप, सुचित्रा क्यों स्वीकार नहीं कर पा रही थी ? विवाह के उपरांत भी उसकी वही बातें क्यों उसका पीछा करती रहीं हैं ? इसका जवाब स्वयं वह भी नहीं दे पाती है। उसी तरह तमाशा का हिमांशु के प्रति प्रेम, विवाह के पश्चात् भी खत्म नहीं होता और हिमांशु की अज्ञात अवस्था में उसे वह पा ही लेती है और उसके बच्चे की माँ तक बन जाती है। इस बात का जब हिमांशु को पता चलता है तब हिमांशु का उसके प्रति प्रेम का होना या न होना ऐसी कश्मकश पैदा करता है कि जिसे जटिल सम्बन्ध ही कहना सार्थक होगा। जैसे -“तमाशा के उधर से फोन काटने के उपरांत भी हिमांशु रिसीवर को कान के पास लेकर बैठा है। अप्रत्याशित शुभ-संवाद ने उसके रोम-रोम को पुलकित कर दिया था। टेलीफोन रख देने से कहीं वही उष्मा शीतल न हो जाए, इसी डर से वह टेलीफोन का रिसीवर रख नहीं पाता है।”<sup>264</sup> ‘जटिल सम्बन्ध’ ऐसा माया जाल है जिससे निकलना ही नहीं पाता। संबंधों के इसी द्वंद्व से ही जटिल-संपर्क स्थापित होता है।

‘नील तृष्णा’ इस उपन्यास में लेखिका कॉलगर्ल्स बनने वाली नारियों की समस्याओं को चित्रित करती हैं। इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार यह सन्देश देती हैं कि कॉलगर्ल्स केवल अपनी शारीरिक क्षुधा को पूरा करने के लिए यह पेशा नहीं अपनाती बल्कि परिस्थितियों का दास बन कर, आर्थिक संकट तथा जबरन होने वाले दैहिक-शोषण से तंग आकर भी ये पेशा अपनाने के लिए मजबूर होती हैं। समाज में ऐसे अनेक पुरुष हैं जो सभ्यता का मुखौटा पहन कर औरतों के शरीर के साथ खेलते हैं। अगर ऐसा न हुआ होता तो दिन-प्रतिदिन इन पेशों को अपनाने वाली लड़कियों की संख्या में इजाफा न होता।

<sup>263</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-125

<sup>264</sup> जटिल सम्बन्ध, विभूति पट्टनायक, पृ.सं.-136

दरअसल दिन के उजाले में कॉलगर्ल्स पर घंटों लेक्चर देने वाले ही रात के अँधेरे में उनकी सज्जा का आनन्द लेते हैं। प्रतिभा राय जी इस उपन्यास में यह प्रश्न करती हैं कि कॉलगर्ल्स के निर्माण के पीछे कारण क्या हैं? पुरुषों में बढ़ती भोगवादी दृष्टि ने इसको जन्म दिया है। नारियों का सदियों से शोषण होता रहा है आज भी उसकी स्थिति भिन्न नहीं है बल्कि शारीरिक शोषण की बढ़ोतरी दिन-प्रतिदिन हो रही है। विडम्बना यह है कि ऐसे में अगर कुछ नारी स्वेच्छा से इस पेशे को अपना रहीं हैं और अपनी आजीविका चला रही हैं तो समाज उन्हें गन्दगी फैलाने वाले कीड़े रूप में देख रहा है। अगर ये पेशा हेय है तब इसे दूर करने के लिए पुरुषों की नारी के प्रति दृष्टि को बदलना होगा। पुरुषवादी समाज में स्त्री, पुरुषों के द्वारा शोषण का शिकार होती हैं तब समाज भले ही स्त्रियों के लिए दया का भाव रखता हो लेकिन उससे सम्मानजनक दृष्टि से नहीं देखता। वे सभी ओर से प्रताड़ित हैं। पुरुषप्रधान समाज में चरित्र की समस्या केवल स्त्रियों के लिए ही लागू गयी है जबकि पुरुषों के लिए ऐसी कोई समस्या नहीं है! हमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि कॉलगर्ल के उदय के पीछे पुरुषवादी समाज और उपभोगवादी संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

लेखिका के लिए यह चिन्ता का विषय है कि कॉलेज की लड़कियाँ, विवाहित नारी, परित्यक्त नारी आदि कैसे एक नई गोपनीय ट्रेड को चला रही हैं। कैसे शिल्पपति, बिजनेसमेन, उच्चपद पर स्थित अधिकारी आदि लोग गैंग बना कर इसे एक बिजनेस का रूप दे रहे हैं। लड़कियों को बेचा और खरीदा जा भी जा रहा है। ग्रामीण लड़कियों को रोजगार के नाम पर बहला फुसला कर इस धंधे में शामिल किया जा रहा है। रोजगार की तलाश में लड़कियाँ गाँव से शहरों ओर आती हैं कुछ दैहिक दलालों के हाथों में आ कर फंस जाती हैं, ठगी जाती हैं। शहरों में जीने का रास्ता उन्हें पता नहीं होता इसलिए सहज रास्ते के रूप में इसी का चुनाव करती हैं। इस तरह लाखों लड़कियाँ इस रसातल में फंस जाती हैं जिनसे वे कभी बाहर ही नहीं निकल पातीं। साथ ही दुबारा गाँव लौट भी नहीं पाती। लेखिका उपन्यास की भूमिका में ही लिखती हैं कि 'नील तृष्णा' उपन्यास भटके सरल बालिकाओं के लिए सतर्क की एक घंटी अगर हो पाएगी तभी मेरा यह श्रम सार्थक होगा।'।

इस उपन्यास में नायिका 'रूपेली' या रूपा या रूपमती के दैहिक शोषण और उसकी प्रताड़ना को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसके जीवन-संघर्ष को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत

किया गया है। इस उपन्यास में उपन्यासकार 'रूपा' के समस्याओं का मूल्यांकन करने के साथ साथ उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष को हमारे सामने उपस्थित करता है। रूपेली का बार-बार आत्ममंथन करना खुद को इस समाज का कलंक के रूप में स्वीकार करना उसके मनोगत भावों की परतों को खोलता है। रूपेली अपने शरीर को बेच जरूर रही है लेकिन वह उन नारियों के इस पेशे के अन्धकार से जागरूक करवाना चाहती है। वह चाहती है, उस जैसी अनेक लड़की इस दलदल में न पड़ें। साथ ही शोषककर्ताओं का शोषण कर, आनंद के अनुभव के साथ रहती है। यह स्थिति उस पेशे में स्थित अधिकांश महिलाओं की रही है। वे इस नरककुंड में खुद जीने के लिए अभिशप्त जरूर हैं लेकिन अन्य को इससे दूर रखने की कोशिश भी उनमें है। उपन्यासकार की यह सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रूपेली के जरिये वह हर उस कॉल गर्ल की मनोस्थिति को उपस्थित करती हैं जिससे समाज प्रायः अपरिचित है। उनका यह उपन्यास कॉल गर्ल के प्रति दृष्टि को बदलने की मांग करता है। साथ-ही-साथ हमें एक ऐसे अध्याय से वाकिफ कराता है जिसको हम सदैव उपेक्षित नजरों से देखते आये हैं। "अतीत में बलात्कार की यंत्रणा से आज भी उसके शरीर का प्रत्येक अंग फड़फड़ाता है। उसकी अपेक्षा खुद को सौंप देना ज्यादा अच्छा है। उसमें शारीरिक प्रताड़ना तो कम मिलती हैं वरन आर्थिक सुरक्षा भी मिलती है। ...लेकिन कभी कभी रूपमती द्वन्द्व में पड़ जाती हैं। अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए। केवल अर्थ और विलासिता के लिए जो नारी अपने नारीत्व को बेचती है उसके लिए वह चिंतित है। इस तरह की घृणा भरी जिंदगी को क्या वास्तव में बर्दाश्त किया जा सकता है। वे कैसे स्वस्थ और स्वाभाविक रूप में जीवन जीती हैं - अपने पति, पुत्र, बेटी, पिता, माता या दोस्तों के साथ ? अपने नारीत्व को कैसे बेच कर वे लौट जाती हैं अपने पति के घर निर्द्वंद्व और निर्विकार रूप में?"<sup>265</sup>

'यज्ञसेनी' उपन्यास की विशेषता यह है कि यह उपन्यास ऐसे पहलुओं को उपस्थित करता है जो द्रौपदी को देखने की एक नई दृष्टि देती है। उपन्यासकार पौराणिक पात्र को केंद्र में रख कर आधुनिक नारी की विडंबना को प्रस्तुत करती हैं, इसलिए यह उपन्यास सिर्फ पौराणिक आख्यान का दस्तावेज मात्र बन कर नहीं रह जाता बल्कि 'नारी चेतना' या नारी अस्मिता से यह उपन्यास जुड़ा हुआ दिखता है। उपन्यासकार के मन को कचोटने

---

<sup>265</sup> नील तृष्णा, प्रतिभा राय, पृ.सं.- 221

वाली बात यह कि आधुनिक युग में 'नारी' जब भी एक से अधिक पुरुषों के संस्पर्श में आती है चाहे वह पुनर्विवाह के रूप में ही क्यों न हो तो समाज उसे द्रौपदी की संज्ञा देता है। क्या द्रौपदी की धर्म रक्षा के नाम पर बलिदान, त्याग तथा एक आदर्श स्त्री होने को लोग भुला कर बस पाँच पति के भोग्या के रूप में देखना न्यायोचित है। उपन्यास की भूमिका में उपन्यासकार लिखती हैं कि - 'कामांध पुरुषों के द्वारा सुन्दर नारी युग-युग से शोषित और अपमानित होती आई है...खुद की सतीत्व की पराकाष्ठा के कारण ही कृष्णा का स्मरणीय होने के बावजूद भी पाँच पतियों के वरण के कारण, कौरवों के द्वारा एवं कर्ण के द्वारा कृष्णा बहुपुरुष भोग्या, चरित्र हीन के रूप में बारबार निन्दित होती रही हैं'। उपन्यासकार इस उपन्यास के जरिये यह स्पष्ट करना चाहती हैं कि द्रौपदी उस समय की एक सशक्त, विदुषी, भक्तिमानी और आदर्श चरित्र थी। लेखिका भूमिका में लिखती हैं कि - 'द्रौपदी महाभारत ही नहीं, भारतीय जीवन तथा संस्कृति का एक अत्यन्त विलक्षण और महत्वपूर्ण चरित्र है - परन्तु साहित्य ने अब तक उसे प्रायः छुआ नहीं था।.....कृष्ण समर्पित तथा पांच पांडवों को ब्याही द्रौपदी का जीवन अनेक दिशाओं में विभक्त है, फिर भी उसका व्यक्तित्व बंटता नहीं, टूटता नहीं, वह एक ऐसी इकाई के रूप में निरन्तर जीती है जो तत्कालीन घटनाचक्र को अनेक विशिष्ट आयाम देने में समर्थ है।' इस उपन्यास के जरिये यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नारी शोषण की परम्परा प्राचीन काल से रही है। सबसे पहले कृष्णा का शोषण करने वाले पांडव ही थे जिन्होंने उसे एक वस्तु के रूप में देखा था बाद में उसके अस्तित्व को विखंडन करने का प्रयास कौरवों ने किया। इस उपन्यास में प्रतिभा जी नारी मन की परतों को खोलने के साथ-साथ उसकी पीड़ा, व्यक्तिगत अंतर्संबंधों की जटिलता को भी प्रस्तुत करती हैं। कितनी बड़ी विडम्बना है विवाह के पश्चात द्रौपदी के साथ जो हुआ वह स्वाभाविक नहीं था। उस काल में जहाँ एक पति का विधान था उस समय पाँच पुरुषों के साथ विवाह कर रहना आसान नहीं था। प्रतिभा जी इस उपन्यास में यह स्पष्ट करती हैं कि धर्म राज युधिष्ठिर का द्रौपदी को देख कर मन में पाने की इच्छा जाग उठी थी। अगर ऐसा न होता तो विवाह के पश्चात पहली रात्रि में उनका यह कहना कि "यज्ञासेनी ! तुम्हारा जन्म वृतांत सुन कर ही तुम्हारे प्रति आकर्षित हुआ था।... तुम्हारे लिए किसी के मन में प्रलोभन क्यों न हो ? ... पुरुष की प्रवृत्ति तुम जानती नहीं। उसके प्रिय वस्तु पर किसी दूसरे का अधिकार वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। तुम तो सब की प्रियतमा हो। और कोई भी तुम्हें एक पल के लिए भी अलग करना

नहीं चाहेगा।”<sup>266</sup> यही कारण रहा कि धर्म राज युधिष्ठिर भी यह गलती कर बैठे। साथ ही यह जानते हुए भी मेरे भाई कभी मेरी बातों की अवहेलना नहीं करते फिर उनका यह तर्क थोप देना कि माँ के कहे अनुसार द्रौपदी को हम पाँचों से विवाह करना होगा, क्या यह न्यायोचित था ? फिर चौसर की खेल में एक वस्तु के रूप में उसका दाव लगाना क्या यह धर्म था ? सरे आम द्रौपदी का चीरहरण करते समय पाँच पांडव सहित भीष्म और विदुर का चुप रहना यह उसके प्रति न्याय था ? सिर्फ उस सभा में भीम ही था जिसने द्रौपदी के इस शोषण को लेकर जवाब दिया था और अंत में प्रतिज्ञा अनुसार प्रतिशोध भी लिया था। फिर पांडवों के महाप्रस्थान के समय जब सब हिमालय के रास्ते से स्वर्ग की ओर बढ़ रहे होते हैं तब द्रौपदी के गिर जाने पर युधिष्ठिर का भीम को द्रौपदी को उठाये जाने से मना करना बड़ा अस्वाभाविक और कटु यथार्थ को प्रस्तुत करता है। युधिष्ठिर ही उसे एक वस्तु के रूप में निर्मित करते हैं, उसके जीवन को नर्क बनने के जिम्मेदार भी वही थे, अंत में उनका यह कहना ‘सबको कर्म का फल स्वयं भोगना पड़ता है’ स्त्री पुरुष की नींव को ही हिला कर रख देता है। प्रतिभा राय द्रौपदी की मनोस्थिति को स्पष्ट करते हुए पुरुषवादी समाज के खोखले चरित्र को भी प्रस्तुत करती हैं - “कितना झूठ या पति-पत्नी का सम्बन्ध ! स्नेह, प्रेम, त्याग और उत्सर्ग ! अपने कर्म अगर मनुष्य स्वयं भोगता है तो फिर युधिष्ठिर की धर्म रक्षा के लिए पाँच पतियों का वरण कर सारी दुनिया के लिए उपहास, व्यंग-विद्रूप और निंदा-अपवाद क्यों वह ढोती फिरी ?”<sup>267</sup> जिसके लिए जीवन भर दुःख, कष्ट पाती रही आज वे ही उसे स्वर्ग के द्वार में उसे बाधा समझ कर छोड़ कर चले गए। यह पुरुषवादी समाज की सच्चाई है जहाँ औरत एक वस्तु और भोग्या के अतिरिक्त शायद ही कुछ है।

नारी शोषण के केंद्र में ये पौराणिक ग्रंथों ने भी बहुत बड़ी भूमिका निभाई है जो स्त्री से सहनशील बने रहने का पाठ पढ़ाते हैं। साथ ही लेखिका ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि नारी सदैव से त्याग, बलिदान और समर्पण करती आई है किन्तु पुरुष सत्ता कभी उसकी अहमियत नहीं समझता। इस उपन्यास में ऐसे कई स्त्री पात्र हैं जिनका शोषण हुआ है और इनके शोषणकर्ता सिद्ध पुरुष ही हैं। अम्बा, अम्बिका तथा अम्बालिका ये तीनों भीष्म के लिए शोषित और प्रताड़ित होती हैं क्योंकि उन्होंने भाई

<sup>266</sup> यज्ञासेनी, प्रतिभा राय, पृ.सं.-75-76

<sup>267</sup> यज्ञासेनी, प्रतिभा राय, पृ.सं.-3

विचित्रवीर के लिए इन तीनों को अपहृत किया था | राजकुमारी अम्बा को भीष्म के कारण प्राण त्यागने पड़े थे | इसी प्रकार मत्स्यगंधा के साथ शोषण हुआ मुनि पराशर ने बलात् उसे नौका में ग्रहण किया | बाद में कुमार शांतनु की पत्नी बनती है परन्तु यह बात तब तक लोक में फैल चुकी थी जिस कारण वह आजीवन भर लोक निन्दा सहती रही। सीता उदाहरण दे कर भी लेखिका पुरुष समाज का शोषण और स्त्री की सामाजिक स्थिति को प्रस्तुत करती हैं | साथ ही यह भी स्पष्ट करती हैं कि आखिर पूरा संसार पुरुष के द्वारा स्त्री पर किए गए शोषण और अत्याचारों के लिए स्त्री को क्यों कोसता आया है ? नारी अपने कर्तव्यों के पालन करने के बावजूद लांछित और नीच दृष्टि से देखी जाती रही है | साथ ही हर बार उससे ही सतीत्व की परीक्षा मांगी जाती है जबकि पुरुष के लिए यह विधान क्यों नहीं ? पाप-पुण्य जैसे सवाल स्त्री से क्यों जुड़ते हैं जबकि पुरुष के लिए यह मायने नहीं रखते | एक पुरुष राजा बन कर देवता बन कर अनेक स्त्री का वरण कर सकता है पर एक स्त्री नहीं अगर स्त्री ऐसा करती है तो कई कालों तक उसकी निंदा की जाती है | द्रौपदी इसका सबसे अच्छा उदाहरण है | लेखिका ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है नारी दृष्टि और पुरुष दृष्टि में अंतर होता है |

‘प्रतिबंध’ शब्द स्त्रियों के लिए अभिशाप तो है ही लेकिन उसके शोषण का कारक भी है | यह प्रतिबंधी उपन्यास में स्पष्ट है | प्रतिबंधी उपन्यास स्त्री सरोकारों पर आधारित है इसलिए इसका संबंध स्त्री विमर्श से भी जुड़ता है | 90 के दशक में लिखे गए इस उपन्यास में स्त्री केवल देह तक सीमित नहीं तथा अस्मिता गत चिंतन इसका विषय है | इस उपन्यास में स्त्री विमर्श के कई पहलू तीखे तेवर लेकर प्रस्तुत हैं इसका एक कारण यह था कि यह दौर ऐसा दौर था जब स्त्री अस्मिता अपने चरम बिन्दु पर थी | इस दौर में लिखा गया यह उपन्यास स्त्री अस्मिता के बाधक तत्व पितृसत्तात्मक समाज, व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाता है | स्त्रियों के खिलाफ सामाजिक सम्बन्धों और राजनीतिक षड्यंत्रों का विरोध भी करता है | यह उपन्यास हर उस चीज़ पर प्रश्न चिन्ह लगाता है जो नारी की इच्छाओं और आकांक्षाओं को जड़ बनाती है | सही मायने में इसमें स्त्री को सम्मान और पुरुष के समान देखने की पहल है | इस उपन्यास की लेखिका समकालीन दौर में स्त्री के समक्ष आये सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों को प्रमुखता से उभारती हैं | आगे इस उपन्यास में उपन्यासकार विभिन्न पात्रों के जरिये यह स्पष्ट करती हैं कि सामाजिक

सम्बन्धों ने स्त्री को सबसे ज्यादा प्रताड़ित किया है। सम्बन्धों को बांधे रखने की कोशिश के कारण स्त्री अपनी अस्मिता को खो देती है। उपन्यासकार यहाँ यह भी स्पष्ट करती हैं कि पुरुष व्यभिचारी हो कर भी समाज की दृष्टि में हेय नहीं है जबकि स्त्री को लेकर समाज का रुख कुछ और ही है।

इस उपन्यास की मुख्य पात्र प्रियंका है क्योंकि कथा प्रियंका से प्रारम्भ हो कर उसी पर ही समाप्त होती है। इस पात्र के जरिये उपन्यासकार रोजगार करती हुई स्त्री की समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं। प्रियंका अड़्डोक डॉक्टर के रूप में सरगपाली गाँव में नौकरी के लिए आती है जहाँ उसके सहकर्मी आदिकान्त बाबू हैं। आदिकान्त बाबू उन पुरुषों में से एक हैं जिनकी सोच पुरुषवादी और पिछड़ी रही है। प्रियंका को सदैव नीचा दिखाना और उसे परेशान करना उनका ध्येय रहा। प्रियंका उनकी इस संकुचित और दक्कियानूसी सोच से बहुत प्रताड़ित रहती है। आदिकान्त से परेशान हो कर ही वह नेता विप्र आचार्य के पास जाती जिसका कभी उसने इलाज भी किया था। विप्र आचार्य संवेदना की लेप लगा कर प्रियंका को दिग्भ्रमित करने का कार्य करता है। विप्र आचार्य प्रियंका के इसी अकेलेपन का फायदा उठा कर उसको मोहित करता है। एक तरह से स्त्री मन की भावना को समझने वाला व्यक्ति के रूप में प्रियंका के जीवन में आता है और षड्यंत्र के तहत प्रियंका की निजता में हस्तक्षेप करता है। प्रियंका इस षड्यंत्र से अनभिज्ञ उसके व्यक्तित्व से प्रसन्न हो कर समर्पण करती है। विप्र आचार्य का पहली बार मिलने पर उसके पीठ पर हाथ फेरना और सहज हो कर हाथ में एक चुंबन देना उसे अप्रत्याशित तो लगता है लेकिन उसे दरकिनार करती हुई सोचती है कि उस व्यक्ति की आयु मेरे पिता जितनी ही होगी। दरअसल यह विप्र आचार्य के थाह लेने का तरीका रहा। विप्र के प्रति इसी छोटी सी भूल के कारण उसका दैहिक इस्तेमाल होता है। विप्र आचार्य की भूमिका देह के आकांक्षी और छलिया के रूप में है। जो धोखा दे कर भाग जाता है किन्तु प्रियंका इतना होने पर भी मन के किसी कोने में उसके प्रति संवेदना रखती है, जब उसे यह ज्ञात होता है कि शहर से थोड़ी दूर गेस्ट हाउस में विप्र आचार्य प्रायः दो महीने से हैं और उसे पता तक नहीं है, तो उनसे मिलने वह जाती है तब विप्र आचार्य उसे मीटिंग कह कर न आने का बहाना बनाते हैं। जब वह अंदर जाती है तब विप्र बैठे न्यूज़ पेपर पढ़ते हुए मिलते हैं यहीं से प्रियंका का मोह भंग हो जाता है। जिस व्यक्ति की चिट्ठी की प्रतीक्षा वह बेसब्री से कर रही थी वही व्यक्ति उसे किस प्रकार ठगता है इससे वह हतप्रभ हो जाती



है। उसका पूरा विश्वास पुरुष सत्ता से टूट जाता है। इसी अप्रत्याशित घटना को भूल कर एक नए दृष्टि से वह इसका विचार करती है “रास्ते में जाते समय अमिय (प्रेमी) की याद आ जाने पर असहाय लगने लगती है। पुराना मित्र होने के बावजूद भी अमिय का जिस मंदिर में प्रवेश वर्जित था वहीं चालाकी से कैसे अन्य लोग प्रवेश कर गए? उसने इसका प्रतिरोध भी नहीं किया? उसे लगा वह प्रौढ़ हो गयी है। कॉलेज के दिनों से भी ज्यादा प्रौढ़। आखिर कार वह समझ गयी है कि देह बहुत बड़ी चीज़ नहीं है। सिर्फ एक नश्वर वस्तु है। एक सिस्टम है। बस एक स्नायु का जाल है। किताबों के पृष्ठों की तरह वे उन्हें पढ़ आई है। शरीर को काट कर जांच कर आई है। उसने यह जाना कि वहाँ केवल स्नायु की भूख है। स्नायु सुख ही एक मात्र काम्य है। स्नायु की आवश्यकता मन, हृदय, औचित्य, अनौचित्य, अपेक्षा आदि का विचार नहीं करता।”<sup>268</sup> यह सोच अपने आप में ही व्यापक संकल्पना को लेकर खड़ा है इसमें पाप-पुण्य जैसे सवाल प्राथमिक नहीं है। यहाँ लेखिका यह स्पष्ट कर रही हैं कि स्त्री केवल देह नहीं है मनुष्य होने के नाते उसकी भी कुछ आवश्यकताएँ हैं। पुरुष इन संकीर्णताओं से खुद को कैसे अलग कर पाता है, जबकि एक स्त्री क्यों नहीं? क्यों स्त्रियों को आदर्श की केंचुली में फिट किया जाता रहेगा और कब तक? इसी हीनता बोध तथा समाज की प्रताड़ना को न सह कर नारी कई बार अपने अस्तित्व को ही नहीं बल्कि खुद को मिटाने का निर्णय भी लेती रही है। स्त्री के प्रति पुरुष समाज की यह दोयम दृष्टि क्या इसके लिए जिम्मेदार नहीं। पुरुष- स्त्री एक दूसरे के पूरक हैं फिर ये बर्बरता क्यों?

प्रियंका की भांति मानी भी महत्वपूर्ण नायिका है जो विवाह के उपरान्त कई समस्याओं को लेकर उपस्थित है। मानी आदिकान्त की पत्नी है और डॉक्टर भी। मन में कई बार उसके प्रति विरोधात्मक स्वर उभरे हैं लेकिन प्रकट नहीं कर पाती है। इसका एक बड़ा कारण सम्बन्धों की ऊष्मा को बरकरार रखने की आवश्यकता रही है। लेखिका स्पष्ट करती हैं -“बड़ा विचित्र है दाम्पत्य जीवन जहाँ प्रेम का न होना संतोष का न होना भी एक दूसरे को खो देने का लोभ पाले रहता है।”<sup>269</sup> साथ ही इस उपन्यास में स्त्री मन की आवश्यकताओं को भी स्पष्ट किया गया है। स्त्री एक सुरक्षित कंधा तो चाहती है पर स्त्री को समझने वाली दृष्टि उसकी पहली जरूरत है। पुरुष का पुरुषत्व ही नहीं बल्कि स्त्री को ऐसे साथी

<sup>268</sup> प्रतिबंदी, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-95

<sup>269</sup> प्रतिबंदी, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-52

कि आवश्यकता होती है जो उसका अंतरंग साथ निभाए। इसी कमी के कारण, साथ ही पुरुषों में स्थित अहं भाव ने स्त्री-अस्मिता को केंद्र में लाने का काम किया है। सम्बन्धों की नींव में अस्तित्व की मिलावट नहीं होती बल्कि एक दूसरे की सहभागिता होती है। आज के दौर में जहां दोनों स्त्री-पुरुष आर्थिक दृष्टि से सक्षम हैं, वहाँ पुरुषत्व का अहं नारी क्यों सहे। यह भले ही परंपरागत मानदंड रहे हो लेकिन आधुनिक युग इस तरह के मानदंडों को कुरीति के रूप में देखता है, जहां दोनों को समान देखने की पहल है। मानी सोचती है “हम दोनों समान नौकरी करते हैं आदिकान्त लेकिन क्यों हर समय मैं तुम्हारी दया की प्रार्थी बनी रहूँ तुम्हारा संदेह, धिक्कार, कठोरता साथ ही तुम्हारा स्वामी आधिपत्य भी क्यों सहूँ?”<sup>270</sup> यहाँ लेखिका यह स्पष्ट कर रही हैं नारी को अपने अस्तित्व को लेकर विरोधात्मक स्वर अखितयार करना होगा। तभी स्त्री का उन्नयन हो सकता है। इसी अस्तित्व की तलाश प्रियंका में देखी जा सकती है जो परिस्थितियों का दास बनने के लिए अब राजी नहीं है। “पते के काँपने कि तरह प्रियंका का छोटा-सा अस्तित्व काँपने लगा। अगर कल वह मर जाएगी तो उसके शव को ऐसे ही एक कोने में पड़ा रहने दिया जाएगा? कीड़े, चींटी क्या उसके टुकड़े-टुकड़े खाते जाएंगे क्या उसका अस्तित्व भी इसी में ही गुम हो जाएगा?”<sup>271</sup>

**स्त्री जीवन संघर्ष** दोनों भाषाओं के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। इस जीवन संघर्ष को व्यक्त करने में दोनों ही भाषा के उपन्यासकार पूर्ण रूप से सफल हो पाए हैं। दोनों भाषाओं के उपन्यासों में मूल रूप से स्त्री उपन्यासकार को लेकर ही स्त्री संघर्ष को आधार बनाया गया है। इसका कारण यह है कि स्त्री लेखिकाओं के द्वारा लिखित उपन्यास में स्त्री का अंतर्मन और अस्मिता का सवाल प्रमुखता से उभरे हैं जबकि पुरुष लेखकों के उपन्यासों में यह कमी देखी जा सकती है। ऊपर यह स्पष्ट भी किया गया कि स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति स्त्री जिस प्रकार कर सकती है वैसे पुरुष नहीं कर सकता। उत्तराधुनिक संदर्भ में देखें तो पुरुषों की दृष्टि स्त्रियों को लेकर कई मामलों में प्रगतिशील दिखाई देती है, जिसमें कोई दो राय नहीं है। किन्तु आज भी स्त्री मन को समझने में पुरुष प्रायः असफल ही दिखाई पड़ता है। उपरोक्त स्त्री उपन्यासों के अध्ययन ने यह स्पष्ट कर दिया कि समकालीन स्त्री संघर्ष की प्रवृत्ति अस्मिता केंद्रित रही है जिसमें स्त्री जीवन के ऐसे

<sup>270</sup> प्रतिबंदी, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-48

<sup>271</sup> प्रतिबंदी, सरोजिनी साहु, 68

अनेक पहलुओं को लिया गया है जो आज के दौर में स्त्री के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है । इन दोनों भाषाओं के उपन्यासों के अध्ययन के क्रम में यह तो अवश्य स्पष्ट हो गया कि भले ही दोनों में भाषागत भिन्नताएं रही हों लेकिन विषय गत लेखन अर्थात् स्त्री मन को दोनों ही भाषा के उपन्यासों में बड़े ही सजीवता और ईमानदारी से प्रस्तुत किया है । दोनों में प्रदेशगत भिन्नतां भले ही रही हों किन्तु स्त्रियों की समस्या प्रायः दोनों में समान है साथ ही पुरुषवादी समाज की परंपरावादी दृष्टिकोण में दोनों ही समाजों में समानता रही है । साथ ही इन उपन्यासों को पढ़ने के दौरान यह महसूस गया कि दोनों तरह की उपन्यासों में स्त्री सशक्तिकरण के मुद्दों को उठाया गया है । साथ ही यह भी देखा गया कि समय के परिवर्तन के साथ साथ समस्याएं भी बदली हैं । पहले समस्या चार दीवारों में सीमित थी वहीं आज महिलाएं शिक्षित और कामकाजी होने के कारण समस्याओं की दिशा और स्थिति बदली है । दोनों भाषा के उपन्यासों की विशेषता यह है कि दोनों ही भाषाओं में परंपरावादी आदर्श को स्त्रियाँ तोड़ती हुई दिखाई देती हैं । जिसमें विद्रोही प्रवृत्ति की महिलाएं जैसे 'आवां' की नमिता पांडे, 'कठगुलाब' की स्मिता, 'जटिल संपर्क' की सुचित्रा, 'यज्ञासिनी' की द्रौपती आदि स्त्रियों को देखा जा सकता है । वहीं इन उपन्यासों में बोल्ड सोच रखने वाली नारियों का चित्र भी देखा गया है जिसमें सुचित्रा का संतान प्राप्ति पर स्त्री का अधिकार तथा व्यवस्था विरोधी रुपेली को देखा जा सकता है । साथ ही इन उपन्यासों में समकालीन समाज के आधुनिक पुरुषों की रूढ़िवादी सोच को भी चित्रित किया गया है । अंततः दोनों ही भाषाओं के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति समकालीन संदर्भों को समेटे हुए है तथा स्त्री को देखने की एक नई दृष्टि पैदा करती है साथ ही समकालीन समाज में जूझती आधुनिक स्त्री की छवि को प्रस्तुत करती है ।

### 5.1.3.1 'क्वीर-वर्ग'

हिन्दी में 'क्वीर-वर्ग' से संबंधित उपन्यास उत्तर आधुनिक दौर में बहुत जोरों-शोरों से लिखा जाने लगा है। इसलिए इस दौर में हिन्दी उपन्यासों में एक नए प्रवृत्ति का आगमन हुआ है। इस प्रवृत्ति का विकास हिन्दी उपन्यासों में किस रूप में और किस प्रकार हुआ इस पर बात करने से पूर्व इस समुदाय पर संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। लैंगिक दृष्टि से LGBTIQ वर्ग भारत में उपेक्षित समुदाय में आता है। इस समुदाय में 6 वर्ग हैं जैसे - L-(लेस्बियन, स्त्री समलिंगी) lesbian, G- Gay(गे, पुरुष समलिंगी), B- bisexual (उभय लिंगी), T- transgender (तृतीय लिंगी), I- intersex (अनर्मुखी लिंगी), Q- queer (दुविधा ग्रसित लिंगी)। लेस्बियन या स्त्री समलिंगी- स्त्री-स्त्री के प्रति आकर्षित है, जिसमें एक स्त्री पुरुष की भूमिका में तो दूसरी स्त्री की भूमिका में रहती है। गे या पुरुष समलिंगी- पुरुष-पुरुष के प्रति आकर्षित है, जिसमें एक पुरुष खुद को स्त्री की भूमिका में रखता है जबकि दूसरा पुरुष खुद को पुरुष की भूमिका में रखता है। तृतीय लिंग- जो भारत में हिजड़ा या किन्नर नाम से परिचित है। इंटरसेक्स /अनर्मुखी लिंगी- इसको अंतर्मुखी लिंग कहना इस लिए उचित है क्योंकि इनका अंग विकसित नहीं हो पाता है। डॉक्टर की सहायता से इन्हें स्त्री या पुरुष बनाया जा सकता है। क्वीर /दुविधा ग्रसित लिंग- इस प्रकार के लिंग वाले व्यक्ति लिंग को लेकर दुविधा में रहते हैं। यह लिंगगत भिन्नता आधुनिक समाज के अन्वेषण का प्रतिफल है। साथ ही ऐसे लैंगिक समस्या से गुजर रहे वर्ग को समझने की पहल भी है।

### 5.1.3.2 किन्नर

'तृतीय लिंग' पर बात करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि भारत में इन वर्गों का अस्तित्व भले ही बहुत पहले से रहा हो किन्तु उनका यह अस्तित्व उस रूप में उभर कर नहीं आ पाया था। पश्चिम में अनुसंधान के फल स्वरूप ही इन समुदायों की पहचान स्पष्ट रूप से उभर कर आ पाई है। भारत में लैंगिक भिन्नताओं वाले लोगों को किन्नर की श्रेणी में ही रखा जाता था क्योंकि लैंगिक भिन्नताओं की अवधारणा हमारे समक्ष नहीं थी। साथ ही समाज में तृतीय लिंग इसलिए भी स्वीकार किया गया क्योंकि शास्त्र और भारतीय पुराण इस तृतीय लिंग की अवधारणा को स्वीकार करता है। रामायण और महाभारत इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। राम वनगमन के प्रसंग में जब सभी

अयोध्यावासी राम को मनाने के लिए उपस्थित थे तब राम उनके अनुनय विनय को अस्वीकार कर सभी नर और नारियों को वापस लौटने का आदेश देते हैं। किन्नरों के लिए उन्होंने कुछ भी आदेश नहीं दिया था इसलिए वे प्रभु श्री राम की 14 वर्षों तक प्रतीक्षा करते रहे। राम उनके इस निश्चल और निस्वार्थ भाव से प्रसन्न हो कर आशीर्वाद देते हैं कि कलयुग में तुम राज करोगे और जिन्हें तुम आशीर्वाद दोगे उनका कभी अनिष्ट नहीं होगा। महाभारत में श्रीखंडी, अर्जुन का बृहन्नला रूप, अर्जुन के पुत्र आरवण की इच्छा के अनुकूल कृष्ण का मोहिनी रूप धर कर मृत्यु के उपरांत विलाप आदि प्रसंग तृतीय पंथी से जुड़े हुए हैं। बाद में विभिन्न ग्रंथों में भी उनका जिक्र मिलता है जैसे -“कामसूत्र में भी इसकी व्याख्या करते हुए कामसूत्रकार वात्स्यायन ने पुरुष प्रकृति, स्त्री प्रकृति और तृतीय प्रकृति का उल्लेख किया है। ... मनुस्मृतिकार के अनुसार तृतीय प्रकृति की उत्पत्ति जीव वैज्ञानिक कमी है।”<sup>272</sup> इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि किन्नरों का अस्तित्व भारत में प्राचीन काल से रहा है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि पुराणों में अगर किन्नरों को सम्माननीय स्थान मिला तो आधुनिक युग में वह प्रताड़ित किस रूप में हुए? इतिहास को टटोलने पर यह ज्ञात हुआ कि मध्ययुग तक यानी मुगल काल तक किन्नरों को सम्मानजनक स्थान मिला साथ ही जीविकोपार्जन को ले कर भी उनकी कोई समस्या नहीं थी क्योंकि मुगल बादशाहों के हरमों में तथा नाच-गाने के लिए उनको रखा जाता था। कहने का तात्पर्य उनकी आर्थिक स्थिति भी उस समय तक बेहतर रही। किन्तु अंग्रेजों के आगमन के फलस्वरूप तथा स्वतंत्रता की लड़ाई में उनकी अहम भूमिका को देखते हुए ब्रिटिश सरकार को उन पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता महसूस हुई जिसके कारण उन्हें अपराधी श्रेणी में डाल दिया गया। “ब्रिटिश सरकार को इन पर नियंत्रण के लिए अपराधी अधिनियम, 1871 पारित करके इस पूरे समुदाय को ही एक अपराधी और एडिक्टेड (Addicted) घोषित करना पड़ा। आजादी के बाद अगस्त, 1949 में इस कानून को निरस्त कर दिया गया।”<sup>273</sup> इसके बाद से ही उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति खराब होने लगी। स्वतंत्र भारत तक यह वर्ग अपने परंपरागत पेशे शुभ अवसरों पर नाच और गाने तक सीमित रहा। सबसे बड़ी विडंबना यह रही कि इस समुदाय को वोट देने का अधिकार 1994 में मिला किन्तु यह अधिकार उन्हें तृतीय लिंग या अन्य के रूप में नहीं बल्कि स्त्री

<sup>272</sup> विमर्श का तीसरा पक्ष, डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, रविकुमार गोंड, संपादकीय से

<sup>273</sup> विमर्श का तीसरा पक्ष, डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, रविकुमार गोंड, पृ.सं.-134

या पुरुष के रूप में मिला | आजादी के इतने सालों के बाद भी यह वर्ग अपनी अस्मिता और पहचान के लिए संघर्ष करता रहा | एक तरह से देखा जाए तो उन्हें भारत के नागरिकता का अधिकार सही रूप में प्राप्त ही नहीं हो पाया था | 2009 में भारतीय न देने की हठ को देखते हुए उन्हें भारतीय निर्वाचन आयोग ने मतदान फॉर्म में 'अन्य' का कॉलम बनाया | 2014 में द राइट्स ऑफ ट्रांसजेन्डर पर्सनस बिल का निर्माण हुआ जो किन्नरों के अधिकारों से संबंधित है | 2014 अप्रैल में सुप्रीम कोर्ट ने किन्नरों को तीसरे लिंग के रूप में मान्यता दी | इसके फलस्वरूप किन्नरों को जन्म प्रमाणपत्र, राशन कार्ड, पासपोर्ट और ड्राइविंग लाइसेंस मिला | 19 जुलाई 2016 में ट्रांसजेन्डर प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स बिल को भी मंजूरी मिल गई | उनसे संबंधित कई सकारात्मक कार्य किए गए और किए जा रहे हैं | किन्तु वर्तमान के परिदृश्य को देख कर यह स्पष्ट है कि उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है | वे सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ते जा रहे हैं उनके लिए किए गए कार्य कागजों में सिमट कर रह गए हैं क्योंकि जब तक समाज का उनके प्रति रवैया अच्छा नहीं होगा तब तक उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाएगा |

भारत में तृतीय लिंगियों के लिए कई शब्द प्रचलित हैं जैसे - 'खोजवां' (उर्दू), हिजड़ा (हिन्दी और बंगाली), माददा (कन्नड़), नंगाई/ अरुवन्नी, खुसरा (पंजाब), (गुजराती) पवैया, (तेलुगु) माड़ा, कोज़्जा | तृतीय लिंग के लिए भले ही बहुत तरह के नाम रहे हों किन्तु वर्तमान में किन्नर या हिजड़ा के रूप में जाने जाते हैं | किन्नर जो कि तृतीय लिंग के लोगों के लिए प्रचलन में है वह हिमाचल प्रदेश के किन्नौर निवासियों के लिए प्रयुक्त होता है | इसलिए यह नाम उपयुक्त नहीं माना जाता है जबकि संविधान द्वारा स्वीकृत थर्ड जेंडर नाम उपयुक्त लगता है | इसलिए वर्तमान में तृतीय लिंग, तृतीय प्रकृति तथा तृतीय पंथी शब्द भी प्रचलन में आ रहे हैं | जहां एक तरफ नाम को लेकर भिन्न मत हैं वहीं इस समुदाय की पहचान को लेकर भी समस्या बनी हुई है | डॉ. पुनीत बिसारिया लिखते हैं "किन्नर या हिजड़ों से अभिप्राय उन लोगों से है जिनके यौननांग पूरी तरह विकसित न हो पाए हों अथवा पुरुष होकर भी स्त्रैण स्वभाव के लोग, जिन्हें पुरुषों की जगह स्त्रियों के बीच रहने में सहजता महसूस होती है |"<sup>274</sup> इस पहचान का सबसे बड़ा कारक भावनात्मक रहा है | लेकिन हमारे समाज में लिंग का अस्पष्ट रहना ही तृतीय वर्ग निर्धारण का कारक है |

---

<sup>274</sup> विमर्श का तीसरा पक्ष, डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, रविकुमार गोंड, पृ.सं.-48

भावनात्मक संबंध को हमारा समाज स्वीकार ही नहीं करता बल्कि आज भी जड़ता को लेकर चल रहा है। बहरहाल उत्तराधुनिक समय में अस्मिता की तलाश में तृतीय पंथी भी पीछे नहीं रहा है। इसी वजह से उन पर गहन शोध किए जा रहे हैं। 2011 के जनगणना के अनुसार यह पाया गया है कि किन्नरों की संख्या भारत में 4.9 लाख हैं। यह दूसरी बात है कि इनमें से कितने सही मायने में किन्नर रहे हैं। डॉ. पुनीत बिसारिया कहते हैं “हिजड़ों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है - बूचरा, नीलिमा, मनसा और हंसा। वास्तविक हिजड़े तो बूचरा ही होते हैं क्योंकि ये जन्मजात ‘न पुरुष न स्त्री’ होते हैं, नीलिमा किसी कारणवश स्वयं को हिजड़ा बनने के लिए समर्पित कर देते हैं, मनसा तन के स्थान पर मानसिक तौर पर स्वयं को विपरीत लिंग अथवा अक्सर स्त्रीलिंगी के अधिक निकट महसूस करते हैं और हंसा शारीरिक कमी तथा नपुंसकता आदि यौन न्यूनताओं के कारण बने हिजड़े होते हैं। नकली हिजड़ों को अबुआ कहा जाता है जो वास्तव में पुरुष होते हैं किन्तु धन के लोभ में हिजड़े का स्वांग करते हैं। जबरन बनाए गए हिजड़े छिबरा कहलाते हैं, परिवार से रंजिश के कारण इनका लिंगोच्छेदन कर इन्हें हिजड़ा बनाया जाता है।”<sup>275</sup> लैंगिक स्पष्टीकरण का न हो पाना तथा अंगों का सही रूप से विकसित न हो पाना एक शारीरिक समस्या तो है लेकिन इसका कई बार इलाज भी हो सकता है किन्तु लोगों के मध्य पूर्वाग्रह के कारण लोग डॉक्टर के पास जाने से पूर्व ही किन्नर का तमगा पहना देते हैं।

हिन्दी साहित्य में किन्नर को लेकर लेखन की शुरुआत कहानी विधा से होती है। ‘सरिता’ पत्रिका में 1980 में छपी कहानी ‘दरमियाना’ किन्नर पर लिखी पहली कहानी है। सुभाष अखिल की यह कहानी भले ही उस समय उतना महत्व नहीं रखती हो किन्तु उनके द्वारा लिखित कहानी किन्नर लेखन को एक नई पृष्ठभूमि देने का कार्य करती है। लेखक ने इस लंबी कहानी को उपन्यास का रूप देने का भी प्रयास किया है। उनकी यह लंबी कहानी दरमियाना : थर्ड जेन्डर की प्रथम कहानी पर आधारित उपन्यास 2018 में रचित है। अंग्रेजी साहित्य में 90 के दशक से ही किन्नर जीवन प्राथमिक रूप में उभर कर आया। भारतीय साहित्य तेलुगु, तमिल और मराठी में भी किन्नरों का साहित्य उभरा किन्तु जहां तक ओड़िया साहित्य की बात है उसमें अभी तक भी किन्नर साहित्य दृष्टिगोचर नहीं होता

<sup>275</sup> विमर्श का तीसरा पक्ष, डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, रविकुमार गोंड, पृ.सं.-48-49

| ओड़िया साहित्य में किन्नरों के साहित्य को लेकर गहन अनुसंधान की आवश्यकता रही है | हिन्दी में भी किन्नर साहित्य का सही मायने में विकास 21वीं सदी से ही प्रारंभ हुआ है | किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हिन्दी सिनेमा में किन्नर जीवन को प्रस्तुत करने की पहल विधागत लेखन से पूर्व की है | किन्नरों को लेकर भी हिन्दी सिनेमा जगत में दो दृष्टि रही है | पहली दृष्टि उन फिल्मों की है जिसमें किन्नरों को खलपात्र के रूप में चित्रित किया गया | जिसमें 'सड़क'(1991), 'रज्जो'(2013) आदि फिल्मों को देख सकते हैं | दूसरी दृष्टि उन फिल्मों की है जिसमें किन्नरों का समाज अपनी सजीवता के साथ चित्रित है | जिसमें किन्नरों को लेकर मानवीय दृष्टि भी प्रस्तुत है | इसमें 'तमन्ना' (1997) और 'शबनम मौसी'(2005) जैसी फिल्मों को देखा जा सकता है | कथा साहित्य में जो परंपरा 'दरमियाना' से प्रारंभ हुई वह अन्य साहित्यिक विधाओं में भी फलीभूत हुई | भले ही हिन्दी साहित्य में किन्नर पात्र आए हों किन्तु किन्नर जीवन को प्राथमिकता से 2000 के बाद ही उठाया गया | नीरजा माधव के द्वारा लिखित उपन्यास 'यमद्वीप' (2002) में सर्वप्रथम किन्नर जीवन और समाज को सजीवता से प्रस्तुत किया गया | नीरजा माधव का यमद्वीप के माध्यम से किन्नर जीवन को प्रस्तुत करना किन्नर साहित्य को आगे बढ़ाने की ओर पहला कदम रहा है | इससे पूर्व किन्नर जीवन पर उपन्यास नहीं लिखे गए थे इसलिए किन्नर जीवन संबंधी उपन्यासों को नई पृष्ठभूमि देने का कार्य नीरजा माधव ने यमद्वीप के माध्यम से किया | इसके बाद 'मैं भी औरत हूँ' (2005) (डॉ. अनसूया त्यागी), 'किन्नर कथा' (2010) (महेंद्र भीष्म), 'तीसरी ताली' (2010) (प्रदीप सौरभ), 'गुलाम मंडी' (2013) (निर्मला भुराडिया), 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपरा' (2016) (चित्रा मुद्गल), 'मैं पायल' (2016) (महेंद्र भीष्म), 'ज़िंदगी 50-50' (2017) (भगवंत अनमोल) आदि उपन्यास लिखे गए | हिन्दी जगत में अभी तक इतने उपन्यास उपलब्ध हो पाए हैं और इन्हीं उपन्यासों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि किन्नर जीवन और उनकी समस्या को भले ही कई उपन्यासकारों ने दर्ज किया हो किन्तु किन्नर जीवन संबंधी ऐसे अनेक पहलू हैं, जिनको लेकर भ्रांतियाँ हैं साथ ही किन्नर जीवन का आंतरिक मनोभाव भी उपेक्षित रहा है | क्योंकि किन्नर आत्मकथाओं की अगर बात करें तो जिन किन्नरों ने अपनी आत्मकथा लिखी है, उसमें जितनी कसक तथा ऊहापोह, पीड़ा और मनोदशा का चित्रण है उतना इन उपन्यासों में प्रस्तुत नहीं हो पाया है | कहने का यह तात्पर्य है कि हिन्दी उपन्यासों में किन्नर लेखक अभी तक सक्रिय नहीं हो पाए हैं | जबकि मराठी भाषा में यह



प्रयास हुए हैं। जैसा कि प्रत्येक साहित्य के विकास की गति होती है वैसे ही किन्नर साहित्य की भी गति है। प्रारम्भिक लेखन में किन्नर पात्र को लेकर उपेक्षित दृष्टि, उसके बाद किन्नर समाज को केंद्र में रख कर लेखन और सकारात्मक पहल आदि हिन्दी साहित्य में देखे जा सकते हैं किन्तु किन्नर समुदाय का अपनी अस्मिता और पहचान को लेकर उभरना विकास प्रक्रिया का तीसरा चरण है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी उपन्यासों में तीसरे चरण की शुरुआत होना अभी बाकी है, संभवतः यह स्थिति जल्द ही पैदा हो सकती है क्योंकि किन्नर विमर्श अभी बिल्कुल नया है। विमर्श की इस सदी में किन्नर विमर्श का बिगुल बजा है जिसमें किन्नरों के द्वारा लेखन अपेक्षित है। अंत में यह कहना आवश्यक बन पड़ा है कि उपरोक्त उपन्यासों ने किन्नर जीवन को समझने की बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। साथ ही किन्नर विमर्श से संबंधी बहस को भी साहित्य का मुद्दा बनने का कार्य किया है। अस्मिता के इस युग ने उपेक्षित- समुदायों में इन समुदाय के दर्द को प्रस्तुत करने में बहुत हद तक सफलता प्राप्त की है। हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों में इन उपेक्षित समुदाय की स्थिति को प्रस्तुत किया गया है।

हमारे समाज के उपेक्षित समुदाय में से एक समुदाय किन्नर भी है, जिसे समाज तिरस्कार की दृष्टि से देखता आया है। मुख्यधारा के लोग इन्हें समाज का हिस्सा नहीं मानते इसलिए यह समुदाय मुख्यधारा से दूर अपना बसेरा बनाता है। प्राचीन काल से किन्नरों का अस्तित्व होने के बावजूद भी उन्हें न समाज में स्थान मिल पाया था और न संविधान के किसी अनुच्छेद में। यहाँ तक कि उनको भारत की नागरिकता भी नहीं मिली थी। यही कारण रहा कि सदियों से उपेक्षित इस जाति ने अपने अस्तित्व की मांग की। यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि सदियों से जिसे अधिकार मिल जाना चाहिए था उसे 2014 में यह मान्यता प्राप्त हुई। किन्तु यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या मुख्यधारा के लोग उन्हें अब भी स्वीकार कर पाए हैं? क्या उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते हैं? जो समाज स्त्री को आज तक समान दृष्टि से नहीं देख पाया, इतने विमर्शों के बाद भी, उनसे किन्नरों को लेकर क्या उम्मीद की जा सकती है। अन्य वर्गों के अस्तित्व की लड़ाई में यह वर्ग भी अस्तित्व को प्रश्नों ले कर उभरा है। यह हर्ष कि बात है कि किन्नर समुदाय के अंदर आए जागरण ने स्पष्ट कर दिया कि आज भी समाज पिछड़े पन में जी रहा है जिसने एक बहुत बड़े तबके को सभी चीजों से वंचित रखा है। बहरहाल मुख्यधारा के लोगों की सोच में परिवर्तन और स्वतंत्रता और अस्तित्व की मुखर आवाज ने साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। वर्तमान के परिदृश्य को देखें तो स्पष्ट होगा लेखकों का

एक समुदाय इस विषय को लेकर साहित्य में सक्रिय है | इस दौरान ऐसे उपन्यास भी लिखे गए जो किन्नर समाज की सच्चाई और उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं |

‘गुलाम मंडी’ उपन्यास की विशेषता यह है कि किन्नरों को देखने की नई दृष्टि के साथ समाज का उनके प्रति पूर्वाग्रह और तिरस्कार को इसमें दिखाया गया है | जैसा कि इस उपन्यास के नामकरण से स्पष्ट है कि यह उपन्यास गुलाम यानी दास पर आधारित है | प्राचीन काल से गुलामों की परंपरा को देखा जा सकता है किन्तु वर्तमान का दौर गुलामी की परंपरा का नवीनीकरण को प्रस्तुत करता है | भूमंडलीकरण के दौर में बढ़ता देह का बाजार और देह व्यापार ने गुलामी को नवीन रूप से जन्म दिया है | निर्मला जी का यह उपन्यास इसी पृष्ठभूमि पर लिखा गया है | इस उपन्यास में **मानव- तस्करी और जिस्म-फरोशी** की समस्या को प्रमुखता से उठाया गया है | जैसा कि हम जानते हैं कि जिस्म का बाजार स्त्रियों के लिए हुआ करता है जिसमें पुरुष दैहिक भूख मिटाने के लिए स्त्री का इस्तेमाल करता आया है किन्तु वर्तमान के परिदृश्य में देखें तो यह स्पष्ट होगा कि पुरुष समाज मानसिक रूप से बीमार और ज्यादा हवस प्रिय होता जा रहा है, जिसमें किन्नर समुदाय भी पीसता हुआ नजर आ रहा है | कुछ पुलिस वाले तथा समाज के मुख्य धारा के कुछ लोग किन्नरों का दैहिक शोषण कर रहे हैं | कुछ किन्नर दैहिक शोषण के शिकार बन कर देह के बाजार में हस्तक्षेप कर रहे हैं | साथ ही कुछ को जबरन बाजार में धकेला जा रहा है | जिस्म के बाजार का एक बहुत बड़ा गिरोह अब देह की ताक में ही बैठा हुआ है जो सौदेबाजी करके उनके साथ खिलवाड़ कर रहा है | इस उपन्यास में रानी नामक किन्नर को भी कोठा में बेच दिया जाता है | राजा एक समलैंगिक पुरुष के रूप में सामने आता है किन्तु उसका प्रेमी उससे खफा हो कर उसके लैंगिक पहचान को ही नष्ट कर देता है | जिसके कारण वह राजा से रानी बन जाती है | “मनोज और उसके ड्रग पैडलर दोस्तों ने पहले रानी को हेरोइन खिलाई, फिर उसे एक डॉक्टर ने आकर उसे कोई इन्जेक्शन लगाया | जब रानी को होश आया तो वह अपना मर्दाना अंग खो चुकी थी | ... एक महीने बाद मनोज ने रानी को चमेली हिजड़े को बेच दिया था | सिर्फ सत्तर हजार रुपए में |”<sup>276</sup> ऐसे में बरसों से दबी स्त्री बनने की इच्छा उसमें बलवती हो जाती है | अब रानी स्त्री रूप पाने के लिए लालायित होती है, जिसका साथ कल्याणी देती है | ट्रांसजेन्डर किन्नरों के

---

<sup>276</sup> गुलाम मंडी, निर्मला भुराडिया, पृ. सं.-75

लिए ही प्रयुक्त होता है जिसमें अपने लैंगिक पहचान को बदलने की चाह होती है, ऐसे में राजा पूर्ण रूप से नारी तो नहीं बन सकता, किन्तु वह पूर्ण रूप से किन्नर अवश्य बन जाता है। राजा के माध्यम से लेखिका इस उपन्यास में स्पष्ट करती हैं कि किन्नरों की आंतरिक भावना क्या होती है ? “मुझे लगता था मेरा खोल तो आदमी का है पर भीतर जो है, वो तो एक लड़की है। धीरे-धीरे मैं समझने लगा था कि मेरा शरीर लड़के का है। मगर आत्मा लड़की की है।”<sup>277</sup> विशेष रूप से किन्नर इस लिए अपने लैंगिकता से पूर्ण नहीं हो पाते अर्थात् स्त्री जन्म हो कर भी आत्मा पुरुष की और पुरुष रूप से जन्म हो कर आत्मा स्त्री के रूप में अनुभव करते हैं। साथ ही उनके गुणसूत्र तथा शारीरिक अंग सही रूप से विकसित न होने के वजह से रहे हैं इसलिए वे सहज रूप से पहचाने भी जाते हैं। खुद को अपने इच्छा के अनुरूप ढालना तथा बदल लेना ही उन्हें ट्रांसजेंडर बनाता है जिसे हम किन्नर कहते हैं। इस उपन्यास के कई किन्नर पात्र यह स्पष्ट करते हैं कि कई बच्चे जन्म के उपरांत ही पहचाने जाते हैं कई स्कूल में पहचाने जाते हैं। यह मूलतः शारीरिक हाव-भाव और अपनी लैंगिक पहचान के लिए ही पहचाने जाते हैं। बाद में किन्नर समुदाय को यह पता लगते ही उन्हें वह अपने समुदाय में ले जाते हैं। किन्नरों में विशेष रूप से बेचने और खरीदने की प्रथा नहीं होती है। लेखिका संकेत देती हैं कि कई किन्नरों ने अपनी कोठी का भी निर्माण किया था इसके पीछे कई कारण रहे हैं। बहरहाल रानी को जब इस तरह की कोठी पर बेच दिया जाता है तब वह वहाँ से भाग कर वृंदा गुरु के पास शरण लेती है। जहाँ वे सुरक्षित महसूस कर रही थी। लेखिका का यह स्पष्ट न करने की वजह भी हो सकती है। किन्तु इससे यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है, **मानव-तस्करी और जिस्म-फरोशी** में किन्नर भी शामिल हैं यही कारण रहा होगा इसलिए लेखिका ने इनके मुद्दों को यहाँ स्पष्ट करना चाहा।

लेखिका इस उपन्यास में मुख्य रूप से यह स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि किन्नरों की दीन, दुःखी, लांछित दशा तथा सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन की वजह मुख्य धारा के लोग ही हैं। मुख्यधारा का समाज किन्नरों को बस नाचते गाते देखते आया है और देखना चाहता भी है। उनका यह पूर्वाग्रह ही है कि किन्नर उसके सिवा कुछ नहीं कर सकते। शारीरिक रूप से सक्षम और प्रतिभा से परिपूर्ण होने के बावजूद भी वे मुख्यधारा

<sup>277</sup> गुलाम मंडी, निर्मला भुराडिया, पृ.सं.-72

के लोगों का सामना नहीं कर पाती कोई व्यवसाय या रोजगार नहीं कर सकती । यही कारण रहा कि उनकी आर्थिक स्थिति दिन-प्रति-दिन बिगड़ती जा रही है । किन्तु इस उपन्यास में लेखिका यह स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं कि किन्नर अब अपने अधिकारों के लिए सजग हैं अपनी समस्याओं को कई इंटरव्यू के माध्यम से प्रस्तुत कर रही हैं । रानी का विदेश जाना तथा किन्नर समुदाय को रेप्रिज़ेंट करना इसको स्पष्ट करता है । भले ही किन्नर समुदाय जागृत हो रहा है किन्तु प्रश्न यह कि क्या मुख्यधारा के लोगों की उनके प्रति दृष्टि बदली है ? लेखिका मुख्यधारा की इसी मानसिकता को इस उपन्यास में स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं । जब कल्याणी अंगूरी के पास जाती है तो उनके वहाँ वह देखती है की कव्वों की कांव-कांव सुनाई देती है । “बजरबटू की तरह क्या देखती हो दीदी, मेरी गुरु ने पाले हैं । पर कव्वे ? तो क्या तोता-मैना पालेंगे हम ? ... हमारी जात के तो ये ही हैं । हमारे सगे वाले । तुम लोग दुरदुराते हो, हम मोहब्बत से पालते हैं । ... पर श्राद्ध के दिनों में हम कव्वों को ही खीर-पूरी खिलाते हैं । श्राद्ध के दिनों में ही न ! स्वारथ रहता है न तुम्हारा । आड़े दिन में जो कहीं कव्वा आकर बैठ जाए न तुम पर, तो नहाओगी-धोओगी, अपशुन मनाओगी । जैसे हम ना तुम्हारे जो शादी-ब्याह हों तो नाचेंगी-गाएंगी, शगुन पाएंगी मगर यूँ जो रास्ते में आ पड़ी ना हम, तो हिजड़ा कह कर धिक्कारोगी ।”<sup>278</sup> कहने का तात्पर्य कव्वे और किन्नर एक जैसे हैं जिसे मुख्यधारा के लोग जरूरत के समय याद करता है । बाकी समय उनको तो सदैव नजरंदाज किया जाता है । लेखिका की अपेक्षा यह है कि किन्नरों के प्रति समाज की दृष्टि में परिवर्तन हो क्योंकि उनका भी अस्तित्व है तथा उनकी की संवेदना है ।

‘तीसरी ताली’ उपन्यास के केंद्र में किन्नर समाज की झांकी के साथ उनकी समस्याएं भी प्रस्तुत हैं । यह उपन्यास ऐसे तथ्य समाज को उपलब्ध करवाता है, जिससे प्रायः समाज अनभिज्ञ है । उपन्यासकार की विशेषता यह है कि किन्नरों पर अन्वेषण करते हुए वह भारत के कोना- कोना झाँक आए हैं । उपन्यास में अलीगढ़, दिल्ली, महाराष्ट्र, बलिया, छपरा आदि तमाम शहरों में हाशिये पर जीते समुदाय पर बात करना तथा किन्नरों के गढ़ से समाज को रूबरू करना लेखक का सराहनीय काम रहा । इन उपेक्षित समुदाय का भले ही कई सौ सालों से अस्तित्व रहा हो पर इनके अस्तित्व को लेकर हमारे ज़ेहन में कभी

<sup>278</sup> गुलाम मंडी, निर्मला भुराडिया, पृ. सं.-11-12

कुछ नहीं कौंधा | यह समुदाय हाशियाग्रस्त होकर समाज से प्रायः बहिष्कृत होता जा रहा था | ऐसे में लेखकों का उन पर गहन शोधपरक उपन्यास आना उनकी प्रगतिशील दृष्टि और समाज के नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करता है |

किन्नर/ तृतीय लिंगी समाज अपने अस्पष्ट लैंगिक पहचान के लिए बहिष्कृत रहा है | समाज शारीरिक रूप से अक्षम व्यक्ति को तो स्वीकार करता है किन्तु किन्नर के प्रति समाज का दृष्टिकोण बहुत सोचनीय और खराब रहा है | एक तरह से सभ्य समाज में हिजड़ा एक गाली के रूप में प्रयुक्त किया जाता है | किन्तु इस उपन्यास में लेखक हिजड़ा शब्द की नई परिभाषा गढ़ते हैं | “हिजड़े और आदमी में क्या अंतर है ! दोनों को ही भगवान ने बनाया है | मैं तो उसे हिजड़ा मानता हूँ, जो सच्चा फैसला नहीं कर पाते हैं और मौके पर पाछा दिखाकर भाग जाते हैं |”<sup>279</sup> भारत में प्राचीन तथा मध्यकाल तक किन्नरों के प्रति समाज की दृष्टि खराब नहीं थी | तथा आर्थिक रूप से भी उनकी स्थिति खराब नहीं थी किन्तु वर्तमान का परिदृश्य इससे कुछ भिन्न है | आज यह समाज आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से प्रताड़ित है | समाज किन्नरों को परंपरागत पेशे तथा संस्कार में देखने का आदि है | जब वे लोग परंपरा के इतर कार्य करना का प्रयास करते हैं तो उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है | इस समुदाय की विडंबना यह है कि यह समुदाय भले ही मनुष्य के रूप में जन्मा हो किन्तु मुख्यधारा की दृष्टि में इनकी स्थिति पशु से भी हीन है | क्योंकि पशु को तो सभ्य समाज अपने घर पर स्थान देता है किन्तु किन्नरों को समाज से बहिष्कृत करता आया है | किन्नरों को कई बार समाज की उपेक्षा तथा शोषण के कारण घर से बाहर कर दिया जाता है | अतः प्रत्येक किन्नर विस्थापन के दंश को सदैव झेलता है | परिवार के सदस्य न भी चाहें तो यह वर्ग अपने को समुदाय में ही सुरक्षित महसूस करता | इस उपन्यास के पात्र गौतम साहब अपने बेटे विनीत जो कि किन्नर है, उसे घर पर रखने की कोशिश करते हैं किन्तु अंततः विनीत समाज की प्रताड़ना से तंग आकर भाग जाता है | इसका कारण यह भी है कि उसे समाज में अपने अस्तित्व को छिपा कर एक पुरुष बनना न काबिले बर्दाश्त हो रहा था | यहाँ अस्तित्व की गूंज हमें स्पष्ट रूप से सुनाई देती है जो सभ्य समाज पर प्रश्न चिह्न लगाती है | तृतीय पंथी के समक्ष सबसे बड़ी समस्या अपनी लैंगिक पहचान को समझना होता है क्योंकि अविकसित

---

<sup>279</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ.सं. -56

अंग या खुद में स्त्री या पुरुष की लड़ाई से जूझ कर एक निष्कर्ष पर पहुंचना उनके लिए सबसे बड़ी समस्या होती है। लैंगिक पहचान का निर्णय ही उनकी अस्मिता की पहली आवश्यकता होती है। विनित ने यह समझ लिया था कि भले ही उसका देह पुरुष का है किन्तु आत्मा स्त्री की है। अंततः वह विनीत से विनीता बन जाती है। उसमें स्त्री भावना इतनी बलवती हो जाती है कि वह वेजाइना रिप्लाण्टेशन का सहारा लेकर पूर्ण स्त्री बनना चाहती है। भले ही बच्चा पैदा करने में वह असक्षम रही है किन्तु खुद को वह पूर्ण स्त्री मानती है। यहाँ उपन्यासकार उसकी मानसिक स्थिति के साथ उसके किन्नर बनने के संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं।

इस उपन्यास की दूसरी पात्र रानी जो जबरन किन्नर बनाई जाती है। मंजू नामक लड़की से प्रेम के कारण उसे डिम्पल नाम की किन्नर सज़ा के तौर पर उसकी लैंगिक पहचान छिन लेती है, जिसके कारण वह राजा से रानी बन कर किन्नर की ज़िंदगी जीती है। इसके जरिए लेखक यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि ऐसे कई कारणों से भी पुरुष किन्नर बन जाते हैं। भले ही इस उपन्यास में डिम्पल नाम की किन्नर ने राजा को रानी किन्नर बनाया लेकिन उनके समाज में किसी को जबरन किन्नर बनाने की परंपरा नहीं है। वे इसको पाप या कुफ़्र मानते हैं इसलिए डिम्पल अंत में पश्चाताप की अग्नि में जलती है। “कुदरत से खिलवाड़ करने का किसी को हक नहीं है। अपने फायदे के लिए किसी को हिजड़ा बनाना पाप है। ऐसा करने पर हिजड़े को सौ बार हिजड़े का ही जनम लेना पड़ता है और फिर भी उसका पाप कम नहीं होता है।”<sup>280</sup>

आर्थिक समस्या के तंग आकर भी कई लोग इस पेशे को अपनाते हैं क्योंकि पेट की भूख के कारण किन्नर भीख मांगते हैं और नाच-गा कर पैसे कमाते हैं तथा जिस्म फरोशी भी करते हैं। आम व्यक्ति कभी उदर की ज्वाला को शांत करने के लिए तो कभी लालचवश इस पेशे को अपनाता है। ज्योति कहता है -“माना मैं मर्द हूँ, लेकिन ये समाज मुझसे मर्द का काम लेने के लिए राज़ी नहीं है। मुझे इस समाज ने मादा की तरह भोग की चीज में तब्दील कर दिया है। मैं मर्द रहूँ, औरत रहूँ या फिर हिजड़ा बन जाऊँ, इससे किसी को कोई फर्क नहीं पड़ेगा, पेट की आग तो बड़े-बड़ों को न जाने क्या-क्या बना देती है।”<sup>281</sup>

<sup>280</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -30

<sup>281</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -57

किन्नरों पर शोध करते हुए पाया गया कि स्थूल रूप से किन्नर दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो किन्नर के रूप में ही जन्म हुए हैं दूसरे वह जो किन्नर कई कारणों से बनते हैं। जो किन्नर बने हैं वे भीख मांगते हुए देखे जाते हैं जबकि जो पूर्ण रूप से किन्नर हैं वे भीख को अच्छा नहीं मानते। “अपने इलाके में नाच-गाकर पैसा कमा। भिखारियों की तरह सिगनल पर क्या भीख मांगती हो ! अपने साथ हम सब की इज्जत का भी कचरा करती है।”<sup>282</sup> किन्नर समाज के भी अपने उसूल होते हैं। किन्तु वर्तमान का परिदृश्य भिन्न है आज किन्नरों में भी दो समुदाय देखे जा सकते हैं। एक जो परंपरागत पेशे को तवज्जो देता आया है। और दूसरे वे किन्नर हैं जिन्होंने जिस्म फरोशी को अपनाया है। उन्हें नाच-गाने से मेहनत करके पैसा कमाने में तकलीफ होती है। साथ ही मोटी कमाई हो जाती है। नाचने-गाने में भी इतना पैसा नहीं है जिससे उनका पेट पल सके। “दिल्ली में इन दिनों नाचने-गानेवाले हिजड़ों का अकाल था। अधिकतर हिजड़े सेक्स बिजनेस में लगे थे। कमाई भी मोटी हो जाती है सेक्स के धंधे में। फिर किसी गुरु की धौंसपट्टी और समाज से निकाले जाने का डर भी नहीं होता। बिना किसी परवाह के, अपने मन के मालिक। सेक्स के धंधे में लगे हिजड़े नाचने-गाने को घटिया काम समझते थे।”<sup>283</sup> यहाँ यह स्पष्ट करने का अवश्य प्रयास किया गया है कि इस पेशे में किन्नरों की संख्या बढ़ने के पीछे कारण मुख्य रूप से आर्थिक रहा है। विनीता के जरिए जहाँ उपन्यासकार इस उपन्यास में स्पष्ट करते हैं कि ग्लैमर्स की दुनिया में किन्नरों की रोजगार की गुंजाइश देखी जा रही है। वहीं दूसरी ओर विजय के जरिए उपन्यासकार यह स्पष्ट करते हैं कि समाज में आजीविका चलाने के लिए विजय जैसे लोग अपने अस्तित्व को सामने नहीं ला पाते। आजीविका का संकट तथा सम्मान पूर्वक अस्तित्व को लेकर किन्नर लंबा संघर्ष करते आ रहे हैं। कहने का तात्पर्य सभ्य समाज आज भी उन्हें अपने समाज के अंग रूप में नहीं स्वीकार करता साथ ही सम्मानपूर्वक दृष्टि से भी नहीं देखता। हिजड़ों की अपनी प्रथा और परम्पराएं रही हैं। ये परंपराएँ प्राचीनता से जुड़ी हैं। राम का प्रसंग जिसके वजह से वे आज भी नाच-गा कर पैसा कमा रहे हैं। वहीं ‘महाभारत’ में अरवाण की पत्नी मोहिनी बन कर कृष्ण उनकी सृष्टि का कारक बनते हैं। “तब से यह मान्यता है कि हिजड़े कृष्ण के ही वंशज हैं। हर वर्ष वसंत के बाद चित्रा पूर्णिमा के दिन

<sup>282</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ.सं.-14

<sup>283</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ.सं.-61

अरवाण की याद में यह मेला लगता है | यहाँ के कुठनदवार मंदिर में अरवाण के सिर के हिस्से की मूर्ति है | मान्यता यही है कि यह सिर महाभारत काल से यहाँ रखा हुआ है | इसलिए कृष्णरूपी मोहिनी के रूप में जन्म लेनेवाला हर प्राणी उनसे विवाह कर उसकी मृत्यु के बाद विधवा बन जाता है |”<sup>284</sup>

हिजड़ों की अपनी इष्ट देवी होती हैं | हिजड़ा बनना भी इतना आसान नहीं है बल्कि असह्य पीड़ा को गले लगाना है | “उसके अंडकोष को तार से कसकर बाँध दिया गया, ताकी उनमें रक्त प्रभाव रुक जाए ... उसने ज्योति की पैंट खिसकाई और उसके पुरुषांग को एक झटके में हलाल कर दिया | रक्त का सोता बहने लगा | घंटों खून बहता रहा | हिजड़ों में यह मान्यता है कि इस रक्त के बहने के साथ ही पुरुष का पुरुषत्व बह जाता है और उसमें नारीत्व के गुण प्रवेश कर जाते हैं | इसके बाद लकड़ी के एक गुटके के जरिए घाव को बंद कर दिया जाता है...”<sup>285</sup> इतना ही नहीं घाव पर गरम तेल डाल कर जड़ीबूटी लगाई जाती है | इसके पश्चात भी हिजड़ा नहीं बना जा सकता जब तक वह सिल पर बैठकर जोर नहीं लगा लेता | “वह तब तक सिल पर जोर लगाता है, जब तक उसके गुदा भाग से रक्त नहीं बहता | जब यह रस्म पूरी हो जाती है तो इसे नए बने हिजड़े का पहला रोजधर्म (मेन्सेज) माना जाता है |”<sup>286</sup> यह रस्म रिवाज तो मनुष्य के पीड़ा के कारक रहे हैं ही किन्नर बनना कोई मज़ाक का काम नहीं है, सही रूप से किन्नर बनने के लिए असहनीय पीड़ा को स्वीकार करना होता है | मृत्यु के उपरांत भी उनके शव को रात के अंधेरे में ले जाया जाता है ताकि कोई उनकी शव यात्रा नहीं देखे किन्तु मरने के उपरांत भी उनको चप्पलों से पीट कर दफन करना या जलाना उनकी पीड़ा स्पष्ट करता है | वे मानते हैं ऐसा करने पर ईश्वर उन्हें अगले जनम हिजड़ा बनने के श्राप से मुक्त कर देंगे | इस योनि में जीना ही सबसे बड़ा कठिन है जिसमें यह ही समझ नहीं आता कि हममें पुरुष भाग की अधिकता या स्त्री की | अगर स्त्री की अधिकता है तो उनमें काम-वासना जैसे तत्व भी पाए जाते हैं जिनका निवारण होना भी असंभव हो जाता है | ऐसे में मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना को सह कर खुद को किन्नर के रूप में देखना भी एक तपस्या है | जिसमें कई कठिनाइयों और पीड़ा से गुजरना पड़ता है वहीं सामाजिक और राजनीतिक

<sup>284</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ.सं.-190

<sup>285</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -61-62

<sup>286</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -62



तानाबाना तथा शोषण उनके दुःख को कई गुना बढ़ा देता है। ऐसे में उस समाज के प्रति सहानुभूति न रख कर उन्हें प्रातड़ित करना कहाँ तक न्यायोचित है। प्रकृति की मार और समाज उनके पीड़ा को बढ़ाने में कोई कसर नहीं रखता है। लेखक उनके आंतरिक मनोभाव को टटोलने का प्रयास करते हैं साथ ही सभ्य समाज की असक्षमता को आईना दिखाते हैं - “बस इतना चाहती हूँ कि लोग हिजड़ों के साथ सम्मानजनक व्यवहार करें। इसलिए मैं फिर से राजनीति में सक्रिय होना चाहती हूँ। हमें लोगों के बीच जाकर बताना होगा कि हम असली हिजड़े नहीं हैं। असली हिजड़े तो वे हैं जो जनता के वोटों से संसद और विधानसभा में जा कर उन्हीं का खून चूसने की योजनाएं बनाते हैं और अपना पेट भरते हैं।”<sup>287</sup>

‘क्विर’ वर्ग को समकालीन समय में लैंगिक विकलांगता के तौर पर देखा जा रहा है। चित्रा मुद्गल के द्वारा लिखित ‘पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपरा’ लैंगिक विकलांगता पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास का पात्र विनोद उर्फ बिन्नी भले ही परिस्थितियों के कारण थर्ड जेंडर में तब्दील होता है किन्तु उस पात्र को हम किन्नर से पूर्व ‘इन्टर सेक्स’ अथवा अंतर्मुखी लिंग के अंतर्गत रख सकते हैं। क्योंकि यह पात्र किन्नरों की तरह स्त्री भावना से युक्त नहीं है और न ही उसमें किन्नर बनने की लालसा थी। पुरुष शरीर में जन्मा यह बालक पुरुष ही रहना चाहता था किन्तु शारीरिक कमी अथवा लिंग का विकास का न हो पाना उसके लिए समस्या उत्पन्न करता है। भारत में ऐसे बच्चों की कमी नहीं है जिनका लिंग विकसित नहीं हो पाता है किन्तु डॉक्टर की सहायता से उन्हें एक रूप दिया जा सकता है, उन्हें इन्टर सेक्स कहते हैं। विमल भी एक ऐसा पात्र है जिसे डॉक्टर की सहायता से पुरुष बनाया जा सकता था किन्तु विडंबना यह थी कि उसे किन्नर बनना पड़ा। समाज में लैंगिक कमी को किन्नर के रूप में ग्रहण करना किन्नर के प्रति पूर्वाग्रह को तथा लैंगिक अज्ञानता को भी सिद्ध करता है। यह उपन्यास ऐसे पक्ष को हमारे समक्ष उपस्थित करता है जिससे प्रायः समाज अनभिज्ञ रहा है। किन्नर पैदा होना एक बात होती है किन्तु जबरन किन्नर बनने के लिए मजबूर किया जाना दूसरी बात होती है। हंसा, हिजड़ों में वह समुदाय है जो लैंगिक कमी के कारण थर्ड जेन्डर बनते

---

<sup>287</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ.सं.-139

हैं । इस समुदाय की अपनी पीड़ा है जिसको चित्रा जी इस उपन्यास में स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं । इस समुदाय की पीड़ा मुख्य रूप से मानसिक है । पारिवारिक और समाज की प्रताड़ना तो इन्हें भी किन्नरों की तरह ही झेलना पड़ता है किन्तु मानसिक अंतर्द्वंद्व तथा खुद को कहीं फिट न कर पाने की मानसिक स्थिति इन्हें बहुत प्रताड़ित करती है । यह समुदाय थर्ड जेंडर बन कर भी अपने को उनसे अलग थलग महसूस करता है । एक ओर पारिवारिक समस्या दूसरी तरफ समाज की प्रताड़ना तो तीसरी ओर खुद को हिजड़ा बन कर भी खुश न रख पाना तथा खुद को किन्नरों के साथ न जोड़ पाना उन्हें अन्य थर्ड जेंडर से अलग करता है । उपन्यासकार विनोद के जरिए मानो स्थिति को उपन्यास में स्पष्ट करती हैं -“कभी-कभी मैं अजीब सी अंधेरी बंद चिमगादड़ों से अटी सुरंग में स्वयं को घुटता हुआ पाता हूँ । बाहर निकलने को छटपटाता मैं मनुष्य तो हूँ न ! कुछ कमी है मुझमें इसकी इतनी बड़ी सज़ा ! ऐसी मनोःस्थिति में मेरी आँखों से खारा पानी नहीं, खून दूरकने लगता है बा ।”<sup>288</sup>

उपन्यासकार इस उपन्यास में स्पष्ट रूप से स्पष्ट करती हैं कि विनोद में किन्नर के कोई गुण नहीं थे किन्तु उसके जैसे लोगों ने इस जीवन को स्वीकार कर लिया है । क्योंकि समाज में ऐसे वर्गों को स्थान नहीं है जो लैंगिक रूप से असक्षम हैं । कैसी विडंबना है कि शारीरिक अन्य विकलांगों को तो समाज स्वीकार कर सकता है किन्तु इन्हें नहीं । क्या लैंगिक अपूर्णता का होना इतना बड़ा दोष है ? लिंग की आवश्यकता अपनी क्षुधा को मिटाना तथा बच्चे पैदा करना है । किन्तु भोग का सुख न उठा पाने या संतान पैदा करने में असक्षमता क्या बहुत बड़ा दोष है जिसके कारण वह मनुष्य समझे जाने के कोटी से बाहर है साथ ही यह क्या ऐसा अपराध है जिससे समाज का नुकसान हो सकता है ऐसा नहीं तो फिर क्यों समाज से वे बहिष्कृत किए जाते हैं । “बात-बात पर ताली पीटना मेरी स्वाभाविक प्रकृति नहीं है । स्त्रैण लक्षण मुझमें कभी नहीं रहे । अब भी नहीं हैं और जो लक्षण मुझमें नहीं हैं, उन्हें सिर्फ इसलिए स्वीकारूँ कि मेरी बिरादरी के शेष सभी, उस हाव-भावों को अपना चुके हैं ? बैठ जाऊँ उन्हीं के संग और रेजर से बाँहों और छाती के जंगल को साफ करने लगूँ कि उनके प्रतिरूप बने बिना मेरे सामने जीवन जीने के विकल्प शेष नहीं हैं ?”<sup>289</sup> इसमें उनकी सारी प्रताड़ना, पीड़ा, संघर्ष तथा समाज का रवैया स्पष्ट है ।

<sup>288</sup> पोस्ट बॉक्स नं. 203 -नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-30

<sup>289</sup> पोस्ट बॉक्स नं. 203 -नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-09-10

इस उपन्यास में किन्नरों के समक्ष आए चुनौतियाँ भी स्पष्ट हैं। किन्नर संबंधी अन्य उपन्यासों में पारिवारिक बिछुड़न तथा पीड़ा व्यक्त है साथ ही पुलिस का किन्नरों के प्रति शोषण भी अभिव्यक्त है। अन्य उपन्यासों की भांति इस उपन्यास में केन्द्रीय समस्या तीसरी योनि में जन्मे ऐसे बच्चों की पारिवारिक स्थिति, मजबूरी तथा बिछुड़न के बाद बच्चों पर पड़े प्रभाव को सजीवता से दर्शाया गया है। विनोद अपने घर से बिछुड़ कर हिजड़ों के समुदाय में सम्मिलित तो हो जाता है किन्तु यह टीस उसके अंतरमन में हमेशा रहती है कि उसे उसके परिवार को छोड़ कर आना पड़ा। बा से हर समय यह सवाल भी करता है कि क्यों उसे यहाँ छोड़ दिया गया? परिवार को न भूल पाने की कसक विनोद में उपन्यास के अंत तक रहती है, वहीं उपन्यास के अंत में उसके बा के द्वारा लिखे रिपोर्ट से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि लोक-लाज तथा समाज के डर से माँ-बाप न चाहते हुए भी ऐसा करने पर मजबूर होते हैं। “लिंग दोष के चलते बरसों पहले हमने जबरन किन्नर चंपाबाई को सौंपकर दुर्घटना में उसकी मृत्यु होने का नाटक रचा था, लोकापवाद के भय से, उस भूल कि परिष्करण करना चाहती हूँ।... वह अपनी बा की इस अक्षम्य भूल को क्षमा कर दे और अपने घर वापस लौट आए।”<sup>290</sup> इस उपन्यास में समाज की लिंग दोषी बच्चों पर की गई ज्यादतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। साथ ही अपील भी की गई है कि ऐसी परंपरा को बदलना जरूरी है। साथ ही नई दृष्टि से देखने की पहल तथा जागरण का स्वर भी है। यह स्वर एक ओर जहां समाज को जागृत करने का कार्य करता है वहीं दूसरी ओर किन्नर समुदाय के लोगों को भी जगाना चाहता है। “बरजिए बिरादरी को। शपथ लीजिए यहाँ से लौट कर आप किसी लिंगदोषी नवजात बच्चे-बच्ची को, किशोर-किशोरी को, युवा-युवती को जबरन उसके माता-पिता से अलग करने का पाप नहीं करेंगे। उससे उसका घर नहीं छिनेंगे। उपहासों के लात-घूसों से उसे जलील होने की विवशता नहीं सौंपेंगे। जलालत का नरक भोग कुछ नहीं सीखे आप?”<sup>291</sup>

लैंगिक असमक्षता किस प्रकार परिवार, प्रतिभापरक अध्ययन, शिक्षा जैसी आवश्यकता के लिए बाधक तत्व है इस उपन्यास में स्पष्ट है। “जननांग विकलांगता बहुत बड़ा दोष है लेकिन इतना बड़ा भी नहीं कि तुम मान लो कि तुम धड़ का मात्र वही निचला हिस्सा भर

<sup>290</sup> पोस्ट बॉक्स नं. 203 -नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-222

<sup>291</sup> पोस्ट बॉक्स नं. 203 -नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-186

हो । मस्तिष्क नहीं हो, दिल नहीं हो, धड़कन नहीं हो, आँख नहीं हो ।”<sup>292</sup> हमारा समाज चाहे कितना भी शिक्षित क्यों न हो गया है किन्तु आज भी ऐसे उपेक्षित समुदाय को समझने में असमर्थ है । किन्नर समाज के पिछड़ने के पीछे मूल कारक समाज ही है जो उन्हें मनुष्य होने की सारी शर्तों से विमुख रखता है । पारिवारिक असहयोग, बिछुड़न, आर्थिक तंगी, अजूबे की तरह देखा जाना तथा फब्तियों का शिकार होना आदि कई समस्याएं उनके समक्ष अभी भी विद्यमान हैं किन्तु न समाज और न सरकार की दृष्टि उनकी ओर रही है । ऐसे अनेक लिंग दोषी तथा थर्ड जेन्डर व्यक्ति हैं, जो आत्मनिर्भर बन कर जीना चाहते हैं । नाच-गाना छोड़ कर इज्जत की ज़िंदगी जीना चाहते हैं क्या इसके लिए सही मायने में समाज की दकियानूसी सोच जिम्मेदार नहीं है । उपन्यासकार इस दकियानूसी सोच पर प्रश्न चिह्न लगाती हैं । विनोद को कभी नाच-गाना रास नहीं आया । उसे आत्मनिर्भर बनना नाच-गाने से ज्यादा अच्छा लगता है । सम्मेलनों में जा कर थर्ड जेन्डर के लोगों में आत्मनिर्भरता की पहल करता है ।

विनोद के जरिए लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि किन्नरों के अंदर जागरण लाने की जरूरत तो है किन्तु समाज की उनके प्रति दृष्टि को बदलना पहली शर्त है । “जरूरत है सोच बदलने की । संवेदनशील बनने की । सोच बदलेगी, तभी जब अभिभावक अपने लिंग दोषी बच्चों को कलंक मान किन्नरों के हवाले नहीं करेंगे । उन्हें घरे में नहीं फेंकेंगे । ट्रांसजेन्डर के खांचे में नहीं ढकेलेंगे । यह पहचान जब उन्हें किन्नरों के रूप में जीने नहीं दे रही समाज में तो सरकारी मान्यता मिल जाने के बाद जीने देगी ? किन्नरों के रूप में समाज ने उन्हें उस खांचे में सदियों पूर्व ढकेल कर रखा हुआ है ।”<sup>293</sup> इन उपेक्षित समुदाय के पिछड़े होने का कारण समाज की दृष्टि का परिष्कृत न हो पाना ही है ।

### 5.1.3.3 समलैंगिकता

एलजीबीटीआईक्यू में ट्रांसजेन्डर पर हिन्दी साहित्य में लेखन की शुरुआत हो चुकी है जिसके संबंध में ऊपर चर्चा की गई है । समलैंगिकता चाहे स्त्री हो या पुरुष दोनों पर हिन्दी में साहित्य लेखन की शुरुआत बहुत पहले से हो चुकी है । यह लेखन कैसे और कब प्रारंभ हुआ यह बताने से पूर्व यहाँ अन्य लैंगिक समुदाय के साहित्य पर लेखन हुआ है या नहीं

<sup>292</sup> पोस्ट बॉक्स नं. 203 -नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-50

<sup>293</sup> पोस्ट बॉक्स नं. 203 -नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-112

यह स्पष्ट करना आवश्यक है। अन्य लैंगिक समुदाय जैसे - उभय लिंगी, अनतर्मुखी लिंग / मध्य लिंग तथा क्वीर पर स्वतंत्र रूप से लेखन की शुरुआत उपन्यासों में नहीं देखी गई है। किन्तु समलैंगिकता या तृतीय लिंग पर लिखे साहित्य में ऐसे पात्र अवश्य देखे गए हैं। बहरहाल समलैंगिकता के साहित्य पर बात करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि समलैंगिकता की अवधारणा भारतीय समाज में नयी नहीं है। भले ही यह बहस का मुद्दा 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर में रहा है किन्तु यह बहुत प्राचीन है। 'ऋग्वेद' में 'विकृतिः एवं प्रकृतिः' शीर्षक के अंतर्गत समलैंगिकता का जिक्र मिलता है। जिसमें समलैंगिकता को अप्राकृतिक माना गया। वात्स्यायन के बहुचर्चित ग्रंथ 'कामसूत्र' में भी समलैंगिक संबंध देखे जा सकते हैं। 'पद्मपुराण' में गंगा को धरती पर लाने वाले भगीरथ का जन्म दो माताओं के मिलन से हुआ है। 'कोणार्क' और 'खजुराहो' में समलैंगिक संबंधों वाले मूर्ति भी देखी जा सकती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत में समलैंगिकता नयी नहीं है। प्राचीन काल से ही तृतीय लिंग की तरह समलिंग का भी अस्तित्व रहा है। वर्तमान में समलैंगिकता को लेकर कई सवाल हमारे समक्ष खड़े हैं जिस पर गंभीर अध्ययन होना आवश्यक है। जैसे - प्राचीन ग्रंथों में दो तरह ही अवधारणा विद्यमान है जिससे यह स्पष्ट कर पाना कष्ट साध्य है कि प्राचीन दौर में समलैंगिक लोगों को लेकर समाज की क्या दृष्टि रही? किन्तु प्राचीन कला कृतियों को देख कर यह अवश्य स्पष्ट होता है कि लैंगिक संबंधों को लेकर वैधता तो नहीं थी वरना ऐसी मूर्तियों को मंदिरों में क्यों स्थान मिलता। प्राचीन काल में भले ही समलैंगिक संबंधों को अच्छा नहीं माना गया किन्तु यह भी अवश्य है कि उसे समलैंगिकता के रूप में नहीं देखा गया। किन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि ऐसा कौन सा कारण रहा जिसकी वजह से आज धार्मिक संगठनों ने उसे अप्राकृतिक सिद्ध किया है?

#### 5.1.3.4 कानूनी संघर्ष और प्रावधान

समलैंगिकता पर अध्ययन करते हुए यह पाया गया कि अंग्रेजों के आगमन के फलस्वरूप समलैंगिक संबंध को भारतीय समाज में प्रकृति विरोधी अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया गया है इसलिए यह समुदाय अपनी पहचान को छुपाये रखने में खुद को ज्यादा सुरक्षित महसूस करता आया है। मध्यकाल में धर्मनिरपेक्ष समाज में ईसाई चर्चों

ने समलैंगिक संबंधों को अस्वीकृति प्रदान कर दी थी। इसी अवधारणा को देखते हुए यूरोप में धार्मिक संस्थानों में समलैंगिकता को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। औपनिवेशिक दौर में ब्रिटिश शासन ने 'ब्रिटिश एंटी सोडोमी लॉ' भारत पर लागू किया। जो IPC 377 के रूप में सामने आया। जिसके तहत समलैंगिकता को प्रकृति के विरुद्ध एक अपराध के रूप में घोषित किया गया तथा जिसके एवज में न्यायिक सज़ा तक निर्धारित की गई। साथ ही इसे एक मानसिक बीमारी के रूप में देखा जाता रहा। 20वीं शताब्दी में मनोवैज्ञानिक शोध के दौरान यह निष्कर्ष निकाला कि समलैंगिकता एक मानसिक बीमारी नहीं है। जिसके कारण 1974 में "American Psychiatric Association" ने समलैंगिकता को मानसिक विकार की श्रेणी से हटा दिया। किन्तु भारत में यह समुदाय इस तरह की समस्या से सालों तक जूझता रहा। 2001 में नाज़ फाउंडेशन ने धारा 377 को आपराधिक श्रेणी से हटा देने की मांग की थी। किन्तु 6 दिसंबर, 2018 को देश की सर्वोच्च अदालत ने धार-377 को आपराधिक श्रेणी से हटा दिया था। 2018 के बाद आपसी सहमति से दो समलैंगिक के मध्य बनाए गए संबंध को अपराध नहीं माना जाने लगा। क्योंकि यौन संबंध निजता के अधिकार से जुड़ा हुआ है। यौन संबंध के आधार पर भेदभाव करना व्यक्ति विशेष के अस्मिता को ठेस पहुंचाना होगा। भारत में धार्मिक संस्थानों में आज भी समलैंगिकता अपराध के रूप में देखा जाता है साथ ही वर्तमान में लोगों की सोच में इस संबंध में कोई बदलाव नहीं देखे जाते हैं। भले ही कानूनी अधिकार समलैंगिक युगल को मिल गए हो लेकिन समाज की दृष्टि आज भी उनके प्रति अच्छी नहीं है।

### 5.1.3.5 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

समलैंगिकता को एक मानसिक विकार के रूप में देखने की प्रवृत्ति साहित्य और समाजशास्त्र में रही है। हिन्दी साहित्य में समलैंगिक पुरुष पर लिखा गया निराला का 'कुल्ली भाट' सर्वप्रथम उपन्यास है। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 1939 में हुआ। उर्दू में इसके बाद इस्मत चुगताई के द्वारा लिखित कहानी 'लिहाफ' में उन्होंने समलैंगिक स्त्री के मुद्दे को उठाया। यह कहानी उस दौर में लिखी गई, जब समलैंगिकता एक अपराध था, किन्तु समाज में बहुत व्याप्त था। उस दौर में एक स्त्री का इस प्रकार कहानी लिखना साहसपूर्ण कदम रहा। इस कहानी के लिए उन पर मुकदमा तक चलाया गया। पांडे बेचैन शर्मा 'उग्र' के द्वारा लिखित 'चॉकलेट' में लौंडेबाज का जिक्र आता है। इस परंपरा को

आगे राजकमल चौधरी बढ़ाते हैं 'अग्निस्नान' उपन्यास में उन्होंने समलैंगिक नारी का चित्रण किया है। राजकमल चौधरी की रचना 'मछली मरी हुई' में भी समलैंगिक संबंध को देखा जा सकता है। इसमें राजकमल चौधरी ने इस संबंध को पश्चिम के प्रभाव के फलस्वरूप आया माना तथा इसका उपचार शारीरिक तौर पर 'करेक्टिव रेप थेरेपी' द्वारा दिखाया है। पंकज विष्ट का उपन्यास 'पंखों वाली नाव' में भी समलैंगिक पात्र हैं किन्तु इस उपन्यास में समलैंगिक पात्र के प्रति आत्मीयता का अभाव देखा जा सकता है। प्रदीप सौरभ के द्वारा लिखित उपन्यास 'तीसरी ताली' में समलैंगिक स्त्री और पुरुष दोनों पात्र ही आते हैं। 'गुरुकुल' उपन्यास मूलतः पुरुष समलैंगिकता पर आधारित है।

### 5.1.3.6 विवेच्य कृतियों की समीक्षा

अस्मिता के इस दौर में समलैंगिक पुरुष और स्त्री की अस्मिता और पहचान के सवाल भी प्रमुखता से साहित्य में उभरे हैं। 'तीसरी ताली' उपन्यास के पात्र सुविमल भाई समलैंगिक पुरुष थे। जिन्हें औरतों की गंध से नफरत थी। उन्होंने रति से विवाह तो कर लिया था पर रति पुरुष सुख से अपरिचित थी। बहुत कोशिशों के बाद भी सुविमल भाई उसकी ओर आकर्षित नहीं होते थे। रति पति का समाज सेवी गुण को देख कर चुप रहती है किन्तु एक दिन अनिल और सुविमल भाई को आपत्तिजनक स्थिति में देख कर हतप्रभ हो जाती है। सुविमल भाई अनिल को रति की जगह दे चुके थे। जिस प्रकार समलैंगिक पुरुष संबंधों में एक पुरुष-स्त्री की भूमिका में होता है तो दूसरा पुरुष की भूमिका में। ऐसे में अनिल स्त्री की भूमिका में रहता है जिसके पीछे कारण बाल पन से हो रहे शारीरिक शोषण थे। "अनिल बचपन से ही पुरुष के संसर्ग का आदी हो चुका था। उसे भी औरत की गंध गुदगुदाती नहीं थी। शुरुआत में उसे कुछ पता नहीं था। बचपन में वह लड़कों के साथ मम्मी-पापा का खेल खेलता था। इस खेल में वह मम्मी ही बनता था।"<sup>294</sup> रति सुविमल भाई से आहत हो कर उनसे पूछती है क्यों तुम मुझसे नफरत करते हो? तब उत्तर में सुविमल भाई का वह कथन समलैंगिक पुरुषों की अनुभूति और सच्चाई को प्रस्तुत करता है। "मुझे स्त्री-गंध और उसका संसर्ग पसंद नहीं है। मैं पुरुष-स्पर्श से अपने को पूर्ण बनाता हूँ।"<sup>295</sup> रति इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाती थी इसलिए पूछती है अगर

<sup>294</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -68

<sup>295</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -70

ऐसा था तो तुमने मुझसे विवाह क्यों किया ? किन्तु इसका उत्तर देने में सुविमल भाई असमर्थ रहते हैं । पहले भी मैंने यह स्पष्ट किया है कि समलैंगिक संबंध बहुत प्राचीन दौर से होते रहे हैं किन्तु विवाह का रूप दे कर उन्हें इसी तरह ढाँकने की कोशिश की जाती रही, जिससे पुरुष का पुरुषत्व ढंका रहे और स्त्री बाँझ जैसी गाली सहती रहे । समाज में ऐसे समलैंगिक पुरुषों और स्त्रियों की कमी नहीं है । उपन्यास के अंतिम अध्यायों में उपन्यासकार यह स्पष्ट करते हैं कि सुविमल भाई और अनिल विवाह के बंधन में बंधते हैं । किन्तु उनका यह संबंध चल नहीं पाता क्योंकि सुविमल भाई को अब अनिल में स्वाद नहीं आ रहा था । दोनों में लड़ाई-झगड़ा होने लगा था । विनीता के गे पार्लर में काम करने वाले वैभव पर सुविमल भाई का दिल आ गया था । अतः अनिल और सुविमल भाई के बीच दरार आ गई थी ।

“गे कम्युनिटी के कई लोगों ने कोशिशें की थीं कि दोनों का रिश्ता न टूटे । दिल्ली में उन दोनों की पहली शादी समलैंगिक शादी थी । उसके रिश्ते टूटने से समलैंगिक विरोधियों को कहने-सुनने का मसाला मिल जाना था ।”<sup>296</sup> उपन्यासकार इस उपन्यास में गे संबंधों को सूचनात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं । इसमें दो चीजें स्पष्ट होती हैं एक वह कि एक गे तो जन्म जात होते हैं जबकि दूसरे जो परिस्थितियों के कुचक्र में पड़ कर गे बन जाते हैं । दूसरा कारण समलैंगिक संबंधों की आयु बहुत ज्यादा नहीं होती है भले ही विवाह की मान्यता उन्हें मिल गई हो किन्तु उनमें विवाह की परिणति स्त्री-पुरुष संबंधों की तरह नहीं है । उपन्यास में एक अंश में प्रदीप जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि बिहार में लौंडे रखने की परंपरा भी रही जिन पर सवारी की जाती है । एक तरह से लौंडों को गे के रूप में देख सकते हैं ।

समलैंगिक पुरुष की भांति समलैंगिक स्त्रियों का भी हमारे समाज में अस्तित्व रहा है । ‘तीसरी ताली’ उपन्यास में यास्मीन और जुलेखा दोनों समलैंगिक स्त्री हैं । वे दोनों एक दूसरे की चचेरी बहनें थीं । “सुविमल भाई को जिस तरह औरत की गंध पसंद नहीं थी, ठीक वैसे ही यास्मीन और जुलेखा पुरुष-गंध से नफरत करती थीं ।”<sup>297</sup> जुलेखा पुरुषों से नफरत की वजह घर पर उसके पिता और भाई का रवैया था । पिता कौसर खान माँ को हर व्यक्ति जलील करते रहते थे । इससे उसे यह लगने लगा था कि पुरुष और हिंसा

<sup>296</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -171

<sup>297</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -121



दोनों पूरक हैं। पारिवारिक समस्या तथा पितृसत्तात्मक समाज की वजह से जुलेखा जहां समलैंगिक बनती है वहीं यास्मीन के अंतर्गत समलैंगिकता बचपन से ही होती है। किन्तु ममेरा भाई आलम का यास्मीन के साथ की बदसलूकी ने उसे पूर्ण रूप से पुरुष के विरुद्ध कर दिया था। समलैंगिक बनने के पीछे कारण यास्मीन के जरिए पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है -“पुरुष एक हिंसक पशु था, जो औरत के जिस्म को चबाना जानता था, सहलाना नहीं। जबकि जुलेखा के साथ उसका शरीर कोमल अहसास से जुड़ जाता था, दोनों एक दूसरे से लिपटते, खेलते और मस्त हो जाते थे।”<sup>298</sup> समलैंगिक स्त्री के संबंध में भी एक स्त्री पुरुष की भूमिका में होती है तो दूसरी स्त्री की भूमिका में। “दोनों पति-पत्नी की तरह रहते। यास्मीन शौहर की भूमिका में थी तो जुलेखा बीवी की। यास्मीन मर्दों जैसे कपड़े पहनती थी। .... जुलेखा को घरेलू औरतों की तरह साड़ी पसंद थी। ... दोनों खुश थीं। मर्दों की दुनिया से मुक्त। इसी बीच दिल्ली हाईकोर्ट के फैसले की खबर दोनों ने अखबार में पढ़ी, तो फैसला किया कि वे कानूनी शादी करेंगी और दुनिया के सामने खुल्लम-खुल्ला रहेंगी।”<sup>299</sup> इस उपन्यास में 377 पर न्यायालय में लिए गए निर्णय को भी सम्मिलित किया गया है इसके जरिए यह बताने की कोशिश की गई है कि इस फैसले से खुश हो कर कई समलैंगिक जोड़ों ने शादी की और अपना घर बसाया। समलैंगिक संबंधों पर अध्ययन करते हुए स्पष्ट हो पाया है कि एक ओर जहां प्राकृतिक कारणों से समलैंगिक लोगों की संख्या बढ़ी है वहीं दूसरा कारक पितृसत्तात्मक समाज का कहर भी रहा है। जिससे न तो पुरुष समलैंगिक अछूता हैं और न स्त्री समलैंगिक। इस उपन्यास में समलैंगिक संबंधों पर गंभीरता से बातचीत की कमी है यह लेखक की अपनी सीमा हो सकती है क्योंकि यह उपन्यास मूल रूप से तृतीय लिंग को आधार बना कर लिखा गया है। किन्तु इस उपन्यास की विशेषता यह है कि समलैंगिक पात्रों का निर्माण करके रचनाकार समलैंगिक समाज के गंभीर अध्ययन की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं।

1980 के बाद ओड़िया साहित्य की ओर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि ‘क्विर वर्ग’ में से ओड़िया में समलैंगिक स्त्री पर लेखन की शुरुआत हो चुकी है जबकि अन्य समुदाय पर उपन्यास लेखन की कमी है। हिन्दी साहित्य में भले ही क्विर संबंधी लेखन को देख कर इसे नव्य प्रवृत्तियों के अंतर्गत रखा गया है जबकि ओड़िया साहित्य में यह

<sup>298</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -126

<sup>299</sup> तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, पृ. सं. -130

प्रवृत्ति का रूप धारण नहीं कर पाई है । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस समुदाय से संबंधित लेखन की शुरुआत हो चुकी है । ओड़िया साहित्य में बढ़ते लेखन से यह भविष्य की नव्य-प्रवृत्ति बन सकती है ।

हमारे समाज में लैंगिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध ग्रहणीय है जबकि अन्य संबंधों को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है । किन्तु आज भी समाज इसे सम्मान जनक दृष्टि से नहीं देखता है । यह स्थिति भारत के विभिन्न क्षेत्रों में देखी जा सकती है जिससे ओड़िया भी अछूता नहीं है । सच्चाई यह है कि व्यवस्था में एकाएक परिवर्तन नहीं हो सकता है । लोगों के मध्य इस सम्बन्ध को स्वीकारने में समय लग सकता है । जरूरत है हमें एक मनुष्य के रूप में उनके दर्द को समझने की । कहने का आशय यह है कि भले ही इस सम्बन्ध को मान्यता अभी मिली है लेकिन समलैंगिक सम्बन्ध आज नया नहीं है । भले ही यह अवधारणा पश्चिम से विकसित है लेकिन इससे यह इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत में ऐसी स्थिति थी ही नहीं । लेकिन यह अवश्य है कि भारत के लोग लोकलाज के डर से इस बात को सार्वजनिक नहीं करते रहे हैं, संभवतः इन्हें भी किन्नर के रूप में देखा जाता रहा होगा । समय-समय पर इससे सम्बंधित साहित्य भी लिखा जाता रहा है । सरोजिनी साहू इसी कड़ी में जुड़ती हुई नज़र आती हैं । ‘असामाजिक’ उपन्यास समलैंगिक (लेस्बियन) स्त्री पर लिखा गया ओड़िया का प्रथम उपन्यास है । ‘असामाजिक’ उपन्यास दो लड़कियों के संबंधों पर आधारित है । जिनको समाज में लेसबियन कहा जाता है । इस उपन्यास में चिना और फूल दो पात्र हैं जो एक दूसरे से आकर्षित तो हैं लेकिन इसका कारण वे समझ नहीं पाती हैं । जैसा कि हम जानते हैं कि विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण होता है और उनमें संबंध बनते हैं किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि लेसबियन संबंधों में भले ही शारीरिक रूप से दोनों स्त्री रहते हों किन्तु उनमें से एक की भावना पुरुष जैसी होती है और दूसरे की स्त्री । इस उपन्यास में लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि चिना स्त्री होकर भी पुरुष गुणों से संश्लिष्ट थी । चिना पुरुष गुणों से युक्त होने के कारण उसकी शारीरिक संरचना भिन्न थी । “उच्च चौकी पर बैठ कर चिना बड़े आईने में खुद को निहारती है । कहीं एक रूखापन/ कठिनता है उसमें । फूल की तरह कोमल नहीं है वह । ... उसका कंधा चौड़ा है पुरुषों की तरह । ... चिना को यह यंत्रणा युक्त नारीत्व नहीं चाहिए था । .. हर माह उसे यह (माहवारी) की यंत्रणा सहना भी नहीं पड़ा था । कभी तीन महीने में, कभी छः महीने में, कभी साल में एक बार, उसके बाद यह दृश्य देखने को नहीं मिले

।<sup>300</sup> माहवारी की स्थिति सभी लेसबियन में नहीं पाई जाती पर लेखिका का यह वर्णन चिना के चरित्र को उभारने का रहा है। इसके विपरीत फूल स्त्री गुणों से परिपूर्ण रही उसका विवाह भी हुआ और दो बार उसका गर्भपात भी हुआ। झारू से विवाह होने के उपरांत भी चिना फूल से बार-बार मिलती तथा सामान भेंट करती है किन्तु झारू का पुरुषत्व और अहं इसको नापसंद करता है। फूल कभी झारू से अपनी हृदय की बात नहीं कर पाई जबकि यह बात चिना को बताने में उसे कोई संकोच नहीं होता था। इसका कारण यह भी था कि झारू के लिए फूल से ज्यादा उसका शरीर मायने रखता था। उसमें पुरुषत्व हावी था जिसके कारण फूल कभी उससे जुड़ ही नहीं पाई। बचपन से ही दोनों एक दूसरे से बेहद प्रेम करती थीं दोनों एक दूसरे से कभी अलग नहीं होना चाहती थीं। यही कारण था कि फूल विवाह के उपरांत ससुराल से भाग कर चिना के पास रहने आ जाती है। उसके भागने के पीछे कारण जो भी रहा हो किन्तु फूल को इतना विश्वास था कि चिना से ज्यादा उसको कोई प्रेम नहीं करता। “इसीलिए तुम्हारे पास दौड़ कर आई। मैं जानती हूँ चिना, तुम्हारे सिवा कोई मुझे इतना प्यार नहीं करता।”<sup>301</sup> इन दोनों के प्रेम संबंधों को लेकर समाज में खूब निंदा की जाती है। इससे तंग आकर दोनों विवाह के बंधन में बंधने का निर्णय लेती हैं। फूल कहती है “भगवान ने तुझे पुरुष नहीं बनाया लेकिन, फिर भी तू मेरे लिए किसी पुरुष से बहुत बढ़ कर है। चल हम विवाह कर लेते हैं। तब कोई तुझे मुझसे छुड़ा कर नहीं ले जा सकता।”<sup>302</sup>

कुछ समय बाद दोनों को यह एहसास हो ही जाता है कि भले ही इस तरह के संबंधों को पश्चिम में मान्यता मिली हो लेकिन भारत में यह संबंध स्वीकार योग्य नहीं है। चिना और फूल का संवाद “मैं तुझसे विवाह करूंगी (चिना कहती है)। नहीं ऐसा मत बोल चिना (डरकर कहती है फूल)। मैं तुझे एक संबंध में बाँधना चाहती हूँ (चिना कहती है)। संसार में ऐसा नहीं होता चिना। किसने कहा विदेश में होता है। समलैंगिक विवाह बंधन में बंधते हैं? लेकिन हमारे गाँव में? लोग हमें मार डालेंगे।”<sup>303</sup> वे दोनों समाज की नजरों में संसार का नियम तोड़ रहे थे। लेखिका ने यहाँ स्पष्ट किया कि उनके संबंध

<sup>300</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-76

<sup>301</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-80

<sup>302</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-107

<sup>303</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-118

शारीरिक भले ही न हो किन्तु मानसिक अवश्य थे | इस उपन्यास में लेखिका स्वतंत्र जीवन जीने की इच्छा प्रकट करती हैं, जहां लोग सभी को स्वतंत्र हो कर जीने दें | साथ ही परिवार तथा समाज को स्वतंत्र जीवन जीने के लिए बाधक तत्व सिद्ध करती हैं | “यह विवाह जैसे बंधन में क्या रखा हैं ? झारू से फूल का भी तो विवाह हुआ था कहाँ रहना चाहती थी वह मन मिलना जरूरी है | विवाह तुच्छ लोग-दिखावन की चीज है | फूल तो सदैव उसकी ही है ? विवाह न होने के पश्चात भी जीवन भर वह उसकी हो कर ही रहेगी | लेकिन, वह फूल को बाँध कर नहीं रखेगी | वह अगर चाहेगी तो वह झारू के घर जा सकती है | लेकिन वह जानती है, फूल का मन उसके पास ही बंधा पड़ा है | वह चाहे जहां चली क्यों न जाए, फूल उसकी ही है |”<sup>304</sup> अन्ततः दोनों गाँव से भागना चाहती हैं जहां वे स्वतंत्र हो कर जी सके लेकिन क्या वे जहां जाना चाहती हैं, वहाँ के लोग उन्हें जीने देंगे | लेखिका इसे बहुत प्रतीकात्मक ढंग से स्पष्ट करती हैं “ तोता फिर एक बार बुलाता है चिना... चिना | फूल मुड़ कर देखती है | अभी भी तोता उनकी छत पर बैठा हुआ है | आश्चर्यचकित हो गई थी फूल, तोता अभी मुक्त है यद्यपि वह चिना का घर छोड़ कर नहीं जा पा रहा है ? कहा था (फूल ने) ‘जाना क्या इतना आसान है चिना?’<sup>305</sup>

लेखिका यहाँ यह स्पष्ट करती हैं कि लेस्बियनजीम के पीछे केवल कारक दैहिक नहीं बल्कि भावनात्मक है | साथ ही पुरुष सत्तात्मक समाज की पुरुष-दृष्टि भी इसके लिए जिम्मेदार है जो स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता | लेखिका का दृष्टिकोण केवल मानसिक भावनाओं को इस उपन्यास में प्रस्तुत करने का रहा है क्योंकि लेसबियन को समाज केवल लैंगिक और भोगवादी दृष्टिकोण से देखता आया है | साथ ही यह भी स्पष्ट करती हैं कि पुरुषत्व से स्त्री सदैव प्रभावित नहीं है बल्कि उसका अस्तित्व और स्वतंत्रता भी मायने रखता है | फूल इसलिए भी चिना के साथ खुश है क्योंकि चिना के साथ वह अपने अस्तित्व का संकट नहीं देख पाती | पुरुषत्व का अहं और आधिपत्य या अधिकार की भावना यहाँ नहीं है | साथ ही सहजात भाव लेसबियनजिम के अंतर्गत है जिसमें आकर्षण का केंद्र एक स्त्री ही है | इस तरह स्त्री अस्मिता का सवाल प्राथमिकता से इस उपन्यास में उभरते हैं जिसको लेखिका ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है | साथ ही इस उपन्यास में लैंगिक सम्बन्ध को न दिखा कर लेखिका यह संकेत करती हैं कि यदि एक

<sup>304</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-134

<sup>305</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-140

स्त्री के प्रति अन्य एक स्त्री का आकर्षण है तो यह प्रकृति के विरोध में न होकर सहज उच्छ्वसन है । यदि एक स्त्री जीवन जीने के लिए एक स्त्री का सान्निध्य चाहती है, और उसके प्रति बढ़ रहे आकर्षण और प्रभाव को अन्य कोई पुरुष के पास नहीं देख पाती है तो यह मानसिक दुर्बलता का कारक नहीं है बल्कि स्वयं के मुताबिक जीवन जीने की इच्छा है । यदि प्रकृति ने ही उसे उस रूप में गढ़ा है तो उसकी इच्छा का सम्मान करना चाहिए न की उस पर लांछन लगा कर उसके अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाना चाहिए । “चिना सोचती है वह तो पुरुष नहीं है फिर भी उसके अन्दर फूल के लिए उसमें विचित्र आकर्षण क्यों है ? क्यों फूल के बिना जीवन व्यर्थ लगने लगता है । वह भी तो घर-संसार बसाकर करके किसी के साथ रह सकती थी । क्यों उसका मन नहीं गया किसी पुरुष के प्रति ?”<sup>306</sup> इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका यह भी सन्देश देना चाहती हैं कि कब तक हम आदर्श को लेकर जीते रहेंगे कभी न कभी तो हमें वास्तविकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ‘क्विर’ वर्ग समुदाय पर लेखन कार्य बिल्कुल नया है । हिन्दी में ‘क्विर’ वर्ग समुदाय में से तीन वर्ग ज्यादा सक्रिय है जिन पर लेखन जोरों-शोरों से हो रहा है । इसलिए ये तीन समुदाय का जीवन संघर्ष उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में उभरा है । वहीं ओड़िया साहित्य में एक उपन्यास समलैंगिक स्त्री पर प्राप्त हो पाया है । अगर समलैंगिक स्त्री संबंधी प्रवृत्ति को आधार बना कर तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा तो यह स्पष्ट होगा कि ओड़िया साहित्य में यह लेखन अब सतही स्तर पर है जबकि इस पर गंभीर लेखन तथा आलोचना की आवश्यकता है जबकि हिन्दी साहित्य इस मायने में ओड़िया साहित्य से ज्यादा व्यापक है । इसका एक कारण यह भी रहा कि ओड़िशा एक राज्य विशेष तक सीमित है जबकि हिन्दी भारत के बहुत राज्यों में बोली और समझी जाती है साथ ही हिंदी का वैश्विकप्रभावी भाषिक समाज भी है। जिससे हिन्दी साहित्य में व्यापकता आई है । ट्रांसजेन्डर की अगर बात करें तो यह स्पष्ट होगा कि ओड़िशा ऐसा पहला राज्य है जिसमें एक पुरुष ने एक किन्नर से विवाह किया था । साथ ही पेंशन की योजना में ओड़िशा सरकार ने ट्रांसजेन्डर को भी सम्मिलित किया है । इससे कहने का आशय यह कतई नहीं है कि किन्नर के प्रति लोगों की दृष्टि ओड़िशा में अच्छी

<sup>306</sup> असामाजिक, सरोजिनी साहु, पृ.सं.-135

हैं किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है उनकी स्थिति कई मामलों में अच्छी है । किन्तु विडंबना यह है कि इन पर ओड़िया में स्वतंत्र उपन्यास लेखन की शुरुआत नहीं हुई है ।

## 5.2 बाल-जीवन

बाल-उपन्यास की शुरुआत कब और कैसे हुई यह जानने से पूर्व हिन्दी में बाल-साहित्य पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है । बाल-साहित्य की पृष्ठभूमि निर्माण करने का कार्य लोक-साहित्य में रचित बालक संबंधी मौखिक साहित्य, संस्कृत के 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' तथा पालि भाषा में रचित 'जातक कथाएं' आदि ने किया । 'आलोचक दिविक रमेश भी बाल साहित्य की परंपरा को संस्कृत, पालि और प्राकृत से जोड़ते हुए 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'कथासरित्सागर', 'जातक' आदि को उसके उत्स के रूप में स्वीकार करते हैं ।' प्रारम्भिक दौर में बाल-साहित्य से तात्पर्य बालक पर लिखे गए साहित्य से था । किन्तु समय के गतिशीलता में बाल साहित्य में बहुत कुछ परिवर्तन हुए हैं । यह बात और है कि कुछ लोग आज भी उसी परिभाषा को स्वीकार करते हैं । परिवर्तन की इस प्रक्रिया में बाल साहित्य के मानदंड भी बदले हैं । बाल साहित्यकार दिविक रमेश लिखते हैं -“बालसाहित्य के नाम पर एक अर्से तक 'बालक के लिए साहित्य' लिखा जाता रहा है (यूं आज भी ऐसा होते देखा जा सकता है ) जबकि' आज 'बालक का साहित्य' लिखा जा रहा है । पिछले वर्षों में यह समझ बहुत शिद्दत से आई है कि बालक के लिए नहीं बल्कि बालक का साहित्य लिखा जाना चाहिए । इसका अर्थ है कि बालसाहित्यकार को बालक बन कर साहित्य रचना होगा । जब हम बालक के लिए लिखने का प्रयत्न करते हैं तो वह बालक पर प्रायः लादे जाने वाले बालसाहित्य का अभ्यास होता है । संक्षेप में कहूं तो आज का बालसाहित्यकार कमोबेश बालक का दोस्त बनकर उसके सुख-दुख का, उसकी उत्सुकताओं और कठिनाइयों का यानी उसके सब कुछ का साझीदार होता है ।”<sup>307</sup>

बाल-साहित्य की परंपरा को हिन्दी साहित्य में जब टटोलने का प्रयास किया गया तब पाया गया कि यह परंपरा हिन्दी साहित्य में आदिकाल से देखी जा सकती है । आदिकाल में अमीर खुसरो के द्वारा लिखे दोहे और पहेलियाँ बाल मनोरंजन के रूप में सामने आये । जगनिक द्वारा लिखित आल्हा खंड को भी आलोचकों ने बाल साहित्य के अंतर्गत रखा

---

<sup>307</sup> उत्तर सदी के साहित्यिक विमर्श, पृ.सं.-175

है, आगे चल कर यह परंपरा सूरदास की 'बाललीला' तथा राजस्थानी कवि जटमल (1623) की रचना 'गोरा बादल' आदि के रूप में देखी जा सकती है। किन्तु आलोचकों ने बालकों को लेकर लिखी गई पहली पुस्तक 'गोरा बादल' को ही स्वीकार किया है। किन्तु कुछ आलोचकों ने हिन्दी के बालसाहित्य का वास्तविक प्रारम्भ आधुनिक काल के भारतेन्दु युग से माना है, जिसमें प्रमुख आलोचक डॉ. हरिकृष्ण देवसरे हैं। उन्होंने लिखा है कि "भारतेन्दु युग में, सन् 1874 में 'बालाबोधनी' पत्रिका का प्रकाशन एक ऐसी ऐतिहासिक घटना है, जो यह प्रमाणित करती है कि बाल-वर्ग के लिए भी पृथक साहित्य (स्कूली किताबों के अलावा ज्ञान देने वाला) लिखा जाना आवश्यक समझा था।"<sup>308</sup> किन्तु डॉ. कामना सिंह के अनुसार "बालाबोधनी पत्रिका महिलाओं की पत्रिका थी। भारतेन्दु युग की एक अन्य पत्रिका 'बाल-दर्पण' पत्रिका बच्चों की पहली पत्रिका थी।"<sup>309</sup> इसी दौर के राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने बच्चों के लिए ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों के अलावा मनोरंजन प्रधान पुस्तकों की भी रचना की। उनके द्वारा लिखित 'राजा भोज का सपना' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। साथ ही इस दौर में आधुनिक शास्त्रीय और उपदेशात्मक-शैली का भी प्रयोग हुआ।

बाल-साहित्य का विकास सही मायने में स्वतंत्रता के पूर्व ईसाई मिशनरियों के आगमन के फल स्वरूप आया। क्योंकि उनके आगमन के उपरांत पुस्तकों की रचना बहु मात्रा में हुई जिसमें बाल साहित्य संबंधी रचनाएं भी उपलब्ध थीं। आलोचक दिविक रमेश स्पष्ट करते हैं - "1947 के बाद बाल साहित्य की अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। प्रमुख भाषाओं के मामले में, बालसाहित्य की शुरुआत के कारणों में से एक शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की तैयारी की जरूरत थी। ईसाई मिशनरी स्कूल स्थापित किए गए और उन के कारण नए प्रकार की शिक्षा प्रणाली ने नई शैली की कहानियां लिखने के लिए प्रेरित किया।"<sup>310</sup> इससे यह स्पष्ट है कि भारत में आए मिशनरियों ने बाल साहित्य को नई जमीन देने का कार्य किया। इसका प्रभाव भारतेन्दु युग पर भी पड़ा इसलिए 'बाल दर्पण' और 'बालाबोधनी' पत्रिका का भी प्रकाशन हुआ।

इन पत्रिकाओं में नैतिक मूल्यों को ध्यान में रख कर उपदेशात्मक बाल साहित्य के साथ-साथ पौराणिक कथाओं से भी परिचित करवाने का कार्य किया गया। साथ ही यह दौर

<sup>308</sup> हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ.सं.-14

<sup>309</sup> हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ.सं.-14

<sup>310</sup> उत्तर सदी के साहित्यिक विमर्श, पृ.सं.-174

बाल-विधवा तथा बाल-विवाह जैसी समस्याओं से भी गुजर रहा था इसलिए भारतेन्दु मण्डल के कवियों ने इन समस्याओं पर काफी कविताएं लिखीं। भारतेन्दु के द्वारा लिखित 'अंधेर नगरी' नाटक जितना बड़ों के उपयोगी रहा उतना बच्चों के लिए भी। अतः यह दौर बाल साहित्य को नवीन रूप देते हुए चला।

द्विवेदी युग में बाल-साहित्य संबंधी साहित्य की अधिकता रही। इस दौर में बाल साहित्य के अंतर्गत बाल-मनोरंजन, ज्ञान-वर्धन, पौराणिक-कथा, भारतीय-संस्कृति आदि को ध्यान में रख कर बाल-साहित्य लिखने का प्रयास हुआ। इसी शृंखला में महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त आदि का नाम महत्वपूर्ण है। द्विवेदी युग के बाद छायावाद युग में राष्ट्रीय जागरण संबंधी बाल साहित्य लेखन की शुरुआत हुई। जिसमें माखनलाल चतुर्वेदी, आरसी प्रसाद सिंह आदि का नाम महत्वपूर्ण है। यह परंपरा प्रेमचंद, निराला, जयशंकर प्रसाद, दिनकर, महादेवी वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रसाद चतुर्वेदी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, अलका सरावगी आदि तक प्रसारित होती रही। स्वाधीनता के बाद साहित्य में बाल साहित्य का फलक और विस्तृत होता गया। डॉ. कामना सिंह के अनुसार इस दौर में नई-नई विचारधाराओं के जन्म के फलस्वरूप बाल साहित्य में भी परिवर्तन आए। "अब माना जाने लगा कि बच्चा अपना अलग अस्तित्व रखता है और उसके लिए अलग किस्म के साहित्य की जरूरत है..स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह माना जाने लगा कि आज के बच्चों को ही कल के भारत का भार संभालना है, अतः उन्हें इस दायित्व को वहन करने के योग्य बनाने के लिए श्रेष्ठ बाल साहित्य उपलब्ध कराने की आवश्यकता समझी गई।"<sup>311</sup>

स्वतंत्रता के बाद बालकों के लिए साहित्य की मांग बढ़ी। इसलिए सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं में बाल-साहित्य संबंधी प्रायः सभी विधाओं में लेखन किया गया। स्वाधीनता के बाद बाल साहित्य में राष्ट्रीय चेतना से संबंधित साहित्य भी लिखा गया। स्वतंत्रता से संबंधित कहानियाँ भी प्रकाशित हुईं। स्वाधीनता के बाद 60-80 के दशक तक बाल कविताओं में क्रांति आ गई। इसी क्रांति को देख कर प्रतिष्ठित बालसाहित्यकार और 'नंदन' के संपादक स्व० जयप्रकाश भारती ने इस दौर को बाल-साहित्य का 'स्वर्णिम युग' के रूप में परिभाषित किया।

---

<sup>311</sup>हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ.सं.-17



80 के बाद समकालीन दौर में दो तरह की धाराएं एक साथ प्रवाहित हुईं। एक धारा बाल मनोरंजन परक साहित्य को लेकर चली तो दूसरी बाल मनोविज्ञान और बाल समस्याओं को लेकर उभरी। किन्तु मनोरंजन परक साहित्य में अब कपोल कल्पना की अधिकता नहीं रही बल्कि उसके स्थान पर वास्तविकता और कल्पना का समन्वय देखने को मिला। आज बालकों के मन में वैज्ञानिकता के प्रति आग्रह जगाने की कोशिश बाल साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य है। दिविक रमेश के अनुसार “सच तो यह है कि भारत की प्रमुख भाषाओं मसलन असमी, बंगाली, मराठी, तमिल, कन्नड़, हिन्दी, मलयालम, उड़िया आदि के आधुनिक बाल साहित्य के इतिहास पर नजर डालें तो हम पाएंगे कि (अपने वास्तविक अर्थों में) इसका प्रारम्भ 19 वीं सदी के अंत और 20 वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ था।”<sup>312</sup>

इस प्रकार देखा जा सकता है कि बाल साहित्य की एक समृद्ध परंपरा रही है। किन्तु आलोचकों की दृष्टि प्रायः इस ओर नहीं गई थी। किन्तु विमर्शों के इस सदी में बाल साहित्य में भी विमर्श की अनुगूँज सुनाई देने लगी है। अब बाल साहित्य केवल मनोरंजन का या उपदेशप्रधान साहित्य नहीं रहा। इसमें समसामयिक बालकों से संबंधित मुद्दे भी उभरे हैं। वर्तमान समय में बाल विमर्श संबंधी लेखन की भी शुरुआत हो चुकी है। आज बाल विमर्श के समक्ष कई चुनौतियाँ हैं जिसमें सबसे बड़ी चुनौती बाल साहित्य की अवधारणा को लेकर है। बाल साहित्य के मानदंड क्या होने चाहिए? उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए? मनोरंजन परक साहित्य को बाल साहित्य के अंतर्गत लेना चाहिए या नहीं? मनोरंजन परक साहित्य को अगर बाल साहित्य मान भी लें तो यह स्पष्ट है कि बाल साहित्य की बहुत समृद्ध परंपरा हिन्दी साहित्य में रही है, ऐसे में उसे क्यों साहित्य का हिस्सा न मान कर ओझल किया जाता रहा है? वर्तमान के समय में क्या उसकी प्रासंगिकता नहीं है? अगर प्रासंगिकता है तो क्यों आज भी बाल साहित्य को दरकिनार करने की कोशिश जारी है।

वर्तमान में बढ़ते बाल यौन शोषण तथा श्रम शोषण विमर्श का मुद्दा बन कर उभर रहा है। वैश्वीकरण के इस दौर में इंटरनेट और मोबाईल के प्रति बाल वर्ग ज्यादा आकर्षित दिखाई देता है ऐसे में रंगीन दुनिया में साहित्य के खो जाने का डर भी विद्यमान है।

<sup>312</sup> उत्तर सदी के साहित्यिक विमर्श, पृ.सं.-174

आधुनिक तकनीक के साथ जोड़ कर बाल साहित्य का विकास संभव है ऐसे में रचनाकारों और आलोचकों को इसी दृष्टि से देखने की आवश्यकता है । ऐसे कई सवालों को केंद्र में रख कर बाल विमर्श चल रहा है । जिस पर नए सिरे से सोचने की आवश्यकता है । बाल-विमर्श अभी बिल्कुल नया है इसलिए इसमें अधिक गहन शोध और अन्वेषण की अपेक्षा है।

### 5.2.1 बाल-साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

बाल उपन्यासों पर बात करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि उसका स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिए ? बाल उपन्यास किशोरों को ध्यान में रख कर लिखा गया है क्योंकि उपन्यास जैसी विधा को पढ़ने के लिए धैर्य की आवश्यकता होती है । इस दृष्टि से बच्चे मूलतः कविताएं और कहानियों को ज्यादा पसंद करते हैं । उपन्यास को पढ़ने के लिए किशोर वर्ग तैयार है । अन्य उपन्यासों की भांति बाल उपन्यासों की संरचना थोड़ी भिन्न हो जाती है इसमें यह ध्यान रखा जाता है कि उपन्यास ज्यादा बड़ा न हो तथा मनोरंजनपरक हो । इन उपन्यासों में यह ध्यान रखा जाता है कि अध्याय इतने छोटे हों जिसे कुछ ही समय में खत्म किया जा सके । अधिक समय लगने पर बच्चा ऊबने लगता है । साथ ही उपन्यास में पठनीयता की क्षमता होना भी आवश्यक है जो बालकों को बांधे रखे । इसी वजह से उपन्यास में बाल मनोरंजनपरक अधिक उपन्यास लिखे गए । किन्तु समय की जरूरत को ध्यान में रख कर उनमें भी बदलाव हुए और बालकों के मनोरंजन के लिए सिर्फ साहित्य लिखना लेखकों को ध्येय नहीं रहा । मनोरंजन के साथ उनके समुचित विकास की भावना उसमें जुड़ गई यही कारण रहा जिसके कारण उपदेशात्मक, नैतिक और वैज्ञानिक आदि उपन्यासों की भी रचना की गई । किन्तु उत्तराधुनिक दौर ने उपन्यासों को केवल बालकों के लिए नहीं रखा बल्कि यह कोशिश की कि बड़े किस प्रकार बच्चों की मानसिक स्थिति को समझें । बालकों को समझने के लिए बाल मन की आवश्यकता की कमी को इस तरह के उपन्यासों ने पूरा किया । किन्तु विमर्शों के इस दौर में बाल-विमर्श में समकालीन समय में बढ़ रहे बाल शोषण जैसे मुद्दों को केंद्र में रखा है । अब बाल साहित्य केवल बालकों के लिए सीमित नहीं रहा बल्कि बालकों के प्रति हो रहे शोषण से लोगों को जागृत करने का कार्य भी कर रहा है । इस शोषण से बाल मन पर पड़ रहे प्रभाव को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया । एक तरह से बाल-विमर्श संबंधित उपन्यासों में बच्चों को लेकर समाज में पनपी विकृत मानसिकता को बदलने की मांग रही है ।

बाल साहित्य का विकास भले ही प्राचीन काल से हुआ हो किन्तु बाल उपन्यासों का विकास आधुनिक युग की देन है। डॉ. कामना सिंह लिखती हैं कि 1960-1980 के बीच ही बाल उपन्यासों की शुरुआत हुई। स्वाधीनता के बाद “बाल उपन्यास विधा का भी आरंभ हुआ, पर ये उपन्यास मौलिक कम, अनूदित अधिक संख्या में छपे।”<sup>313</sup> 1960-80 के बीच “बाल उपन्यासों के लेखन की ओर ध्यान दिया गया। हिन्दी में पहली बार रोचक और ज्ञानवर्धक बाल उपन्यास सामने आए।”<sup>314</sup> हिन्दी के बाल उपन्यासों की ओर अगर दृष्टि दी जाए तो यह स्पष्ट है कि जहां बाल साहित्य कविता और कहानी को लेकर समृद्ध है वहीं बाल उपन्यासों की स्थिति सोचनीय है। हिन्दी में बाल उपन्यासों की भारी कमी है यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। हिन्दी उपन्यास की शुरुआत के विषय में दिविक रमेश कहते हैं - “‘कुत्ते की कहानी’, जिसे हिन्दी का पहला बाल उपन्यास कहा जा सकता है और ‘जंगल की कहानियां’ शीर्षक से बाल कहानियों की रचना की है जिनमें जानवरों की प्रमुख भूमिका देखी जा सकती है।”<sup>315</sup> ‘कुत्ते की कहानी’ उपन्यास प्रेमचंद द्वारा लिखित है जिसे पहला उपन्यास माना गया। डॉ. हरिकृष्ण देवसरे इस संबंध में लिखते हैं - “वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक हिन्दी में बाल उपन्यास लिखने की ओर लेखकों का ध्यान नहीं गया। सन् 1952 में ‘बालसखा’ में एक अत्यंत रोचक बाल उपन्यास ‘खड़खड़देव’ प्रकाशित हुआ था।”<sup>316</sup> बाल साहित्यकार और आलोचक प्रकाश मनु, भूप नारायण दीक्षित को हिन्दी के प्रथम बाल उपन्यासकार के रूप में मानते हैं। उनके द्वारा लिखित बाल उपन्यास हैं - ‘खड़-खड़ देव’, ‘बाल राज्य’, ‘नानी के घर टंटू’, ‘साहसी कौवा’ आदि। डॉ. कामना सिंह लिखती हैं कि ‘खड़-खड़ देव’ से पूर्व भी कई उपन्यास लिखे गए जैसे - ‘हीरो का द्वीप’ (1944-45), ‘बालक और परियाँ’ (1946), ‘शैतानों के पंजे में’ (1946), ‘टिल्लू-बिल्लू’ (1948) आदि। बहरहाल स्वाधीनता के बाद बाल उपन्यासों में ‘दीनू का बेटा’, ‘नेहरू चाचा का भतीजा’, ‘हम सबका घर’, ‘वीर विक्रमादित्य’, ‘शाबाश शीलू’, ‘दुश्मनी से दोस्त तक’, ‘हम होंगे कामयाब’, ‘देश द्रोही’, ‘रहस्यमयी कलम’, ‘लावण्य एक्सप्रेस’, ‘फूलों की घाटी’ आदि उपन्यास विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं जैसे ‘पराग’, ‘बाल भारती’, ‘सुमन सौरभ’,

<sup>313</sup> हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ.सं.-18

<sup>314</sup> हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ.सं.-19

<sup>315</sup> उत्तर सदी के साहित्यिक विमर्श, पृ. सं.-177

<sup>316</sup> हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ. सं.-216

‘बालवाटिका’ आदि में छपे । नागार्जुन का ‘बलचनमा’ उपन्यास भी बाल साहित्य से जुड़ा हुआ नजर आता है । नरेंद्र कोहली का ‘हम सबका घर’ उपन्यास में प्रदूषण और पर्यावरण की समस्याओं पर आधारित रहा । साबिर हुसैन का ‘नूपुर नक्षेत्र’ विज्ञानपरक बाल उपन्यास है । कहने का तात्पर्य विभिन्न विषयों को लेकर बाल साहित्य लेखन की परंपरा स्वाधीनता के बाद देखी जा सकती है ।

स्वातंत्र्योत्तर बाल उपन्यासों में पौराणिक कथाओं, देशभक्ति पूर्ण, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, हास्यात्मक और सामाजिक उपन्यासों की अधिकता रही । अमृतलाल नागर के द्वारा लिखित बहुत बाल साहित्य उपलब्ध हैं किन्तु ‘बजरंगी पहलवान’ उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हुआ । यह उपन्यास नेपाली भाषा में भी अनूदित हुआ । इसके इतर ‘बजरंगी नौरंगी’, ‘बजरंगी स्मगलरों के फंदे’, ‘अकल बड़ी या भैंस’ आदि बाल उपन्यासों की भी रचना की है । मन्नू भण्डारी का ‘आपका बँटी’ उपन्यास बालकों की मानसिक स्थिति को आधार बना कर लिखा गया है । “जय प्रकाश भारती का ‘नमक का कर्ज’ भारत-पाक युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा गया । उनके एक अन्य बाल उपन्यास ‘बर्फ की गुड़िया’ में दलितों-शोषितों के साथ होने वाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाई गई है। ... देवेन्द्र कुमार का ‘पेड़ नहीं कट रहे हैं’ में एक निर्धन व अनाथ बालक जानू की वीरता और साहस का चित्र है । शकुंतला सिरोठिया का ‘जंगली जानवरों के बीच अकेली लड़की’ एक वीर बालिका श्यामली की साहसिक कहानी है ।”<sup>317</sup> इस दौर में वैज्ञानिक उपन्यास की भरमार रही । हरिकृष्ण देवसरे वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वाले प्रमुख बाल उपन्यासकार हैं । उन्होंने ‘पाँवों से पंखों तक’ और ‘चन्दा मामा दूर के’ आदि उपन्यास की रचना की है । रत्न प्रकाश शील के द्वारा लिखित उपन्यास ‘नन्हें जासूस’ बाल उपन्यास की अनुपम उपलब्धि है, जो जासूसी परक उपन्यास है । पर्यावरण पर उषा यादव का ‘सोना की आँख’ उपन्यास प्रकाशित है । इस दौर में विमर्श को अनुगूँज को ध्यान में रख कर भी उपन्यास लेखन की शुरुआत हो चुकी है । उषा यादव का उसके ‘हिस्से की धूप’ जैसे उपन्यास बाल विमर्श से संबंधित हैं । समकालीन बाल उपन्यासकारों में डॉ. हरिकृष्ण देवसरे, उषा यादव, डॉ. रोहिताश्व, शंकर सुल्तानपुरी, मोनिका गुप्ता (वो तीन दिन), देवेन्द्र कुमार, क्षमा शर्मा, देवेन्द्र मेवाड़ी आदि बाल साहित्यकारों का नाम प्रमुख है ।

---

<sup>317</sup>हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं. उषा यादव, राजकिशोर सिंह, पृ.सं. -219

### ओड़िया बाल उपन्यास :-

ओड़िया साहित्य में बाल-साहित्य की भी एक विशाल परंपरा रही है। ओड़िया बाल साहित्य का मूल उत्स आलोचक मौखिक लोक साहित्य से स्वीकार करते हैं, जो अबाध गति से प्रचलित है। ओड़िया के आलोचकों का मानना है कि बाल साहित्य के प्रथम प्रणेता माँ हैं, जो गीतों और कथाओं के माध्यम से बालकों का मनोरंजन किया करती हैं। यह परंपरा भारत के सभी भाषाओं में देखी जा सकती है। ओड़िया साहित्य में भी यह परंपरा प्राचीन दौर से क्यों न प्रचलित हों किन्तु सही मायने में इसका विकास आधुनिक युग से ही माना जाता है। कुछ आलोचकों का यह मानना भी रहा है कि ओड़िया का बाल साहित्य अंग्रेजी के बाल साहित्य से प्रभावित है। 17वीं शताब्दी के बाद अंग्रेजी साहित्य में बाल साहित्य की सृष्टि हुई। तथा 19वीं शताब्दी में उसे स्वतंत्र स्थान मिला। यही कारण रहा कि ओड़िया साहित्य में बाल साहित्य का नवीन अध्याय प्रारंभ हुआ। 'ओड़िया शिशु साहित्य' संकलन नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा गया है कि मौखिक परंपरा के बाद ओड़िया साहित्य के प्रारम्भिक दौर में ऐसे साहित्य की रचना हुई है जिसे शिशु साहित्य के पहले चरण के रूप में देख सकते हैं। 'मार्कंडे दास के द्वारा लिखित 'केशव कोइली', जगन्नाथ दास का 'कालिय दलन', बलराम दास के द्वारा लिखित 'कमल लोचन चौतीसा' आदि इसके उदाहरण हैं। इसके बाद बलराम दास के द्वारा लिखित ऐसे अनेक गीत लिखे गए जो बच्चों से संबंधित थे। 18 वीं -19 वीं शताब्दी तक वही परंपरा 'कला माणिक', 'कला कलेवर चौतीसा', 'उठिलु ऐडे बेग काहीं' आदि रचनाओं में देखी गई।

ओड़िया आधुनिक साहित्य में बाल साहित्य के शुरुआती बीज मधुसूदन राव के साहित्य में ढूंढ सकते हैं। उनको बाल साहित्य के प्रणेता के रूप में स्वीकार किया जाता है क्योंकि उन्होंने बालकों के विकास के लिए पाठ्य पुस्तकों का निर्माण किया था। 1880 में रचित उनका 'प्रबंधमाला' बालकों के लिए लिखा गया। इसके अतिरिक्त 'शिशु-बोध', 'बाल-बोध', 'साहित्य-कुसुम', 'साहित्य प्रसंग' की भी रचना की जिसके जरिए साहित्य की विधाओं से बच्चों को परिचित करवाया गया। उन्होंने 1895 में शिशुओं को अक्षर ज्ञान से परिचित करवाने के लिए वर्ण-बोध की भी रचना की। केवल इतना ही नहीं उन्होंने बालकों के लिए 'रामायण' की भी रचना की जो बाल-रामायण नाम से 1901 में प्रकाशित हुआ। उन्होंने बाल उपयोगी कविता, प्रार्थना और गीतों की भी रचना की है। उनके साहित्य की विशेषता यह रही है कि उनके साहित्य में बालकों को शिक्षा के प्रति आग्रह,

नैतिक मूल्य और उपदेश प्रमुखता से उभरे । इसी परंपरा में फकीर मोहन सेनापति का नाम भी अविस्मरणीय है जिन्होंने 'पुष्पमाला' (1894) और 'अवसर वासरे' (1908) दो कविता संग्रह की रचना की । स्वाधीनता से पूर्व गोविंद राय का 'फूल चिन्गुड़ी' (1910), बलभद्र मिश्र का 'कुनी पुअ' (1916), गदाधर विद्याभूषण का 'सावित्री' (1920) आदि बाल साहित्य की रचना हुई ।

स्वाधीनता के बाद वीर किशोर, उदेनाथ सडांगी, विद्युत प्रभा, अनंत पट्टनायक, सच्चिदानंद राउतराय का नाम आता है । इस दौर में ऐसे साहित्य की भी रचना हुई जो पश्चिम की परंपरा को अपनाते हुए बाल मनोरंजन को प्रमुखता दे कर साहित्य लेखन का कार्य कर रहे थे । नन्द किशोर बल के द्वारा लिखित 'नानाबाया गीत' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है । बाल साहित्य में इस परिवर्तन को लाने का श्रेय नन्द किशोर बल को जाता है । बाल साहित्य की इस परंपरा में मधुसूदन दास और गोपबंधु दास का नाम भी अविस्मरणीय है । गोपबंधु दास ने बाल साहित्य में राष्ट्रीय भावना को महत्व दिया है । वहीं नीलकंठ ने 'बच्चों की रामायण', 'बच्चों का महाभारत', 'बच्चों का भागवत' आदि की रचना कर पुराण से बच्चों को परिचित करवाने का कार्य किया । प्रारम्भिक दौर से ही ओड़िया बाल साहित्य में कोरा मनोरंजनपरक ही साहित्य नहीं लिखा गया बल्कि बच्चों के शिक्षा के प्रति रुचि को बढ़ाने का कार्य किया । साथ ही यही परंपरा 1960 के बाद भी दिखाई देती है, ऐसे अनेक रचनाएं मिलती हैं, जो अक्षर शिक्षा तथा शिक्षा के बच्चों को आकृष्ट करने का कार्य करती हैं ।

समकालीन समय में ओड़िया बाल साहित्य में जो परिवर्तन हुए हैं, उसमें कल्पना की जगह वास्तविकता ने ले लिया है । वैश्वीकरण के इस दौर में प्राकृतिक उत्स के प्रति अनुराग विज्ञान की महत्ता, इतिहास की आवश्यकता, मूल्यबोध, जाति-व्यवस्था की क्रूरता तथा बालक के बचपन को जीवित रखने की पहल ओड़िया बाल साहित्य में देखने को मिलती हैं । हिन्दी में बाल-विमर्श जैसी अवधारणा अभी तक ओड़िया साहित्य में नहीं आई है, किन्तु बाल-साहित्य अन्यत्र बिखरा हुआ है । इसे सहेज कर विश्लेषण का कार्य अभी बाकी है । बाल-साहित्य में बाल-मजदूर तथा बाल-शोषण के मुद्दे भी उभरे हैं किन्तु उनकी संख्या नगण्य है । किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि यहाँ एक ओर मनोरंजनपरक साहित्य की परंपरा का भी अवसान नहीं हुआ है ।

ओड़िया साहित्य में हिन्दी की भांति उपन्यास की कमी रही है । ओड़िया बाल उपन्यासों की अगर बात की जाए तो उनकी संख्या अन्य विधागत लेखन से कम रही है । ओड़िया बाल उपन्यास मुख्य रूप से पत्र-पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होते रहे । स्वाधीनता से पूर्व ही ओड़िया में बाल उपन्यास लेखन की शुरुआत हो चुकी थी। “रेवा राय के द्वारा संपादित प्रथम शिशु/बाल पत्रिका ‘प्रभात’ में सुधीर कुमार का ‘आऊ मात’ नाम से एक शिशु-किशोर उपन्यास प्रकाशित हुआ था। पत्रिका के अनियमित प्रकाशित होने के कारण पहला शिशु-किशोर उपन्यास पूर्ण नहीं हो पाया ।”<sup>318</sup> इसके उपरांत शिशु साहित्य से संबंधित पत्रिका “पंचामृत में बाल कृष्ण कर के द्वारा ‘सपनपूरी’ बाल उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ ।”<sup>319</sup> ‘जन्हमामू’ पत्रिका में चक्रधर महापात्र के द्वारा ‘टूआँटूई’ बाल-उपन्यास की भी रचना हुई ।

स्वाधीनता के बाद भी बहुत सारे बाल उपन्यास लिखे गए जैसे फ़तूरानंद का ‘अजगबी शिकार’, ‘नालूर चंद्र यात्रा’; मनोजदास का ‘कनक उपत्यकार कहानी’; विभूति पट्टनायक का ‘नौका नगरी र नील परी’, ‘खरा वर्षा र खेल’; वीणा महापात्र का ‘अभिषिप्त तारुण्य’; राजेन्द्र वर्मा का ‘स्वर्ण पूरी र रत्न भंडार’ आदि ।

इस दौर में एक ओर जहां परीकथा, राक्षक, असुर संबंधित उपन्यास भरपूर मात्रा में लिखे गए, वहीं बालकों के ज्ञान को बढ़ाने के साहित्य जैसे वैज्ञानिक उपन्यास तथा पर्यावरण चिंतन संबंधी उपन्यास भी लिखे गए । स्वाधीनता के बाद उपन्यासों की यह विशेषता रही कि अधिकांश कथा को कल्पना और वास्तविकता के गठजोड़ के साथ प्रस्तुत किया गया । सामाजिक समस्याओं और वास्तविकताओं को केंद्र में रख कर लिखने वालों में गोदावरीश महापात्र, दुर्गा प्रसाद पट्टनायक, नदीया बिहारी महंती, वीरेंद्र सामंत राय, कृतिवास नायक, लक्ष्मीकान्त खूंटिया आदि । गोदावरीश महापात्र का उपन्यास ‘ठेकुआ भाई’ में किटू पात्र की सच्चाई उपस्थित है। दुर्गा प्रसाद पट्टनायक के द्वारा लिखित ‘तांक नुआ घर’, ‘भुई तले तले’, ‘कुआ ओ छुआ’, ‘नदी बही गला’ आदि उपन्यास बहुत चर्चित रहे हैं । इन उपन्यासों में लेखक परिवेश सुरक्षा तथा मानव उपकार के लिए इनकी आवश्यकता को प्रस्तुत करते हैं । कुछ बाल उपन्यास भ्रमणात्मक भी लिखे गए । विभूति पट्टनायक के द्वारा लिखित ‘नौका नगरी र नीलपरी’ उपन्यास कश्मीर भ्रमण पर लिखा गया है । वीरेंद्र

<sup>318</sup> आधुनिक ओड़िया शिशु साहित्य, सं-कैलाश चंद्र टीकायतराय, वीरेंद्र महंती, पृ. सं.- 165

<sup>319</sup> आधुनिक ओड़िया शिशु साहित्य, सं-कैलाश चंद्र टीकायतराय, वीरेंद्र महंती, पृ. सं.- 165

कुमार सामंत राय के द्वारा लिखित 'आइसक्रीम' उपन्यास आइसक्रीम वाले की त्रासदी पर लिखा गया है। उमा मिश्र के द्वारा लिखित 'कृष्ण सुदामा' (2012) में लिखित उपन्यास पौराणिक शिशु प्रधान उपन्यास है। वीणा महापात्र के द्वारा लिखित 'अभिषिप्त तारुण्य' (1997) में गरीबों की सहायता करने की शिक्षा दी गई है। नदीया बिहारी के द्वारा लिखित 'साधु र शगड़' (1985) उपन्यास सांप्रदायिक सद्भाव को लेकर लिखे गये हैं। वैज्ञानिक विषय को आधार बना कर लिखने वालों में रवींद्र नाथ माझी का 'प्रजापति र माया' (2007), मनोज कुमार महापात्र के द्वारा लिखित 'यांत्रिक मानव', बाबाजी चरण दास के द्वारा लिखित 'कलमी मनुष्य' (1985) आदि उपन्यास लिखा गया है। कहीं शिशु उपन्यासों में समाज संस्कार की बात आई है तो कहीं बच्चे की साहसिकता और वीरता को भी प्रस्तुत किया गया है। समकालीन समय में उपन्यासों में विभिन्न विषयों को लेकर साहित्य की रचना हो रही है। किन्तु बाल विमर्श जैसे मुद्दे विशेष रूप से ओड़िया उपन्यास के क्षेत्र में लोक लोचन में नहीं आ पाए हैं। संभवतः उनकी संख्या नगण्य है ऐसा इसलिए भी क्योंकि भले ही ओड़िया उपन्यास या साहित्य का फलक बहुत विस्तृत है किन्तु विमर्श जैसे मुद्दे अभी तक ओड़िया साहित्य में दृष्टि गोचर नहीं होते हैं।

### 5.2.2 विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा

बाल-विमर्श उत्तराधुनिक युग के विमर्शों में ऐसा एक विमर्श है जो बच्चों की शारीरिक और मानसिक प्रताड़नाओं पर ही प्रश्न नहीं लगाता बल्कि भूमंडलीकरण के दौर में बच्चों के छीजते बालपन को भी प्रस्तुत करता है, जिसे समाज प्रायः दरकिनार करता आया है। बाल-विमर्श ऐसे अनेक मुद्दों को लेकर उपस्थित है जो बालकों को देखने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है। साथ ही बाल-विमर्श यह भी स्पष्ट करता है कि बालक समाज का ऐसा हिस्सा है जो इस सदी में अकेलेपन की त्रासदी से गुजर रहा है। अकेलेपन के कारणों की पड़ताल बाल विमर्श की विशेषताओं में से एक है। बाल विमर्श को लेकर अनेक प्रकार का साहित्य लिखा गया है। बाल विमर्श को लेकर उपन्यास लेखन भी शुरुआत हो चुकी है। बाल-विमर्श की इसी परंपरा पर उषा यादव जी का उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' आता है।

'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास समाज में कन्या भ्रूण तथा कन्या जाति के प्रति कुत्सित मानसिकता को प्रस्तुत करने के साथ-साथ पुत्र जन्म की लालसा को भी प्रस्तुत



करता है । लेखिका सुनीता के जरिए यह प्रश्न खड़ा करती है कि -“लड़कियों के साथ क्या हर घर में इसी तरह मूक पशु जैसा सलूक किया जाता है ? जब जी चाहे पढ़ाई छोड़ा दो, जिस वक्त उचंग चढ़े, मनमाना फैसला लेकर उसके बचपन का खात्मा कर दो जिस खूँटे से बाँधना चाहो-गैर जिम्मेदाराना रवैया दिखाते हुए बाँध दो । इस स्वार्थ प्रेरित मर्दवादी सोच के चलते क्या बच्चियाँ हमेशा घर की चहारदीवारी के भीतर डरा-पड़ा सामान समझी जाएंगी, उसके मन, सपनों और आकांक्षाओं के बारे में पूछने की कभी जरूरत नहीं समझी जाएगी ?”<sup>320</sup> इस उपन्यास में एक ओर जहाँ कन्या का जीवन संघर्ष और शोषण दिखाया गया है वहीं दूसरी ओर इसका जिम्मेदार पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता और बाल मन को बड़ों के द्वारा न समझे जाने की पीड़ा को भी अभिव्यक्त किया गया है । साथ ही पुत्र और पुत्री के अधिकारों को लेकर प्रश्न चिह्न लगाया गया है । शिक्षा के क्षेत्र में बालिकाओं की कमी के कारणों को दर्शाते हुए लोगों की पूर्वाग्रह को भी लेखिका इस उपन्यास में प्रस्तुत करती हैं । साथ ही बाल मन की आशाएं, आकांक्षाएं, स्वतंत्रता को पंख देने की आवश्यकता को प्रस्तुत करने के साथ साथ वृंदा जैसी बालिकाओं के अकेलेपन की त्रासदी को भी इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है ।

इस उपन्यास की मुख्य पात्र 3 साल की वृंदा है जो स्वभाव से समझदार, हंसमुख और गुणी है । अबोध बालिका कन्या योनि में जन्म के कारण अभिशप्त है । दूसरी ओर कम उम्र होने के लिए अभिशप्त है । 3 वर्ष की अवस्था से ही वृंदा के शोषण की परंपरा प्रारंभ हो जाती है । सर्वप्रथम उसे यज्ञ में भूखे -प्यासे पूरा दिन बैठाया जाता है । विडंबना यह कि उसके यज्ञ में बैठने के दिन ही बारिश हो जाती है, यह सुखद संवाद ही उसको गर्त में ठेलने का कारक सिद्ध होता है । जिस बच्ची को यज्ञ या व्रत जैसी चीजों का अर्थ तक पता नहीं है वैसी बच्ची को सुबह से शाम तक धार्मिक पाखंड के नाम पर यज्ञ में एक ही मुद्रा में बैठाये रखना क्रूरता का ही सबूत है । उस दिन के यज्ञ के पश्चात भूख और प्यास से बिलखती वृंदा इतना भयभीत हो जाती है कि तप के नाम से ही सिहर जाती है । साथ ही उसे डरा भी दिया गया था कि तप के बीच उसने चूँ भी किया तो झोली वाले बाबा उसे जंगल में चिड़िया बनाकर पिंजरे में ले जाएगा । अबोध बालिका को यह तक ज्ञात नहीं हो पाता कि पिता के द्वारा गढ़ी गई यह एक मिथ्या कथा है । जिसे वह सच मान कर डरती

<sup>320</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ. सं.-128

और सहमी रहती है । तप के दहशत से ही वह पूरी तरह आतंकित हो उठती है । “यह तप का प्रसंग उसे नहीं सुहाता । पूरा साल बीत जाने के बाद भी उसे पूजा-पाठ का वह दिन याद है, जब भूखी-प्यासी हालत में सारा दिन दहकते अग्निकुंड के पास बैठाई गई थी । उफ़, वह तकलीफ और वह दर्द क्या भुलाया जा सकता है ?”<sup>321</sup>

धार्मिक कर्मकांडों का फायदा उठा कर वृंदा का दुष्ट और लालची पिता उसे देवी बनने पर मजबूर करता है । पिता की दृष्टि में पहले वृंदा घिनौनी और सड़ी हुआ करती थी किन्तु जब से वृंदा को लेकर देवी बना कर धन कमाने की लालसा उसके मन में जन्म लेती है तब से उसका वृंदा के प्रति रवैया बदलने लगता है । पिता कहता है “मेरी गोद में आ जा बिट्टो । तुझे मंदिर तक घुमाने ले जाऊंगा । जलेबी खिलाऊंगा ।”<sup>322</sup> उसे कई तरह का प्रलोभन देता रहता था । किन्तु वह देवी बनना नहीं चाहती थी उसके बाल मानस से तप का भय अभी तक गया नहीं था, ऐसे में देवी बनने के नाम से ही वह और ज्यादा भयभीत हो जाती है । बेटी का देवी बनने से इनकार करने पर उसके पिता उसके कोमल गाल पर एक जोरदार तमाचा जड़ते हैं । “यह क्रम तब तक चलता रहा, जब तक वृंदा ने ‘देवत्व’ के मुकुट को अपने सिर पर धारण न कर लिया । इस पाठ को सीखने में उसने कई बार थप्पड़ खाए, गालियां सुनीं और यह धमकी भी गले से नहीं उतारी, ‘अगली दफा सही नहीं बोली, तो गंडासे से चार टुकड़ों में काटकर, यहीं जंगल में फेंककर, घर चला जाऊंगा । चील-कौए तुझे खूब स्वाद ले-लेकर खाएंगे, तब बापू की बात न मानने का नतीजा पता चलेगा । छोटी बच्ची का भयाक्रांत हो जाना स्वाभाविक था। सहमकर कहती, ‘बापू’ मुझे गंडासे से मत काटना । मैं तुम्हारी हर बात मानूंगी ।”<sup>323</sup> मार-पीट का ही परिणाम था कि उसने देवी बनने के लिए हामी भरी थी । देवी बनने की हामी ही उसके लिए पीड़ादायक स्थिति पैदा कर देती है ।

हरीसिंह ने वृंदा के पैरों में बेड़ियाँ डालना प्रारंभ कर दिया था । बाहर निकलना और खेलना तक उसका बंद कर दिया था । पिता के पाबंदियों से छुटकारा पाने के लिए उसे पिता के स्कूल जाने का इंतजार करना पड़ता । कभी-कभी अपनी शिक्षा के लिए जिद भी करती । किन्तु जो पिता उसके स्वतंत्रता पर ही पाबंदी लगा रहे हों वह उसे शिक्षित करने के लिए

<sup>321</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ सं. -83

<sup>322</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ सं. -65

<sup>323</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ सं. -85

कहाँ तक समर्थ होते । पिता के द्वारा बनाए गए बंदिशों से वृंदा बहुत आहत होने लगती है । ऐसे में उसके बाल मन पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ने लगता है । खुशमिजाज बच्ची मायूस रहने लगती है उसे देख कर ऐसा लगता है मानो किसी बच्ची ने प्रौढ़ता ओढ़ लिया है । वृंदा बार-बार साहस का परिचय देते हुए देवी न बनने की हठ करती है । उसका विद्रोही मन यह स्वीकार नहीं करना चाह रहा था कि वह देवी है । किन्तु वृंदा के पिता उसके बचपन को बेरहमी से कुचलते चले जाते हैं । पितृसत्ता द्वारा प्रताड़ित वृंदा लात-घूंसे खाती हुई मूक बनने लगती है जो किसी चीज में प्रतिक्रिया नहीं देती । माँ वृंदा के समर्थन में हरीसिंह से बार-बार प्रश्न करती है । किन्तु इससे कुछ स्थिति में परिवर्तन नहीं होता । देवी बनने की क्रिया में उसे कई घंटे एक ही मुद्रा में बैठे रहने की शिक्षा दी जाती और खाने-पीने में आहार तक बदल दिए जाते हैं उसे उबला हुआ खाना ही मिला करता है । बच्ची की पूरी काया बदलने की कोशिश की जाती है । साढ़े चार साल में ही वृंदा प्रौढ़ होने लगती है । लेखिका प्रौढ़ता को स्पष्ट करती हुई लिखती हैं कि “मैं देवी हूँ, माँ । देवी कहीं गाँव में घर-घर जाकर झाँझी-गीत गाती है । हाथ फैलाकर पैसे मांगती है ? तुम्हें तो खुश होना चाहिए कि तुमने एक देवी को जन्म दिया है ।”<sup>324</sup>

नवरात्र के समय देवी के माँ के चरणों में बैठी वृंदा को, देवी बना कर पूरा गाँव घुमाया जाता है । भक्तों का समूह पूजा की थाली में भोग चढ़ाते किन्तु वृंदा भूखी-प्यासी उस भोग को देखती रहती कभी-कभी जी चाहता उसमें से कुछ उठा कर खा ले । साथ ही थकान के मारे उसे सोने का भी मन कर जाता । लेकिन निर्दयी बापू की छवि उसके सामने कौंध जाती है । जैसे ही मंदिर खाली होता है यह दुःख सालता रहता है कि आज प्रथम दिन से ही ऐसा हाल है तो आगे क्या होगा ? माँ से कहती है मुझे देवी नहीं बनना किन्तु फिर उसे पिता की दहशत याद हो आती है । कितनी बड़ी विडंबना है कि पाँच वर्ष की बच्ची की यह प्रताड़ना माँ समझती है पर पिता शोषक की भूमिका निभाता है । आगे चल कर वृंदा की भविष्यवाणी के डर से पिता उसे मौन व्रत रखने को आदेश देते हैं । मौन व्रत रखने की सज़ा वृंदा को जीवित लाश में तब्दील कर देता है । मंदिर में एक ही मुद्रा में बैठ-बैठ कर तथा सम्पूर्ण पोषण न मिलने पर वृंदा का शरीर टेढ़ा होने लगता है । ऐसे में क्रूर पिता दवाई दिलाने की जगह उसे मारने का षड्यन्त्र करता है । हरीसिंह भयभीत हो

<sup>324</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ सं. -119

कर यह सोचने लगता है कि यह सत्य सभी को ज्ञात न हो जाए कि वृंदा कोई देवी नहीं बल्कि आम लड़की है, इसलिए उसका पिता उसे जल-समाधि के लिए राजी करवाता है। जल-समाधि से अनभिज्ञ वृंदा पिता के भुलावे में आ जाती है। पिता और पुरुष समाज की स्त्री जाति पर की गई क्रूरता यहाँ स्पष्ट है। निर्दयी पिता को एक बार भी अपनी बेटी का ख्याल नहीं आता उसे बस वह धन कमाने वाली वस्तु के रूप में देखता है। पुरुष दृष्टि में स्त्री या स्त्री जाति की स्थिति एक वस्तु से इतर कुछ भी नहीं है। साथ ही धर्म के नाम पर लोगों में जो पागलपन सवार था उसमें किसी को यह आभास तक नहीं हुआ कि एक बच्ची की आहुति दी जा रही है।

अंततः माँ वृंदा के छीजते बचपन को लौटाने तथा क्रूर पिता के षड्यन्त्र से छुटकारा पाने के लिए पुलिस का सहारा लेकर वृंदा को जीवन दान देती है। वृंदा की माँ उसे उसका खुला आसमान और उसके हिस्से की धूप सौंपती है। लेखिका यह संदेश भी देती हैं कि धार्मिक आड़ लेकर अब तक बहुत सारी ऐसी रूढ़ियाँ बची हैं जिसको समाप्त करना आवश्यक है, जिससे आतंकित समाज का अन्य समुदाय भी है।

सत्यप्रिय महालिक के द्वारा लिखित 'कवर स्टोरी' उपन्यास बालिकाओं के शारीरिक शोषण की त्रासदी पर लिखा गया है। उपन्यासकार इस उपन्यास में सामाजिक स्थिति का स्खलन, पारिवारिक स्थिति, राजनीतिक-आकांक्षा, न्याय-व्यवस्था की असंगतता जैसे कारणों की पड़ताल करते हैं। यह उपन्यास भले ही बाल विमर्श को केंद्र में रख कर न लिखा गया हो किन्तु समकालीन समय में नाबालिक बच्चों के प्रति बढ़ते यौन शोषण को बड़ी दयनीयता के साथ प्रस्तुत करता है। 'कवर स्टोरी' उपन्यास में सत्यप्रिय महालिक दलित बालिका के शारीरिक शोषण को पत्रात्मक शैली में व्यक्त करते हैं। अखबारों में कवरस्टोरी के रूप में आए दिन नाबालिक बलात्कार की घटनाएं छपती रही हैं। यह घटनाएं समाज में बढ़ते पुरुष समुदाय में मानसिक विकृतियों को प्रस्तुत करता है। साथ ही समाज में बच्चों पर बढ़ते शारीरिक शोषण को भी दिखाता है। इस उपन्यास में बलात्कार जैसे जघन्य अपराध पर उचित कार्रवाई की कमी को भी दिखाया गया है।

इस उपन्यास की मुख्य पात्र 4 साल की चीनी है। 'कवर स्टोरी' उपन्यास में एक ओर जहां चीनी जैसी बच्चियों के शारीरिक शोषण को दिखाया गया है वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि बलात्कार जैसे जघन्य अपराध को प्रश्रय देने में भ्रष्टाचारित राजनीति का भी महत्वपूर्ण योगदान है। बाल-विमर्श की दृष्टि से अगर इस उपन्यास का

मूल्यांकन किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि उपन्यासकार का मन राजनीतिक गतिविधियों की ओर ज्यादा झुका है जबकि इसमें बाल मन की समस्याओं का विस्तार कम है । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि लेखक ने बलात्कार की समस्या की पड़ताल करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि देश में बढ़ रहे बलात्कार के पीछे एक कारण राजनीतिक भी है ।

बहरहाल इस उपन्यास में मुचुकुन्द (बलात्कारी का पिता) राजनीति की एक बड़ी शख्सियत है जो लोगों को संगठित करने के कार्य में निपुण है । साथ ही राजनीतिक रसूख को प्राप्त करने के लिए सुरा-शाकी का आश्रय लेकर आगे बढ़ता है । अन्याय के रास्ते पर चल कर उसने धान मिल, कपड़े की दुकान, मिनी ट्रक और कंट्रोल दुकान निर्मित किया है । उसकी प्रतिष्ठा और अन्याय के द्वारा कमाए गए धन के कारण उसको पुलिस, हकीम, मंत्री, चपरासी आदि सभी सम्मान देते हैं । पिता का प्रभाव पुत्र विश्वमंगल सेनापति उर्फ बिलुआ पर पड़ता है । वह समवयसी लड़कों की संगत में रह कर नशीले द्रवों का सेवन करता है । अल्हड़ जवानी के जोश में वह चार वर्ष की नाबालिक लड़की चीनी के साथ कुकर्म कर देता है । किन्तु पिता के षड्यन्त्र के कारण उसे नाबालिग सिद्ध कर केस को कमजोर बनाने की भरपूर कोशिश की जाती है । बिलुआ का पिता चीनी के पिता को पैसे का लोभ दिखा कर खरीदना चाहता है । किन्तु नारंग इन सारी शर्तों को खारिज कर अपनी बेटी के अपराधी को सज़ा दिलाना चाहता है । दो सालों तक इस केस में कई मोड़ आते रहते हैं अंततः चीनी के बलात्कार का आरोप सिद्ध होता है किन्तु दुःख की बात यह है कि उसको सज़ा नहीं मिलती । निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि कई कोशिशों के बाद भी चीनी को इंसाफ नहीं मिल पाता और बिलुआ बा-इज्जत बरी हो जाता है । इस उपन्यास को पढ़ते समय एक मुहावरा सटीक लगता है -‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’ ।

बहरहाल इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उपन्यासकार चीनी के बाल मानस और प्रभाव को दिखाने का प्रयास करते हैं । जिसमें अबोध चीनी की मानसिक और शारीरिक स्थिति बखूबी रूप से स्पष्ट है । सबसे बड़ी पशुता यह है कि अपने जुर्म को छिपाने के लिए आज कल शरीर सुख के बाद बच्चियों को मौत के घाट उतार दिया जाता है । इसी का शिकार चीनी भी होती है किन्तु पुलिस के कारण उसकी जान बच जाती है । बलात्कार की वजह से चीनी असह्य यंत्रणा अनुभव करती है । समकालीन समाज में पुरुषों में स्त्री देह के प्रति बढ़ती कामुकता ने स्त्री जाति को सिर्फ एक वस्तु के रूप में तब्दील कर दिया

हैं जहां उसकी तकलीफ और प्रताड़ना को समझने वाला समाज गूंगा/मूक और सरकार अंधी है। स्त्री-शोषण हर एक समुदाय में देखा जा रहा है किन्तु समाज में घटी नई घटनाओं के केंद्र में जाति व्यवस्था को लेकर घिनौनी राजनीति भी खेली जा रही है।

चीनी को बलात्कार के बाद असह्य पीड़ा होती है साथ ही खून का रिसाव भी होने लगता है। चीनी यह समझ ही नहीं पाती उसके साथ यह क्या हुआ? उससे क्यों सवाल पर सवाल पूछे जा रहे हैं? अबोध बच्ची पुलिस और वकीलों की बातों से आतंकित होकर रोने लगती है।

उसकी शारीरिक पीड़ा भले ही कुछ दिन में ठीक हो गई पर उसकी मानसिक पीड़ा इस घटना के बाद बढ़ने लगी थी उसे बाहर जाने की मनाही थी साथ ही लड़कों से मिलने पर भी पाबंदी लगाई गई। अबोध बच्ची इससे पूर्व लड़की और लड़कों के गणित से परे अपने बचपन को जी रही थी। किन्तु इस घटना ने उससे उसका बालपन छिन लिया था। “चीनी यह समझ नहीं पा रही थी कि उसकी माँ क्यों उसे खेलने के लिए बाहर नहीं छोड़ती थीं। उसे यह भी समझ नहीं आ रहा था कि बिना कपड़े उसे अकेले घर से निकलने के लिए क्यों उसके पिता ने मना किया है। इस क्रम में चीनी पत्थर की गुड़िया की तरह बनती जा रही थी।”<sup>325</sup> इस बीच चीनी के साथ कुछ नई घटना होती है। “चीनी सब भूलने लगी थी। उसका भूलने का यह गुण कब और कैसे प्रारंभ हुआ यह नारंग या उसकी स्त्री नहीं जानते। किन्तु चीनी बड़े लोगों की तरह व्यवहार करने लगी थी।.. चार वर्ष की चीनी अचानक चौदह वर्ष की लड़की की तरह आचरण करने लगी थी।”<sup>326</sup> चीनी के साथ हुई बलात्कार जैसी अमानुषिक क्रिया से वह बहुत ज्यादा प्रभावित होने लगी उसे बार-बार सपने आने लगे जिसमें उसे उसी नारकीय पीड़ा का अहसास होने लगता। सपने में वह ऐसे अजीबो-गरीब जानवरों को देखने लगी जो उसे मार देना चाहते हों। वह सपना देख कर ही रोने-चीखने लगती। उसकी मानसिक स्थिति में इस तरह के कई परिवर्तन देखे जाने लगे थे। चीनी जब स्कूल जाने लगी तब उसे लोग ‘मौनवती’ बोलने लगते थे। चीनी से साथ घटी घटना ने केवल उससे उसका बचपन को ही नहीं छिना बल्कि उसके पूरे व्यक्तित्व को ही परिवर्तित कर दिया। साथ ही उसे मानसिक रूप से कमजोर और प्रताड़ित किया। सरकार या समाज इसे भले केवल शारीरिक प्रताड़ना के रूप में देखती हो

<sup>325</sup> कवर स्टोरी, सत्यप्रिय महालीक, पृ. सं.-50

<sup>326</sup> कवर स्टोरी, सत्यप्रिय महालीक, पृ. सं.-49

किन्तु यह प्रताड़ना शारीरिक से ज्यादा मानसिक है । आए दिन समाज में बढ़ रही बलात्कार की घटनाओं ने चीनी जैसी कई बच्चियों को शारीरिक और मानसिक रूप से गंभीर रूप से प्रताड़ित किया है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दोनों भाषा के उपन्यासों को अध्ययन करने के उपरांत यह स्पष्ट हुआ कि बाल जीवन पर हिन्दी और ओड़िया साहित्य में अन्य विधाओं में भले ही बहुत साहित्य बहुत पहले से लिखे गए हों किन्तु उपन्यासों की संख्या दोनों साहित्य में काफी कम है । साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि दोनों ही भाषाओं में बाल उपन्यासों में मनोरंजनपरकता को आधार बना कर ज्यादा उपन्यास लिखे गए जबकि उनके मनोवैज्ञानिक पक्ष तथा उनकी समस्याओं पर कम साहित्य लिखा गया है । कहने का आशय यह है कि साहित्य की अन्य विधा की भांति उपन्यासों में बाल विमर्श मुद्दा केन्द्रीयता के साथ नहीं उभर पाया है ।

### 5.3 वृद्ध-जीवन

समकालीन समय में वृद्धावस्था वैश्विक स्तर पर बहुत बड़ी समस्या बन कर उभरा है । किन्तु अनुसंधान करने पर यह ज्ञात होता है कि वृद्धावस्था की समस्या पश्चिम में बहुत पहले से रही है । पश्चिम में वृद्धावस्था की समस्या इसलिए पैदा हुई कि वहाँ परिवार व्यवस्था की नींव सदैव कमजोर रही है । वहाँ विवाह जैसी व्यवस्था कान्ट्रैक्ट पर आधारित है, जिसके कारण वृद्धावस्था में खयाल रखने के लिए साथी या परिवार की कमी देखी जाती है । विदेशों में पनपी वृद्धावस्था की समस्या आज भारत में भी अपनी जगह बना रही है । किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यूरोप में पैदा हुई वृद्धावस्था की समस्याओं से भारत में वृद्धावस्था की समस्याएं भिन्न हैं । क्योंकि भारत में वृद्धावस्था की अवहेलना आधुनिक दौर तक नहीं रही । बल्कि वृद्धावस्था को अनुभवी और सम्मानजनक औहदा प्राप्त था । यह समस्या हमारे लिए तब समस्या बनी जब हमने अंग्रेजीयत को स्वीकारने के साथ-साथ उनकी सांस्कृतिक कमजोरियों को भी स्वीकारा । तथा भारतीय संस्कृति की अवहेलना तथा मॉडर्न संस्कृति ने इस समस्या को प्रभावशाली बनाया है । विदेशों में यह समस्या इतनी प्रबल है कि 'माइनोंरिटी डिस्कोर्स' के अंदर अब वृद्धों के लिए 'एजिज़्म' ageism (आयु को आधार बनाकर किया गया भेदभाव को कहा

जाता है) भी सम्मिलित है। सिमोन-द-बुआ ने वृद्धावस्था पर गंभीर और शोधपरक कार्य किया जो उनकी पुस्तक 'ला विएलेस्से' (1970) में देखी जा सकती है। यह पुस्तक मूलतः फ्रेंच भाषा में लिखी गयी है किन्तु इसका अंग्रेजी अनुवाद 'ओल्ड एज' नाम से 1977 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में लेखिका लिखती हैं कि "बूढ़े लोगों के मामले में यह समाज न केवल दोषी है बल्कि अपराधी भी है। फ्रांस की बारह प्रतिशत जनता पैंसठ वर्ष पार कर चुकी हैं और इतनी बड़ी संख्या गरीबी, उपेक्षा और निराशा झेल रही है। अमेरिका में भी यही स्थिति है। मानवीय संवेदनाओं के साथ इस आबादी से बर्ताव का कोई प्रावधान उन राजनेताओं के पास नहीं है जो यह मानकर चलते हैं कि इनका वजूद ही नहीं है, क्योंकि उनकी कोई राजनीतिक आवाज ही नहीं। यदि वे इस आवाज को सुनते तो इन नेताओं को पता चलता कि यह भी मानवीय स्वर ही है।"<sup>327</sup> आलोचक ऋषभदेव शर्मा इस पुस्तक को वृद्ध-विमर्श की गीता के रूप में संबोधित करते हैं।

### 5.3.1 पृष्ठभूमि

भारत में भी वृद्धावस्था की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है जिसके पीछे कारण भारतीय परिवार की संरचना में तेजी से बदलाव आ रहा है। वृद्धावस्था की समस्या विकटतर होने के पीछे एक कारण भारतीय समाज का आधुनिक व उत्तराधुनिक होना रहा है। समाज में जब से संयुक्त परिवार का महत्व घटा है और एकल परिवार की महत्ता बढ़ी है तब से वृद्धावस्था एक अभिशाप के रूप में सामने आयी है। रमेशचंद्र मीणा जी 'हिन्दी उपन्यास साहित्य में दस्तक देता वृद्ध विमर्श' लेख में लिखते हैं - "भारतीय परिवार व रिश्तों की संरचना तेजी से बदल रही है। न केवल परिवार का मुखिया अपितु पिता-पुत्र संबंध में जमीन आसमान का अंतर आ चुका है। पुत्र के रिश्ते से मिले दर्द को आगामी पिताओं को सदियों तक सहना होगा। वर्तमान दौर में पिता-पुत्र संबंध बड़े ही नाजुक दौर से गुजर रहे हैं।"<sup>328</sup> आधुनिकीकरण के प्रभाव से नई पीढ़ी के संस्कारों में परिवर्तन आया है। नई पीढ़ी के पास पुरानी पीढ़ी के लिए समय नहीं है। जिसकी वजह से वृद्ध अकेलेपन की त्रासदी से गुजर रहे हैं। आधुनिक दौर से ज्यादा उत्तराधुनिक दौर में वृद्धावस्था संबंधी समस्या बढ़ती गई है। इसका कारण यह रहा कि यह दौर उपयोगवादिता की चपेट में आ

<sup>327</sup> वृद्धावस्था विमर्श, चंद्रमौलेश्वर प्रसाद, पृ.सं.- 19

<sup>328</sup> <https://deshbandhu.co.in/vichar/old-age-knock-in-hindi-novel-literature-76786-2>



गया है । साथ ही उत्तराधुनिक दौर में वैश्विक बाजार ने परिवार व्यवस्था को झकझोर कर रख दिया है । साथ ही नए जीवन शैली से प्रभावित पीढ़ी विदेशों में जा बसी है जो बुजुर्गों को अपनी जिम्मेदारी का हिस्सा नहीं मानता । इस दौर में युवा पीढ़ी इतनी भावना शून्य हो गयी है कि माता-पिता से उनका भले ही कोई लगाव न हो किन्तु उसकी संपत्ति से है । अब वृद्धावस्था में बची संपत्ति को धोखे से हड़पे जाने की नई प्रथा ईजाद हुई है । वृद्धों को वृद्धाश्रम में भेज कर उनकी जिम्मेदारी से मुक्त होना भारतीय समाज का सबसे कटु यथार्थ है । वृद्धों की समस्या भारत में दिन-प्रतिदिन इतनी बढ़ती जा रही है, जिसके कारण सरकार को वृद्धों के लिए नए कानून बनाने की आवश्यकता आ पड़ी है । इसलिए मैन्टेनेन्स एंड वेलफेयर ऑफ पेरेंट्स एंड सीनियर सिटिज़न्स एक्ट 2007 में लागू किया गया ।

भारत में बुजुर्गों के प्रति बढ़ते अत्याचार के कारण साहित्य में इसका प्रभाव देखा जाने लगा है । हिन्दी के क्षेत्र में वृद्ध-विमर्श की शुरुआत हो चुकी है । यह अवश्य है कि यह विमर्श हिन्दी साहित्य में भी बिल्कुल नया है । वृद्ध-विमर्श एक ऐसा विमर्श है जिसमें आयु के आधार पर विभेदीकरण को दिखाया गया है । वृद्ध-विमर्श समकालीन समय में बुजुर्गों के प्रति बढ़ते शारीरिक और मानसिक अत्याचार, अनदेखापन, घुटन, अकेलापन तथा सम्मान की कमी के प्रश्नों को प्रमुखता से उभारता है । साथ ही यह विमर्श तिरस्कृत, अभावग्रस्त, निर्वासित, निराश्रित जीवन जीते बुजुर्गों की है जिनकी शारीरिक और आर्थिक स्थिति जर्जर है । “वृद्धावस्था विमर्श वस्तुतः सामाजिक संबंधों को इन बदली हुई परिस्थितियों में नए ढंग से समझने की जरूरत पर बल देता है । शारीरिक अशक्तता, मानसिक समस्याएं, परनिर्भरता, मूल्य परिवर्तन, आर्थिक संकोच, जीवनसाथी की मृत्यु, निराश्रित होने की आशंका, भविष्य की अनिश्चितता, संबंधों की निरर्थकता होने की आशंका, राग विराग का द्वन्द्व, परायेपन और अलगाव की स्थिति, बचपन और युवावस्था की यादों से जुड़ा अतीत प्रेम, काम और क्रोध जैसी वृत्तियों का उदात्तीकरण, विभ्रम जैसे अनेक पक्ष वृद्धावस्था विमर्श के विचारणीय बिन्दु हैं ।”<sup>329</sup>

वृद्ध-विमर्श, समाज वृद्धों के प्रति लोगों की दृष्टि को बदलने की मांग करता है । साथ ही यह अपेक्षा करता है कि उनका उचित सम्मान हो और उनकी समस्याओं को समझ कर

<sup>329</sup> वृद्धावस्था विमर्श, चंद्रमौलेश्वर प्रसाद, पृ. सं.- 11

उनका निदान ढूंढा जाए । साथ ही यह विमर्श वृद्धों से भी अपेक्षा करता है कि पुरानी और नई पीढ़ी की टकराहट को भूल ऐसे स्वस्थ समाज का निर्माण किया जाए जिसमें दोनों एक-दूसरे को समझने का प्रयास कर अपनी आगामी पीढ़ी को नई सीख प्रदान करें । अर्थात् घटते पारिवारिक मूल्यों को पुनर्जीवित करने की पहल वृद्ध विमर्श की रही है ।

प्राचीन दौर से भारतीय साहित्य में बुजुर्गों का विशेष महत्त्व रहा है । बुजुर्ग कहते ही हमारे सामने ऐसे लोगों की तस्वीर आती है जिसमें सफेद बाल, झड़े हुए दाँत, शिथिल ऊर्जा, शरीर का निष्क्रिय होना आदि दृष्टिगोचर होता है । बाल-अवस्था की भांति वृद्धावस्था पर भी अनेक रचनाएं हिन्दी साहित्य में देखने को मिलती हैं । हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल से ही वृद्धों पर साहित्य लेखन की शुरुआत हो चुकी थी । भक्तिकाल में केशव के द्वारा लिखित पंक्ति इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है - 'केशव केशन अस कड़ी जस अरिहु म कराय चंद्र वदन मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाए । अर्थात् चंद्रवदन मृगलोचनियों को आकृष्ट न करने का सामर्थ्य ही बुढ़ापा है ।' वृद्धावस्था और वृद्धों पर ऐसे अनेक रचनाएं हिन्दी साहित्य में देखने को मिलती हैं । वहीं आधुनिक काल के आगमन के साथ प्रताप नारायण मिश्र ने 'वृद्ध' नाम से एक निबंध की रचना की । जिसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि "इन (वृद्ध) महापुरुषों का वर्णन करना सहज काम नहीं है । यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही, अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव-सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका सम्मान करें ... इन्होंने अपने बाल्य-काल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो, कभी किसी का कोई काम इनसे न निकला हो तथापि संसार का ऊंच-नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है ।"<sup>330</sup> प्रेमचंद ने 'बूढ़ी काकी' कहानी बुजुर्गों की समस्या पर ही लिखी । इस कहानी में बूढ़ी काकी अपनी सारी संपत्ति अपने भतीजे के नाम कर देती है किन्तु इतना करने पर भी न उनका उचित सम्मान किया जाता है और न उनको भर पेट खाना नसीब नहीं होता । इस कहानी में वृद्धों की स्थिति बखूबी रूप से स्पष्ट है । निराला ने भी 'मैं अकेला' कविता में वृद्धावस्था पर काव्य लिखा । "मैं अकेला / देखता हूँ / आ रही मेरे दिवस की सांध्य बेला / पके आधे बाल मेरे / हुए निष्प्रभ गाल

---

<sup>330</sup> हिन्दी समय. कॉम, वृद्ध निबंध, प्रतापनारायण मिश्र

मेरे/ चाल मेरी मंद होती आ रही/हट रहा मेला ।” नागार्जुन की रचना ‘पिता के नाम पत्र’ बुजुर्ग पिता पर लिखित आक्रोशात्मक पहल है । जिसमें उन्होंने पिता की पुरानी और सड़ीगली मानसिकता की मुखालफत की है । एक तरीके से यह रचना वृद्धों की दूसरी छवि को प्रस्तुत करता है । भीष्म साहनी की कहानी ‘चीफ की दावत’ भी बुजुर्गों की समस्या पर ही आधारित रही । उषा प्रियंवदा की ‘वापसी’ कहानी आधुनिक युग में बुजुर्गों की स्थिति को प्रस्तुत करती है । इस परंपरा में अरुण कमल जी की ‘बुढ़ापा’ कविता भी आती है । अनवर सुहैल ने भी बुजुर्गों की समस्याओं पर काफी कुछ लिखा है जिसमें ‘चहल्लुम’ कहानी प्रमुख है । अतः समय समय पर साहित्य के विविध विधाओं में वृद्धों पर लेखन कार्य होते रहे । किन्तु इन रचनाओं को देखते हुए यह स्पष्ट होता है कि साहित्य में वृद्धों को लेकर दो दृष्टि हमारे सामने है । एक दृष्टि यह स्पष्ट करती है कि वृद्धों का सम्मान होना चाहिए तथा वृद्धावस्था ऐसी एक अवस्था है जिसमें शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है । साथ ही उनमें यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि वृद्धों से संबंधित समस्याएं प्रबल मात्रा में बढ़ती जा रही हैं । वहीं दूसरी दृष्टि के अनुसार वृद्ध-पितृ-तंत्र बड़ा ही निर्दयी और नियंत्रक रहा है जो बच्चों पर अंकुश लगाने का कार्य करता है बल्कि उन्हें स्वतंत्रता देना नहीं चाहता । ऐसे विचारक यह भी मानते हैं कि वृद्ध मूलतः पुरानी मानसिकता और अंधविश्वासों को प्रश्रय देने वाले होते हैं । ‘वृद्ध विमर्श : परंपरा और आधुनिकता’ ब्लॉक में डॉ. कमलानन्द झा लिखते हैं कि -“भारतीय लेखकों में नागार्जुन और विदेशी लेखकों में काफ़का इस वृद्ध-पितृ-तंत्र से सर्वाधिक टकराते हैं ।”<sup>331</sup> आगे इसी आलेख में लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि “नागार्जुन वृद्धावस्था में आकर भी वृद्धों की आलोचना करते हैं ... उनके अनुसार सड़ी-गली परम्पराएं, मान्यताएं आदि वृद्धों के जरिए ही नई पीढ़ी में इंजेक्ट होती रहती हैं ।”<sup>332</sup> नागार्जुन का वृद्धों के प्रति सख्त आलोचना का कारण वृद्धों का पुरानी मानसिकता से जुड़े रहना रहा है । किन्तु समय की गतिशीलता के साथ उनकी सोच में भी परिवर्तन आए, अब वे भी चाहते हैं । नई पीढ़ी के साथ कदम से कदम मिलाकर वे चलना चाहते हैं किन्तु युवा पीढ़ी उन्हें आउट ऑफ डैटिड समझ कर दरकिनार कर रहा है । पितृसत्तात्मक समाज में जैसे पुरुषों में समानता की भावना में परिवर्तन देखे गए हैं ऐसी आशा हम बुजुर्गों से भी कर सकते हैं । क्योंकि बुजुर्गों की अक्खड़ता के पीछे

<sup>331</sup> वृद्ध विमर्श : परंपरा और आधुनिकता ब्लॉक

<sup>332</sup> वृद्ध विमर्श : परंपरा और आधुनिकता ब्लॉक

एक कारण पितृसत्तात्मक समाज की वर्चस्व की भावना भी काम कर रही थी । वर्तमान बुजुर्ग वर्ग के प्रति युवा वर्ग पुरानी मानसिकता को आधार बना कर सोच रहा है । किसी भी सोच में एकाएक परिवर्तन नहीं आ जाता । सोच में परिवर्तन लाने में समय की आवश्यकता होती है । साथ ही युवा पीढ़ी यह कैसे भूल जाती है कि वे भी कभी बुजुर्ग होंगे । वे अगर बदलाव की भावना को आत्मसात कर लेंगे तो आगे चल कर भावी बुजुर्गों में परिवर्तन आएगा क्योंकि अगली पीढ़ी, वे स्वयं ही होंगे । अपने बुजुर्गों के साथ किया गया बर्ताव को दिखा कर वे भावी पीढ़ी को गलत शिक्षा दे रहे हैं जिससे परिवार व्यवस्था यकीनन टूटी है ही किन्तु ऐसा करने पर परिवार व्यवस्था में ऊष्मा लौट आने की गुंजाइस खत्म होने जा रही है ।

### 5.3.2 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

हिन्दी उपन्यासों की प्रारम्भिक अवस्था को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उस समय बुजुर्गों की अच्छी स्थिति थी तथा उन्हें सम्मानित स्थान मिला था । प्रेमचंद युग में उपन्यासों में बुजुर्गों की दो दृष्टि हमारे पास उपस्थित है । एक दृष्टि जिसमें बुजुर्गों को अनुभवी और उच्च दर्जा दिया गया वहीं दूसरी ओर समाज में व्याप्त अनमेल विवाह में तत्पर बुजुर्गों को दिखा कर समाज की वास्तविकता को प्रस्तुत किया गया । वहीं अगर उनके कहानियों की बात करें तो स्पष्ट होगा कि प्रेमचंद ने कुछ कहानियाँ बुजुर्गों की समस्या पर भी लिखी । इससे समाज में तीसरी दृष्टि भी हमें देखने को मिली । हालांकि यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने बुजुर्गों पर विशेष रूप से उपन्यास नहीं लिखा पर उस दौर के उपन्यासों के पात्र के रूप में वृद्ध अवश्य आए । कहने का तात्पर्य यह है कि उपन्यास के एक पात्र के रूप में बुजुर्गों को हर काल खंड में दिखाया गया है किन्तु वृद्धों पर स्वतंत्र रूप से उपन्यास लिखने का प्रयास 1990 के बाद होता है । वैश्वीकरण के प्रभाव से बुजुर्ग वर्ग अकेलापन की त्रासदी से गुजरने लगा और तभी उनकी समस्याओं को दर्ज करने की पहल प्रारंभ हुई । वृद्धों को केंद्र में रख कर लिखे गए उपन्यासों में ये प्रमुख हैं -मस्तराम कपूर का 'विषय पुरुष' (1997); रवींद्र वर्मा का 'पत्थर ऊपर पानी' (2000); पंकज बिष्ट का 'उस चिड़िया का नाम' (2005); काशीनाथ सिंह का 'रेहन पर रग्घू' (2006); रमेशचंद्र शाह का 'सफेद परदे पर' (2006); चित्रा मुद्गल का 'गिलिगडू'

(2010); निर्मल वर्मा का 'अंतिम अरण्य'; हृदयेश का 'चार दरवेश' 2011; कृष्णा सोबती का 'समय सरगम'; ममता कालिया का 'दौड़' आदि उपन्यास आते हैं ।

ओड़िया साहित्य में अनेक विधाओं में वृद्धावस्था पर साहित्य लिखा गया जिसमें कविताएं और कहानियाँ प्रमुख रहीं । ओड़िया उपन्यासों में स्वतंत्र रूप से वृद्धों पर बहुत कम लिखा गया है । ऐसे तो उपन्यासों में घर के मुखिया के रूप में उनकी उपस्थिति हमेशा रही है । किन्तु प्रश्न यह कि वृद्धों पर स्वतंत्र रूप से उपन्यास लिखने की आवश्यकता कब महसूस की गई ? अनुसंधान करने पर यह स्पष्ट हो पाया कि संयुक्त परिवार व्यवस्था में आई सिकुड़न इसका जिम्मेदार रही है । यह हाल अमूमन हर भाषा के साहित्य में देखा जा सकता है । 1980 के बाद आई आर्थिक प्रगति ने मूलतः भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को चोट पहुँचने के साथ-साथ नई पारिवारिक संरचना का निर्माण किया है, जिसमें मूल रूप से उपेक्षित बुजुर्ग हुए हैं । जो वर्ग कभी परिवार व्यवस्था की धुरी हुआ करता था उसे आज का समाज मूल्य हीन और अकारथ समझता है । भारत में आई इस नई आंधी से शायद ही कोई बच पाया हो । यही कारण रहा कि ओड़िया साहित्य में भी बुजुर्गों पर लेखन की शुरुआत हुई । ओड़िया साहित्य में 80 से 90 के दशक तक उपन्यास जगत में वृद्धावस्था का कोई नकारात्मक पहलू उपस्थित नहीं होता है । जबकि हिन्दी उपन्यासों की ओर अगर दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि वृद्धावस्था की समस्या 90 के दशक से ही तीव्र दिखाई देगी । साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि परिवेशगत गतिविधियां भी साहित्य लिखने के पीछे महत्वपूर्ण कारक रहीं हैं । ओड़ीशा के संदर्भ में यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि 80 से 90 के दशक में ओड़िया परिवार की छवि मलिन नहीं पड़ी थी । अर्थात् ऐसे कम परिवार थे जहां बुजुर्गों की स्थिति खराब थी । अतः वृद्ध-उत्पीड़न जैसी समस्या उस समय इतनी प्रमुखता से उभर कर नहीं आ पाई थी । किन्तु आज वृद्धों को लेकर इस तरह के लेखन अवश्य आए हैं जो ओड़िया में बढ़ते वृद्ध उत्पीड़न की समस्या को प्रस्तुत कर रहे हैं ।

बहरहाल वृद्धों पर स्वतंत्र रूप से उपन्यास लिखने का प्रयास ओड़िया साहित्य में सन् 1980 के बाद होता है । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि 80 से 90 दशक तक ओड़िया उपन्यासों में वृद्धावस्था एक समस्या के रूप में उपस्थित नहीं होता । बल्कि इस दौर में उपन्यासों में वृद्धों को सम्मानीय स्थान प्राप्त था । जैसे गोविंद दास के द्वारा लिखित 'सूर्यास्त' (1987) उपन्यास एक वृद्ध की अनभिज्ञता पर आधारित है । 1994 में

‘देवयानी’ नामक उपन्यास में वृद्ध का एक प्रसंग आता है जिसमें राजा ययाति का अकाल वार्धक्य वर्णित है । यह उपन्यास भले ही स्वतंत्र रूप में वृद्धों पर आधारित नहीं है किन्तु वृद्धावस्था का प्रसंग इस उपन्यास में विशेष रूप से उठाया गया है । रामचंद्र बेहेरा के द्वारा लिखित ‘धूसर सूर्यास्त’ (1994) उपन्यास बुजुर्गों पर केंद्रित उपन्यास है । इस उपन्यास में बुजुर्ग पात्र सभी के प्रिय हैं तथा उनकी शारीरिक समस्या ग्रसित अवस्था में भी उनसे मिलने के लिए परिवारजन लालायित हैं । इस उपन्यास में वृद्धावस्था में शारीरिक समस्याएं किस प्रकार उनको प्रताड़ित करती हैं इसका चित्रण है । इसके बाद किशोरी चरण दास के द्वारा लिखित ‘शेष अंक प्रथम दृश्य’ उपन्यास 2003 में प्रकाशित होता है । यह उपन्यास अपने आप में विशेष है और प्रयोगात्मक भी । इस उपन्यास में एक वृद्ध कवि जगतकृष्ण (82 वर्ष) उसकी प्रिय पाठिका (70 वर्ष) मंजु महापात्र के हाथ को सहला रहे हैं । यह भावों का सहज उच्छलन मात्र है, किन्तु इस दृश्य को देखने वालों में तीन लोग और हैं, जिसमें डॉ. सेन, बलराम नायक और गजेन्द्र दास हैं । इस उपन्यास में वे सभी ‘प्रबोध विलास’ (वृद्धों के लिए स्वतंत्र रूप सुविधा सम्पन्न निवास स्थान) में रहते हैं । उपन्यासकार इस उपन्यास में चित्रित दृश्य को केंद्र में रख कर तीन दर्शक की मनः स्थिति को प्रस्तुत करते हैं । साथ ही इस उपन्यास में यह भी चित्रित किया गया है कि वृद्धावस्था अकेलेपन की गाथा है जहां पहुँच कर सब अपने अतीत को याद करते हैं । डॉ. सेन अविवाहित हैं और वृद्धावस्था में अकेलेपन की समस्या से ग्रसित हैं । गाँधीवादी नेता बलराम दास की पत्नी का निधन हो गया है जो इस दृश्य को देख कर अपने अकेलेपन से रूबरू हो रहे हैं । साथ ही सुलेखा जैसी साथी की कामना करते हैं जो उनके अकेलेपन को दूर कर सके । वृद्ध कवि जगत पंडा की पत्नी नहीं है इसलिए वे उदासीन हैं और अकेलेपन को दूर करने की कोशिश में साहित्य सृजन करते हैं । गजेन्द्र दास ऐसे व्यक्ति हैं जो पत्नी के होते हुए भी अकेले हैं । अर्थात् वे अपनी पत्नी से बेहद प्रेम करते हैं किन्तु उनकी स्त्री लावणी कभी इस चीज को नहीं समझ पाती । इस लिए मंजु महापात्र में वे अपनी पत्नी को देखते हैं । उपरोक्त उपन्यासों में शारीरिक अक्षुण्णता, अकेलापन आदि भले ही उपन्यासों के विषय रहे हों किन्तु समय की गतिशीलता के साथ वृद्धों की समस्याओं में इजाफा हुआ है । शारीरिक उत्पीड़न के साथ मानसिक अत्याचार, सम्मान की कमी और वृद्धाश्रम में बढ़ती वृद्धों की संख्या आदि समस्या बनती जा रही है । सुकामिनी नन्द के द्वारा लिखित ‘भिन्न एक सिद्धार्थ’ (2010) में वृद्धावस्था संबंधी विभिन्न समस्याओं को लेखिका इस

उपन्यास में स्पष्ट करती हैं । इस उपन्यास में लेखिका वृद्धों की वृद्धाश्रम की समस्या को स्पष्ट करने का प्रयास करती हैं ।

अतः ओड़िया उपन्यास में वृद्धावस्था को लेकर लिखित उपन्यासों में तीन तरह की दृष्टि देखी जा सकती है । पहली दृष्टि के अनुसार वृद्धों का सम्माननीय स्थान रहा जिसमें वृद्धों को घर के मुखिया के रूप में देखा गया अतः वृद्धों को एक अनुभवी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया । जिसमें रामचंद्र बेहेरा के द्वारा लिखित 'धूसर सूर्यास्त' उपन्यास को देखा जा सकता है । प्रारम्भिक दौर में बुजुर्गों का विवाह के प्रति मोह या अनमेल विवाह के कारण पारिवारिक असंतुलन आदि का चित्रण ओड़िया उपन्यासों में बुजुर्गों की दूसरी दृष्टि को प्रस्तुत करता है । ओड़िया भाषा में लिखित 'मला जन्ह' उपन्यास में अनमेल विवाह की समस्या और वृद्धों की स्थिति को दिखाया गया है । वहीं तीसरी दृष्टि के अनुसार वैश्वीकरण के आगमन के फलस्वरूप वृद्धावस्था संबंधी समस्याओं को चित्रित किया गया है जिसमें 'भिन्न एक सिद्धार्थ' उपन्यास को लिया जा सकता है ।

### 5.3.3 साहित्यिक साक्ष्य

चित्रा मुद्गल के द्वारा लिखित उपन्यास 'गिलिगडू' उपन्यास बुजुर्गों की व्यथा कथा का मार्मिक दस्तावेज है । जिसे वृद्धों की महागाथा के रूप में देखा जा सकता है इस उपन्यास के केंद्र में दो वृद्ध जसवंत सिंह और रिटायर्ड कर्नल स्वामी की समस्याओं को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसके कारणों की भी तलाश की गई है । इस उपन्यास में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि कैसे देश में आधुनिकता की चकाचौंध ने युवाओं को प्रभावित किया है वे उन्हीं तत्व को महत्व देते हैं जिससे उनकी साध पूरी हो सके एक तरह यह दौर उपयोगकर्ताओं और फैंकी का रहा है जहां उपभोक्ता के साथ वस्तु को महत्व प्राप्त है । युवा कैरियर उन्मुख होते जा रहे हैं । इसी कारण संबंधों की ऊष्मा खत्म हो गई है लोग पारिवारिक बंधनों में बंधना नहीं चाहते बल्कि जहां उनकी साखें मजबूत हो सकें वहाँ प्रवासित होने की चाह रख रहे हैं ऐसे में पारिवारिक बंधनों को रोड़ा समझ कर उसका बहिष्कार कर रहे हैं । इस वजह से छोटा परिवार सुखी परिवार जैसे जुमले भी सुनने को मिलते हैं जिसके केंद्र में भले ही जनसंख्या पर नियंत्रण का विचार काम कर रहा हो लेकिन युवा मस्तिष्क इसे दूसरी दृष्टि से देख रहा है जिसमें 'हम दो हमारे दो' वाला विचार है । इस तरह की सोच ने भारतीय समाज और परिवार व्यवस्था को संकुचित कर दिया है ।

जिसका बुरा प्रभाव हमारे देश के बुजुर्गों पर पड़ रहा है। स्वार्थपरता के इस दौर में बुजुर्गों को आउट डैटिड बना दिया है। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि परिवार के सदस्य ही बुजुर्गों को यह अहसास कराने में तत्पर हैं कि घर पर पुरानी वस्तुओं की तरह वे भी बेकार और बे-फालतू हैं। इस उपन्यास में दो ऐसे बुजुर्गों को पात्र बनाया गया है जो आर्थिक रूप से सक्षम हैं और अच्छे परिवार से संबंध रखते हैं। वे ऐसे वृद्ध हैं जिन्होंने अपनी जीवन भर भी कमाई अपने बच्चों पर न्योछावर कर दी है। आज जब वे जब बूढ़े हो गए हैं तो उन्हीं के नजर में वे मूल्यहीन बन गए हैं। बच्चे कभी क्यों यह समझ नहीं पाते कभी वे भी बूढ़े होंगे तब अगर बच्चे उनके साथ ऐसा व्यवहार करेंगे तो उन्हें कैसा लगेगा। जसवंत सिंह अपने बेटे, बहू और पोते के साथ तो हैं किन्तु उनका स्थान भी घर पर दोयम दर्जे का रहा है। बेटा कभी बैठ कर पिता से बात नहीं करता उनसे दूरी बनाए रखता है वहीं उसकी बहू कभी उनके अंतर्मन को टटोलती नहीं है और न ही उसे बुजुर्गों की देखभाल करना आता है। सबकी दृष्टि में वह बस एक जिम्मेदारी हैं जिसे न चाह कर भी ढोया जा रहा है। कभी-कभी अंदर ही अंदर बड़े क्षुब्ध हो जाते हैं जसवंत जी क्योंकि उनकी फिक्र किसी को नहीं है। बढ़ती उम्र के साथ बीमारियाँ भी बढ़ती हैं और कमजोर बना देती हैं। जसवंत सिंह को भी पाइल्स की बीमारी है, खून का रिसना उनके लिए बहुत तकलीफ़देह है। ऐसी अवस्था में भी बहू कुत्ते को घुमाने की जिम्मेदारी उनको देती है। तबीयत खराब होने पर कभी यह नहीं कहती है कि आप मत जाइए कुत्ते को लेकर गिर पड़ेंगे। कई बार कुत्ते ने उनको घसीट कर गिरा भी दिया है। कुत्ते को घुमाते समय उनकी मुलाकात रिटायर्ड कर्नल स्वामी से होती है। वे अपनी सारी समस्याएं उनसे कहते हैं पर रिटायर्ड कर्नल स्वामी उन्हें हिम्मत रखने के लिए कहते हैं और अपने परिवार की कथा जसवंत सिंह को बताते हैं जिसे सुन कर जसवंत सिंह भी खुश हो जाते हैं। किन्तु रिटायर्ड कर्नल स्वामी अपने परिवार की झूठी गाथा बना कर कहते हैं इसका कारण यह रहा कि कम-से-कम जसवंत सिंह अपने परिवार के साथ तो हैं किन्तु उन्हें तो परिवार तक नसीब नहीं है जो उन्हें छोड़ दूसरी जगह बसता है। कई दिनों तक रिटायर्ड कर्नल स्वामी न आने पर जसवंत सिंह उनके घर जाते हैं तब उन्हें पता चलता है कि उनके दोस्त की मृत्यु हो चुकी है। साथ ही उन्हें यह भी पता चलता है कि उनका परिवार कभी उनके पास नहीं रहा बल्कि वे बच्चों को मुफ्त में शिक्षा दिया करते थे। कभी-कभी व्यक्ति सबके साथ रह कर भी अकेला हो जाता है जिसका एक कारण अपने को दूसरों में न मिला पाना भी है जो स्थिति



जसवंत सिंह की है जबकि दूसरा कभी-कभी पूरा अकेला हो जाता है (रिटायर्ड कर्नल स्वामी) किन्तु अकेलेपन की दवा करना सीख जाता है। आज के दौर में बच्चों से ये आशा करना गलत तो है कि उनके साथ अच्छा व्यवहार करेंगे या उनका सही से पालन-पोषण करेंगे बल्कि यह आशा करना भी गलत हो गया है कि उनके साथ रहेंगे। इस उपन्यास में बच्चों की गतिविधियों से बुजुर्गों का मोहभंग तथा समकालीन समय में घटते जीवन मूल्यों को 13 गैर-मौजूदगी उपभागों में उपन्यासकार स्पष्ट करते हैं। हिन्दी की 'वापसी' कहानी की झांकी इसमें देखी जा सकती है जो बुजुर्गों की समस्या पर आधारित है। इस उपन्यास के केंद्र में बुजुर्गों में बढ़ता अकेलापन है जिससे समाज प्रायः अनभिज्ञ है। इस उपन्यास के दो पात्र भी इसी अकेलेपन से ग्रसित हैं। एक ओर जसवंत सिंह बहू सुनयना, बेटा नरेंद्र और पोते के साथ रह कर भी अकेले हैं वहीं कर्नल जी के साथ रहने के लिए कोई नहीं है तीन बेटे रहने के बावजूद वह अकेला रहने के लिए अभिशप्त हैं। दूसरी समस्या इस उपन्यास में यह उठायी गयी है कि बच्चे अब बुजुर्गों को साथ रखने में समर्थ नहीं हैं इसलिए प्रायः हर घर में उन्हें वृद्धाश्रम भेजने की परंपरा विकसित होती जा रही है। नरेंद्र भी अपने पिता को वृद्धाश्रम भेजना चाहता है। जसवंत सिंह को वृद्धाश्रम जाने के बात पर ठेस लगती है उनका परिवार से मोहभंग हो जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि वृद्धों की समस्या बढ़ने का कारण उनकी शासन न कर पाने की कुंठा भी है। कभी-कभी बुजुर्ग भी नासमझ बन कर पहले सा रौब चलाना चाहते हैं। पहले के समाज में जब परिवार बड़ा होता था तब बुजुर्गों की बात चलती थी पर यह दौर भिन्न है जहां युवाओं को यह न-काबिले बर्दाश्त है। समय की गति के साथ खुद को बदलने की मांग भी इसमें देखी जा सकती है। लेखिका वृद्धों की बेचारगी तथा समाज के रवैये को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं -“इस घर में बच्चों की शिकायतें नहीं आतीं। बुढ़ों की आती हैं। इस सोसाइटी के लोग शायद कभी बुढ़े नहीं होंगे। न उनकी शक्ति क्षीण होगी न स्मृति। ऐसे अजर-अमर जन्मे हैं, न कभी कोई कष्ट व्यापेगा न हारी-बीमारी।”<sup>333</sup> इसमें समस्या भी स्पष्ट है और संवेदना भी। वृद्धों को लेकर परिवार में दोहरी दृष्टि भी इस उपन्यास में स्पष्ट है “औरों ने चीला खाने से इनकार कर दिया होगा। वे अनिच्छा प्रकट करने की औकात नहीं रखते। इच्छा-अनिच्छा घरवालों की होती है। घर में आकर रहने वालों की नहीं।”<sup>334</sup> यह उपन्यास बुजुर्गों

<sup>333</sup> गिलिगडू, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-65

<sup>334</sup> गिलिगडू, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-39

की समस्या को समग्रता में प्रस्तुत करता है। इसलिए इस उपन्यास में बुजुर्गों पर हुए शोषण भी देखा जा सकता है। बच्चों की लालची प्रवृत्ति तथा पिता या माता की संपत्ति पर जबरन अधिकारभाव को इसमें देखा जा सकता है। जिसके वजह से मानसिक और शारीरिक हिंसा के भी वे शिकार होते हैं कर्नल स्वामी का बेटा श्री नारायण इसी प्रवृत्ति का व्यक्ति है जो संपत्ति की लालसा में गुस्सा हो कर पिता पर हाथ उठाता है। “लहलुहान कर्नल स्वामी को ‘कैलास अस्पताल’ ले जाया गया। बोलने के काबिल होते ही उन्होंने बेटे के विरुद्ध एफ. आई. आर दर्ज कराने से मना कर दिया।”<sup>335</sup> माता-पिता बच्चों की हर गलती को माफ करते रहते हैं किन्तु वही बच्चे उनको अपने साथ रख तो नहीं सकते किन्तु उनके उपभोगकर्ता भी बन बैठे हैं। इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट किया गया है कि बुजुर्गों को अकेलेपन दूर करने के लिए साथी की आवश्यकता होती है चाहे वह कोई भी क्यों न हो। यहाँ बुजुर्गों के अधिकार की बात भी की गई है जो जब चाहे वसीयत बदल सकते हैं फैसला उनका स्वयं का होना चाहिए। साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट है कि सोसाइटी में रहने वाले बुजुर्गों की संख्या कम हो गई है और वृद्धाश्रमों में उनकी संख्या बढ़ रही है।

‘भिन्न एक सिद्धार्थ’ उपन्यास ओड़िया साहित्य में लिखित वृद्ध जीवन संबंधी उपन्यास है। इस उपन्यास में सिद्धार्थ चिंतनशील, संवेदनशील, भावुक और वृद्धों के जीवन का मसीहा है। सिद्धार्थ पिता-माता के करीब रह कर वृद्धों के जीवन को अंगीकृत करने वाला युवक है। डॉक्टर होने के नाते सिद्धार्थ बुजुर्गों की शारीरिक शिथिलता और बीमारियों से वाकिफ रहा है। साथ ही खुद भी अकेलेपन की त्रासदी से गुजरने के कारण वृद्धों के अकेलेपन की समस्या को समझते हुए, उसने आश्रय नामक वृद्धाश्रम का निर्माण किया है। इस उपन्यास में वृद्धाश्रम बनने के पीछे लेखिका सिद्धार्थ का उद्देश्य को भी स्पष्ट करती हैं - “अपने घर पर, अपने पुत्रवधू के द्वारा उपेक्षित और अत्याचारित लोगों को लेकर ही आश्रय बनाने के लिए मन आंदोलित हो गया था। पिता हो या माँ हो, जन्म दे कर अपने सुख को त्याग करके संतान के लिए जीवन के सारे सुख न्योछावर कर देते हैं। संतान को समाज में परिचित करवाने के लिए जन्मदाता-जन्मदात्री बहुत कष्ट सहते हैं। अर्थात् संतान अपने आत्मसुख के लिए उनके आत्मत्याग को भूल जाता है। अंतिम पड़ाव में आ कर जीवन में थोड़ी सी शांति खोजते माता और पिता असहाय हो जाते हैं।

<sup>335</sup> गिलिगडू, चित्रा मुद्गल,, पृ.सं.-137

शांति के अतिरिक्त अशान्ति के गर्त में वे दिन-रात डूबते रहते हैं । आज की युवा-पीढ़ी आत्मकेंद्रित हो कर बुजुर्ग माता-पिता को अनेक दुःख देते हैं ।<sup>336</sup>

‘आश्रय’ पहले पहल कुछ परिचित लोगों को लेकर खोला गया था। बाद में भारत के विभिन्न स्थानों से लोग वहाँ आकर रहने लगे । वृद्धों के लिए यह एक आश्रयस्थली बन गया । इनमें ऐसे कई वृद्ध आए जो परिवार के द्वारा शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित रहे । इस उपन्यास में ऐसे वृद्धों की स्थिति को चित्रित करने का प्रयास किया गया है ।

राधीनानी आश्रय में रहने वाली वृद्ध महिला है । राधीनानी सिद्धार्थ के दादा-दादी की आश्रिता थी । राधीनानी बचपन से कष्ट सहती रही हैं । बचपन में उनकी माँ की मृत्यु हो जाती है तथा सौतेली माँ का आगमन के साथ उनको कई प्रकार की प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है । नौ वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह हो जाता है । किन्तु विडंबना यह है कि एक वर्ष पूरा भी नहीं हुआ था कि उनके पति की मृत्यु हो गई । एक तरफ विधवा होने की प्रताड़ना से गुजरती है तो दूसरी ओर सौतेली माँ की लांछना से प्रताड़ित होती है । यह सब देख कर उसके पिता उसे सिद्धार्थ के दादा (जमींदार) के पास छोड़ गए थे । राधीनानी पहले दादी और फिर माँ की सेवा करती थीं तथा उनकी पूरी उम्र इसी सेवाभाव में ही बीत गयी। माता-पिता की अनुपस्थिति में भी वह घर का ध्यान रखती थी तथा जमींदार के परिवार को अपना परिवार समझती थी । अन्ततः अपनी बाकी उम्र आश्रय की सेवा में व्यतीत करती है ।

इस उपन्यास की दूसरी पात्र सुकान्ति काकी है जो रिश्ते में सिद्धार्थ के पिता की काकी हुआ करती थी । स्वामी की मृत्यु के उपरांत बेटा और बहू से प्रताड़ित और लांछित हो कर सिद्धार्थ के पिता के पास आती है । इस तरह राधीनानी और सुकान्ति भी उनके घर पर आश्रित बन कर रहने लगती हैं । पिता और माता के मृत्यु के उपरांत सिद्धार्थ उन्हें आश्रय में ले जाते हैं ।

सुना मौसी सिद्धार्थ की माँ की दूर की रिश्तेदार थीं । सुना मौसी को उसके पिता, वयस्क पुरुष से विवाह कर देते हैं । उसकी पहली पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी । विवाह के बाद एक पुत्री (सविता) होने के बाद उनकी मृत्यु हो जाती है । मृत्यु के उपरांत पहली पत्नी

---

<sup>336</sup> भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नंद, पृ. सं.- 19

के बच्चे उन्हें घर से निकाल देते हैं । ऐसी स्थिति में सिद्धार्थ के माता पिता उसे आश्रय देते हैं ।

कृपासिन्धु मिश्र सिद्धार्थ के माता-पिता के तीर्थयात्रा के सहयात्री थे । अमरनाथ यात्रा करते समय किसी कारणवश उनकी गाड़ी पलट गई और कई लोग आहत हुए जिनमें कृपासिन्धु मिश्र भी थे । इस सड़क दुर्घटना में सिद्धार्थ के माता-पिता का देहांत हो गया था । कृपासिन्धु मिश्र जब शारीरिक रूप से स्वस्थ हुए । इस बीच कई माह गुजर गए तथा उनके परिवारजन उन्हें मृतक मान चुके थे । किन्तु उनकी विडंबना यह है कि जिस परिवार को पालने के लिए उन्होंने रेलवे की नौकरी की तथा खुद से ज्यादा जिसे सर्वोपरि रखा वही परिवार उन्हें अब रखना नहीं चाहता । इसके पीछे लेखिका इनके कारणों की भी पड़ताल करते हैं । आगे वह स्पष्ट करती हैं कि परिवार में उनकी पत्नी की अनेक आकांक्षाएं थीं जिसे वे पूरा नहीं कर पा रहे थे साथ ही पुत्र के लिए एक अच्छी नौकरी की व्यवस्था भी नहीं कर पा रहे थे । जिसके कारण उनके घर पर सदैव अशान्ति हुआ करती थी । किन्तु पिता को पुनः जीवित देख कर उनके घर वालों की प्रतिक्रिया आश्चर्यजनक थी । वे कतई नहीं चाहते थे कि कृपासिन्धु मिश्र उनके साथ रहें । क्योंकि उनकी मृत्यु के खबर के उपरांत उनकी पत्नी को पेंशन मिलने लगा था और बेटे को उनकी एवज में नौकरी मिल गई थी । ऐसी स्थिति में उनका पुनः घर पर लौटना उनके लिए संकट का कारण बन सकता था । समकालीन समय के बदलते परिदृश्य में बच्चे का पिता के विरुद्ध होना कोई बड़ी बात नहीं थी किन्तु पत्नी की भी उनके प्रति उदासीनता को देख कर कृपासिन्धु बाबू बड़े दुःखी हो गए थे ।

कुंती मौसी के पति ऑफिसर थे तथा उनके 4 पुत्र हैं । चार पुत्रों में एक बेटा डॉक्टर, दूसरा इंजीनियर, तीसरा बैंक ऑफिसर और चौथा अध्यापक है । कुंती मौसी की स्थिति पति के मृत्यु के पूर्व बहुत अच्छी थी । किन्तु मृत्यु के बाद वह चारों के पास बारी-बारी रहने लगीं । शुरुआती दिनों में बड़ा बेटा और बहू से आदर और सम्मान मिला किन्तु बाद में उनके व्यवहार में परिवर्तन देखा गया । दूसरे बेटा जो पेशे से इंजीनियर था उसके पास भी कुंती मौसी ने अनुभव किया कि वे उनका सम्मान नहीं कर रहे हैं । बेटा दूर पर चला जाता था और उसकी पत्नी टीपार्टी में जाया करती थी । वे दोनों भूल ही गए थे कि उनके घर पर उनकी माँ भी रहा करती है । “घर पर सास नाम की एक मनुष्य भी है, उसे भी भूख लगती होगी यह बात वह भूल जाया करती थी । बहुत रात गए घर पर आया करती थी ।

सास को खाने के लिए पूछने की जगह बच्चों पर चिल्लाया करती और मारती थी । इन सब कारण सास ही है यह जानने में कुंती मौसी को देर नहीं लगी ।<sup>337</sup> उसके उपरांत तीसरे बेटे के घर पर जाती हैं । वहाँ वे कहीं बाहर जाने का बहाना करते हुए कुंती मौसी को उनके घर पर छोड़ जाते हैं । ऐसे में कुंती मौसी सहज अनुभव करती हैं । उन्हें उन तीनों के पास न प्यार मिल पाया था न उचित सम्मान । यहाँ कम से कम शांति तो उन्हें मिली थी । किन्तु चौथा पुत्र और पुत्रवधू इन तीनों से भी ज्यादा खल प्रवृत्ति वाले व्यक्ति निकले । वे दोनों पेशे से भले ही अध्यापक और अध्यापिका थे, किन्तु उनके अंदर संवेदना की कमी अवश्य थी । वे माँ को रखने के बदले पिता के द्वारा बनाया घर चाहते थे । अंततः वे दोनों कुंती मौसी को घर उनके नाम पर करने के लिए बाध्य करते हैं । वहीं दूसरी ओर बची हुई संपत्ति पर अन्य तीन पुत्र कब्जा किए हुए थे । कुंती मौसी अंततः अपना घर छोटे बेटे के नाम करके उनके घर के आधे हिस्से को भाड़े पर देने के लिए बाध्य होती है । अपने घर पर भी उन्हें पूरा अधिकार नहीं था बल्कि डाइनिंग हॉल में भी उनका बिस्तर लगा हुआ था । इतने पर भी कभी अपने पुत्रों के अनिष्ट के बारे में कुंती मौसी सोच नहीं पाती थी । ऐसे में कुंती मौसी सिद्धार्थ के माता-पिता के साथ तीर्थ यात्रा को निकलती हैं तथा उन्हें सारी सच्चाई बताती हैं । “जहां जन्म किए जाने वाले पुत्र ही उनके माँ के हृदय को समझ नहीं पाए थे, वहीं दूसरे घर की लड़कियां क्या समझ पातीं ।”<sup>338</sup> कुंती मौसी के हृदय में यह बात कष्ट दे रही थी कि उनके अपने पुत्र ही अपनी माँ को समझना नहीं चाहते थे । साथ ही सम्मान की दृष्टि से देखते भी नहीं थे । उनके हृदय पर बड़ी गहरी चोट लगी थी इसलिए सिद्धार्थ से कुंती मौसी ने कहा था कि मुझे कहीं दूसरी जगह रखवा दें । “पेंशन और कुछ हाथ में बल है । मरने तक (कुंती मौसी) मैं यहीं रहूँगी । और पुत्र -पुत्रवधू के पास नहीं जाऊँगी । मरने के उपरांत भी मेरी खबर उन लोगों तक नहीं पहुंचाना ।”<sup>339</sup> इस उपन्यास की दूसरे वृद्ध सुखलता और मित्रा मौसी हैं । जिनके साथ भी उनके परिवार इसी तरह का बर्ताव करता है ।

मित्रा मौसी के पति रिटायर्ड होने के एक साल पूर्व ही चल बसे । उनके एक बेटा और तीन बेटियाँ थीं । तीनों बेटियों का विवाह अच्छे घर पर हुआ था । मित्रा मौसी का बेटा दूसरी

<sup>337</sup> भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नंद, पृ.सं.- 18

<sup>338</sup> भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नंद, पृ. सं.- 19

<sup>339</sup> भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नंद, पृ. सं.- 19

जाति की लड़की से विवाह कर लेता है जिसके कारण मित्रा मौसी को बहुत दुःख होता है । बहू घर पर ईसाई नीति नियमों का पालन करती है जबकि मित्रा मौसी हिन्दू धर्मालम्बी थी । उन्हें अपने घर पर बदले वातावरण से तकलीफ होने लगी थी । यही कारण रहा कि कुछ दिन बेटियों के पास घूम आने का मन बना लेती है । कुछ दिन बड़ी बेटे के पास रहने के बाद उन्हें वहाँ रहना अच्छा नहीं लगा साथ ही बड़ी बेटे ने उन्हें रोकने की भी कोशिश नहीं की । यही बात उनको और चोट पहुँचाती है । यहाँ तक की जाने के दिन भी बेटे के आँखों में माँ से बिछुड़ने का दुःख भी नहीं देखने को मिला । मंझली बेटे पेशे से डॉक्टर होने के नाते समय नहीं दे पाती है । नौकरों के बीच रह कर उन्हें अच्छा नहीं लगता इसलिए छोटी बेटे के पास जाने का निश्चय करती है । छोटी बेटे के घर पर उसकी सास बार-बार कब घर जा रहे हैं, पूछती है । कुछ दिन उनके घर पर रह कर बेटे के पास पुनः लौट आती हैं । आते ही बेटा गंभीर हो कर पूछता है कि बिना समाचार दिए आप कैसे आ गईं ? मित्रा मौसी बेटे के घर पर रह कर भी खुद को अकेला महसूस करने लगती है । अंततः आश्रय में रहने का निर्णय लेती है ।

आनंदिनी मौसी आश्रय में स्वयं नहीं आई थी बल्कि उसका बेटा उन्हें स्वयं यहाँ छोड़ कर चला गया था । आनंदिनी मौसी जब आश्रय में आई थी तब अपने बेटे का हाथ उन्होंने कस कर पकड़ा हुआ था । वह अपने बेटे से पूछती है -“और कब आओगे बेटा ! कब तुम्हें देखूँगी रे ? मेरी आँखें मानो फट सी गई हैं ? आनंदिनी मौसी के दोनों आँखों से अश्रु की धारा बहने लगी । तेरे दो बच्चे बहुत याद आएंगे रे ? .. मेरा हृदय फटा जा रहा है तू मुझे ले जा । मुझे तू अपने साथ ले चल । मैं चुपचाप एक कोने में पड़ी रहूँगी । कोई भी बात अपने मुँह से नहीं निकालूँगी । बहू अगर खाने को नहीं देगी तब भी कुछ नहीं बोलूँगी । तू भले ही मुझसे दो शब्द बात न कर पर कम से कम तुझे अपने आँखों से देखती तो रहूँगी ।”<sup>340</sup>

किन्तु फिर भी बेटे का हृदय नहीं पसीजता । वह उन्हें आखिरकार छोड़ कर चला जाता है । यह जानने के बाद भी कि पुत्र उसको अपने साथ नहीं रखना चाहता फिर भी उनके प्रेम में बेटे के लिए कोई कमी नहीं आती । जाते समय भी वह वादा करके जाता है कि मैं तुम्हें फोन करता रहूँगा । विडंबना यह है कि वह फोन कभी नहीं आया । साथ ही माँ

<sup>340</sup> भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नंद, पृ. सं.- 32

को दिया फोन नंबर भी गलत निकला । किन्तु आनंदिनी मौसी अपने बेटे का हालचाल जानने की सदैव आकांक्षी रही ।

इस उपन्यास में ऐसे अनेक वृद्ध पात्र हैं जिन्हें अपने परिवार के सदस्य मूल्यहीन समझते हैं । जीवन के इस अंतिम पड़ाव पर आकर वे इतने मजबूर और असहाय हो जाते हैं कि जीवन जीना कठिन लगने लगता है । सम्मान में कमी, उचित देखभाल की कमी, अकेलापन, शारीरिक शिथिलता, आर्थिक संकट, बच्चों का बढ़ता दबाव, अनादर आदि चीजें उन्हें ज्यादा कष्ट देने लगती हैं । ऐसे में एक ऐसे स्थान की आवश्यकता होने लगती है जहां अपना अंतिम समय शांति से गुजार सकें । कितनी बड़ी विडंबना है जो माता-पिता अपने बच्चों के लिए अपना सर्वस्व त्याग देते हैं वही बच्चे उनके अंतर्मन को कभी टटोल कर नहीं देखते बल्कि उनको बोझ समझने लगते हैं । यह समस्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है । बुजुर्गों का अस्तित्व एक संकट बनता जा रहा है । ऐसे में यह उपन्यास ओड़िशा के बहाने पूरे भारत के समाज का दृश्य प्रस्तुत करता है ।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि बुजुर्गों की समस्या समकालीन समय की प्रमुख समस्याओं में से एक है । इस पर लेखन की शुरुआत तो पहले पहल अन्य विधाओं में हो चुकी थी किन्तु आज वैश्वीकरण के दौर में समस्या अधिक प्रबल होने के कारण उपन्यास लेखन की भी शुरुआत हो चुकी है । हिन्दी में एक ओर जहां वृद्ध विमर्श की अनुगूँज सुनाई देने लगी है वहीं ओड़िया की स्थिति इससे भिन्न है । हिन्दी में बुजुर्ग संबंधी विमर्शात्मक पहलुओं को आधार बना कर उपन्यास के केन्द्रीय प्रश्नों को उठाया जा रहा है जबकि ओड़िया उपन्यासों में वृद्धों को लेकर आज भी दो तरह के साहित्य प्रचलित हैं जिनमें वृद्धों की समस्याओं को लेकर बहुत कम लिखा गया है । हिन्दी के उपन्यासों को देखने पर यह स्पष्ट होगा कि वृद्ध जीवन एक प्रवृत्ति के रूप में हिन्दी में प्रचलित हो चला है वहीं ओड़िया में वृद्ध जीवन पर अधिक लेखन की आवश्यकता है साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि ओड़िया उपन्यासों में वृद्धों की समस्या पर विमर्श को आधार बना कर देखने की कोशिश नहीं की गई है तथा एक तरह से ओड़िया में वृद्ध साहित्य सतही स्तर पर उपलब्ध है । संभवतः भविष्य में यह एक विशेष प्रवृत्ति का रूप धारण कर सकता है साथ हिन्दी में भी बुजुर्गों की समस्या के समाधान के लिए अनेक साहित्य की आवश्यकता है जो युवा के दृष्टिकोण को परिमार्जित करने का कार्य कर सके ।

## षष्ठ अध्याय

### किसान जीवन पर आधारित चयनित उपन्यास

- 6.1 पृष्ठभूमि
- 6.2 हिन्दी साहित्य में किसान
- 6.3 हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों में किसान



## 6.1 पृष्ठभूमि

भारत की आर्थिक व्यवस्था कृषि पर टिकी हुई है, इसलिए भारत को किसानों का देश भी कहा जाता है। कृषि से मनुष्य का रिश्ता बहुत पुराना है। जब मनुष्य पृथ्वी पर आया तब कई तरह से उसने अपनी क्षुधा मिटाने की कोशिश की तथा उसने अनाज का अनुसंधान किया। और यहीं से मनुष्य और अनाज का रिश्ता कायम होता गया। आज भी यह रिश्ता कायम है। लिखित साक्ष्य के आधार पर देखने पर स्पष्ट होगा कि यह परंपरा का सूत्रपात वेदों से हुआ। 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल में ही यह उल्लेख मिलता है कि आश्विन देवताओं ने राजा मनु को हल चलाना सिखाया था। 'अथर्ववेद' के अनुसार राजा पृथुवेन्य ने ही कृषि-कार्य किया था। अर्थात् लेखन के स्तर पर वेदों से ये परंपरा प्रारंभ होती हुई दिखाई देती है। 'रामायण' और 'महाभारत' के दौर में भी किसानों पर बात की गई है। राजा जनक के राज्य में कृषि-दुरवस्था का चित्रण मिलता है साथ ही सीता को उन्होंने हल जोतते समय प्राप्त किया था। 'महाभारत काल' में बलराम को 'हलधर' कहा गया। साथ ही 'महाभारत' के 'लोकपाल-सभाख्यान पर्व' में किसानों की चिंता को लेकर युधिष्ठिर से नारद प्रश्न करते हुए देखे जाते हैं। जिसमें किसानों की सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए कुछ प्रश्न पूछे गए जिसमें कृषि करते समय सिंचाई की व्यवस्था, ऋण की आवश्यकता तथा पुरुष वार्ता आदि विशेष थे। 'महाभारत काल' में सत्ता के केंद्र में कृषक की समस्या और निवारण की आवश्यकता महसूस की गई थी। क्योंकि कृषक के पास प्राकृतिक समस्याएं एक बड़ी समस्या तो थी ही जिसका कोई उपाय नहीं था किन्तु इससे इतर समस्या पर दृष्टिपात कर राज्य व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया। इन सारे तथ्यों से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि कृषि व्यवस्था कई प्राचीन युगों से हमारी आजीविका का सहारा रही है तथा किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए उस समय सत्ता द्वारा प्रयत्न भी किए जाते रहे थे। इसलिए यहाँ यह कहना गलत नहीं होगा कि किसानों की स्थिति उस दौर में अच्छी रही।

मध्यकाल में किसानों की आर्थिक व्यवस्था की नींव रही इसलिए खेती को लेकर भी विशेष प्रयोग किए गए। परंपरागत रूप से चला आ रहा भू-राजस्व तो किसानों से लिया गया किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि कृषक के लिए 'इक्ता-व्यवस्था', 'दीवान-इ-कोही' जैसे योजनाएं बनाई गईं, जिसमें कृषक को सहायता प्रदान की गई। साथ ही इस

दौर में कृषकों को सिंचाई के लिए विशेष सुविधाएं उपलब्ध कराई गई थीं। रहट जैसे यंत्र से कृषकों के लिए पानी की सुविधा की जाती थी। 12 वीं से 14 वीं शताब्दी में सिंचाई को ध्यान में रखते हुए पारसी चक्र का भी इस्तेमाल हुआ। पहले पहल इस दौर में कृषकों को जमीन पर अपना अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था। शेरशाह सूरी ने किसानों को जमीन पर अधिकार दिलवाया। अलाउद्दीन खिलजी के समय 'खलिश प्रथा' का भी प्रारंभ हुआ। साथ ही इस दौर में किसानों के लिए मंडी का भी निर्माण किया गया। मध्यकाल में किसानों की समस्या राजस्व कर को लेकर विशेष रूप से रही। किन्तु अकबर और जहांगीर के समय किसानों के करों को लेकर नई नीतियाँ अपनाई गईं। जिसमें हर किसान के जमीन पर एक जैसे कर की व्यवस्था नहीं थी। सिंचित भूमि पर कर ज्यादा लिया जाता था जबकि परती जमीन पर कम। क्योंकि सिंचित भूमि में 12 महीने फसल होती थी जबकि परती में ऐसा नहीं हो पाता था। साथ ही बंजर जमीन के लिए अलग व्यवस्था थी। कहने का तात्पर्य यह है कि जमीन और कृषि व्यवस्था को लेकर समय-समय पर बदलाव होते रहे और ये बदलाव कृषकों के हित में होते रहे। अतः यह कहा जा सकता है कि मुगल शासन में भले ही किसानों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी साथ ही कर का बोझ भी कम नहीं था, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय कर वसूली अमानवीय नहीं थी। किन्तु अंग्रेजों ने भारतीय किसानों पर दोहरा शोषण किया। उस समय एक तो मालगुजारी कई गुना बढ़ा दी गई और दूसरी तरफ उसकी वसूली में कोई मुरव्वत नहीं बरती गई।

अंग्रेजों के आगमन के साथ कृषि गत नियमों में परिवर्तन आया। 'दीवानी अधिकार' के तहत ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल, बिहार और ओड़िशा से भू-राजस्व वसूलने का अधिकार 1765 में मुगल सम्राट शाह आलम के द्वारा दिया गया था। भू-राजस्व की नवीन पद्धतियों के द्वारा किसानों से अधिक भू-राजस्व वसूल किया गया। अंग्रेजों के समय भारत की भूमि पर 'स्थायी बंदोबस्त' यानी जमींदारी प्रथा 1793 लॉर्ड कॉर्न वालीस ने लागू किया। जमींदारी प्रथा के तहत जमींदारों को भूमि का मालिक घोषित कर दिया गया तथा भूमिगत उसे सारे अधिकार दिए गए। जब कर की दर निश्चित कर लिया गया तब जमींदारों को कम फायदा हुआ इसलिए जमींदारों ने अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए कृषकों से अधिक कर वसूल करने के नए तरीकों का इस्तेमाल किया। इस दौर में कृषक विदेशी और देशी दोनों शोषक वर्गों से शोषित हुए। किसानों की विडंबना यह है कि

19वीं शताब्दी में हुई अकाल जैसी आपदाओं ने कृषकों की कमर तोड़ दी । कर्ज में डूबा किसान की स्थिति और बदतर हो गई । वर्तमान स्थिति का अगर जायजा लिया जाए तो स्पष्ट होगा कि आज भी किसान इसी समस्या से गुजर रहे हैं । उनकी स्थिति रती भर भी बदली नहीं है । जमींदारों के शोषण चक्र तथा ब्रिटिश शासन की लोलुप दृष्टि के कारण किसान अपनी जमीन से बेदखल हुए । इस दौर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसानों का शोषण के प्रति विरोध इसी दौर में उमड़ा । जो वर्ग अंग्रेजों की दृष्टि में कमजोर और मजलूम थे उसी वर्ग ने अपने अस्तित्व का बिगुल बजाया । इसी के परिणाम स्वरूप कृषक आंदोलन हुए । “सिद्धू कान्हू के नेतृत्व में 1855-56 ई. में संथाल विद्रोह हुआ जिसका क्रूरतापूर्वक दमन कर दिया गया । 1857 ई. की क्रांति में भी कृषकों ने अहम् भूमिका निभाई। बंगाल में जब कृषकों को नील की खेती करने के लिए बाध्य किया गया तो 1860 ई. में पाबना एवं नदिया जिले के कृषकों द्वारा भारतीय इतिहास की सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण कृषक हड़ताल हुई । 1875 ई. में मारवाड़ी एवं गुजराती साहूकारों के विरुद्ध मराठा कृषक विद्रोह किया गया था । महात्मा गांधी ने भी कृषकों की विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु चंपारण एवं खेड़ा सत्याग्रह में भाग लिया ।”<sup>341</sup> यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गांधी के प्रभाव से किसान आंदोलन हिंसात्मक न होकर अहिंसात्मक हुए । दीनबंधु मित्र के द्वारा लिखित ‘नील दर्पण’ में नील विद्रोह के संबंध में साक्ष्य मिलते हैं । आगे चल कर *दक्कन का विद्रोह, मोपला विद्रोह, कूका विद्रोह, रामोसी किसानों का विद्रोह, तेभागा आंदोलन, तेलंगाना आंदोलन, बिजोलिया किसान आंदोलन* आदि आंदोलन हुए । इन आंदोलनों ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसान अपनी शोषण नीति के प्रति जागरूक हैं और सचेत भी ।

1920 में बंगाल, पंजाब, यू. पी आदि में किसान सभा का गठन किया गया । 1936 में किसानों की सहायता हेतु अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ । इसी सभा में जमींदारी समाप्त करने की मांग की गई । अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश काल में कृषकों के लिए कोई सुधारात्मक कार्य नहीं किया गया । साथ ही इस दौर में अकालों की अधिकता और साहूकारों की शोषण नीति ने किसानों की आर्थिक स्थिति और खराब हो गई । साथ ही महालबाड़ी(उत्तरी क्षेत्र) और रैयातवाड़ी (दक्षिणी क्षेत्र) व्यवस्था

<sup>341</sup> भारत का इतिहास(1707-1950), डॉ. ए.के. चतुर्वेदी पृ. सं.-79

ने कृषकों पर विपरीत प्रभाव डाला । अतः यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति तक कृषि क्षेत्र पिछड़ता हुआ चला ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी किसानों की स्थिति कुछ ज्यादा बेहतर नहीं हुई । साहूकारी व्यवस्था का बोलबाला स्वतंत्रता के बाद भी रहा । किन्तु उनके शोषण के तरीकों में भिन्नताएं देखी गईं । भारत के विभिन्न राज्यों में भूमि सुधार संबंधी कानून बनाए गए किन्तु इससे किसानों को कुछ ज्यादा फायदा नहीं पहुंचा । 1950 में किसान पंचायत के अधिवेशन में राम मनोहर लोहिया ने किसानों के आंदोलन के लक्ष्य को स्पष्ट किया । पिछले तीन दशकों से किसानों ने अपनी समस्याओं को लेकर आंदोलन किया है । अस्सी और नब्बे के दशक में सबसे ज्यादा किसान आंदोलन हुए । इन आंदोलनों में कृषि उपज का उचित दाम न मिलना, किसानों पर बढ़ते हुए शुल्क, बिजली के बढ़ते बिल आदि मुद्दों को उठाया गया । नब्बे के दशक में आए वैश्वीकरण की नीति ने किसानों की स्थिति को और खराब कर दिया । जिसके परिणाम स्वरूप किसानों की आत्महत्या की खबरें बढ़ती गईं । “राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार, वर्ष 2017 में भारत में कृषि में शामिल 10,655 लोगों ने आत्महत्या की है । ... वर्ष 2017 में देश में आत्महत्या के सभी मामलों में कृषि संबंधी लोगों द्वारा आत्महत्या का प्रतिशत 8.2 % है ।”<sup>342</sup> वहीं 2018 में इनके आँकड़े 10,349 बताई जाती है ।

नेशनल अकाउंट्स डाटा के अनुसार कृषि का बुरा दौर आ चुका है । इन कृषकों में ज्यादातर किसान छोटी जोत वाले हैं, जो एक ओर प्रताड़ित हैं प्राकृतिक आपदाओं की वजह से दूसरी ओर प्रताड़ित हैं ऋण की समस्या से तो तीसरी तरफ प्रताड़ित हैं सरकार की खोखली नीतियों से । कर्जमाफी एवं समर्थन मूल्य में वृद्धि की मांग पर आज भी किसान संघर्ष, रत हैं । किसानों की आर्थिक स्थिति खराब होने के पीछे सरकार की असफल नीतियाँ जिम्मेदार रही हैं । साथ ही सरकार ने ऐसी अनेक योजनाएं बनायी हैं जो कि कागजों में ही सिमट कर रह गई हैं । तत्कालीन दौर में किसानों के आंदोलन जोरों पर है । आज किसान प्रताड़ित है बीजों के बढ़ते मूल्य, उर्वरक, जुताई और बिक्री की समस्या से । छोटे किसानों के लिए खेती करना असंभव सा हो गया है जिसकी वजह से वे मजदूरी करने के लिए विवश हो रहे हैं । राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक के सर्वे के मुताबिक देश के

---

<sup>342</sup> <https://www.drishtiias.com/hindi/daily-updates/daily-news-analysis/ncrb-report-on-farmers-suicide>  
06-01-2020

आधे से ज्यादा किसान कर्ज के बोझ तले दबे हैं । ऐसे में किसानों का भविष्य अंधकार में प्रतीत हो रहा है । अगर किसानों की स्थिति में सुधार न हो पाया तो वह दिन भी करीब है जब एक वर्ग केवल मजदूर बन कर ही रह जाएगा और उन पर मल्टीनैशनल कंपनी राज करेगी । तब देश की अर्थनीति का क्या होगा ? क्या तब अनाज के दर को बढ़ने से रोका जा सकेगा । आज कृषि और अर्थनीति बड़े संकट के दौर से गुजर रही है ऐसे में कोई उचित कदम न लेना किसानों की व्यवस्था को पूरा का पूरा समाप्त कर सकता है ।

समकालीन समय में किसानों की इसी दुरवस्था को लेकर समय-समय पर बहुत आंदोलन तो हुए फिर भी उनकी स्थिति सोचनीय है इसलिए साहित्य में 'किसान विमर्श' की शुरुआत हो चुकी है । यह विमर्श केवल किसानों की समस्या को केन्द्रीयता से नहीं उठाता बल्कि किसानों की अस्मिता के प्रश्नों को भी प्रस्तुत करता है साथ ही यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि किसान एक ऐसा उपेक्षित वर्ग है जिसके साथ स्वतंत्रता के पूर्व से अन्याय होता रहा है सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि आज भी उनके प्रति ज्यादातरियाँ बदली नहीं हैं । आज उनके सामने कई प्रकार के शोषक वर्ग निर्मित हो गए हैं - पहला साहूकार, दूसरा सरकार, तीसरा मल्टीनैशनल कंपनी । पहले उसकी लड़ाई सूदखोरों से थी किन्तु आज उनकी लड़ाई इन तीनों से है । किसानों के शोषकों में सरकार इसलिए शामिल है क्योंकि वह न तो किसानों की समस्या को जड़ से मिटाना चाह रही है बल्कि किसानों के अस्तित्व को ही मिटाने पर अमादा है साथ ही मल्टीनैशनल कंपनी के समर्थक के रूप में सरकार उनकी पिछलग्गू बनती जा रही है । यह विमर्श किसानों की पहचान को निर्मित करने के साथ साथ समाज में आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को बदलने की मांग करता है । यह मांग देश और पर्यावरण को बचाने के पक्ष में लड़ी जा रही है । इसलिए किसानों की स्थिति को सुधारने के विमर्श के कुछ मुद्दे हैं जैसे -किसानों की पैदावार का उचित मूल्य का निर्धारण, कम व्याज पर ऋण की सुविधा, फसल नष्ट होने पर बीमा, सिंचाई की व्यवस्था में नए तकनीक की आवश्यकता, उचित कीमत पर उर्वरक मुहैया कराना, अमेरिका जैसे विकसित देशों की तरह सब्सिडी की सुविधा, पोषक तत्व का उचित मूल्य निर्धारण, कृषक के लिए पेन्शन की सुविधा आदि ।

## 6.2 हिन्दी साहित्य में किसान

हिन्दी साहित्य में किसानों का मुद्दा आज नया नहीं है । समय-समय पर उन पर लेखन होते रहे हैं । प्रारम्भिक दौर के साहित्य में किसान और किसानी को सबसे अच्छा व्यवसाय के रूप में देखा गया । आदिकाल में विद्यापति के 'पदावली' में कृषि को अच्छा कार्य बताते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि निर्धन व्यक्ति को भीख मांगने से अच्छा है खेती करना चाहिए जिससे सम्मान बढ़ता है । 'बेरि बेरि अरे सिब हमे तोहि काइलहुँ / किरिषी करिअ मन लाए । ... खटंग काटि हर-हर जे बनाबिअ/ तिरसुल तोड़ी करू फार ।' किसानों पर लेखन की परंपरा भक्तिकाल से होती हुई आगे प्रसारित होती है ।

भक्ति काल में किसानों के समक्ष प्राकृतिक आपदाओं के साथ सामंती व्यवस्था की शोषण नीति भी शामिल है । इसलिए इस दौर में अधिकांश कवि इस समस्या को आधार बना कर काव्य की रचना कर रहे थे । भक्ति काल को पढ़ते समय यह ध्यान रखना होगा कि यह दौर सुल्तान और मुगलों का समय रहा है । इस दौर में किसानों को राजस्व करों की समस्या का भी सामना करना पड़ा है । अर्थात् किसान दोनों ओर से प्रताड़ित हुए । किसानों को लेकर कबीर भी लिखते हैं - "काहु जुगति ना जानीया, केही बिधि बचै सुखेत । नहि बंदगी नहि दीनता, नहि साधु संग हेत । अर्थात् मैं कोई उपाय नहीं जानता जिससे मैं अपनी खेती की रक्षा कर सकता हूँ । न तो मैं ईश्वर की बंदगी करता हूँ और न ही मैं स्वभाव में नम्र हूँ न ही किसी साधु से मैंने संगति की है ।"<sup>343</sup> किसानों पर उनकी और भी प्रसिद्ध पंक्तियाँ रही हैं जैसे - 'कुरुक्षेत्र सब मोदिनी, खेती करै किसान/ मोह मिरग सब छोरि गया, आस ना रहि खलिहान ।'

कबीर की तरह सूरदास ने भी किसानों पर काव्य लिखा है, जिसमें कृषकों की दयनीय दशा को देख कर सिंचाई के लिए बारिश की आवश्यकता को रेखांकित किया गया है -

“प्रभु जू, यों किन्ही हम खेती ।

बंजर भूमि, गाउ हर जोते, अरु जेती की तेती ।

काम-क्रोध दोउ बैल बली मिली, रज-तामस सब किन्हौ ।

अति कुबुद्धि मन हांकनहारे, माया जुआ दीन्हौ ।

इन्द्रिय- मूल- किसान- महातून -अंग्रज- बीज बई ।

---

<sup>343</sup> <http://Karmabhumi.Org/kabir-delusion/> (कबीर के दोहे)

जन्म जन्म की विषम- बासना, उपजत लता नई ।  
कीजै कृपा- दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई ।  
सूरदास के प्रभु सो करियै, होई न कान- कटाई ।”<sup>344</sup>

भक्तिकाल में तुलसी दास ने भी कृषकों की दुर्दशा को देखते हुए उन पर अपनी कलम चलाई । यह कविता उस समय की सामाजिक स्थिति को भी प्रस्तुत करने में सक्षम है । 15वीं-16वीं शताब्दी में हमारे यहां सामंतों का बोलबाला था, जिसमें किसान, बनिया और नौकर-चाकर सभी तबाह थे क्योंकि इनके शोषण की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी -

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,  
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।  
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,  
कहैं एक एकन सों, ‘कहाँ जाई, का करी?’  
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,  
साँकरे सबै पै, राम! रावरैं कृपा करी।  
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु!  
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी॥<sup>345</sup>

अतः भक्ति काल के प्रमुख कवियों ने कृषकों की समस्या तथा प्राकृतिक आपदा जैसे सूखा और वृष्टि की आवश्यकता को केंद्र में रख कर काव्य-सृजन किया गया । किन्तु विडंबना यह है कि कुछ आलोचकों ने उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया । ‘**मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य**’ में लिखा है कि - “कबीर शहरी कारीगरों के, सूर पशु- पालकों के, तुलसी किसानों के जीवन से जुड़े हैं। दार्शनिक मतवाद की छानबीन में विवेचक इनके भौतिक परिवेश की विशेषताएं भूल जाते हैं। किसान- जीवन के चित्र कबीर और सूर के काव्य में नहीं हैं, वे तुलसी के काव्य की विशेषताएं हैं।”<sup>346</sup> उपरोक्त काव्य के कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सूर और कबीर ने किसान की स्थिति को आधार बना कर काव्य लिखा है ऐसे में उनके काव्य में किसान जीवन उपेक्षित होना, यह कहना, उनका एक पक्षीय

<sup>344</sup> सूरसागर (भाग-1) : संपा. नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय सं.1952, पद (185), पृष्ठ (60)

<sup>345</sup> कवितावली, तुलसीदास, गीताप्रेस, संस्करण-2017, पृ. सं.- 116

<sup>346</sup> मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ (344)

मूल्यांकन को प्रस्तुत करता है । साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि सूर के काव्य में किसान जीवन से जुड़े पशुपालन का भी चित्रण किया गया है । **मैनेजर पाण्डेय जी** के मतानुसार- “सूर के काव्य में ऐसा समाज है जिसमें पशुपालन कृषि-व्यवस्था का अंग है और गोचारण किसान जीवन के व्यापक अनुभवों का हिस्सा। यहाँ किसान जीवन सूर के काव्य में प्रत्यक्ष और सांकेतिक दोनों रूपों में आया है। विनय के पदों में किसान-जीवन के यथार्थ के प्रतिनिधिक चित्र अधिक हैं, जबकि भ्रमरगीत में मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों और अलंकारों के माध्यम से उस जीवन के अनुभव सांकेतिक रूप में आए हैं।”<sup>347</sup> तुलसी दास के काव्य में किसानों के प्रति साहूकार और सामंत का शोषण-चक्र स्पष्ट रूप से दिखाया गया है इसलिए कृषकों के साहित्यिक जमीन की शुरुआत यही से मानी जाती है । किन्तु हिन्दी साहित्य में कृषकों को ध्यान में रख कर फिर से अनुसंधान करने की आवश्यकता रही है ।

रीतिकाल में कवि राजाश्रित होने के साथ-साथ शृंगारिकता में सराबोर होने कारण उनके काव्यों का विषय मूल रूप से किसान नहीं रहा । रीतिकालीन कवियों में राज दरबार की संस्कृतियां प्रमुखता से उभरीं । रसलीन की एक पंक्ति जो कृषकों से जुड़ती है -‘तिय तिय सेज बिछाड़ियो, रही बाट पिय हेरि । खेत बुबाई किसान ज्यों, रहै मेघ अवसेरि’ । इस समय दो ऐसे कवि घाघ और भड्डरी हुए जिन्हें किसानों का कवि कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा । रामनरेश त्रिपाठी ने ‘घाघ और भड्डरी’(हिन्दुस्तानी अकेडमी 1931)शीर्षक नाम से अत्यंत महत्वपूर्ण संकलन तैयार किया था । घाघ की कविता जो किसानों को लेकर बहुत प्रसिद्ध है -‘उत्तम खेती मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी भीख निदान ।’ उस समय खेती को उत्तम, व्यापार को मध्यम व्यवसाय तथा नौकरी को तो निकृष्ट कोटि का माना गया ।

एक ओर घाघ ने जहां खेती को उच्च कोटि का कहा वहीं उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि खेती के लिए ऋण की आवश्यकता होती है किन्तु यह ऋण व्यवस्था कृषकों को कहीं का नहीं रखती -

‘खेती करै बनिज को धावै, ऐसा डूबे थाह न पावै ।’

<sup>347</sup> भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य : मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, आवृत्ति संस्करण 2012, पृष्ठ (294)



घाघ और भड्डरी जैसे किसान कवि वैज्ञानिकों को भी मात देने वाले कवि हैं । घाघ और भड्डरी का मूल्यांकन आलोचकों ने सही तरह से नहीं किया, इसलिए उन्हें उपेक्षित समझ कर साहित्य से दरकिनार किया गया । किन्तु उनकी कविताओं को पढ़ने पर यह ज्ञात होगा कि उसमें खेती के लिए कौन से पोषक तत्व की आवश्यकता है, खरीफ के मौसम में कौन सी खेती करना चाहिए, कब कौन सी खेती फलप्रद होगी इसका सबसे अच्छा वर्णन उनके काव्य में देखा जा सकता है । आज उनकी हर एक पंक्ति प्रासंगिक लगती है, जैसे-

‘खाद पड़े तो खेत, नहीं तो कूड़ा रेत ।’

‘गोबर राखी पाती सड़ै, फिर खेती में दाना पड़ै ।’

‘सन के डंठल खेत छिटावै, तिनते लाभ चौगुनो पावै ।’

‘गोबर, मैला, नीम की खली, या से खेती दुनी फली ।’

खेत की मेड़बंदी को घाघ महत्वपूर्ण मानते हैं इसीलिए तो वह कहते हैं कि-

‘सौ की जोत पचासै जोते, उंच के बांधे बारी ।

जो पचास का सौ न तुले, देव घाघ को गारी ॥’

इस प्रकार उनकी कविताओं में फसल के बोने का उचित समय, बीज की मात्रा, बुवाई का तरीका आदि की जानकारी मिलती है ।

आधुनिक काल में द्विवेदी युग में किसानों पर लेख और निबंध लिखे गए । किसानों पर इस युग में एक सार्थक पहल देखी जा सकती है । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र को लेकर “संपत्तिशास्त्र” नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी जिसमें किसानों पर गंभीर चर्चा मिलती है । इसी पुस्तक में किसानों की जीवन का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा: ‘खेतिहरों का व्यवसाय या पेशा खेती करना है और खेती खेतों में होती है । (हिन्दी) प्रांतों में जितनी ज़मीन खेती करने लायक है, कुछ को छोड़कर बाकी सभी के मालिक जमींदार, ताल्लुकेदार, नंबरदार और राजा रईस बन बैठे हैं । वे काश्तकारों से खूब लगान लेते हैं, उसे समय-समय पर बढ़ाते भी हैं और कारण उपस्थित हो जाने पर उन्हें खेतों से बेदखल भी कर देते हैं । इस संबंध में जो कानून बने हैं वे काश्तकारों के सुभीते के कम और जमींदारों के सुभीते के अधिक हैं जब पैदावार बहुत कम हो जाती है और लगान बेबाक नहीं होता तब कर्ज़ लेना पड़ता है । कम से कम कर्ज़ की मात्रा बढ़ती जाती है और एक

दिन घर द्वार, बैल बछिया सब नीलाम हो जाते हैं। खेती ही प्रधान व्यवसाय ठहरा ।’ इस पुस्तक का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है -

“आप देहात में जाकर देखिए सौ पचास किसानों में कहीं एक-आध आपको ऐसा मिलेगा जिसे रोटी,कपड़े की तकलीफ न हो...सिर्फ दस वर्ष में मद्रास प्रान्त के कृषिजीवी लोगों को एक अष्टमांश, मालगुजारी न दे सकने के कारण, जमीन, घर-द्वार, बर्तन-भांडे बेचकर ‘भिक्षां देहि’ करने लगा।” (संपत्तिशास्त्र-महावीर प्रसाद द्विवेदी, एनबीटी, 2014, पृष्ठ 121-122)

इसी प्रकार उन दिनों ‘सरस्वती’ पत्रिका में किसान जीवन पर अनेक लेख और निबंध भी छपते रहते थे।

इसी दौर में गुप्त जी किसान जीवन के यथार्थ को लेकर ‘किसान’ (1915) खण्ड काव्य के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन में किसान की भूमिका और उनकी चिंताओं को व्यक्त करते हैं । समकालीन परिस्थिति का गुप्त जी पर बहुत प्रभाव पड़ा जिसकी वजह से उन्होंने किसान पर काव्य लिखा । किसान पर लिखित कविता में उन्होंने जमींदारी प्रथा के कारण किसानों की बदतर स्थिति को स्पष्ट किया है । साथ ही इस दौर में किसान मुख्य रूप से कैसे मजदूर बनते जा रहे थे तथा रोजी-रोटी की तलाश में ये मजदूर कैसे प्रवासित होने लगे थे इसका चित्रण भी मिलता है । कवि किसानों की ऐसी स्थिति के लिए अंग्रेजों को और उनकी नीतियों को जिम्मेदार समझते हैं । उनकी ‘भारत-भारती’ पुस्तक में इसका वर्णन भी मिलता है :

“अब पूर्व की-सी अन्न की होती नहीं उत्पत्ति है  
पर क्या इसी से अब हमारी घट रही संपत्ति है?  
यदि अन्य देशों को यहाँ से अन्न जाना बंद हो,  
तो देश फिर से सम्पन्न हो, क्रंदन रुके, आनंद हो ।

गुप्त जी अपनी कविता में किसानों के दोहरे शोषण को भी प्रस्तुत करते हैं जो प्रकृति प्रदत्त है । समय -समय प्राकृतिक आपदाओं के कारण भी किसान बहुत प्रभावित होता है ।

हेमंत में बहुधा घनों से पूर्ण रहता व्योम है,  
पावस निशाओं में तथा हँसता शरद का सोम है  
हो जाय अच्छी भी फसल पर लाभ कृषकों को कहाँ ?

खाते सवाई, बीज ऋण से हैं रंगे रक्खे कहाँ ?

आता महाजन के यहाँ वह अन्न सारा अंत में

अधपेट खाकर फिर उन्हें है काँपना हेमन्त में ।

किसान की धैर्य शीलता और अदम्य साहस को प्रस्तुत करने में कवि पीछे नहीं हटते हैं । इसका चित्रण करते हुए कवि लिखते हैं -

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा-सा जल रहा,  
है चल रहा सन-सन पवन, तन से पसीना बह रहा,  
देखो कृषक शोषित सुखाकर हल तथापि चला रहे,  
किस लोभ से इस अर्चि में वे निजशरीर जला रहे।  
मध्यातन है उनकी स्त्रियाँ ले रोटियाँ पहुँची वहीं, ,  
हैं रोटियाँ रूखी, खबर है शाक की उनको नहीं।  
संतोष से खाकर उन्हें वे, काम में फिर लग गयीं,  
भरपेट भोजन पा गये तो भाग्य मानो जग गये।

‘भारत-भारती’ के अतिरिक्त किसान जीवन पर केंद्रित ‘किसान’ खण्डकाव्य गुप्त जी बहुत प्रसिद्ध कृति है । जिसमें उन्होंने किसान जीवन की समस्या को बड़ी सजीवता से प्रस्तुत किया है । इस खण्डकाव्य में आठ सर्ग हैं, जिसमें आत्मचरितात्मक रूप में किसान जीवन की कथा ‘प्रार्थना’ से शुरू होकर ‘बाल्य और विवाह’, ‘गार्हस्थ’, ‘सर्वस्यान्त’, ‘देश त्याग’, ‘फिजी’, ‘प्रत्यावर्तन’ और ‘अंत’ शीर्षकों में समाप्त होती है । एक तरह से यह कविता किसानों की आत्मगाथा है ।

इस दौर में बाल मुकुंद गुप्त भी आते हैं जिनकी रचनाओं में भी किसान और उसकी समस्या चित्रित है । उनकी बहुत सारी कविताएँ किसान जीवन पर आधारित हैं जो उनकी ग्रंथावली में संग्रहीत हैं । उनकी एक प्रसिद्ध कविता -

कविता ‘सर सय्यद का बुढ़ापा’ है जिसमें उन्होंने कृषक समाज के महत्व को बताते हुए लिखा है -

सय्यद बाबा! एक क्षण भर को ध्यान इधर भी कर लीजे,

इस सीधी सी बात का मेरे अवश्य ही उत्तर दीजे

जब यह कृषक समाज सर्वथा नष्ट भ्रष्ट हो जाएगा

तब यह सुख लोलुप समाज क्या आप अन्न उपजावेगा ।

किसानों की दुर्दशा और लगान की समस्या को लेकर उनकी प्रसिद्ध कविता निम्नलिखित हैं -

‘उस अवसर में मर खप कर दुखिया अनाज उपजाते हैं,  
हाय विधाता उसकों भी सुख से नहीं खाने पाते हैं।  
जय के दूत उसे खेतों से ही उठवा ले जाते हैं,  
यह बेचारे उनके मुँह को ताकते ही रह जाते हैं।  
अहा बेचारे दुःख के मारे निस दिन पचपच मरें किसान,  
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवाय ले जाय लगान।  
यह लगान पापी सारा ही अन्न हड़प कर जाता है,  
कभी कभी सब का भक्षण कर भी नहीं अघाता है।’

इसी दौर में किसानों पर लिखने वालों में गया प्रसाद शुक्ल ‘सनेही’ का नाम प्रमुख है । गया प्रसाद शुक्ल ‘सनेही’ ने कृषकों पर बहुत सारी कविताएं लिखी हैं जिसमें ‘किसान’, ‘कृषक क्रंदन’, ‘आर्त कृषक’ नामक कविता प्रमुख है । छायावाद युग में निराला और पंत कृषक जीवन पर कविता लेखन करते हैं । निराला के द्वारा लिखित ‘बादल राग’(अपरा) कविता कृषकों पर ही आधारित है । इस कविता में कवि किसानों में क्रांति के बादल भरने की कामना करते हैं । यह कविता किसानों को जागृत करने के लिए तथा पूंजीवादी व्यवस्था को मिटाने की बात करती है ।

त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं  
जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर  
तुझे बुलाता कृषक अधीर  
ऐ विप्लव के वीर !  
चूस लिया है उसका सार  
हाड़ मात्र ही है आधार  
ऐ जीवन के पारावार !

सुमित्रा नंदन पंत के द्वारा लिखित ‘वे आँखें’ कविता किसान जीवन पर आधारित है । ‘ग्राम्या’ में संकलित ‘कवि किसान’ कविता किसानों को समर्पित है । पंत की यह कविता प्रगतिवाद से प्रभावित कविता है । छायावादोत्तर दौर में किसानों पर लिखने वालों में दिनकर

का नाम भी आता है । उन्होंने 'हमारे कृषक' नाम से कृषकों पर कविता लिखी जिसकी कुछ पंक्ति -

जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है  
छूटे कभी संग बैलों का ऐसा कोई याम नहीं है  
मुख में जीभ शक्ति भुजा में जीवन में सुख का नाम नहीं है  
वसन कहां? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।  
(हमारे कृषक, राम धारी सिंह दिनकर )

प्रगतिवाद का पूरा दौर ही किसानों और मजदूरों को समर्पित है । इसमें प्रायः कविताओं के केंद्र में इस वर्ग की समस्याएं चित्रित हैं साथ ही पूंजीवाद और पूंजीपति शोषक वर्ग का विरोध भी है । नागार्जुन, धूमिल, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन आदि कवि इस दौर के प्रमुख कवि हैं जो किसान और मजदूर वर्ग पर लेखन कार्य करते हैं । इसी परंपरा को परवर्ती कवियों ने आगे बढ़ाया । अतः यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि किसानों की समस्याओं पर लिखित साहित्य की एक लंबी परंपरा रही है जो कि आज भी जारी है । किन्तु यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि काव्य के क्षेत्र में किसानों पर सार्थक प्रयास हुए हैं । वहीं गद्य विधा में किसानों पर लेखन के सार्थक प्रयास छायावाद युग से देखे जा सकते हैं ।

## 6.2 हिन्दी उपन्यासों में किसान

हिन्दी साहित्य में गद्य-साहित्य की ओर अगर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होगा कि 'किसान' जीवन पर निबंध, लेख, आलोचना आदि लेखन की शुरुआत भले ही द्विवेदी युग से होती है । किन्तु हिन्दी कथा साहित्य में किसान को लेकर लेखन छायावाद युग से ही प्रारंभ होता है । आधुनिक काल में किसानों को केंद्र में रख कर लिखने वालों में प्रेमचंद का नाम प्रमुख है । उनके द्वारा लिखित 'दो बैलों की कथा', 'पूस की रात' आदि कहानी 'किसान जीवन' को स्पष्ट करती हैं । काव्य के क्षेत्र में किसान जीवन को लेकर जो कार्य तुलसीदास ने किया तथा आधुनिक काव्य जगत में मैथिलीशरण गुप्त ने किया वही कार्य गद्य के क्षेत्र में प्रेमचंद करते हैं । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के साहित्य में किसान जीवन का विस्तार ज्यादा है ।

प्रेमचंद के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह जीवन के ऐसे अप्रतिम रचनाकार हैं जिनसे प्रेरणा पा कर ही रचनाकारों ने किसान जीवन पर लेखन कार्य किया है । आलोचक,

प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास को कृषक-जीवन की महागाथा मानते हैं । किन्तु किसान जीवन पर उनकी दूसरी कृति 'प्रेमाश्रम' है जो गोदान की ही पूर्व पीठिका है । प्रेमचंद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने ही किसानों को सर्वप्रथम मुख्य पात्र के रूप में उपन्यासों में चित्रित किया क्योंकि इससे पूर्व इस तरह के प्रयोग और प्रयास किसी ने नहीं किया था । इसी दौर में जयशंकर प्रसाद का तितली उपन्यास भी आता है ।

किसान जीवन पर उपन्यासों में नागार्जुन का 'बलचनमा' (1952 ) और फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल'(1954) उपन्यास प्रमुख हैं । इन उपन्यासों में जमींदार द्वारा किसानों का शोषण और संघर्ष चित्रित है । इसी परंपरा में राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' (1966) उपन्यास भी आता है, जिसमें मुस्लिम समाज में किसान की स्थिति देखी जा सकती है । महिला उपन्यासकार में कृष्णा सोबती का नाम प्रमुख है जिसमें पंजाब के समाज को चित्रित करते हुए किसान की स्थिति को प्रस्तुत किया गया । वीरेंद्र जैन का 'डूब' (1991) और 'पार' (1994) उपन्यास भूमंडलीकरण के दौर में किसानों की स्थिति को प्रस्तुत करते हैं जिसमें बाँध और बिजली की परियोजना के तहत किसानों की भूमि-अधिग्रहण की समस्या और विस्थापन के दंश को चित्रित किया गया है । साथ ही इस उपन्यास में साहूकार के नए शोषण-चक्र को भी प्रस्तुत किया गया है ।

कमलाकांत का 'बेदखल' (1997) उपन्यास मूल रूप से किसानों की दुर्दशा और भूमि अधिग्रहण की समस्या और लगान की समस्या पर आधारित है ।

21वीं शताब्दी का दौर किसानों की ऋणग्रस्तता, किसान आत्महत्या, परियोजनाओं का सही तरह से उपयोग में न लाया जाना, भूमिअधिग्रहण, प्राकृतिक आपदा, सिंचाई की समस्या, बिजली की अनुपलब्धता, बिजली का बढ़ता मूल्य, बीज और रासायनिक द्रव्यों की कीमतों में वृद्धि, खराब हुई फसल पर सब्सिडी का न मिल पाना, जमींदारों की शोषण नीति, उचित मूल्य में अनाज को न बेच पाना, अनाज रखने की असमर्थता, आत्महत्या के उपरांत किसानों की मृत्यु को असंगत बताना आदि विषयों पर उपन्यास लेखन की शुरुआत हुई है । जिसमें राजू शर्मा का 'हलफनामें' (2006), भीमसेन त्यागी का 'जमीन' (2006), शिवमूर्ति का 'आखिरी छलांग' (2008), कुणाल सिंह का 'आदिग्राम उपाख्यान' (2010), संजीव का 'फांस' (2015), सुनील चतुर्वेदी का 'कालीघाट' (2015), राजकुमार राकेश का 'कंदील' (2015) तथा पंकज सुबीर का 'अकाल में उत्सव' (2016) आते हैं ।

### 6.3 हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों में किसान

ओड़िया साहित्य के राधानाथ-युग से ओड़िया उपन्यासों की शुरुआत होती है। ओड़िया साहित्य में कृषक-जीवन और ग्रामीण-जीवन को आधार बना कर उपन्यास लेखन की शुरुआत हुई। ग्रामीण जीवन पर साहित्य तथा उपन्यास लेखन के पीछे गांधी का दर्शन तत्व रहा। यही कारण रहा कि उस दौर में उपन्यासों में ग्रामीण समाज में किसानों की समस्याएं तो उभरीं किन्तु इनमें हिंसात्मक लड़ाइयाँ नहीं देखी गयीं।

ओड़िया उपन्यासों में किसानों पर लेखन की शुरुआत फकीर मोहन सेनापति से होती है। उनके द्वारा लिखित 'छह माण आठ गुंठ' उपन्यास किसानों पर आधारित है। यह उपन्यास 'जमीन की समस्या' पर आधारित है। यह उपन्यास सर्वप्रथम 1897 में 'उत्कल साहित्य पत्रिका' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा है। यह उपन्यास यथार्थ जीवन पर आधारित है। इस उपन्यास में सामंती व्यवस्था और साहूकार की शोषण नीति प्रस्तुत है। इस उपन्यास में मुख्य पात्र सरिया और भोगिया हैं जिनकी जमीन को मंगराज साहूकार हड़पना चाहता है। इस उपन्यास का एक पात्र श्याम है जो पेशे से किसान है। श्याम अपनी जमीन पर धान की रोपाई करता है जिसे देख कर मंगराज रोपाई हुई धान को उठा कर अपने खेत के लिए ले जाता है। यह प्रक्रिया श्याम के सामने जबरन तरीके से की जाती है। किन्तु यह देख कर भी किसान इसका विरोध नहीं कर पाता बल्कि ठगा का ठगा देखता रह जाता है। "अरे श्याम, तू क्या कर रहा है, तू तो बुद्धू है। खेती करना तुझे आता ही नहीं। अरे क्या इतना घने धान की रोपाई खेत में होती है। पौधों को सांस लेने के लिए जगह तो चाहिए। आधा खींच कर निकाल।"<sup>348</sup> समकालीन समय में किसान के शोषण और उत्पीड़न को इस उपन्यास में देखा जा सकता है। 1986 में पार्वती घोष इस उपन्यास को आधार बना कर ओड़िया फिल्म का निर्माण करती हैं। इसी परंपरा में किसानों पर 'माटी र मणिष' (1931) उपन्यास आता है। इस उपन्यास के लेखक कालन्दी चरण पाणिग्राही हैं। इन्होंने इस उपन्यास में जमींदारों का शोषण चित्रित किया है। इस उपन्यास में हरिमिश्र प्रधानपड़ा के महाजन, यूनियन प्रेसीडेंट और जमींदार हैं। जो अपनी संपत्ति के विस्तार के लिए दूसरे की जमीन हड़प लेते हैं। अशिक्षित जनता से कर्ज के नाम पर चक्रवृद्धि सुध लेकर भी संतुष्ट नहीं हैं बल्कि निरीह लोगों के अंगूठे का निशान

<sup>348</sup> छः माण आठ गुंठ, फकीर मोहन सेनापति, परिच्छेद -4, पृ.सं.- 13-14

खाली कागज पर करवा कर उनकी जमीन हड़प लेते हैं । साथ ही घर परिवार में कलह लगा कर फायदा उठाने वालों में इनका नाम प्रमुख है । हरिमिश्र नायक, बरजू किसान के घर पर कलह लगाता है । जिसके कारण छकटी हरिमिश्र की बातों में आ कर बरजू से अपना जमीनी अधिकार मांगती है फलतः बिरजू अपना सर्वस्व त्याग कर गाँव छोड़ कर चला जाता है ।

कान्हूचरण के द्वारा रचित उपन्यास 'शास्ति' में कृषकों की दुरवस्था और साहूकार का शोषण चित्रित है । इस उपन्यास में चितरंजन स्वाई के माध्यम से महाजनी व्यवस्था की वास्तविक छवि को प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में महाजन सभी को धान का लालच दे कर लूटता है । इस समस्या से ग्रसित होकर किसान बनई परिड़ा अपना सर्वस्व खो देता है । इसी परंपरा में हरेकृष्ण महताब के द्वारा लिखित 'प्रतिभा', लक्ष्मीकांत महापात्र के द्वारा लिखित 'कणा मामू' आदि उपन्यास आते हैं ।

कालिंदी चरण पाणिग्राही के द्वारा लिखित 'लूहा र मणिष' उपन्यास माटी र माणिष का ही विस्तार है । इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन को चित्रित करने के साथ साथ-साथ कृषि सभ्यता को दिखाने का प्रयास किया । इस उपन्यास के केंद्र में कृषकों की आर्थिक समस्या है । इस उपन्यास में बरजू गांधी आदर्शों को आधार बना कर हरीपुर गाँव को आदर्श गाँव बनाने में सफल हो पाया है । बरजू के साथ गौरांग सेन कृषि की उन्नति के लिए समवाय बैंक से ऋण लेकर आता है किन्तु गरीब किसान कृषि से कैसे उन्नति कर सकता है ? सरकारी कर्मचारी ऋण के पैसे के लिए लोगों का शारीरिक शोषण करते हैं यह इस उपन्यास में चित्रित है । साथ ही इस उपन्यास में जमींदारी व्यवस्था में कृषकों पर अत्याचार किस प्रकार बढ़ता गया यह भी दिखाया गया है ।

'हिडमाटी' उपन्यास 1948 में प्रकाशित है । यह उपन्यास तत्कालीन समय में किसानों की आर्थिक स्थिति को दर्शाता है । इस उपन्यास में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार किसान स्वयं कष्ट करके अनाज उगाता है किन्तु उसे ही पेट भर खाना नहीं मिलता । इस उपन्यास में रतनी और शुकुरा दो आम किसान हैं जो मदन पट्टनायक और गोविंद पट्टनायक के शोषण चक्र में पिसते हैं । किसानों को कर्ज के नाम पर भूमि अधिग्रहण और छल को इस उपन्यास में आधार बनाया गया है ।

'माटी मटाल' उपन्यास गोपीनाथ मोहंती के द्वारा लिखित बहु चर्चित उपन्यास है । इस उपन्यास में महाजनी-व्यवस्था को दिखाया गया है । इस उपन्यास में कृषकों की पूंजी की



कमी को दिखाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि कृषक आज आर्थिक रूप से कितना कमजोर हो गया है। खेती करने के लिए वह महाजनों पर निर्भर है किन्तु महाजन उनका फायदा उठाने के लिए चक्रवृद्धि सुध से किसानों का शोषण करते हैं। जो भी किसान उनसे ऋण लेता है, वह उनका पैसा कभी चुका नहीं पाता, और महाजन उनकी जमीन हड़प लेता है। कृषक इतना दीनहीन हो जाता है कि उसके पास मजदूरी के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं मिलता। इसलिए कृषक कलकत्ता की ओर प्रवासन करते हुए देखे जाते हैं। साथ ही इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि कैसे सरकारी योजनाएँ सफल नहीं हो पा रही हैं। इस गाँव में तालाब के लिए आया पैसा ठेकेदार कैसे खा जाता है, इसका चित्रण भी किया गया है।

‘भोकशष र शहर’ उपन्यास में गाँव का किसान किस प्रकार शहरों के साहूकारों पर निर्भर है, यह स्पष्ट किया गया है। यहाँ उन साहूकारों की ज्यादाती और शोषण को दिखाते हुए लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि फसल के पैदा होने के बाद सरकार निर्धारित मूल्य से भी कम दर में किसान साहूकार को अपनी फसल दे कर कर्ज चुकाने के लिए मजबूर हैं। साथ ही इस उपन्यास में यह प्रश्न खड़ा किया गया है कि सरकार किसानों से जमीन खरीद कर क्या कृषकों की स्थिति को और सोचनीय बना रही ?

‘हंस काँदों र छंद’ उपन्यास किसान आंदोलन पर आधारित है। इसी परंपरा में ‘जननी जन्म भूमिश्च’ आदि उपन्यास आते हैं।

‘आखिरी छलांग’ उपन्यास शिवमूर्ति के द्वारा लिखित तीसरा उपन्यास है। यह उपन्यास सर्वप्रथम ‘नया ज्ञानोदय’ के जनवरी, वर्ष 2008 में प्रकाशित हुआ। ‘आखिरी छलांग’ उपन्यास किसान जीवन की वास्तविकता पर आधारित है। किसान वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो सदियों से आर्थिक समस्या को झेलता आया है। किसान की आर्थिक बदहाली के पीछे कई कारण रहे हैं। प्राचीन दौर से कर, साहूकार, शोषण और प्राकृतिक आपदा उसकी आर्थिक बदहाली का कारण हुआ करती थी किन्तु समय के परिवर्तन के साथ समस्याएं और भी जुड़ती गई हैं। आज किसान भले ही कर जैसी व्यवस्था से आजाद हो चुका है किन्तु साहूकार का शोषण और प्राकृतिक आपदाओं ने उसका दामन आज भी नहीं छोड़ा है। समकालीन समय में किसानों के समक्ष कई सारी चुनौतियाँ हैं जिससे किसान जूझ नहीं पा रहा है। किसान की आर्थिक स्थिति खराब होने के पीछे मूल कारण सरकारी योजनाएँ हैं। कभी किसानों के पक्ष में तो कभी उनके विरोध में नीतियाँ बनाई जाती हैं।

जो पक्ष में नीतियाँ बनाई जाती हैं वह कभी सफल नहीं हो पातीं और जो विरोध में बनाई जाती हैं उससे पूरा कृषक समुदाय प्रताड़ित है । आधुनिकीकरण के द्वारा बनाये गये बाँध, सड़कों, कारखानों का निर्माण में किसानों की भूमि का अधिग्रहण और मुआवजे के नाम पर मिले एक चौथाई मूल्य, उनकी समस्या का मूल कारण रहा है । किसानों के हित में बनाई गई ऐसे सैकड़ों योजनाओं के बावजूद आज किसान की आत्महत्याएँ क्यों बढ़ती जा रही है ? प्रश्न यहाँ यह भी खड़ा होता है कि क्यों किसानों की आत्महत्या बस सहानुभूति अर्जन करने में सक्षम रही है जबकि आत्महत्याओं को रोकने के लिए कोई उपाय नहीं ढूँढा जा रहा । किसानों के लिए बने किसान-कार्ड, ऋण की सुविधा, रासायनिक द्रव्यों का सुलभ में मिलना, नहरों का निर्माण, ट्रैक्टर के लिए ऋण की सुविधा आदि योजनाएँ उनके लिए गले का फंदा क्यों बन जाता है ? आत्मनिर्भर किसान क्यों आज निर्भरशील बनता जा रहा है ? इस उपन्यास में ऐसे कई सवाल हैं जो सोचने के लिए मजबूर करते हैं ।

इस उपन्यास की पृष्ठभूमि अवध का क्षेत्र है । इस उपन्यास का मुख्य पात्र पहलवान है, जिसके पास खेती करने के लिए चार एकड़ जमीन है । उनके इलाके में दस-पंद्रह एकड़ जमीन वाले किसान एक-दो ही मिलेंगे । जबकि सौ में से पच्चीस-तीस घर एकदम भूमिहीन हैं । चालीस-पचास घरों के पास आधे से एक एकड़ तक जमीन होगी । इस गाँव में चार-पाँच एकड़ की जोतवाले किसान ही बड़े किसान माने जाते हैं । पहलवान को कई बार बड़ा आलू और गोभी उत्पादन के लिए पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है । किन्तु आज वही किसानी उसकी समस्या का कारण बन बैठा है । लेखक इस उपन्यास में यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि पहलवान कभी बड़ा किसान माना जाता था किन्तु समाज में आए बदलाव के कारण उनकी स्थिति बहुत खराब होती जा रही है ऐसे में यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि छोटे जोत वाले या सीमांत किसान की क्या दुर्गति होती होगी । इस उपन्यास में भले ही अवध क्षेत्र को आधार बना कर लिखा गया हो किन्तु इस उपन्यास में चित्रित समस्या पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करती है ।

इस उपन्यास में लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि पहले और अभी के किसान की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है । पहलवान के पिता बताते थे कि कभी-कभी दस-पाँच रुपए की उधारी का जुगाड़ भी उनके पास नहीं होता था । उस समय जमींदारों का जमाना था आज जमींदार और बैंक दोनों ही किसानों की बदहाली के कारक हैं । किसान आर्थिक रूप से कमजोर और सक्षम न होने के कारण कर्ज लेकर खेती करना चाहता है किन्तु अनाज का

मार्केट में एक मूल्य निर्धारित न होने के कारण मुनाफा, बिचौलिया वर्ग ले जाता है और किसानों के हाथ निराशा ही लगती है । न उसके पास अनाज को सुरक्षित और संरक्षित रखने की जगह है और न अनाज बेचने की मंडी । कुछ मंडियां हैं भी तो उस पर उच्च वर्ग का प्रभुत्व है जिसके कारण खेती में हुआ मुनाफा कभी कृषकों के पास नहीं जाता । और किसान कर्ज की मार के तले दबता जाता है । इस उपन्यास में पहलवान गन्ने की खेती के लिए खाद और सिंचाई के लिए आवश्यक बिजली के पैसे देने में असमर्थ है - “तीन साल हो गए गन्ने का बकाया अभी तक नहीं मिला । सोसायटी से ली गई खाद का कर्ज न चुका पाने के चलते पिछले साल पकड़ लिए गए थे । हर दूसरे महीने ट्यूबवेल के बिल की तलवार सिर पर लटक जाती है ।”<sup>349</sup> कर्ज सबसे भयाभह होता है जिससे कृषि न पहले बच पायी थी न आज । आज तो खेती से आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकता है, यह एक भ्रम है । “किसानों के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा ।”<sup>350</sup>

समाज आधुनिक से उत्तराधुनिक हो गया किन्तु किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया बल्कि उसकी समस्याएं और बढ़ी हैं । भूमंडलीकरण के दौर में आई नई आर्थिक नीति ने किसानों की दशा को और खराब कर दिया है । नई आर्थिक नीति तथा उदारीकरण के तहत सभी चीजों के मूल्य बढ़े जो न बढ़ा वह तो अनाज का मूल्य है । सारा भार अकेला कृषक झेलने के लिए मजबूर है । अब तो किसानों को खेती करके खर्च का मूल्य भी निकालना मुश्किल हो गया है । “जिस परिवार में बाहर से नगदी की आमदनी नहीं है उसका आज के जमाने में गुजर होना मुश्किल है । जैसे गड्ढे से खोदी गई मिट्टी उसी गड्ढे को भरने के लिए पूरी नहीं पड़ती वैसे ही खेती-किसानी की आमदनी खेती-किसानी के खर्च भर को भी नहीं अंटती । और कहाँ से अंटे ! डीजल, बिजली, खाद कीटनाशक, जोताई-मड़ाई मजूरी-सबका रेट तो हर साल दस पाँच रुपये बढ़ जाता है । नहीं बढ़ता तो किसान की पैदावार का दाम । इसलिए जितनी लंबी खेती उतना ही लंबा घाटा ।”<sup>351</sup>

<sup>349</sup> नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008, पृ.सं. - 75

<sup>350</sup> नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008, पृ.सं. -83

<sup>351</sup> नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008, पृ.सं. - 79

लेखक इस उपन्यास में आलू की खेती का उदाहरण देते हुए स्पष्ट करते हैं कि किसान आलू का बीज 10 रुपए किलो खरीद कर बोया । आलू जब तैयार हुआ तब पैदावार की अधिकता के कारण इसके रेट गिर गई आलू किसानों से दो रुपए किलो खरीदे गए । ऐसे में जब आलू मार्केट पहुंची तब फिर से 10 रुपए किलो बिकने लगी । मौसम की समस्या के कारण किसानों को कम मूल्य में ही अनाज बेचना पड़ा । इस तरह की समस्याओं से किसानों को हर बार जूझना पड़ता है ।

बीज, रासायनिक द्रव्यों की कीमत आसमान छू रही है तथा बिजली के बढ़ते मूल्य ने किसानों पर अधिक प्रहार किया है । ऐसे में बिजली के बिल को वसूलने आए अफसरों की प्रताड़ना किसानों के लिए और बोझ बन जाती है । सबसे बड़ी विडंबना यह है कि बड़ी बड़ी मिलों, फैक्ट्रियों पर सिर्फ बिजली का ही लाखों का बकाया है, उनसे वसूलने की हिम्मत इन अफसरों के पास नहीं होती । सारा कानून सिर्फ किसानों, मजदूरों के लिए होता है । साथ ही यूरिया जैसे आवश्यक द्रव्य मार्केट से कुछ ही दिनों में गायब हो जाते हैं । एक तरफ कर्ज की मार तो दूसरी तरफ प्राकृतिक मार ने किसानों की आर्थिक स्थिति को और खराब कर दिया है । ऐसा नहीं है कि प्राकृतिक आपदाएँ पहले नहीं थीं किन्तु पर्यावरण और प्रकृति का असंतुलन इस दौर में ज्यादा हुआ है । जिसकी वजह से गरीब किसान जो वर्षा पर ही आश्रित हैं, उसकी स्थिति और खराब हो गई है । साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि सरकार ने किसानों के लिए कुछ नहरों का निर्माण किया जिसके केंद्र में किसानों की पानी की समस्या थी । नहरों का निर्माण हुआ किन्तु पानी की समस्या तब भी बनी रही क्योंकि न ही उन नहरों को साफ करने की आवश्यकता समझी गई न गर्मियों में पानी देने की । ऐसे में सूखा जैसी समस्या से किसानों को गुजरना पड़ा । “एक चौथाई फसल सूख गयो तो करीब दस दिन बाद नहर में पानी आया । और आया तो इतनी तेज से चढ़ा कि पटरी बह गयी । इस गाँव और सामने वाले गाँव की सिंवार रात भर में ही डबडबाकर भर गई । हुआ यह कि पिछली गर्मी में न तो नहर के पेट में जमने वाली सिल्ट (बालू) निकाली गई न पटरी की मरम्मत की गई । फर्जी बिल बनाकर पेमेंट ले लिया गया । जब पटरी कट गई तो अपनी गर्दन बचाने के लिए नहर विभाग द्वारा दोनों गाँव के खिलाफ नहर काटने की रिपोर्ट लिखा दी गई ।”<sup>352</sup> लेखक के अनुसार भले

---

<sup>352</sup> नया ज्ञानोदय, जनवरी 2008, पृ.सं. - 76

ही सरकार के द्वारा किसानों के लिए योजना बनाई गई हैं और बनाई जा रही हैं किन्तु यह कितना कार्यरत है या नहीं इस पर सरकार की दृष्टि नहीं है । जिसकी वजह से किसानों की ये समस्याएं हल नहीं हो पा रही हैं ।

दूसरी बड़ी समस्या किसानों की पारिवारिक है । खेती में उचित मूल्य में कमी के कारण गुजर बसर करना मुश्किल हो गया है । गरीब किसानों को तीन वक्त का अनाज तक नहीं मिल पा रहा है कितनी बड़ी विडंबना है कि अनाज पैदा करने वाला किसान ही अनाज के लिए तरसता है । उनके बच्चे उच्च और अच्छी शिक्षा से वंचित रहते हैं । जो किसान अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा के बारे में सोचता है वह किसान कर्जों के बोझ के तले दबता ही जाता है । प्रश्न यह कि क्या किसान के बच्चे उच्च और अच्छे शिक्षा के दावेदार नहीं हैं ? सरकार की ओर से उनके बच्चों के लिए सहायता प्रदान नहीं करनी चाहिए ? विवाह-संस्कार तथा मृत्यु संस्कार के लिए किसान पैसे जमा करने तक के लिए असमर्थ है ऐसे में वह कर्ज न ले तो क्या करे ? ऐसे में सरकार किसानों को अपनी समस्या के लिए जिम्मेदार मानती है । सवाल यहाँ यह खड़ा होता है कि जहां हर चीज के मूल्य बढ़ते जा रहे हैं वहीं किसान उन चीजों को कैसे खरीदे ? उनके पास किसानी ही उनकी एक मात्र धरोहर है । ऐसे में किसान की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने की आवश्यकता है । इसलिए किसान की आज की दशा मजदूर से ज्यादा बदतर है । अनुसंधान करने पर यह पाया गया कि ऐसे बहुत से छोटे जोत वाले किसानों ने किसानी छोड़ कर मजदूरी करने लगे ।

लेखक किसानों को उनकी समस्या के प्रति जागरूक करने के साथ-साथ अन्याय के प्रति विरोध करने की मांग करते हैं । लेखक यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कृषकों की स्थिति बदतर होने के पीछे किसान भी जिम्मेदार हैं । क्योंकि सरकार जब उन्हें 14 घंटे की बिजली देने की बात करती है किन्तु जब ऐसा नहीं होता तब किसान ऐसी समस्याओं पर क्यों चुप्पी साधे बैठे रहते हैं ? इस गाँव में खरीफ के मौसम में 4-5 घंटा ही बिजली मिलती है, उसमें भी हर आधे-घंटे में बिजली कटती है, जिसके कारण जमीन सूखी रह गयी । ऐसे में कुछ किसानों ने इसका विरोध करना चाहा किन्तु यह समस्या ऐसे हल नहीं होगी । जब तक आस पास के दो-चार गाँव के किसान एकजुट होकर इस समस्या पर विरोध प्रदर्शन नहीं करेंगे तब तक व्यवस्था ऐसी ही चलती रहेगी और किसानों के हाथ कुछ भी नहीं आएगा । किसानों को अपनी समस्या का हल स्वयं ही ढूँढना है । लेखक किसानों को प्रेरित करते हुए लिखते हैं - “नहीं लड़ेगा तो मरेगा, मर तो रहा ही है और

जल्दी मरेगा । देश-दुनिया के नक्शे से गायब हो जाएगा । कोई रोक नहीं सकता । बहुत सारे मुद्दे हैं जिनसे लड़ना जरूरी है । जैसे सरकार की नीतियां । गेहूँ पैदा करने में लागत बारह रुपए किलो आती है गेहूँ बिकता है सात रुपये किलो, आलू और प्याज किसान के घर पैदा होता है तो दो रुपये किलो बिकने लगता है । दो महीने बाद जैसे किसानों के घर से बाहर निकला, दस रुपये किलो हो जाता है । पिछले पैंतीस साल में जमीन सौ गुनी महंगी हो गयी । सोना पचहत्तर गुना, डीजल पचास गुना जबकि गेहूँ सिर्फ सात गुना । ... बड़े पूँजीपतियों के कारखाने में बनने वाली और अमीर लोगों के उपयोग में आने वाली चीजें सस्ती हो गयीं और कुटीर उद्योग में बनने वाली या गरीब के काम में आने वाली चीजें महंगी । जिस सरकार की नीयत ऐसी गरीब विरोधी, किसान विरोधी हो, उसके खिलाफ गरीब नहीं खड़ा होगा, किसान नहीं खड़ा होगा तो कौन खड़ा होगा ?”<sup>353</sup> किसानों की लड़ाई आज प्राथमिक हो गई है।

ऐसे बहुत से कारण हैं जिनकी वजह से किसान आत्महत्याएं इस दौर में बढ़ी हैं । इस उपन्यास में पांडे बाबा ऐसे किसान थे जिनके पास साढ़े तीन एकड़ का चक था । खाते-पीते किसान माने जाते थे । उनका मानना भी था कि खेती-किसानी से इतनी कमाई नहीं होती कि ट्रैक्टर की किस्त दी जा सके । किन्तु दलालों के संपर्क में आ कर बेरोजगार बेटे के लिए ट्रैक्टर लोन पर ले आते हैं । दो साल तक, जब तक ट्रैक्टर की मरम्मत की आवश्यकता नहीं पड़ी तब तक किस्त देने में कोई दिक्कत नहीं आई । एक बार उनकी ट्रॉली पलट गई । तब ब्याज देना मुश्किल हो गया । जमीन बंधक थी सो नीलाम हो गई । सारी जमीन एक चौथाई कीमत में तय कर दी गई । उनपर ऐसा सदमा लगा की अर्ध विक्षिप्त हो गए आखिरकार एक दिन आत्महत्या कर ली । यहाँ सोचने वाली बात यह थी कि “जो ऋण किसान की भलाई के लिए दिया जाता है वही उसके गले का फंदा कैसे बन जाता है ? जब खेती की आमदनी से इतनी भारी रकम की वापसी हो ही नहीं सकती तो उसे किसानों को अपने गले में बांधने के लिए उत्साहित क्यों किया जाता है ?”<sup>354</sup> लेखक आगे इस उपन्यास में असफल योजनाओं की पड़ताल करते हुए स्पष्ट करते हैं कि “जरूरत है ऐसे नासमझों को समझाने की कि दिमागी बीमारी की जांच किसानों की नहीं, किसानों के लिए योजना बनाने वाले उन योजनाकारों की कराने की जरूरत है जिसमें से खेलावन

<sup>353</sup> नया ज्ञानोदय, पृ.सं. -90-91

<sup>354</sup> नया ज्ञानोदय, पृ.सं. -99

सिकरेटेरी की मानें तो बहुतों को यह भी पता नहीं होगा कि चने का पेड़ बड़ा होता है या अरहर का? आलू जमीन के नीचे फलता है कि ऊपर ? जरूरत है कि ऐसे विशेषज्ञों को हटाकर वहाँ जमीनी आदमी बैठाने के लिए आवाज उठाने की।<sup>355</sup> आत्महत्या की बहुत सारी वजह रही हैं किन्तु इससे उबरना आवश्यक है। इस उपन्यास में पहलवान किसान इन सारी समस्याओं के खिलाफ एक लंबी छलांग लगाते हैं जिसे आखिरी छलांग कहा गया। दरअसल यह आखिरी छलांग उन सारी समस्याओं को दूर करने के लिए कार्य दक्षता पर निर्भरशील है जिसमें इन समस्याओं से निपटने के लिए कोशिश और अदम्य साहस की आवश्यकता है। "उन्होंने आस-पास देखा। कोई नहीं था। कोई हो तो क्या? सारी चिंता झोंको भाड़ में। खेत रेहन होने की चिंता। बेटे के ब्याह की चिंता। बेटे की फीस की चिंता। ट्यूबवेल के बिल की चिंता। सबको झोंको भाड़ में। बाजुओं को तौलते हुए वे सांस खींचकर फेफड़े में हवा भरते हैं। कितनी कुव्वत बची है देह में? आज कूदकर देख लेना चाहते हैं।"<sup>356</sup>

‘फाँस’ उपन्यास उन किसानों को समर्पित है जिनके पास आत्महत्या के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं बचा। यह अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता कि एक किसान कितनी सारी पीड़ा से गुजरता है। किसान एक ऐसा वर्ग है जो अपनी सारी ताकत सारी ऊर्जा खेत में लगा कर बंजर जमीन को उर्वर बनाता है। कई सारी समस्याओं के बावजूद किसान अदम्य साहस और आशा लेकर खेत जोतता है। बार-बार हारता है फिर भी खेती करता है। यह खेती उसकी पुरखों की धरोहर, कौशल और आजीविका का सहारा है। बार-बार कोशिशों के बाद भी जब तक दबाव बाहरी होता है तब तक वह लड़ता और सहता रहता है किन्तु जब उसका सब्र का बाँध टूटता है और जब उसकी मानसिक ऊहापोह इतनी बढ़ जाती है कि दबाव सीधा सिर पर चढ़ जाता है तब वह हार जाता है। तब उसे किसी की सुध नहीं होती न अपनी, न परिवार की और न उस जमीन की जिसको, कभी उसने माँ समझा था। "आत्महत्या, खुदकुशी, सुइसायड़। सिर्फ इस्केप नहीं है प्रतिवाद भी है, अंतिम अन्याय के विरुद्ध चीख है, मौन चीख। सायलेंट क्राय! साने गुरुजी कभी बालों में तेल-कंधी न करते। महात्मा गांधी की हत्या के बाद जब उन्हें पता चला कि गांधी जी को गोली

<sup>355</sup> नया ज्ञानोदय, पृ.सं. -102

<sup>356</sup> नया ज्ञानोदय, पृ.सं. -106

मारनेवाला व्यक्ति एक मराठी है तो उन्होंने बालों में तेल लगाया, कंधी की और आत्महत्या कर ली । मैं प्रायश्चित्त कर रहा हूं उन पापों के लिए जो हमने भले न किए हों, मगर हत्यारे से कहीं न कहीं जुड़ता है हमारा नाम । ....आत्महत्या महज कायरता नहीं, भाव प्रवणता का उदात्त मुहूर्त है, पश्चात्ताप और निर्वेद की आग में मानवता का झुलसता हुआ परचम।"<sup>357</sup>

अनुसंधान करते हुए यह पाया गया कि किसान आत्महत्या से पहले मानसिक रूप से अर्ध विकसित सा व्यवहार करने लगते हैं । एमिल दुर्खिम की पुस्तक में सामूहिक आत्महत्या के संबंध में यह स्पष्ट किया गया है कि जो सामूहिक आत्महत्या है, उसके लिए समाज और उसकी व्यवस्था जिम्मेदार है । इसलिए कहना न होगा कि बढ़ते किसान आत्महत्याएँ सामूहिकता का रूप ले चुकी हैं -“आत्महत्या के मूल तत्व कहीं न कहीं सामाजिक संरचना में मौजूद रहते हैं, खास कर उन समाजों में, जहां व्यक्ति समाज के अधीन होता है, वहाँ यह माना जाता है कि आत्महत्या उनके अनुशासन की अपरिहार्य क्रियाविधि है, खासकर सामूहिक आत्महत्या के मामलों में उसके बीजों को देखा जा सकता है ।”<sup>358</sup> किसानों की आत्महत्या एक ज्वलंत मुद्दा है । ऐसा नहीं है कि किसानों की आत्महत्या पहले नहीं होती थीं किन्तु इस दौर में किसानों की आत्महत्या बहुत बढ़ी हैं । संभवतः इसके लिए कोई उपाय नहीं किया गया तो वह दिन भी दूर नहीं जब परंपरागत किसानों के अंश भी नहीं बचेंगे । किसानों पर आई रिपोर्ट के अनुसार आज तक भारत में तीन लाख से भी ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है । किन्तु कितनी बड़ी विडंबना है कि मीडिया इन सारी खबरों को नहीं दिखाती । बल्कि उनकी उपेक्षा कर दी जाती है । मीडिया तंत्र अब सत्ता के इशारों पर नाचता है । मीडिया की मुखालफत करते हुए लेखक लिखते हैं कि -“मीडिया की हजार-हजार आत्महत्याएँ कोई खबर नहीं बन पातीं । खबर बनती है मुंबई में चल रहे लक्मे फैशन वीक की प्रतियोगिता । 512 खबरिया चैनल जुटे हैं उसे कवर करने को ।”<sup>359</sup> इस प्रकार इस उपन्यास में मीडिया के दोहरे चरित्र को भी प्रस्तुत किया गया है । यह इस सदी का क्रूर और काला सत्य है । किसी को इससे कोई मतलब नहीं है कि -“शेत क्यों बंजर हो जाता है और क्यों बंजर हो जाता है आदमी का मन? इस मरण के खिलाफ उठकर खड़े

---

<sup>357</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.- 197

<sup>358</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.- 110

<sup>359</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-185



होने की कोशिश में बार-बार लड़खड़ा कर क्यों गिरता है आदमी?"<sup>360</sup> हद तो तब हो गई जब सरकार ने किसानों की आत्महत्या को पात्र और अपात्र घोषित कर अपनी राजनीति खेली। सरकार आत्महत्या के बाद मुआवजा निर्धारण करने के लिए शव को पात्र और अपात्र घोषित करता है। यह इस दौर की अमानवीयता ही है कि मुआवजा की रकम को प्राप्त करने के लिए मृतक के परिजन मृतक को पात्र बनने के लिए सबूत ढूँढते हैं। पात्र होने का पैमाना सरकारी बैंक से लिया गया कर्ज को लेकर होता। साहूकारों से लिया कर्ज, सरकारी नीति के अनुसार कर्ज नहीं होता जिसे किसान के परिवार जन उसकी मृत्यु उपरांत भी भरने के लिए बाध्य होते हैं। सरकार का अमानवीयतापूर्ण और हिंसक व्यवहार को इस उपन्यास में सूक्ष्मता से दिखाया गया है। सरकारी राहत कोश की राशि बचाने का यह उपाय किसान विरोधी है। इस प्रकार इस उपन्यास में किसानों की दारुण-दशा और सरकारी नीतियों आदि की विस्तृत पड़ताल करते हुए उसकी मारक समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

संजीव के द्वारा लिखित 'फाँस' उपन्यास की पृष्ठभूमि सुखाड़ के यवतमाल जिले के बनगाँव पर आधारित है। यह गाँव किसानों का गाँव है जिसमें आधी से ज्यादा आबादी किसानी कर अपना पेट पालती है। इस गाँव में ऐसे तो कई किसान हैं जिस पर संजीव अपना कथा क्रम बुनते हैं किन्तु इस उपन्यास में जिस परिवार को केंद्र में रखा गया वह है शिबू और उसका परिवार। इस परिवार में शिबू की पत्नी 'शकुन' (शकुन्तला) उसकी दो बेटियाँ 'छोटी' (कलावती) और 'बड़ी' (सरस्वती) हैं। 'शिबू' भारत में ऐसे किसान का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने परिवार का पेट पालने के लिए खेती में आई अनेक परेशानियों और मुश्किलों से संघर्ष करता है। शिबू चाहता है कि दोनों लड़कियों को अच्छी शिक्षा-दीक्षा दे कर ब्याह करवा दे। किन्तु खेती-किसानी के कर्ज में शिबू इस तरह फँसता चला जाता है कि उसकी पारिवारिक जिम्मेवारियों को पूरा करने में खुद को असमर्थ पाने लगा है। खेती-किसानी में आए आर्थिक तंगी तथा सूखे की मार झेलता 'शिबू' सरकारी बैंकों तथा सेठ-साहूकारों से खेती के लिए इतना कर्ज ले चुका होता है कि यह कर्ज अब उसके गले की 'फाँस' बन जाता है। इस फाँस से बचने के लिए अपनी पत्नी के सारे जेवर तक वह एक-एक करके बेच चुका है। किन्तु फिर भी साहूकार से लिया कर्ज वह उतार नहीं पाता है। "विदर्भ कृषि का ज्वालामुखी है। सुप्त ज्वालामुखी। कर्ज उतारना तो

---

<sup>360</sup> फाँस, संजीव, पृ.सं.-73

दूर, किसानों की आमदनी ही इतनी कम है कि खेती में बने रहना मुमकिन नहीं।<sup>361</sup> विदर्भ के किसान सिंचाई के पानी और आपदाओं के शिकार हैं। परिवेश में असंतुलन का कारण प्रकृति का दोहन है। आज भूमंडलीकरण के दौर में परिवेश को बहुत नुकसान पहुंचाया गया है। जिसका फल किसानों को भोगना पड़ता है। किसानों को तिहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। कर्ज, सरकारी नीतियाँ और पर्यावरण असंतुलन की समस्या से आज का किसान गुजरता है। अंततः 'शिबू' शारीरिक और मानसिक पीड़ा को आत्मसात नहीं कर पाता और आत्महत्या कर लेता है। साथ ही आत्महत्या को गलत बताने वाला, हमेशा इस पर ज्ञान-दर्शन देने वाला 'सुनील' भी आत्महत्या कर लेता है। 'सुनील' कहता था, एक भी आदमी ने अगर मेरे रहते आत्महत्या की तो मेरे जीवन को धिक्कार है और उसी सुनील ने सबसे पहले आत्महत्या की।

'फांस' उपन्यास में आत्महत्या करने के पीछे कारणों की तलाश की गई है। पहला कारण किसानों के प्रयोग में आने वाले महंगे बीज, खादों और कीटनाशकों के कारण लिया गया कर्ज है। यह कर्ज ग्रामीण समाज में किसान साहूकारों से लेना ज्यादा पसंद करता है क्योंकि वहाँ न तो सरकारी बैंकों की तरह लफड़े हैं और न फर्जी का डर। फलतः किसान बैंकों से बचता है। भले ही उन्हें साहूकारों से ज्यादा सूद पर कर्ज लेना पड़ता है। किन्तु समस्या तब ज्यादा विकटतर होती है जब फसलों के नष्ट होने पर सरकारी बैंकों से लिए किसानों की कर्ज माफ़ होती है और साहूकारों से लिए कर्ज वैसे के वैसे रहते हैं। देश की आधी से ज्यादा आबादी किसानी करती है किन्तु सब्सिडी के नाम पर जो कर्ज माफ़ किया जाता है उसमें कुछ ही किसानों को लाभ मिलता है। और सरकार कर्ज माफी के बदले वाहवाही लूटती है। आम लोगों की दृष्टि में सरकार किसानों को सभी सुविधाएं दे रही होती हैं। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। सभी किसानों को सरकारी बैंक से लॉन मिलता भी नहीं है। कितनी बड़ी विडंबना है कि आज गाड़ी-घोड़ों के लिए लॉन तो तुरंत मिल जाया करता है किन्तु खेती के नाम पर लॉन मिलना मुश्किल हो गया है। बैंक की मानें तो किसान, दी गई सुविधाओं का फायदा उठा रहे हैं, वे किसानी के नाम पर लिया लॉन को घरों के कामों में खर्च कर देते हैं। इसलिए किसानों पर से उनका भरोसा उठता गया है। किन्तु सोचने वाली बात यह है कि किसान का भी परिवार है उसकी भी जरूरतें

---

<sup>361</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-66

और जिम्मेदारियाँ हैं, जब किए गए काम से फायदा नहीं मिल रहा है तो बेचारा करे भी क्या ? सरकार सिर्फ उसे खेती के लिए ही कर्ज दे रही है जबकि उसके परिवार की चिंता सरकार की नहीं है । कोई किसान क्या केवल खुद के लिए खेती कर रहा है ? व्यवस्था क्यों ये समझना नहीं चाहती कि खेती ही आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने का सबसे बड़ा कारक है । खेती को जिंदा रखने के लिए किसान और किसान को जीवित रखने के लिए उसका परिवार आवश्यक है । “एक किसान को सिर्फ खेती, सिर्फ बीज, खाद कीटनाशक, सिंचाई नहीं जीवन और परिवार की अन्य जरूरतें भी होती हैं जैसे बच्चे की शिक्षा, स्वास्थ्य, बेटी की शादी, खुशी, गमी जैसी चीजों के कर्ज सरकार से नहीं मिलती । ऐसे हालात तक ले ही आए हैं क्यों हमारे हुक्मरान हमें यहाँ ?”<sup>362</sup> कितनी बड़ी विडंबना है कि किसान कर्ज के बोझ तले दबने के बाद भी खेती छोड़ नहीं पाता । “इस देश के सौ में से चालीस शेतकरी आज ही खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो। 80 लाख ने तो किसानों छोड़ भी दी।”<sup>363</sup>

दूसरी समस्या पानी और प्राकृतिक आपदाओं की रही है । “पिछली बार ऐसा सूखा पड़ा था कि कुंओं तक में पानी डालना पड़ा था सगुन के लिए और अकेले इस बार इतना बरसा कि बह गये कुएं । जिधर देखो पानी ही पानी, मानो समंदर हो । रेल के पटरियों के नीचे की माटी तक बह गयी ।”<sup>364</sup> इसतरह कई-बार आपदाएँ किसानों की परीक्षा लेती रही है ।

इस उपन्यास में लेखक भूमंडलीकरण और कॉर्पोरेट वर्ग की सच्चाई को भी प्रस्तुत करते हैं । लेखक इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करते हैं कि सरकार के केंद्र में अब न किसानों की समस्याएं और न भारत की उन्नति, सब बहती गंगा में हाथ धोने को अमादा हैं । “उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कारपोरेट वाला हो चुका है-बिल्कुल ठुस्स यांत्रिक । कारपोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जाहिर तौर पर किसी बड़ी पूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूँजी बाज़ार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती हैं। उसकी सामाजिक जिम्मेवारी सिर्फ इतनी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिंदा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं

---

<sup>362</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.- 111

<sup>363</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.- 17

<sup>364</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.- 98-99

को जमीन कि गुणवत्ता, सिंचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं।”<sup>365</sup> सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों से आए मुनाफा को देखते हुए किसानों के जमीन का अधिग्रहण कर उनको बेच रही है । इस समस्या को कथाकार इस उपन्यास में उठाते हैं - "सड़कों के किनारे सारी खेतीवाली जमीनें बिक चुकी हैं। मकान बन रहे हैं। आनेवाले दिनों में सिर्फ बिल्डिंगें होंगी, चमचमाती सड़कें होंगी और चमचमाती गाड़ियां न हमारे पास लोग होंगे, न शेती, न हमारी-तुम्हारी बैलगाड़ियां ।”<sup>366</sup>

संजीव किसानों के लिए निर्मित विदेशी बीज और उससे बढ़ती समस्या को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं -"मिलीबग नामक कीड़ा बी. टी. के आने के पहले भारत में नहीं देखा गया था। बी. टी. मिलीबग को लेकर आया... वैसे ही जैसे पीएल 480 नाम के अमेरिकन गेहूं के साथ आया था जहरीला पौधा पर्थेनियम जो अब भारतीय हो गया है, नाम - गाजर घास ।”<sup>367</sup> इस कीड़े और गाजर-घास से हरी-भरी खेती बर्बाद हो रही है । यह नीतिगत फांस नहीं तो और क्या है? इससे न केवल गेहूं और कपास की फसल प्रभावित हो चुकी है उससे अन्य फसलों की बर्बादी भी हो गई है। इसके नियंत्रण की जहरीले दवाइयों को ज्यादा छिड़का जा रहा है, इससे वह बीमारी दुरुस्त होने की अपेक्षा खेती के लिए पोषक कृमि-कीटक मर रहे हैं और सारा पर्यावरणीय संतुलन बिगड़ते जा रहा है। “शेतकरी (किसान) की एकता तोड़ने के लिए या उनके उद्धार के नाम पर भगवान जाने सन् 2002 में आया था कापूस (कपास) का महाबीज बी. टी. कॉटन बीज, क्या, तो विलायत से कि अमेरिका से ! विलायती बीज है, नाजुक बीज, खाद चाहिए? लो ! कीटनाशक भी चाहिए ! पैसे नहीं हैं, सरकार कर्ज दे रही है न ! लो ! और पानी ? ऊपर वाला देगा न ! ”<sup>368</sup> इसके लिए उन्हें बुला-बुलाकर कर्ज भी दिया गया। लेकिन उस समय इसकी जो शर्तें थीं वह झूठी साबित हुईं । ‘बी. टी. कॉटन इस आश्वासन के साथ आया था कि प्रथम दो छिड़काव के बाद कीटनाशक की जरूरत कम पड़ती जाएगी । मगर उल्टा हुआ । ईल्लियाँ क्या मरती, मिलबाग जैसे कई भुनगे पैदा हो गए । ऐसे जर्म्स इसके पहले यहाँ नहीं थे। अब इन्हें मारने के लिए और ज्यादा तगड़े कीटनाशक की जरूरत आ पड़ी । फल यह कि

---

<sup>365</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-111

<sup>366</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-36

<sup>367</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-189-190

<sup>368</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-37

फसल, बीज, मिट्टी, पानी, मित्र कीड़े और मित्र पक्षी सबका नाश ।' सरकार की असफल नीतियों के पीछे कारणों की तलाश करते हुए इस उपन्यास में स्पष्ट किया गया कि जिनको खेती और अनाज की ही जानकारी नहीं होती वही लोग इससे संबंधित योजनाएं बनाते हैं । सरकार कभी जमीनी आदमी से कुछ नहीं पूछती । "दिल्ली में ही बैठकर क्यों बना ली सरकारों ने हमारे गांवों के कायाकल्प की योजना? क्यों जगाए सपने, बी. टी. बीज की तरह बांझ सपने ? मर गए लोग? हमसे पूछते, हम बताते, बड़े नहीं, छोटे-छोटे सपने चाहिए हमारे गांव को। हवाई नहीं धरती के! गाय नहीं बकरी। फिर सबसे ऊपर दान नहीं। पानी। दान वापस ले लो । हमें सिर्फ सिंचाई के लिए थोड़ा-सा पानी दे दो ।"<sup>369</sup>

इस उपन्यास की जो सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें महिलाओं को किसान समझा क्यों नहीं जाता इस समस्या को उठाया है । पति का हाथ से हाथ मिलाती स्त्री किसान क्यों नहीं हो सकती ? शिबू की मृत्यु के बाद शकुन ने ही खेती का कार्य किया । इस उपन्यास में ऐसी अनेक महिलाएं हैं जो किसानी करती हैं । आशा एक ऐसी महिला थी जिसकी पूरी फसल बारिश के कारण खराब हो जाती है इस पीड़ा को न सह पा कर आत्महत्या कर लेती है । किन्तु सरकारी मुलाजिम इस मौत को अपात्र घोषित कर ही देते हैं -"महिला शेतकरी आशा वानखेड़ी की मौत 'अपात्र' करार दे दी गई-लिखा गया-शराबी पति, आए दिन के घरगुती के झगड़े से आजिज आकर उसने जहर पी लिया।"<sup>370</sup>

वास्तव में किसानों की समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब सरकारी योजनाओं को बनाने वाले स्वयं किसान हों । किसानों की समस्याओं का उपाय देशी तरीका ही ढूंढा जाए । विदेशी नीति, खाद और तरीका हमारे देश के किसानों के लिए कारगर साबित नहीं हुए हैं । साथ ही बड़े-बड़े योजनाओं के बदले उनकी मूलभूत आवश्यकता, सिंचाई की सुविधा, कम मूल्य में बीज, यूरिया आदि की मार्केट में उपलब्धि, पारिवारिक सहयोग, सरकारी बैंकों में बिना उलझनों के कर्ज की सुविधा, सरकार द्वारा मंडियों में द्रव्यों का सही मूल्य निर्धारण, उत्पादों की सही खपत आदि का निपटारे से ही किसान की स्थिति कई मामलों में पहले से बेहतर हो सकती है । यह उपन्यास किसानों की समस्याओं को बड़ी बारीकी से केवल पेश नहीं करता बल्कि उनकी समस्या का निदान भी ढूंढता है । साथ ही लोगों के समक्ष किसानों को लेकर फैली गलत अफवाहों और जमीनी सच्चाई को प्रस्तुत करता है ।

---

<sup>369</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-72

<sup>370</sup> फांस, संजीव, पृ.सं.-147

इसलिए इस उपन्यास के दो पक्ष दिखाई देते हैं। एक पक्ष किसानों की समस्याओं एवं उनकी आत्महत्याओं की पड़ताल करता है तो दूसरा पक्ष समस्याओं के समाधान खोजता, आगे बढ़ता है ।

‘अकाल में उत्सव’ उपन्यास में पंकज सुबीर ने ‘किसान जीवन’ को चित्रित किया है । यह उपन्यास मुख्यतः किसानों की दीनहीन दशा को चित्रित करने के साथ-साथ समाज में बढ़ते किसान आत्महत्या के पीछे कारकों को तलाश करता है । वैसे तो किसान आत्महत्या को लेकर और भी उपन्यास लिखे गए किन्तु यह उपन्यास अन्य उपन्यासों से भिन्न अपनी एक अलग पहचान रखता है । यह उपन्यास सीधे राजनीति और भ्रष्ट सरकारी व्यवस्था से टकराता है । इस उपन्यास के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि एक तरफ अकाल और दूसरी तरफ उत्सव है । अकाल किसानों के हिस्से है और उत्सव सत्ता में स्थित वर्गों के लिए । उपन्यास में एक ओर ग्रामीण परिवेश है तो दूसरी ओर शहरी जीवन की झांकी है । एक ओर मुख्यमंत्री के निर्वाचन क्षेत्र सूखा पानी का किसान ‘रामप्रसाद’ है जो आज के भारतीय किसान का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरी तरफ सरकारी कलेक्टर श्रीराम परिहार आई.ए.एस. नाम का एक पात्र है । जो नगर में उत्सव के लिए आए पैसे से नगर उत्सव करने के लिए तत्पर है । बजट लेप्स न हो जाए इसलिए सरकारी व्यय पर ‘नगर उत्सव’ मनाया जाता है और इसी दौरान ओलावृष्टि से किसान रामप्रसाद जैसे कई किसानों की फसल खराब हो जाती है । खराब हुई फसल से किसानों पर कैसा प्रभाव पड़ता है यह उपन्यास का सार है । एक ओर भारत का किसान भूखों मर रहा है वहीं दूसरी तरफ उत्सव के लिए सरकार पैसे दे रही है । सरकार की पहली प्राथमिकता किस ओर होनी चाहिए ये उपन्यासकार का पहला प्रश्न है ? इस उपन्यास में सत्ता में स्थित लोगों की किसान को लेकर दोगली दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है ।

‘अकाल में उत्सव’ उपन्यास *सूखा पानी* नामक छोटे से गाँव पर आधारित है । इस उपन्यास में छोटे जोत वाला किसान रामप्रसाद है । जिसके दो एकड़ जमीन हैं । इस गाँव में किसान सोयाबीन और गेहूँ की फसल बोता है । राम प्रसाद के पिता अपने मृत्यु के बाद बैंक, सोसायटी और सूदखोरों का कर्ज छोड़ गया था । ऐसे में भाई और बहन की जिम्मेदारियों का बोझ उसके सिर आ पड़ता है । मृत्यु-भोज, शादी, पढ़ाई-लिखाई आदि में राम प्रसाद के सिर पर इतना बोझ चढ़ जाता है कि कर्ज में ही उसका दम घुटने लगता है । परिवार और सामाजिक संस्कार से सभी बंधे हुए होते हैं ऐसे में किसान कहाँ से चुकाता

। किन्तु समस्या यह है कि किसानों में अब इतना पैसा ही नहीं होता कि वह इन सारी जिम्मेदारियों को बिना कर्ज लिए चुका पाए । इसी कर्ज को पूरा करने के चक्कर में सोने-गहने तक ही आहुति देनी पड़ती है । फिर भी कर्ज नाम का कुआं भरता ही नहीं । ऐसे ही किसान कर्ज में डूब कर अपनी जमीन से ही हाथ धो बैठते हैं तब उनके सामने मजदूरी के अतिरिक्त और काम नहीं बचता । किसानों की जिंदगी में परेशानियों का कोई अंत नहीं होता एक जाती तो दूसरी आ जाती । छोटी जोत वाले किसान पर विभिन्न तरह के कर्ज बढ़ते हैं क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जाती है । आजादी के पहले भी किसानों की स्थिति खराब थी और आजादी के बाद भी उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं । आजादी के बाद से सभी चीजों के भाव बढ़े किन्तु किसानों के न्यूनतम समर्थन मूल्य में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई । “1975 में सोना 540 रुपए का दस ग्राम आता था जो अब 2015 में 30 हजार के आस-पास झूल रहा है । कुछ कम ज्यादा होता रहता है । 1975 में किसानों को गेहूं का न्यूनतम समर्थन मूल्य सरकार की ओर से तय था लगभग 100 रुपए और आज 2015 में मिल रहा है लगभग 1500 । यदि सोने को ही मुद्रा मानें, तो 1975 में किसान पाँच क्विंटल गेहूं बेच कर दस ग्राम सोना खरीद सकता था । आज उसे दस ग्राम सोना खरीदने के लिए लगभग 20 क्विंटल गेहूं बेचना पड़ेगा । सोना तो किसान क्या खरीदेगा, उसके काम की तो चाँदी होती है, चाँदी 1975 में लगभग 1200 रुपए प्रति किलो थी और आज 38 हजार रुपए प्रति किलो है ।”<sup>371</sup> आज 2023 में गेहूं का मूल्य 2,125 है जबकि सोना लगभग 60 हजार हो गया है । जबकि चाँदी किलो 67,800 को छू रहा है । ऐसे में किसान के हाथ न सोना आने वाली है न चाँदी । प्रश्न है कि खेती में हजारों समस्याओं को झेलने के बाद भी अगर किसान को कोई मुनाफा नहीं मिल रहा तो वह किसानी क्यों करे ? लेखक ने बड़ी कुशलता से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि कैसे किसान के हाथ से निकलकर उपज दुगने दाम पर मार्केट में बेचे जाते हैं । किसान अकथ परिश्रम करके भी वह मूल्य नहीं प्राप्त कर पाते जो कम्पनी वाले थोड़े से मेहनत से कहीं ज्यादा पैसा अर्जन करते हैं । कितना बड़ा मजाक है कि किसान के लिए न्यूनतम मूल्य तय है जबकि बहुराष्ट्रीय कंपनी के लिए नहीं है । “पन्द्रह सौ रुपये क्विंटल के समर्थन मूल्य पर बिकने वाली मक्का का मुर्गी छाप कार्न फ्लैक्स 150 रुपये

---

<sup>371</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ.सं.-41-42

में 500 ग्राम की दर से बिकता है। मतलब यह कि 300 रुपये किलो या तीस हजार रुपये क्विंटल की दर से। पन्द्रह सौ और तीस हजार के बीच बीस गुना का फ़र्क़ है। बीस गुना। क्या यह बीस गुना आज तक किसी वित्त या कृषि मंत्री को दिखाई नहीं दिया। क्या एक सीधा-सा लॉजिक किसी को नहीं दिखता कि जो किसान धूप, बरसात, ठंड में, खेतों में अपनी ज़िंदगी को झोंकते हुए पाँच महीने में जो फ़सल पैदा करता है, उसे केवल 1500 रुपये क्विंटल मिल रहा है और जो वातानुकूलित चैम्बर में बैठ कर मशीन से उस मक्का को केवल पाँच मिनट में चपटा कर कॉर्न फ़्लैक्स बना रहा है, उसे बीस गुना, तीस हजार रुपये?"<sup>372</sup>

किसानों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि किसानी करना उनकी धरोहर है जिसे चाह कर भी वह छोड़ नहीं पाते। अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि किसानों की उपज का न्यूनतम मूल्य बढ़ जाएगा तो महंगाई बढ़ जाएगी। किन्तु ये अर्थशास्त्री तब कहाँ जाते हैं जब सब चीज़ों के मूल्य तो बढ़ रहे होते हैं? आज सोना, चाँदी, पेट्रोल, डीजल, गैस, बिजली आदि सबकी दर आसमान छू रही हैं। प्रश्न यह कि क्या इन सारी चीज़ों को खरीदने का अधिकार किसान वर्ग का नहीं है? यह जानना होगा कि किसानों में छोटी जोत वाले किसान ज्यादा हैं जिनके पास इतनी सामर्थ्य शक्ति नहीं कि वह डीजल तक का पैसा दे पाए। समाज में किसानों की आर्थिक स्थिति निरंतर खराब होती जा रही है जिसकी वजह से समाज में दो वर्ग देखे जा सकते हैं। एक वर्ग जो सभी चीज़ों को खरीदने में समर्थ है दूसरा वर्ग जिसे भूखों मरने की स्थिति आ गई है। बेरोजगारी जैसी समस्या से तो पूरा भारत वर्ष गुजर ही रहा है ऐसे में किसानों की समस्याओं को न हल करना बेरोजगारी की समस्या को और बढ़ाना नहीं है? ये कैसी व्यवस्था है जहां आदमी परिश्रम करके भी भूखों मरने की स्थिति है वहीं बिचौलिया वर्ग मुफ़्त की रोटी तोड़ रहा है साथ ही सरकार भी इतनी भ्रष्ट हो गई है कि बिना रिश्वत के काम नहीं चल रहा। सरकारी नौकरी कर रहे अर्थ शास्त्रियों को कैसे समझ आ सकता है कि किसान कैसे हालातों से गुजर रहा है। ये अर्थ शास्त्री तब कहाँ जाएंगे जब कॉर्पोरेट कंपनी के हाथ किसानी चली जाएगी और अनाज के दर बढ़ेंगे? "कुछ दिनों के बाद इस देश में मल्टीनेशनल कंपनियाँ ही खेती करेंगी सारी। और देखियेगा उस समय कोई न्यूनतम समर्थन मूल्य नहीं चलेगा। जो कंपनियाँ चाहेंगी

---

<sup>372</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-43



वही मूल्य रहेगा ।”<sup>373</sup> इस उपन्यास में उपन्यासकार सरकार और कॉर्पोरेट वर्ग की गठजोड़ की ओर संकेत करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि सरकार यही चाहती है कि ज्यादा से ज्यादा किसान वर्ग किसानों छोड़ दे और उनकी जगह को सरकार कॉर्पोरेट कंपनी को बेच दे ताकि सरकार दूगुना फायदा उठा पाए । किसानों को लेकर जितनी समस्याएं हैं उनमें से प्राकृतिक आपदा को छोड़ कर सारी समस्याएं जिनका निपटारा हो सकता है पर ऐसी कौन सी वजह है जिससे उनकी समस्या हल नहीं हो रही है । सरकार जब जान ही रही है कि किसानों की समस्या की जड़ बिचौलिया वर्ग है तथा अनाज रखने की मंडी की कमी है तो क्यों उस कमी को पूरा नहीं किया जा रहा है ? इसके पीछे सरकार की राजनीति नहीं तो क्या है ?

राजनीतिज्ञों की असलियत को स्पष्ट करते हुए उपन्यासकार किसानों के लिए शर्मसार हैं । “ भारत के एक सांसद को सब मिला कर लगभग तीन लाख रुपए प्रति माह मिलता है, जिसमें सभी प्रकार की सुविधाएं शामिल हैं, लेकिन हम आज तक कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बना पाए कि हमारे लिए अन्न उपजाने वाले किसान को तीन हजार रुपए प्रति माह, उसके परिवार को चलाने को दिया जाए । एक सांसद साल भर में चार लाख की बिजली मुफ्त में फूंकने का अधिकारी है लेकिन, किसान के लिए चार हजार की भी नहीं है ।”<sup>374</sup> लेखक इस उपन्यास में किसानों से जुड़े ऐसे कई सवालों को हमारे सामने रखने का प्रयास करते हैं जिस पर लोगों की दृष्टि पहले नहीं गई । लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि राजनीतिज्ञों ने अपनी सुविधाओं के लिए योजनाओं तो काफी बना रखी हैं पर वहीं किसान के लिए ऐसी योजना नहीं है जिससे वह लाभवान हो पाए । लेखक किसानों की समस्या का निदान ढूंढते हुए किसानों को मिलने वाली पेंशन योजना की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं । साथ ही यह आशा रखते हैं कि जहां किसानों को कम मूल्य में बिजली मिल रही है वहाँ मुफ्त बिजली की योजना किसानों के लिए कारगर साबित हो सकती है । भारत के कुछ राज्य(ओडिशा) में किसान पेंशन की योजना को लागू की जाने की बात हुई है । किन्तु समूचे भारत में अगर यह योजना लागू की जाएगी तो किसानों की कुछ समस्या का हल हो जायेगा ।

---

<sup>373</sup>अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-171

<sup>374</sup>अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-42

इस उपन्यास में उपन्यासकार समकालीन किसानों की एक ऐसी समस्या पर प्रश्न खड़ा करते हैं जो इससे पहले किसी उपन्यास में नहीं उठाया गया। इस उपन्यास में राम प्रसाद किसान के जरिए किसान क्रेडिट कार्ड के नाम पर बैंक में चल रही लूट का पर्दाफाश करते हैं। राम प्रसाद जैसे कई किसान ऐसे जालसाजी के शिकार होते हैं जिन्हें यह तक पता ही नहीं होता है कि उनके नाम पर किसने कार्ड बनाया। “वोड़ तो म्हारो भी माथा घूम रयो है कि मैंने अंगूठ नी लगायो, कँड़ भी नी कियो, अने फिर यो कारड़ म्यारे नाम से कैसे बनी गयो, कौनने बनवई लियो ?”<sup>375</sup> ऐसी जालसाजी के शिकार हो कर ही राम प्रसाद के सर पर 30,000 का कर्ज आ पड़ता है जिसे उसने लिया भी नहीं।

किसान बीज बोने से लेकर फसल तैयार होने तक तथा फसल के बिकने तक परेशान रहता है। इस उपन्यास में रामप्रसाद कई कारणों से प्रताड़ित होता है। पहला कारण बेमौसम पानी और पानी न मिलने के कारण सूखा। खेत में किसान, मौसम और भगवान भरोसे होता है। सबसे बड़ी समस्या तब होती है जब बीज समय पर नहीं मिलता, मिल भी गया तो कई बार खराब निकल जाता है। फिर खाद डाल दी तो बिजली की आवश्यकता, अगर बिजली नहीं है तो सिंचाई की समस्या। समस्या यहीं समाप्त नहीं होती बल्कि सरकारी मंडियों में लाइन लगा कर उपज को बेचना बड़ी समस्या है। नीलामी की प्रक्रिया से उपज बेची जाती है। “ट्राली के आते ही व्यापारी मुट्ठी में अनाज लेकर एक भाव बता देता है। व्यापारियों की आपस में साँठ-गांठ रहती है कि किस ट्राली या बैलगाड़ी को कितने में खुटाना है, कितने से ऊपर नहीं जाना है नीलामी में। बहाने हजारों हैं कम भाव के, दागी हो गया है दाना, धब्बा साफ दिख रहा है, या यह कि माइश्चर है अनाज में। कुल मिलाकर सौ बहाने। असल में माल की कीमत अगर सौलह सौ है, तो चौदह सौ बताए जाएंगे।”<sup>376</sup> अगर उपज न बिके तो और भी समस्या इसलिए किसान बेचारा बेचने को बाध्य होता है। अगर नहीं बेचेगा तो उन्हीं व्यापारियों के दलाल घर लेते हैं। अंदर जहां 1400 मिल रहे थे बाहर उसे 1500 मिल रहे होते हैं इसलिए किसान बेच देता है। ये किसान को दिए गए प्रलोभन हैं जिसमें आखिरकार वह फंस ही जाता है। इसमें फंसे नहीं तो क्या करे बेचारा बैलगाड़ी में उपज वापस ले जाते समय रास्ते में बारिश हो गई तो और मुश्किल आ पड़ती है। एक तो अनाज लेकर आए ट्रॉली का भाड़ा देने की परेशानी दूसरी तरफ उपज

<sup>375</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-136

<sup>376</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-92

कहीं दागी न हो जाए । “किसान तो गरीब की जोरु है मानो, जिसे हर कोई अपनी लुगाई मान कर चलता है और मौका मिलते ही नौच-खसोट लेता है ।”<sup>377</sup> इस उपन्यास में रामप्रसाद कई सारी समस्याओं और कर्ज के बोझ तले दब कर भी खेती करता है । लेकिन ओलों के कारण उसकी सारी फसल खराब हो जाती है इसी समस्या को जब राम प्रसाद सरकार के पास मुआवजा की आशा लेकर जाता है तो उसे आश्वासन का खिलौना हाथ लगता है । ऊपर से इसके इतर किसानों को लेकर सरकारी अफसरों की दृष्टि विपरीत होती है -“हिंदुस्तान का किसान बहुत लालची होता है, इसको जरा सा लालच दे दो तो, यह कुछ भी करने को तैयार रहता है । कर्ज ले लेगा तो फिर कर्जा माफी के लिए चिल्लाएगा, बिजली का यूज कर लेगा फिर बिजली के बिल माफ करने के लिए रोएगा । फसल खराब हो गई तो मुआवजे के लिए छाती पीटेगा । इससे लालची और कोई हो ही नहीं सकता ।”<sup>378</sup> बस किसानों को संतुष्ट करने के लिए फर्जी कागजों पर उनके नाम लिख लिए जाते हैं । साथ ही सर्वे के नाम पर किसानों के साथ छल होता है । पटवारी किसानों ही हानि फसलों की रिपोर्ट बनाने आता है । ऐसे में रामप्रसाद उस मुआवजे की रकम की बात कर रहा होता है जहां से उसने बटाई में जमीन लेकर खेत जोती थी । किन्तु पटवारी के अनुसार जो जमीन उसके नाम से है उसी जमीन पर ही उसे मुआवजा मिलेगा । उस मुआवजे की रकम भी तभी मिलेगी जब वह 2000 की रिश्त बड़े अफसर को देगा । 2000 की बात सुनकर उसे ऐसा सदमा लगता है कि वह आत्महत्या कर लेता है । सरकारी ज़्यादतियाँ तब बढ़ती हैं जब रामप्रसाद को पागल करार दे दिया जाता है ।

‘गलापुत्र’ उपन्यास ओड़िया साहित्य में किसानों की स्थिति को दर्ज करता है । किसान एक ऐसा समुदाय है जो इस दौर में सबसे ज्यादा पीड़ित और चिन्ताग्रस्त है । यह चिन्ता अपनी आर्थिक स्थिति को खराब होने से बचाने की है तथा कर्ज की बला को दूर करने की है । किसान समय समय पर अपनी उपस्थिति दर्ज करते आए हैं किन्तु समस्या अब उनकी अस्मिता और पहचान पर आ चुकी है । पहचान इस आधार पर कि किसान होने के पैमाने कौन से हैं ? किसे किसान कहा जाए किसे किसान कहा न जाए ? जिसकी आजीविका का सहारा किसानी रही है क्या वे ही किसान की कोटि में आ सकते हैं या वह मजदूर जो भूमिहीन हैं ? किन्तु सोचने वाली बात यह है कि भूमिहीन मजदूर

<sup>377</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-93

<sup>378</sup> अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, पृ. सं.-153

किसानी की सारी विधि से परिचित है । साथ ही एक सवाल यह भी कि स्त्री को किसान कहा जा सकता है या नहीं ? किसान को लेकर ऐसे बहुत से प्रश्न हैं जो जेहन में उठते हैं । इस उपन्यास की पृष्ठभूमि जाजपुर जिले के पद्मपुर गाँव पर आधारित है । इस उपन्यास का नायक गंगाधर है जिसके पिता शंकर भी परंपरागत भूमिहीन मजदूर हैं । इस उपन्यास में कथा एक भूमिहीन मजदूर की है जिसे दो एकड़ जमीन खेती करने के लिए मिलती है । यह दो एकड़ जमीन अक्षय मिश्र की पारंपरिक जमीन थी जो बहुत दिनों से बंजर पड़ी थी । ऐसे में अक्षय मिश्र गंगाधर की आर्थिक दुर्दशा को देख कर जमीन पर खेती करने को प्रेरित करता है । गंगाधर यहाँ स्पष्ट करता है कि खेती के लिए कुछ पूंजी की आवश्यकता होती है जिससे बैल, कृषि के लिए औजार तथा बीज की आवश्यकता होती है । ऐसे में गंगाधर उसे 5000 रुपए देकर खेती करने को कहते हैं । अपनी मेहनत और लगन से गंगाधर उस जमीन में धान के बीज बोता है । जेठ खतम होते ही आषाढ़ आया । आषाढ़ में बारिश देख कर कृषकों का मन गद्गद हो गया । धान की कियारी का हरापन देख कर गंगाधर भी बहुत खुश हुआ । अपने हरे-भरे खेत को देख कर उसके मन में अनेक आशाएं जन्म लेने लगीं । तभी मानसून के कारण बारिश अच्छी होती है और किसान अच्छी फसल के सपने देखने लगता है । ऐसे में गंगाधर के खेत में खाद की आवश्यकता हुई । “कुछ बड़े किसान गंगाधर से कहते हैं कि वर्षों से यह जमीन खाली पड़ी थी । इसलिए इसमें धान ज्यादा बढ़ नहीं रहे हैं । जमीन में खाद का प्रयोग नहीं करोगे तो तुम्हारा सारा परिश्रम बेकार हो जाएगा ।”<sup>379</sup> कियारी में पोषक तत्व का प्रयोग करने के लिए गंगाधर सोचता है । तब समस्या पैसे की आती है । गंगाधर के पास अब पैसे नहीं बचे थे कि खाद खरीद पाए । इसलिए नरेश कर्ज लाने जाता है । “उनसे पैसे उधारी में ला कर पोषक तत्व खरीदूँगा । फसल के तैयार होने पर उसे बेच कर उनका कर्ज चुका दूँगा ।”<sup>380</sup> गंगाधर जैसे अनेक छोटे जोत वाले किसान हैं जिनके पास पूंजी की कमी होती है साथ ही एक बार पैसों का इंतजाम करने के बाद भी समस्या हल नहीं होती । खेती को देख कर कई बार खेती के लिए आवश्यक चीजों की आवश्यकता होती है । ऐसे में कृषक बार-बार पैसा कहाँ से लाए ? सबसे बड़ी समस्या तब होती है जब कर्ज ला कर अच्छी फसल की उम्मीद कर बैठता है किन्तु कई कारणों से फसल अच्छी न होने के कारण वह

<sup>379</sup> गलापुत्र, डॉ.सच्चिदानंद कर, पृ. सं.-12-13

<sup>380</sup> गलापुत्र, डॉ.सच्चिदानंद कर, पृ. सं.-13

कर्ज बढ़ता जाता है । इस तरह किसान कर्ज में डूबता रहता है । गंगाधर ने नरेश से दो हजार की उधारी लेकर खेत में पोषक तत्व का प्रयोग करता है । किन्तु गंगाधर के भाग्य में कुछ और ही लिखा था । खेत में पानी न मिलने के कारण जमीन में सूखा पड़ जाता है । कृषकों के सामने सिंचाई के लिए पानी की समस्या दूसरी बड़ी समस्या है । आज भी भारतीय किसान वर्षा पर निर्भर हैं ऐसे में पानी की कमी उनकी सारी मेहनत को खराब कर देती है । गंगाधर का खेत बिना पानी के पूरा का पूरा सूख जाता है । “मिट्टी में एक बूंद भी पानी नहीं गिरा । आकाश मेघ शून्य हो गया । मानसून फरार हो कर कहीं चल गया था । इन्द्रदेव को लगाया गया गुहार निष्फल हो गया था । धीरे-धीरे जमीन से पानी सूख गया । खेत की मिट्टी फट गई । आश्विन के बीचों-बीच धान की क्यारी बर्बाद हो गई ।”<sup>381</sup> खेती करते समय सिंचाई के लिए पानी की आवश्यकता होती है । गंगाधर आर्थिक रूप से इतना सक्षम नहीं है कि बिजली का प्रावधान कर के खेती में पानी का इस्तेमाल करे । ऐसे कई बार प्राकृतिक आपदा से किसान की फसल बर्बाद हो जाती है । इसलिए खेती को एक जुआ खेल माना जाता है । जिसमें हार-जीत लगी रहती है । बर्बाद हुई फसल को गंगाधर सह नहीं पाता और विष पी कर आत्महत्या कर लेता है । किसान अंदर से कितना निराश हो जाता है यह हम अंदाजा भी नहीं लगा सकते । गंगाधर आत्महत्या करने के पीछे कर्ज न दे पाने की अक्षमता है । जिसके बोझ से मुक्त करने के लिए उसने ये रास्ता अपनाया था । फसल की बर्बादी और कर्ज की समस्या कैसे किसान की मानसिकता पर प्रहार करती है इसका उदाहरण लेखक इस उपन्यास में देते हैं । शंकर उसे समझाता है कि धैर्य रख सब कुछ ठीक हो जाएगा । “ये सारी बातें गंगाधर को बिल्कुल भी प्रभावित नहीं कर पायी थी । धीरे-धीरे वह मनुष्य से पत्थर बनता जा रहा था । भूख-प्यास, नींद- सब कुछ भूल गया था । पुष्पलता (पत्नी) का मुंह उसे सुंदर प्रतीत नहीं हो रहा था । ... शंकर के प्रति वह सारे कर्तव्य भूल गया था । नदी-किनारे काँस के फूल उसे मनमोहक नहीं लग रहे थे । आकाश और पृथ्वी उसे सौंदर्यहीन प्रतीत होने लगे । उसका जीवन उसे विषमय लगने लगा । धीरे-धीरे ईहलोक त्याग करने का खयाल उसके मन में आने लगा । एक दिन विष पी कर खेत में ही सो गया ।”<sup>382</sup> एक तरफ अक्षय बाबू से लिया गया खेती के लिए पैसा, दूसरी तरफ साहूकार से लिया पैसा और तीसरी तरफ फसल

<sup>381</sup> गलापुत्र, डॉ.सच्चिदानंद कर, पृ. सं.-15

<sup>382</sup> गलापुत्र, डॉ.सच्चिदानंद कर, पृ. सं.-16

का नष्ट होना ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है कि गंगाराम अपना आत्म संतुलन खो बैठता है और आत्महत्या कर लेता है । इस उपन्यास में आत्महत्या के बाद उसकी पारिवारिक स्थिति क्या होती है इसको भी स्पष्ट किया गया है । पत्नी पेट भरने की कोशिश में वीरांगना बन जाती है और बेटी समाज की उस पर कुदृष्टि न सह पा कर आत्महत्या कर लेती है । पिता शंकर को पुत्र वियोग का ऐसा दुःख होता है कि वह परिवेश को संतुलन करने के लिए उस जमीन में जंगल का निर्माण करता है । लेखक एक तरफ कृषकों की दुरवस्था को चित्रित करते हैं तो दूसरी ओर भूमंडलीकरण और शहरीकरण के कारण परिवेश, प्रदूषण के कारण पर्यावरण असंतुलन को स्पष्ट करते हुए इसे कृषकों की समस्या का सबसे बड़ा कारक मानते हैं ।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि साहित्य में किसान विमर्श की शुरुआत होने से उपन्यास विधा में इसके मुद्दे उभरे हैं । किसानों पर उपन्यास लेखन में विमर्श के मुद्दे 90 के दशक के बाद से जोर पकड़ने लगते हैं । इसलिए किसान जीवन समकालीन समय की एक मुख्य प्रवृत्ति बन कर उभरती है । किसान जीवन को लेकर प्रारम्भिक दौर से लेखन कार्य होते रहे हैं इसमें कोई दो राय नहीं है किन्तु 90 के दशक के बाद आई नई आर्थिक नीति के कारण किसानों में जो असंतोष फैला है, यह इससे पूर्व के उपन्यासों में देखने को नहीं मिलते । साथ ही 90 के दशक में किसानों का इस नीति के विरोध में किसानों का आंदोलन, साहित्य में विमर्श का रूप लेकर आता है । भारतीय साहित्य में इसी विमर्श की अनुगूँज दिखाई देती है किन्तु उसे कई प्रादेशिक साहित्य में विमर्श के रूप से स्वीकार नहीं किया गया है । खास कर अगर ओड़िया साहित्य की बात करें तो पाएंगे कि किसानों की समस्या पर बहुत साहित्य और उपन्यास लिखे गए हैं किन्तु इसे विमर्श के दायरे में देखने की पहल नहीं हुई है । साथ ही यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हिन्दी में जहाँ किसान की समस्याओं और आत्महत्या को लेकर बहुत सारे उपन्यास लिखे गए हैं । वहीं किसानों की आत्महत्या को लेकर ओड़िया साहित्य में उपन्यासों की संख्या काफी कम है । किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि ऐसा नहीं है कि किसान आत्महत्या या कर्ज की समस्या ओड़िशा के किसानों को नहीं है । बल्कि ओड़िशा सहित भारत के विभिन्न राज्यों में किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं है ।

ओड़िशा में किसानों को आधार बनाकर पोस्को जैसे आंदोलन तो हुए हैं जिसमें उन्होंने अपना विरोध जाहिर किया है । किन्तु अभी तक उपन्यास में इस समस्या पर

लेखन न के बराबर हुए हैं । साथ ही ओड़िया और हिन्दी के किसान जीवन संबंधी उपन्यासों के अध्ययन करते समय यह सामने आया कि समकालीन किसान जीवन की समस्याओं तथा सरकारी की असफल नीतियों और आत्महत्या के कारकों की पड़ताल जो हिन्दी के उपन्यासों में देखने को मिलती है वह ओड़िया के उपन्यासों में देखने को नहीं मिलती । एक तरह से किसानों के जीवन पर समकालीन ठोस उपन्यास की आवश्यकता ओड़िया साहित्य में देखी जा सकती है ।

## सप्तम अध्याय

### विवेच्य उपन्यासों में भूमंडलीकरण, विस्थापन, पर्यावरण संकट और प्रवासी-जीवन

- 7.1 भूमंडलीकरण का वैश्विक परिदृश्य
- 7.2 विवेच्य उपन्यास में भूमंडलीकरण का स्वरूप
  - 7.2.1 उपभोक्तावादी जीवन शैली
  - 7.2.2 विज्ञापन, तकनीक और मीडिया का गठजोड़
  - 7.2.3 महानगरीय जीवन-बोध
  - 7.2.4 जिगालों संस्कृति
- 7.3 विस्थापन संबंधी उपन्यास
- 7.4 पर्यावरण संबंधी उपन्यास
  - 7.4.1 पर्यावरण की परिभाषा एवं कानूनी प्रावधान
  - 7.4.2 साहित्य में पर्यावरण
  - 7.4.3 विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा
- 7.5 प्रवासी जीवन संबंधी उपन्यास
  - 7.5.1 प्रवासी साहित्य की संकल्पना और मुद्दे
  - 7.5.2 साहित्यिक-साक्ष्य



## 7.1 भूमंडलीकरण का वैश्विक परिदृश्य

पिछले कुछ दशकों से भूमंडलीकरण पर बहुत चर्चा चल रही है। अंग्रेजी के 'ग्लोबलाइजेशन' (Globalization) शब्द के लिए हिंदी में 'भूमंडलीकरण' शब्द प्रचलित है और इसके लिए 'वैश्वीकरण', 'वैश्वीकृत', 'वैश्विकता', 'अंतर्राष्ट्रीयकरण', 'भूमंडलीकृत' आदि शब्द भी पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। *भूमंडलीकरण संबंधी उपन्यासों पर बात करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि भूमंडलीकरण क्या है ?* "1991 में सोवियतसंघ के विघटन के बाद जब दुनिया एक ध्रुवीय हो गयी और अमेरिका के नेतृत्व में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने दुनिया के, खास तौर पर तीसरी दुनिया के बाज़ार पर कब्ज़ा जमाना शुरू किया तो इसे न्यायसंगत ठहराने के लिए भूमंडलीकरण जैसा आकर्षक नाम दिया गया।"<sup>383</sup> यह नाम जितना आकर्षक है उतना ही भ्रामक। इसके केंद्र में जो सब जन हिताय वाला भाव है वह भी भ्रामक है बल्कि इसके विपरीत यह बहुराष्ट्रीय कंपनियों, पूंजीवादी संगठनों तथा अमेरिका के सरोकारों पर आश्रित है। अतः संसार को एकीकरण करने वाली दृष्टि एक आयामी है। अमेरिका ने अपने देश में भले ही वैश्वीकरण का प्रयोग किया हो किन्तु हमारे वैश्वीकरण और उनके वैश्वीकरण में अंतर है। हमने आँख बंद कर 'ग्लोबलाइजेशन' शब्द का अनुवाद कर दिया। अमेरिका ग्लोबलाइजेशन के नाम पर धन की कील पर चक्कर काट रहा है, हमारे वैश्वीकरण का अर्थ सबका एकीकरण यानी समता है। हम आम लोग यह नहीं समझते और पारिभाषिक शब्द के परिधि से चिपके रहते हैं। वैश्वीकरण के शब्द के इसी भ्रामकता को न समझने के कारण भारत में दिन-प्रतिदिन यह हावी होता जा रहा है। प्रो. मैनेजर पांडे 'भूमंडलीकरण और साहित्य का इतिहास' व्याख्यान में भूमंडलीकरण को समाज में भ्रामकता और उसकी वास्तविकता को प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भूमंडलीकरण को लेकर हमारे समाज में बहुत सारे मिथक गढ़े गए हैं। 'भूमंडलीकरण के बारे में जो मिथक गढ़े जा रहे हैं, उनमें से पहला यह है कि इसका कोई विकल्प नहीं है। दूसरा यह है कि इसको रोका नहीं जा सकता। तीसरा यह कि मानव-समाज का भविष्य है और चौथा यह कि विकास का यही एक मात्र तरीका है।' आगे आप भूमंडलीकरण के संबंध में यह स्पष्ट करते हैं कि 'भूमंडलीकरण एक जादुई असर वाला शब्द है। इसका प्रभाव इतना व्यापक है कि जो भूमंडलीकरण के शिकार हैं वे भी

<sup>383</sup> हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, पृ.सं.-258

इसकी गुणगान कर रहे हैं और जो शिकारी हैं वह भी ।’ आप यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय समाज में भूमंडलीकरण को सकारात्मक और शुभ दृष्टि से देखा जा रहा है । अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नीतियों को भूमंडलीकरण के पक्ष में ढालने की मुहिम जारी हो गई है । भारतीय कुछ विद्वान संस्कृत का श्लोक ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ से भूमंडलीकरण को जोड़ते हुए इस परंपरा को प्राचीन बताते हैं । किन्तु इन दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है ।

मूलरूप से भूमंडलीकरण एक आर्थिक प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया एक निर्दिष्ट देश अथवा अंचल विशेष में सीमित न होकर पूरे विश्व को एक गाँव में रूपांतरित करने की क्षमता लेकर प्रस्तुत है । भूमंडलीकरण समग्र विश्व में समन्वय स्थापित करने के लिए बनाया गया था किन्तु अंतर्राष्ट्रीयतावाद /इन्टरनैशनलिज़म से यह बिल्कुल भिन्न है क्योंकि अन्तर्जातीयतावाद विभिन्न राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संबंध को सुदृढ़ करता है जबकि भूमंडलीकरण पहले-पहल आर्थिक व्यवस्था तक सीमित रहा किन्तु धीरे-धीरे इसने समूचे देश की विभिन्न व्यवस्थाओं को प्रभावित किया ।

विद्वानों में भूमंडलीकरण के आगमन को लेकर मतभेद दिखाई देते हैं । कुछ विद्वान भूमंडलीकरण का विकास 1990 के बाद के दौर को स्वीकार करते हैं तो कुछ विद्वान भूमंडलीकरण को नया न मान कर इसकी परंपरा इतिहास में ढूँढते हैं । प्रो. मैनेजर पांडे भूमंडलीकरण के दो दौर की बात करते हैं । उनके अनुसार ‘पहल’ दौर सोलहवीं सदी से बीसवीं सदी के मध्य चला, जिसका नेता यूरोप था और विशेष रूप से इंग्लैंड । तथा दूसरा दौर बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से आज तक चल रहा है, इस दौर का नेता अमेरिका है ।’ Ronald Robertson अपने आलेख ‘mapping the globe conditions : globalization as the control concept of 1996’ में यह स्पष्ट करते हैं कि भूमंडलीकरण का विकास 1875-1925 के मध्य में आरंभ हुआ । जिन विद्वानों ने भूमंडलीकरण को दो दौर को स्वीकार किया उनका यही मानना रहा कि पूंजीवाद का विस्तार ही भूमंडलीकरण कहा जा रहा है । जैसे पहले पहल उपनिवेशवाद को स्थापित करते हुए पूंजीवाद को अपनाने के लिए मजबूर किया गया था आज वही पहल भूमंडलीकरण के दौर में किया जा रहा है । गुलामी का जो प्रचार-प्रसार पूंजीवादी आगमन के साथ हुआ वही प्रक्रिया आज भी जारी है । पहले यूरोपीय पद्धति को अपनाने की बात की गई आज

भूमंडलीकरण के नाम पर अमेरिकीकरण को थोपा जा रहा है । यही कहा जा सकता है कि दोनों ही दौर में आधिपत्य की अदला-बदली हुई है ।

1990 को केंद्र में रख कर दूसरे विचारक यह मानते हैं कि विश्व को एक करने की राजनीतिक योजना भले ही 1920 नैशनल लीग को ध्यान में रख कर बनाई गई पर यह सफल नहीं हो पाई । 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में इसको सफलता प्राप्त हुई । राजनीतिक दृष्टि से इसे भले ही विश्व को एकीकृत करने की पहल के रूप में देखा जा सकता है किन्तु इससे भूमंडलीकरण की शुरुआत नहीं मानी जा सकती है । 1990 के दौरान आए भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के केंद्र में आर्थिक समस्या ही रही न कि राजनीतिक । साथ ही यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक बन पड़ा है कि 1960 के अंतिम दशक में ही वैश्वीकरण शब्द प्रचलन में आया । इससे पूर्व इसकी संकल्पना नहीं थी ऐसे में वैश्वीकरण के बीज को इतिहास में ढूँढना व्यर्थ है । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 'विश्व भातृत्व' की भावना ने अधिक से अधिक राष्ट्रों को प्रभावित था । युद्ध की विभीषिका ने लोगों को एकीकरण का पाठ पढ़ाया । इसलिए 1944 bretton woods conference में (इंटरनेशनल मोनेटरी फंड) अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विश्व व्यापार गठन निर्माण के लिए सोचा गया । 1945 में उपरोक्त दो संगठन की प्रक्रिया हुई लेकिन तीसरी संस्था को लेकर मतभेद देखा गया । विश्व व्यापार संगठन के बाद अमेरिका इंग्लैंड और अन्य राष्ट्रों ने एकत्रित हो कर 1946 में GATT नामक संस्था का निर्माण किया । बहुत प्रयत्न के बाद अर्थशास्त्री Arther Dunkel ने इसे स्वीकृति प्रदान की । जिसके कारण 1993 में इसे स्वीकृति प्राप्त हुई । 1995 में अमेरिका के नेतृत्व में वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गनाइजेशन कार्यकारी हुआ। जिसने आई एम एफ और विश्व बैंक की सहायता से विश्व अर्थनीति में ग्लोबलाइजेशन को क्रियान्वित किया ।

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया गया कि भूमंडलीकरण के केन्द्र में आर्थिक सुधार की नीति काम कर रही थी । किन्तु इस व्यवस्था ने आर्थिक स्थिति के साथ देश की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों को भी प्रभावित किया । भूमंडलीकरण को सांस्कृतिक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होगा कि अमेरिकी विचारों, कल्पनाओं, साहित्यों और कलाओं आदि का विकास और विस्तार हो रहा है । आज साहित्य में आए उत्तर की संकल्पना भी इसी भूमंडलीकरण की ही देन है ।

समाज में भूमंडलीकरण की शुरुआत 90 के दशक से क्यों न प्रारंभ हो गए हो किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इसकी घोषणा अमेरिका से प्रकाशित पत्रिका 'पी. एम. एल. ए.' और 'कम्पेरेटिव लिटरचर' (2001) से होती है। इन दो पत्रिकाओं में 'साहित्य और भूमंडलीकरण' को लेकर चर्चाएं हुईं। वहीं 'न्यू लिटरेरी हिस्ट्री' नाम से प्रसिद्ध पत्रिका में 'लिटरेरी हिस्ट्री इन ग्लोबलाइज' नाम से लेख प्रकाशित हुए। विश्व साहित्य की कल्पना जर्मनी के साहित्यकार और भारतीय साहित्यकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भूमंडलीकरण के आगमन से पूर्व ही रख दी थी। भूमंडलीकरण के आगमन से पूर्व ही हो चुकी थी। किन्तु 'साहित्य में वैश्वीकरण' का संदर्भ जो 'विश्व साहित्य के एकीकरण' की बात करता है इसकी संकल्पना 21वीं सदी के आगमन के साथ प्रस्तुत होती है। दरअसल सांस्कृतिक क्षेत्र में अमेरिकीकरण की घुस पैठ ने एक नए विचार को जन्म दिया है। भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि प्रगतिशील विचारक सांस्कृतिक घुसपैठ की रग-रग से वाकिफ हैं और साहित्य में बरबस इसकी आलोचना करते रहते हैं।

बहरहाल साहित्य के क्षेत्र में भूमंडलीकरण को लेकर विद्वानों में दो वर्ग देखे जा सकते हैं। जिसमें एक वर्ग भूमंडलीकरण का समर्थक है और देश के विकास के लिए इसे आवश्यक मानता है। वहीं दूसरा वर्ग भूमंडलीकरण जैसे आकर्षक नामों के पीछे उसकी राजनीति को समझते हुए इसका विरोध करता है। साहित्यकारों का एक वर्ग जो भूमंडलीकरण का समर्थक नहीं है उसके तर्क बहुत सटीक और सार्थक प्रतीत होते हैं। जिसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भूमंडलीकरण पूंजी और साधन की विनियोग की शीघ्र और संतुलित विकास की बात करता है। आज पूंजी और साधन के सदुपयोग के नाम पर जमीनें बेची जा रही हैं, जंगलों को काटा जा रहा है, मिट्टी के गर्भ में पड़े संसाधनों की लूट हो रही है। कई स्तरों पर पूंजी और साधन का शीघ्र संतुलित विनियोग उपयोगी भी है किन्तु इसके पीछे की राजनीति से आम वर्ग अनभिज्ञ है। पूंजी विकसित देशों के पास है जबकि तीसरी दुनिया के साधनों का प्रयोग कर तीसरी दुनिया को बेवकूफ बनाया जा रहा है। जिससे विकसित देश और ज्यादा विकसित होता जा रहा है और तीसरी दुनिया का देश और पिछड़ता जा रहा है। यह सोचने वाली बात है कि वैश्वीकरण जैसी नीति में जहां बेकारी की समस्या को दूर करने के लिए इस नीति को लागू किया गया क्या वह सही मायने में फलीभूत हो पाई है। वैश्वीकरण के तीन दशकों के बाद भी क्या भारत में बेकारी की समस्या हल हो पायी है? जबकि यह देखा गया है कि देश में आए निजीकरण की प्रक्रिया

से सरकारी क्षेत्र कम होते जा रहे हैं और बेकारी अपनी चरम पर पहुँच गई है । साथ ही एक ऐसा वर्ग का निर्माण किया जा रहा है जो कम पैसे में ज्यादा कार्य तथा नई तकनीक का प्रयोग कर पाए । जो वर्ग इस तकनीकी ज्ञान से मसरूफ़ है वह वर्ग आज बेकारी के दलदल में धँसता जा रहा है । वहीं देश के लघु उद्योग और कुटीर उद्योग भी खत्म होने की कगार पर हैं ऐसे में बेकारी की समस्या घटती हुई नहीं बल्कि बढ़ती हुई देखी जा सकती है ।

भूमंडलीकरण की नीतियाँ विकासशील देशों के लिए नहीं हैं जबकि इस सत्य को कोई स्वीकारना ही नहीं चाहता । भूमंडलीकरण के नाम पर लोगों में यह भ्रम पैदा किया जा रहा है कि यह नीतियाँ आपके हर समस्या का निवारण करेगी जबकि वास्तविकता बड़ी कुरूप और हृदयविदारक है । लोगों को सुलभ मूल्य में अच्छी चीज देने का वादा किया जा रहा है । कई मामलों में यह हो भी रहा है किन्तु इसके पीछे उनकी अपनी राजनीति है जिसमें लोगों को ऐसी लत लगायी जा रही है जिससे वे इसके आदि हो जाएं और चाह कर भी इसको न छोड़ें किन्तु यह सुलभ मूल्य में अच्छी चीज देने का वादा ज्यादा दिन तक टिकने वाला नहीं है । यह बस लोगों को अपने जाल में फँसाने का एक तरीका है । भूमंडलीकरण के कार्यान्वित होने से पूर्व क्या आज तक जितने वादे किये गये वह सफल हो पाये हैं ? आमदनी में वृद्धि होने का जो वादा था वह कहाँ तक कारगर हुआ है ? बल्कि देश में तो ऐसे दो वर्गों का निर्माण हुआ है जिसमें एक वर्ग ज्यादा अमीर बनता जा रहा है जबकि गरीब वर्ग और गरीब । दरअसल यह नीति गरीबों की समस्याओं का निदान नहीं ढूँढ रही बल्कि गरीबों को ही हटाने का उपाय कर रही है । उपभोक्ता को केंद्र में रख कर उपभोक्तावाद का भी उदय हो गया है । जिसमें लोगों को इतना चॉइस दिया जाता है कि लोगों का दिमाग ही चकरा जाता है । यह चॉइस देश में विदेशी उत्पादों को बढ़ावा देने के लिए की गई है । अमेरिका उधारी की नींव पर खड़ा देश है जिसको अपनी पूंजीविहीन और शक्ति क्षीणता का अहसास हो चुका था ऐसे में पुनः स्वयं को शक्तिशाली बनने की यह राजनीति है साथ ही अपने देश की माल खपत के लिए उसे ऐसे बाजार की जरूरत थी । ऐसे में यह एक तरह से लूट तंत्र है जिसमें देश से अच्छी गुणवत्ता को ध्यान में रख कर अपने देश की उन्नति की जा रही है क्योंकि तीसरी दुनिया के देश के पास न इतनी पूंजी है और न साधन जिसका प्रयोग कर वह अच्छी गुणवत्ता वाली चीज तैयार कर सकता है । जिसके कारण एक तरह से उस पर विदेशी उत्पाद थोपे जाते हैं । और अपने

चीजों की वह कभी खपत नहीं कर पाता और आर्थिक रूप से और अक्षम होता चलता है । दरअसल यह तीसरी दुनिया को विकास की श्रेणी में सबसे पीछे धकेलने की पहल है । जिससे अनभिज्ञ तीसरी दुनिया भ्रम में जी रही है कि वह विकास की श्रेणी में काफी आगे बढ़ चुका है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भूमंडलीकरण के नाम पर नया-साम्राज्यवाद जो स्थापित किया जा रहा है इससे जन-समुदाय अनभिज्ञ हैं । साथ ही देश बाज़ारवाद की गिरफ्त में आ गया है । जिससे प्रत्येक घर पर बाज़ार निर्मित किया गया है जिससे शायद ही कोई बच पा रहा है । इस बाजारतंत्र ने सबसे ज्यादा भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है जिसके कारण समाज में पाश्चात्य संस्कृति हावी होती जा रही है ।

साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में भूमंडलीकरण को लेकर लेखन कार्य हुए हैं और होते रहे हैं । हिन्दी और ओड़िया उपन्यास की विधा भी इससे अछूती नहीं रही है । 90 के दशक के बाद अमूमन हिन्दी के सभी उपन्यासों में भूमंडलीकरण से सरोकार रखते विचार देखे जा सकते हैं । किन्तु विशेष रूप से भूमंडलीकरण के प्रभाव पर लिखने वाले उपन्यासों की संख्या कम है । इस दृष्टि से उपन्यास लिखित उपन्यासों में 'दस बरस का भँवर' (रवींद्र वर्मा), 'दौड़' (ममता कालिया), 'एक ब्रेक के बाद' (अलका सरावगी), 'विसर्जन' (राजू शर्मा), 'स्वर्णमृग' (गिरिराज किशोर), 'ग्लोबल गाँव के देवता' (रणेंद्र), 'मुन्नी मोबाईल' (प्रदीप सौरभ), 'ए. बी. सी. डी.' (रवींद्र कालिया) आदि को देखा जा सकता है । वहीं ओड़िया उपन्यासों की बात की जाए तो ओड़िया उपन्यासों में यह परंपरा लगभग 21वीं सदी में प्रारंभ होती हुई नजर आती है । भूमंडलीकरण के प्रभावों पर 'ओ एकाकी' (अनिल कुमार पाढ़ी), 'सेई सबु दिन' (सहदेव साहू ), 'छाई आलुओ र खेल' (संयुक्ता महंती) आदि उपन्यास लिखे गए हैं ।

## 7.2 विवेच्य उपन्यास में भूमंडलीकरण का स्वरूप

'दौड़' उपन्यास वैश्वीकरण की त्रासदी पर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास उन चंद उपन्यासों में आता है जो विशेष रूप से वैश्वीकरण की वास्तविकता को प्रस्तुत करता है । अमूमन वैश्वीकरण के सकारात्मक दृष्टि से लिखे गए उपन्यासों की अधिकता रही है । 'दौड़' उपन्यास में उपन्यासकार की विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय संदर्भ में वैश्वीकरण के प्रभावित क्षेत्रों पर बात की । उन्होंने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और

धार्मिक स्थिति में आए नए परिवर्तन से प्रभावित नए वर्ग की सोच के बरक्स पुरानी संस्कृति और सोच को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

उत्तर आधुनिक जीवन सही मायने में पश्चिमीकरण को बढ़ावा देने का पक्षपाती है । प्रत्येक समाज और विचारधारा की समस्याओं के साथ कुछ विशेषताएं भी रही हैं इसे स्वीकार करने में कोई दो राय नहीं है । इस उपन्यास में लेखिका इन दोनों पर बात करती हैं । किन्तु उपन्यास को पढ़ कर यह इनकार नहीं किया जा सकता कि वैश्वीकरण की अच्छाई से बरक्स इसकी समस्याएं भारतीय समाज के लिए ज्यादा घातक है ।

उत्तर आधुनिक दौर में लोगों को पश्चिमीकरण की ऐसी लत लग गई है जिसके बिना उन्हें ऐसा लगने लगा है कि उनका जीवन इन सब के बिना अर्थहीन है । आज के मनुष्य की स्थिति रेल-गाड़ी की तरह प्रवाहमान है, जो किसी भी आधार पर रुकने वाली नहीं है । इसी अर्थहीन दुनिया को सफल बनाने के लिए पैसा ही मूल कारक है । अर्थ प्राप्त करना भी आज के दौर की सबसे बड़ी चुनौती है।

आज 'अर्थ' की ही दौड़ में सभी लगे हुए हैं । आज भागना आधुनिक मनुष्य की सबसे बड़ी धरोहर है । इस वैश्वीकरण की दुनिया का सिद्धांत है - भागो वरना तुम्हें यह दुनिया लील जाएगी । बच्चे पैदा होते ही हर माँ-पाप बच्चे को रेस का घोड़ा बनाकर दौड़ लगाने की प्रक्रिया में लगे रहते हैं । अब तो दुनिया में दौड़ की भी होड़ मची है ! कौन सबसे पहले दौड़े ।

### 7.2.1 उपभोगवादी जीवन-दर्शन

भूमंडलीकरण और उत्तरआधुनिक युग ने नया बाजार निर्मित किया है । पहले भी बाजार थे पर बाजार इतना आकर्षक, विशाल और व्यापक नहीं था कि युवा-वर्ग इसके पीछे भागे पर अब बाजार की स्थिति भिन्न है, नए-नए प्रलोभन दिए जा रहे हैं नौकरी के नाम पर पैसे और स्टेटस्/ कैरियर के नाम पर । इसलिए युवा-वर्ग इन सारी चीजों से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है ? धीरे-धीरे चलने लगी यहाँ से दौड़ की प्रतियोगिता । पूंजीवादी समाज ने मनुष्य को मशीन में तब्दील कर दिया जिसके पास संबंधों की कोई गरमाहट आवश्यक नहीं है । अब युवा-वर्ग दौड़ने में इतने व्यस्त हो गए कि उन्हें खुद के सिवा किसी की भी सुध नहीं है । वे जीते हैं अपने लिए, बस अपने कैरियर के लिए ! एक तरह से बाजारवाद ने मनुष्य को उपभोगवादी बना दिया है, जिसमें सबसे ज्यादा स्वार्थ की महत्ता

है । लेखिका 'दौड़' उपन्यास में आधुनिक जीवन की इसी आपाधापी का सजीव चित्र उपस्थित करती हैं ।

वैश्वीकरण ने तो शहरों के आम लोगों तक को नहीं छोड़ा । व्यापारी मानसिकता के कारण वहाँ के ऑटो रिक्शा वाले भी कम नहीं सोचते उन्हें भी ज्यादा चाहिए । जितना बड़ा शहर उतना बड़ा पैकेज । बाजार ने लोगों के पेशे तक छीन तक लिए हैं जैसे अब शहर में कोई दूध वाला नहीं है, वे अब बेरोजगार हैं क्योंकि गाय या भैंस के असली दूध की जगह टोन मिल्क या टेट्रा मिल्क ने ले ली है । घरेलू उद्योग का भी विदेशीकरण हो गया है । “यहाँ दूध मिलता है पर भैंसें नहीं दिखतीं ...बड़ी-बड़ी सुसज्जित डेरी शॉप हैं, एयरकंडीशंड, जहाँ आदमकद चमचमाती स्टील की टंकियों में टॉटी से दूध निकलता है ।”<sup>384</sup> तरकारियों का तो हाल ही खराब है । अब घर के पास ही बाजार उठ कर आता है। सब्जियों के दाम तो अब आकाश छूने लगे हैं । यह तरकारी भी अब देशी नहीं होती विदेशी हो गयी है । कहने का तात्पर्य अब सब्जी खेत में नहीं उगाये जाते, प्रयोगशालाओं ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है । “ये बड़े-बड़े टमाटर एक तरफ रखे हैं कि दूर से देखने पर प्लास्टिक की गेंद लगते हैं ... कीमत दस रूपए पाव । टमाटर का आकार इतना बड़ा कि एक पाव में एक टमाटर ही चढ़ सकता है । दस रूपए में एक टमाटर । हे भगवान क्या टमाटर भी एन.आर.आई हो गया है ? शिकागो में एक डॉलर का एक टमाटर मिलता है । भारत में टमाटर उसी दिशा में बढ़ रहा है ।”<sup>385</sup> बाजार ने चीजों से देशीपन लूट लिया है, अब इन टमाटरों में कोई स्वाद नहीं होता, दिखने में बेजान और बनावटी । अब दुनिया में ऐसी कोई चीज़ नहीं होगी जिसका भूमंडलीकरण न हुआ हो ।

वैश्वीकरण से सबसे ज्यादा नुकसान परिवेश का हुआ है । परिवेश-प्रदूषण अब चिंता का विषय बन गया है । जितनी भी कंपनियाँ हमारे देश में जड़ जमा रही हैं, उनसे निकलता प्रदूषण आज हमारे लिए जानलेवा साबित हो रहा है । सांस, अस्थमा, चर्म रोग आदि ने लोगों को घेर रखा है ।

## 7.2.2 विज्ञापन, तकनीक और मीडिया का गठजोड़

---

<sup>384</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-17

<sup>385</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-17



विडम्बना यह है कि बाजारवाद ने स्कूल तक को नहीं छोड़ा । स्कूल में नियम बनाये गए बच्चे जूते पहन कर ही आएँ । वह भी वार के अनुसार यानी दो कलर के जूते । इतना ही नहीं कपड़े से लेकर बच्चों के अन्य जरूरत के चीजों को भी नियम का हिस्सा बनाया गया । आज अगर बच्चों के स्कूल में जूतों की जरूरत न होती तो जूते का व्यापार तो ठप्प हो जाता ! जूते ही नहीं जूते में मारने वाले पोलिश की कंपनियों का भी क्या होता?

बाजार ने सबसे ज्यादा बच्चों को प्रभावित किया है । इससे सबसे ज्यादा बड़ी भूमिका विज्ञापनों की है । बाजार जाते ही, होने लगता है उनकी डिमांड, मुझे खाने में डेरीमिल्क चॉकलेट ही चाहिए । नहीं पापा मुझे वह किंडरजाँय चाहिए जो टी.वि पर दिखता है न । मुझे बन्दूक चाहिए आदि आदि । बच्चों को प्रलोभन तक दिया गया ये चीज खरीदने पर यह टैटू मिलेगा यह खाओगे तो यह कार्टून मिलेगा । वे अच्छे से जानते बच्चों के जिद के आगे उनके माँ-बाप की भी नहीं चलती है ।

अब जरूरतमंद चीजों के लिए भी विज्ञापन बनाए जा रहे हैं । विज्ञापनों ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया है इस देश के लोगों को । जो विज्ञापन जितना आकर्षक उसके लोग उतने दीवाने । विज्ञापनों में भी स्पर्धा होने लगती । एक-दूसरे में टक्कर होती है । लोग बेचारे और परेशानी में पड़ जाते हैं । विज्ञापन जहाँ मार्केटिंग की सुविधा के लिए बनाए गए थे, वे ज्यादा लोगों को उलझा रहे हैं । अब उपभोक्ता के पार किसी भी चीज के लिए अनेक विकल्प मौजूद हैं । अब उत्पादान में जितना पैसा लगाना होता है उतना ही पैसा विज्ञापनों में भी खर्च करने होते हैं । सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि विज्ञापनों में अतिशयोक्ति तो भरपूर होती है फिर भी कैसे लोग विज्ञापनों के पीछे भागते हैं ! सारे चैनलों में एक के बाद एक विज्ञापन की होड़ लगी रहती यहाँ तक की विज्ञापनों ने न्यूज़ चैनलों को भी नहीं बखशा । राजुल (अभिषेक की पत्नी) हमारे सामने विज्ञापन की एक और सच्चाई को प्रस्तुत करती है -“सच्चाई तो यह है कि मॉडल लीना भी स्पाकल इस्तेमाल नहीं करती । वह प्रतिद्वंदी कंपनी का टिक्को इस्तेमाल करती है । पर हमें सच्चाई नहीं, प्रॉडक्ट बेचनी है ।”<sup>386</sup> वह विज्ञापनों की नैतिकता की बात करती है । अभिषेक कहता है -“विज्ञापन की दुनिया खर्च और बिक्री की दुनिया है । हम सपनों के सौदागर हैं, जिसे

---

<sup>386</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-37

चाहिए बाजार जाए, सपनों और उम्मीदों से भरी ट्यूब खरीद ले । ये विज्ञापन का ही कमाल है कि हमारे तीन सदस्यों वाले परिवार में तीन तरह के टूथपेस्ट आते हैं ।”<sup>387</sup>

नए भारतीय समाज की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि आज आध्यात्मिक बाजार का भी निर्माण हो गया है । लोगों को समाज में तरह-तरह के स्वामियों के दिग्दर्शन होते हैं । पैसे के लालच में वे अपनी दुकान खोल कर बैठे हैं । आज के दौर में लोगों को लूटने का यह सबसे आसान तरीका हो गया है । “भक्ति की कैपस्यूल बना कर बेचते हैं आज कल के धर्मगुरु ।”<sup>388</sup>

पवन ऐसा युवा-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो बाजार के जरिए ज्यादा पैसे पाने का आकांक्षी है । साथ ही आज का युवा वर्ग कैरियर को ज्यादा महत्व देने वाले हैं । कैरियर के लिए चिंतित होना बुरा नहीं माना जा सकता किन्तु इस व्यवस्था ने लोगों को अपने परिवार से दूर कर दिया है । आज के लोगों के लिए परिवार व्यवस्था प्राथमिक नहीं है बल्कि धन और स्टेटस है । पवन कहता भी है -“पापा मेरे लिए शहर महत्वपूर्ण नहीं हैं, कैरियर है । अब कलकत्ते को ही लीजिए । कहने को महानगर है पर मार्किटिंग की दृष्टि से एकदम लद्धड़ । कलकत्ते में प्रोड्यूसर्स का मार्केट है, कंज्यूमर्स का नहीं । मैं ऐसे शहर में रहना चाहता हूँ जहाँ कल्चर हो न हो, कंज्यूमर कल्चर जरूर हो । मुझे संस्कृति नहीं उपभोक्ता-संस्कृति चाहिए, तभी मैं कामयाब रहूँगा ।”<sup>389</sup> सघन भी इस संस्कृति से कहाँ तक बच पाता । वह भी अपने ही भाई की तरह ताड़वान अपने कैरियर बनाने के लिए जाता है । यह कहना गलत नहीं होगा कि उपभोक्तावादी-सिद्धांत ने युवा-वर्ग को लालची और स्वार्थी बना दिया है ।

उत्तराधुनिक समाज ने नयी संस्कृति की नींव रखी है । यह संस्कृति पश्चिम का अनुकरण है जिसका भारतीयकरण कर दिया गया है । सभ्यता के बदलाव की तरफ इशारा किया गया है । उदाहरण स्वरूप -पवन ने कहा माँ (रेखा) से माँ मेरा जन्म दिन था तुमने ग्रीटिंग कार्ड क्यों नहीं भिजवाया । “बेटे ग्रीटिंग कार्ड तो बाहरी लोगों को भेजा जाता है । तुम्हें पता है तुम्हारा जन्म दिन कैसे मनाते हैं ? हमेशा की तरह मैं मंदिर गई, स्कूल में सब को मिठाई खिलाई, रात को तुम्हें फोन किया । मेरे कलीग्स हंसी उड़ा रहे थे कि

---

<sup>387</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-38

<sup>388</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-45

<sup>389</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-40-41

तुम्हारे घर से कोई ग्रीटिंग कार्ड नहीं आया ।”<sup>390</sup> इसे सुनते ही माँ को लगने लगा कि आज का युवा-वर्ग अपनी पुरानी संस्कृति को भूल गया है और यह आशा भी रखता है कि बुजुर्ग-वर्ग भी उसको स्वीकार करे । आज भले ही एक वर्ग पश्चिमीकरण को आधुनिक होने के संज्ञा दे डालता है किन्तु क्या आधुनिक होना यही है ?

एक ओर जहाँ इस दौर में पीढ़ी का अंतर देखा गया है । वहीं स्त्रियों के मामले में या उपेक्षित समुदाय के मामले में नई सोच भी देखी गई है । यह सोच सही मायने में सकारात्मक है । उपन्यास में -माँ चाहती है स्टोला (बहू) खाना बनाना सीखे । इस बात का पवन (पुत्र) खंडन करता है कहता है -“माँ जब से मैंने होश संभाला, तुम्हें स्कूल और रसोई के बीच दौड़ती ही देखा । मुझे याद है जब मैं सोकर उठता तुम रसोई में होतीं और जब मैं सोने जाता, तब भी तुम रसोई में होतीं । तुम्हें चाहिए कि स्टैला के लिए जीवन भट्ठी न बने । जो तुमने सहा, वह क्यों सहे ?”<sup>391</sup> पीढ़ीगत अंतर होने के बावजूद आधुनिक युग की सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि इस युग में पुरानी मानसिकता को तोड़ने का एक नवीन प्रयास किया जा रहा है जो स्त्री अस्तित्व और अस्मिता पर जोर देता है ।

आज एक ओर जहाँ परिवार का बुजुर्ग-वर्ग इस नवीन संस्कृति का शिकार है वहीं संयुक्त परिवार व्यवस्था भी चरमरा गई है । आज का युवा-वर्ग उपभोगवादी समाज का इतना आदि हो गया है कि उसे पुरानी चीजें पसंद नहीं आती यहाँ तक की माँ और बाप भी । आज बुजुर्गों की स्थिति वापसी के गजाधर बाबू की तरह हो गई है । किन्तु समस्या यह है कि आज भी बुजुर्ग समुदाय इस परिवर्तन को स्वीकार करने में समर्थ नहीं है । इसलिए आज का युवा वर्ग उनको और उनके सोच को आउट ऑफ डैटिड मान कर उनका सम्मान तक करना नहीं चाहता। आज इसी भ्रमंडलीकरण ने समाज और परिवार में एक खाई निर्मित कर दी है । जिसे पाटना सहज नहीं है । पवन अपने पिता से कहता है -“हर पुरानी चीज़ आपको श्रेष्ठ लगती है, यह आपकी दृष्टि दोष है, पापा अगर ऐसा ही है तो आधुनिक चीज़ों का आप इस्तेमाल भी क्यों करते हैं । फेंक दीजिए अपना टी.वी. सेट, टेलीफोन और कुकिंग गैस । आप नई चीज़ों का फायदा भी लूटते हैं और उनकी आलोचना भी करते हैं ।”<sup>392</sup> पिता ने बेटे के व्यक्तित्व में परिवर्तन देखा था वे सोचते हैं -“उनके बेटे

<sup>390</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-43

<sup>391</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-63

<sup>392</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-45

के व्यक्तित्व में भौतिकतावाद, अध्यात्म और यथार्थवाद की कैसी त्रिपथगा बह रही थी।<sup>393</sup> यह दोष युवा वर्ग का नहीं है बल्कि समाज में आए सांस्कृतिक नवीकरण का है जिसने भारतीय संस्कृति को मात दी है। आज की इस नवीन संस्कृति ने बुजुर्गों में अकेलेपन की त्रासदी को विकटतर बनाया है। इस उपन्यास में पवन के माता-पिता इसी अकेलेपन की त्रासदी से गुजरते हैं। 'अकेलेपन के साथ सबसे जानलेवा होते हैं उदासी और पराजय का बोध।' उपन्यासकार इस उपन्यास में यह स्पष्ट करती हैं कि ऐसे बुजुर्गों की संख्या काफी बढ़ गई है जिन्हें उनके बच्चे छोड़ कर चले जाते हैं और अपने अंतिम घड़ी तक वे उनके वापसी का आसरा देखते रहते हैं। जिस कॉलोनी में रेखा और राकेश रहते हैं, उसी कॉलोनी में उन जैसे और भी लोग रहते हैं, जिनके बेटे-बेटियां उन्हें छोड़ कर चले गए हैं। वे आपस में एक-दूसरे के साथी बनते। कितनी बड़ी विडम्बना है जिन बच्चों के लिए माँ-बाप पूरा जीवन न्योछावर कर देते हैं, वही बच्चे अपने माँ-बाप के बुढ़ापे का सहारा नहीं बनते। उनके लिए बस उनका कैरियर महत्वपूर्ण हो जाता है जन्म देने वाले माँ-बाबा नहीं। सही मायने में यही आधुनिक जीवन की दौड़ है, जिसमें बुजुर्गों के हिस्से में अकेलापन और युवा-वर्ग के हिस्से में जीवन की दौड़ है।

वैश्वीकरण का सम्बन्ध बाजार से है। बाजार ने लोगों को चीजों में तब्दील कर दिया है जिसमें संवेदना नहीं है, भावना नहीं है। बाजार में एक का ही महत्व है वह है - धन। प्रश्न यहाँ यह उठता है इस वैश्वीकरण ने हमें क्या दिया? लोगों ने वैश्वीकरण को विकास के मॉडल के रूप में देखा। क्या यह सचमुच विकास का मॉडल है? इस उपन्यास का नायक पुरुषो इस विकास की जालसाजी को समझता है और अपने मित्र राघव से कहता है - "वह दुनिया सोने की दमक में उसी तरह नज़र आती है जैसे रेगिस्तान की जमीन पानी से भीगी दिखाई देती है। उसे मृगतृष्णा कहते हैं।"<sup>394</sup> इसके जरिये रचनाकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि हम जिसे विकास कह रहे हैं वह दरअसल रेगिस्तान की मृगतृष्णा की तरह है जो पानी का भ्रम पैदा करता है, पर होता कुछ नहीं है।

विकास तो सचमुच हुआ है! लेकिन कालाबाजारी का और भ्रष्टाचार का। एडवांस होने के नाम पर हम इन्टरनेट की सुनहरी दुनिया से जुड़ते गए, मोबाइल फ़ोन से हमारा ज्यादा लगाव हो गया जिसके बिना जीवन अधूरा लगने लगता है। बड़ी-बड़ी कॉर्पोरेट

<sup>393</sup> दौड़, ममता कालिया, पृ.सं.-46

<sup>394</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-15

कम्पनियों ने हमें अपना गुलाम बनाना प्रारंभ कर दिया है पर विडम्बना यह रही कि हमें पता तक नहीं है कि हम उनके गुलाम हो गए हैं। इन्टरनेट में एक तरफ जहाँ ज्ञान है, सूचना है, मौजमस्ती है, वहीं दूसरी ओर, हम को एक ऐसा संक्रमण का रोग लगाने की शक्ति है जो जीते-जी तो साथ छोड़ने से रहा। यह नशा ड्रग्स के नशे से कम असरदार नहीं है, जिसकी बुरी लत ने लोगों के घरबार के साथ-साथ सब कुछ लूट लिया है। “हमारा गरीब देश एक विचित्र मानसिकता का शिकार हो रहा है। बिना कुछ किए करोड़पति या अरबपति बनने की लालसा। यह वर्ग इन्टरनेट कामी वर्ग है जो शिक्षित और आधुनिक सभ्यता का संवाहक होने का दावा करता है। यह खेल मल्टीनेशनल्स के नाम पर उनकी अनुषांगिक कम्पनियाँ या उनसे जुड़े अंग्रेजी दां लोग, अपने को डिप्लोमेट का दर्जा देकर विदेशी बिचौलिए, खेल खेल रहे हैं।”<sup>395</sup> इस तरह से देखें तो मनुष्य ने आधुनिकता के आड़ में मनुष्यता, संवेदनशीलता को बेच खाया है।

दुनिया दिन-ब-दिन मायावी होती जा रही है, दुनिया को मायावी बनाने का कार्य विदेशी और सभ्य लोग कर रहे हैं। यह विदेशी ही हमें लोलीपॉप दिखाकर लूटने वाले हैं। पहले भी हमें लूटा था और अब भी लूट रहे हैं, लेकिन पैमाने अलग-अलग जरूर हैं। इन सब के मूल में लालच है, जिसके कारण ही सारी समस्या उत्पन्न हो रही है। “हम लूट कर भी अपने को बेलुटा मान और दानिशमंदी का लबादा पहनकर सुखरूह होते रहते हैं। सामंतवाद की लम्बी परंपरा है। वैश्वीकरण ने उसे उधार लेकर हमें पूंजीवाद के नाम से मौरूसी कर दी है।”<sup>396</sup>

पुरुषो एक ऐसा ही आदमी है जिसके साथ छल किया गया। उसके साथ छल करने वाले और कोई नहीं अमेरिका के सभ्य लोग हैं, जो अच्छाई का लबादा पहने हुए हैं। इस इन्टरनेट ने जितने अच्छे कार्य क्यों न किये हो पर यह लालच दिलाने के ये फार्मूला हैं। हम जो भी नेट पर करते हैं, उन्हें वह सारी सूचना मिलती है। उनके पास सभी का रिकॉर्ड होता है पर इन सभी चीजों से अनभिज्ञ हम अपनी सारी जरूरी चीजें नेट के माध्यम से करने लगे हैं। इस दुनिया की छोटी-सी-छोटी चीजें हमसे ज्यादा वह जानते हैं। पुरुषो भी इसी का शिकार होता है, उसके खिलाफ ऐसा जाल बिछाया जाता है, जिसमें वह अंततः उलझकर रह जाता है। उसके अन्दर वही जख्म नासूर बन जाता है। इन अनुभवों के बल

<sup>395</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-17

<sup>396</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-18

पर ही वह अपनी बातें रखता है -“मैं वैश्वीकरण के विकिरण के कुप्रभाव के इस कोढ़ से अपने लोगों को अपने अनुभवों के जरिए बचाना चाहता हूँ। वैश्वीकरण तीसरी दुनिया के लोगों के लिए आणविक विस्फोट के फाल आउट की तरह लगता है। आणविक विभाजन और वैश्वीकरण जुड़वां भाई की तरह हैं।”<sup>397</sup> पुरुषो का दोस्त जो अमेरिका में रहता है वह भी इस दंश को झेल चुका है। वह कहता है -“इस देश का क्रेडिट कार्ड हम लोगों को कल्पतरु की तरह लगता था। जो मांगोगे वह मिलेगा। मकान हो, कार हो, फ्रिज हो...छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी चीज़ हो, क्रेडिट कार्ड से मांगो सब हाज़िर। ...इस बार जो मंदी आई तो पता चला तिलिस्म टूट गया। ...जो दुनिया उधार के बल पर खड़ी की थी वह ताश के पत्ते की तरह भर भराकर ढह गयी। मेरा घर किस्तों पर था। ...फ्रिज उठा ले गए।”<sup>398</sup> यहाँ तक बच्चों के खिलौनों तक को नहीं छोड़ा गया। राघव अब भी अमेरिका को लेकर असमंजस की स्थिति में है क्योंकि सिर्फ उसके ही नहीं बल्कि सभी लोगों के दिमाग में यह बैठाया गया था कि अमेरिका धन-संपत्ति का हिमालय है। इस तरह की मानसिकता से उसे निकलना मुश्किल हो रहा था और हमारे लिए भी यह सत्य स्वीकारना उतना ही कठिन है। अमेरिका की कायल प्रवृत्ति ने हमारे आंखों पर लबादा ओढ़ा दिया है। जिसे देख कर भी अनदेखा और सुन कर भी अनसुना कर दिया जा रहा है। “अब लगता है कि यह ग्लोबलाइजेशन ही अमेरिका क्या पूरे यूरोप को अपने फन के नीचे दबा लेगा। लेकिन ये सब देश इतनी जल्दी हार नहीं मानेंगे। इनके पास बहुत से रास्ते हैं जिसको साधकर तीसरी दुनिया के संसाधनों को दुहकर, अपनी आर्थिक सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रख सकते हैं। इसका उदहारण हमारा हिन्दुस्तान है जिसने इस विदेशी बैंक को डूबने से बचाया।”<sup>399</sup>

इस उपन्यास में पुरुषो के जरिये रचनाकार भोले भाले लोगों की स्थिति को स्पष्ट करते हैं, जो इस तरह के जालसाजी में शीघ्र ही फँस जाते हैं। उपन्यासकार पुरुषो की आन्तरिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि किस तरह पुरुषो को इस चमकदार दुनिया ने कहीं का नहीं छोड़ा है। वह बंजारा बनकर इधर-उधर फिरता है। उसकी दशा उस बंजारे लोगों की तरह हो गयी थी जो बहते पानी की तरह कहीं नहीं ठहरते हैं। हमारा और हमारी भावी पीढ़ी का भविष्य देखकर मन कचोटने लगता है कि हमने विकास के

<sup>397</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-23

<sup>398</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-29

<sup>399</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-29-30

नाम पर अपनी और भावी पीढ़ी का भविष्य दाव पर लगाया है। हमने एक बार भी नहीं सोचा कि आर्थिक-समस्या से घिरा अमेरिका उधार की नींव पर खड़ा है। उधार कब तक साथ देने वाला है इसलिए पैसे लूटने के नए-नए तरीके ईजाद किये जा रहे हैं। दरअसल “ग्लोबलाइजेशन औरों के लिए नहीं उनके अपने लिए है। हमारी आँखों पर वह सर्चलाइट डालकर हमें अहसास करा रहा है कि वे अँधेरे में भरपूर रोशनी दिखा रहे हैं। इस तेज़ रोशनी में दिख क्या रहा है? महज चकाचौंध कर देने वाली रोशनी द्वारा आँखों के सामने चमकदार अँधेरा निर्मित किया जा रहा है।”<sup>400</sup>

इस उपन्यास की सार्थकता यह है कि इसमें भूमंडलीकरण की त्रासदी को तीसरी दुनिया के देशों के स्तर पर दिखाया गया है। विकसित देश तकनीक के कौशल के आधार पर विकासशील और तीसरी दुनिया के देशों का लेखा-जोखा अपनी हार्ड-डिस्क और चीप में हजारों किलोमीटर दूर रख रहे हैं। यह निगरानी है। यह आज़ादी का हनन है। यह आज़ादी तकनीक के बल पर लूटी जा रही है। भारत भी इस ‘स्वर्णमृग’ के भंवर में फंस चुका है।

### 7.2.3 महानगरीय जीवन-बोध

‘छाई आलुओ र खेल’ उपन्यास वैश्वीकरण के कारण भारतीय समाज के कुप्रभाव को दर्शाता है। भारतीय समाज में परिवार और संबंधों का विशेष महत्त्व रहा है। किन्तु समाज में वैश्वीकरण के प्रभाव ने लोगों को इतना आकर्षित किया है जिसकी वजह से समाज में तथा विशेष कर परिवार व्यवस्था पर गहरा संकट देखा जा सकता है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि ओड़िशा का भुवनेश्वर है किन्तु यह स्थिति अमूमन सभी क्षेत्र की रही है। इस उपन्यास में परिवार में बढ़ते असंतोष और संयुक्त परिवार में बनते एकल परिवार के साथ लोगों में पनपी स्वार्थपरता को दिखाया गया है। साथ ही समकालीन समाज को अतीत के साथ तुलना करते हुए संबंधों की पड़ताल और उनमें पनपा बाजार को दिखाने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र बेला है जो कामकाजी महिला है, जिसकी उम्र लगभग 50 साल हो गई है। किन्तु इतने वर्ष गुजरने के बावजूद परिवार व्यवस्था में पनपा बाजार और स्वार्थपरता के कारण उसने अपना परिवार नहीं बनाया।

---

<sup>400</sup> स्वर्णमृग, गिरिराज किशोर, पृ.सं.-46

बेला समाज में नारी के वस्तुवादी रवैये से क्षुब्ध है । आज स्त्री पुरुष के लिए एक भोगवादी वस्तु है जिसकी इच्छा और आकांक्षा का कोई महत्व नहीं है । नौकरी के कार्यकाल में उसने महसूस है कि पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण सहज न होकर भोगवादी ही है, जिसे नोच-खसोट कर प्राप्त करने की आकांक्षा पुरुषों में बढ़ती गई है । वह यह भी मानती हैं कि आज भी 'स्त्री' सक्षम होने के बावजूद भी स्वतंत्र और सुरक्षित नहीं है । समय की गतिशीलता में अब उसका साथ देने के लिए कोई नहीं है पिता के मृत्यु के बाद जब भी भाइयों की आवश्यकता महसूस हुई तब उनकी पत्नियों ने उसका साथ देने से रोक दिया -“अभी व्यापार को खराब करके, उधर जा रहे हो ? दो दिन में जो रोजगार करते उसका पैसा कौन देगा ? मोटर साइकिल जो लोन पर लाए हो उसका पैसा कौन चुकायेगा ? मुझे कंगाल करोगे ? ये सारे प्रश्नों के उत्तर उनकी स्त्री चाहती है ! इतने दिनों का भाई और बहन का हृदय भरा गहरा संबंध पर यह किसका प्रश्नांकन है ? क्या है ये ? क्या इसकी महत्ता? ये किस प्रकार की भूमिका ?”<sup>401</sup> यह स्थिति अब हर परिवार की रही है सब अपनी जिंदगी में व्यस्त हैं किसी को किसी के लिए समय नहीं है । संबंधों के प्रति अनादर को देखते हुए बेला ने चाह कर भी कभी भाइयों को नहीं बुलाया । उसने खुद को इतना आत्मनिर्भर और सक्षम बना लिया कि जिससे उसे किसी की आवश्यकता न पड़े । आज संबंधों में बाजार और व्यापार इस प्रकार घुल मिल गया है जहां ये संबंध अर्थहीन लगने लगते हैं ।

“एक हृदय के समीप खड़े संबंध पर किसने बाजार निर्मित किया । पराई लड़की बाहर से आई है । वह क्या समझेगी ? उस संबंध की अंतरंगता भाई का बहन के प्रति कुछ कर्तव्य होता है, वह अनुभव अब यहाँ नहीं है ।”<sup>402</sup> दुःख तब होता है जब संबंधों की ऊष्मा धीरे-धीरे कम होने लगती है । और समूचा परिवार कट कर दो लोगों में सिमट-सा जाता है । “मंझला भी ऊपर की सीढ़ियों से उतरता है। किन्तु कुछ भी पूछता नहीं है ? कहाँ जा रहा है, कब आएगा, ऊँ-की चूँ नहीं । उसकी स्त्री उसके पीछे-पीछे चल देती है । ... गेट बंद होने की आवाज आती है, मोटर साइकिल की स्टार्ट होने की आवाज भी आती है लेकिन उससे (बेला से) पूछता नहीं हैं कि तू अकेली बसस्टैण्ड कैसे जाएगी ? तुझे कौन

<sup>401</sup> छाई आलुओ र खेल, संयुक्ता महंती, पृ. सं.-9

<sup>402</sup> छाई आलुओ र खेल, संयुक्ता महंती, पृ. सं.-8



छोड़ने जाएगा ? ऐसा लगता है वर्षों पुराना रिश्ता कहीं खो सा गया है । अब उसे वह पहचानता तक नहीं ?”<sup>403</sup>

माँ का यह कहना कि अपने लिए रिक्शा का प्रबंध कर लेती तो तुझे ऐसी समस्याओं का सामना न करना पड़ता । बेला का मन यह सुन कर बहुत कचोटने लगता है । उसे दुःख होता कि समय के चक्र ने कितना कुछ बदल दिया है । बेला ने रिश्तों के गणित को बहुत सुलझाने की कोशिश की किन्तु यह गणित उलझानेवाला था सुलझने वाला नहीं ।

बेला ने जीवन में बहुत कुछ सहा है, जिससे प्रेम और आत्मसमर्पण किया उसने उसके प्रेम को नहीं समझा । उसे छोड़ कर चला गया । तब से उसके मन में निराशा और अकेलेपन ने जड़ जमा ली थी । आज ऐसे समय में उसे अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए साथी की आवश्यकता होती है पर समय के चक्र में मिले धोखे ने उसे कभी आगे बढ़ने नहीं दिया । “हे भगवान । सब जगह पैसों का ही हिसाब-किताब है । चारों तरफ वैश्वीकरण और बाजार । दिल, संबंध, स्नेह, प्रेम सब में बाजार । बड़ी अद्भुत है यह पृथ्वी । कमर्शियल चारों तरफ हैं । वस्तुवादिता की चौहद्दी में अब सब उलझे हुए हैं । माँ अनुराधा उस पुराने जमाने की मनुष्य रही हैं जब अभिजात्यता संबंधों के गंभीर नींव पर खड़ी थी, किन्तु विडंबना यह है कि समय परिवर्तन से वह खुद भी बदल गई है।”<sup>404</sup>

यह दौर संबंधों की गरिमा को तोड़ चुका है बल्कि यह कहा जा सकता है इस दौर में संबंध भी अमर्यादित हो गये हैं । उसने कभी पैसों को संबंधों की तुला में नहीं तोला बल्कि उसे सदैव पैसों से सर्वोपरि माना किन्तु उसके मन में यह बरबस सवाल खड़ा होता रहता है कि मेरे शहर को क्या हुआ ? इसके संबंध में कहती है -“ कंक्रीट की राक्षसी गर्जन से दहलता है हृदय । ... टूटता है यहाँ स्वप्न का नगर । बार-बार । अर्थात् कभी यह जगह बहुत आकर्षक हुआ करती । भरपूर हरियाली थी । किन्तु रूठ गई परिवार नुमा हरियाली जैसे इस भूखंड से । पैसा-व्यापार या कंक्रीट के इस जंगल में मनुष्य का हृदय इतना शुष्क हो गया है, जिससे एक बूँद पानी भी नहीं मिल रहा । यहाँ सबके पास कृत्रिम हृदय है।”<sup>405</sup>

इस बीच बेला की मुलाकात अविनाश से पुनः होती है । यह वही अविनाश है जो उसे वर्षों पहले, उसको बीच राह में छोड़ कर चला गया था । अब वह उसे पुनः पाना

<sup>403</sup> छाई आलुओ र खेल, संयुक्ता महंती, पृ. सं.-12

<sup>404</sup> छाई आलुओ र खेल, संयुक्ता महंती, पृ. सं.-13

<sup>405</sup> छाई आलुओ र खेल, संयुक्ता महंती, पृ. सं.- 18

चाहता है । अपनी पत्नी और बच्ची को छोड़कर पुनः उस पर समर्पित होना चाहता है । कई साल अपने परिवार के साथ रहने के बाद उसे अनुभव होता है कि आज भी वह अकेला है । अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए अब उसे बेला की आवश्यकता है । वर्षों पहले जब उसकी जरूरत बेला को थी, तब वह उसके पास नहीं था । आज जब उसे पता है कि बेला ने किसी का हाथ नहीं थामा है इसलिए फिर से उसकी गुंजाइश बढ़ गई है । अविनाश बेला से मिन्नतें करता है कि वह उसके पास पुनः वापस आ जाए किन्तु बेला संबंधों में भरे स्वार्थ को समझ चुकी है वह यह जान चुकी है कि संबंधों की ऊष्मा अब लोगों में बची नहीं है अब लोगों में संवेदना खत्म हो चुकी है । बेला यह जानती है आज उसकी संवेदनाओं का मज़ाक बनाया जा सकता है । आज इस यांत्रिक दुनिया में वह इस संवेदनशून्यता को नहीं स्वीकार सकती । अतः बेला अपने स्वाभिमान और संवेदना की रक्षा करते हुए उसका प्रस्ताव ठुकरा देती है । आज भी उसके किसी कोने में अविनाश बसा हुआ है किन्तु अपनी अनुभूति को वह हावी होने नहीं देती है, अपनी इस कोमल अनुभूति के आगे कमजोर नहीं पड़ती क्योंकि स्त्री 'अस्मिता' और आत्मसम्मान उसके लिए सर्वोपरि है जिसे वह बार-बार कुचलता हुआ नहीं देख सकती।

**‘सेई सबु दिन’** उपन्यास भूमंडलीकरण से प्रभावित वर्ग समूह पर आधारित है जो सोशल मीडिया से जुड़ा हुआ है । एक तरफ इस उपन्यास में जहां अतीत और वर्तमान के संबंधों की समस्या तथा रिश्तों में बाजार और पैसे का महत्व स्थापित है वहीं दूसरी ओर समकालीन समय में स्त्रियों में पैदा हुए आत्मस्वाभिमान और कार्यकुशलता को प्रस्तुत किया गया है। ‘सेई सबु दिन’ उपन्यास में चार प्रमुख पात्र हैं जिसमें लता और सनातन एक-दूसरे से प्रेम करते हैं किन्तु मिल नहीं पाते । वही लता और सनातन के बच्चे पूरवी और निरंजन एक-दूसरे से प्रेम करते हैं । निरंजन से प्रेम करने से पूर्व पूरवी का विवाह प्रीतम से हुआ था किन्तु कई समस्याओं का सामना करने के कारण उनका विवाह-विच्छेद हो जाता है । समय के चक्र में पूरवी बहुत आगे बढ़ चुकी है इसके पीछे कहीं-न-कहीं कारण उसकी कार्यकुशलता और आर्थिक सक्षमता ही रही जिसने उसमें अदम्य साहस भरा । आज पूरवी प्रसिद्ध समाचार पत्र की संपादक के रूप में परिचित है । समकालीन समय की विशेषता कहें या भूमंडलीकरण का विस्तारीकरण किन्तु आज समाज तकनीकी दृष्टि से बहुत सफल है । जिसके कारण लोग घर बैठे ही रहस्यों से भरपूर दुनिया का लुत्फ उठाने

के साथ पुराने खोए संबंधों से (फेसबुक, ई-मेल, इंस्टाग्राम, ट्विटर आदि) जुड़ते भी हैं। ये संबंध कितने गहरे और ठोस हैं यह कहना मुश्किल है ? इस उपन्यास में फेसबुक के माध्यम से जुड़ते संबंधों को लेखक स्पष्ट करते हैं - “खोये हुए संबंध को फेसबुक फिर से जोड़ देता है।”<sup>406</sup> भ्रमंडलीकरण से हमने कुछ अच्छी चीज भी हासिल की है जिसके माध्यम से वर्षों से टूटे संबंध फिर से जुड़ जाते हैं। वहीं घर पर बैठे बाजार और यांत्रिक दुनिया ने घरों के संबंधों में कितना जहर घोला है ये किसी से छिपा हुआ नहीं है। लेखक का नजरिया एक तरफ से आधुनिक चीजों को लेकर सकारात्मक रहा है। वहीं लेखक स्त्रियों के रोजगार पसंद और आत्म निर्भर स्वभाव के प्रशंसक के रूप में सामने आते हैं वहीं दूसरी ओर स्त्रियों को लेकर पुरुषवादी दृष्टि की मुखालफत भी करते हैं। इस उपन्यास में पूरवी के विवाह के संबंध में यह दृष्टि देख सकते हैं। विवाह के एक सप्ताह के बाद ही दोनों में झगड़ा प्रारंभ हो जाता है। इसके पीछे प्रीतम की शकी प्रवृत्ति होती है। कामकाजी स्त्री के दोस्त पुरुष और स्त्री भी हो सकते हैं किन्तु उसके पति को यह कतई बर्दाश्त नहीं कि उसकी स्त्री, पुरुषों से संबंध रखे। प्रीतम पूरवी से कहता है - “तुम्हारे मोबाईल में अनेक पुरुषों के नंबर हैं। पूरवी चिढ़ कर कहती है। क्या हो गया इसमें ? मैं पढ़ी-लिखी हूँ, काम करती हूँ, क्या मेरे सिर्फ लड़कियों ही दोस्त होंगी, क्या पुरुषों के साथ मेरा किसी प्रकार का संबंध नहीं रहेगा ? पुरुषों के साथ संबंध क्या केवल सज्जा का हो सकता है।”<sup>407</sup> यहाँ लेखक ने स्पष्ट करने का प्रयास किया कि आधुनिक-स्त्री, पुरुष-दृष्टि की समर्थक नहीं है साथ ही समय की गतिशीलता के साथ नई सोच की मांग करती है। साथ ही जब ससुराल वालों की लालची प्रवृत्ति और ससुर का ‘यौन पिपासु’ दृष्टि उस पर हावी होने लगती है तब ऐसे परिवार में खुद की स्वतंत्र पहचान को लेकर आशंकित पूरवी विवाह-विच्छेद का निर्णय लेती है। जहां प्रेम तथा संबंधों में विश्वास न हो विवाह में ऊष्मा न बची हो वहाँ स्त्री अपने आत्मस्वाभिमान की रक्षा के लिए ऐसा निर्णय लेना उचित है। लेखक ने इस उपन्यास में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि उत्तर आधुनिकता ने स्त्रियों को कमजोर नहीं बल्कि सक्षम और मजबूत बनाया है।

वहीं दूसरी बार जब वह निरंजन से वह प्रेम करने लगती है तब उसका ध्यान कैरियर पर होता है। जब कैरियर को ध्यान रखते हुए उसके विवाह के प्रस्ताव को खारिज

<sup>406</sup> सेई सबु दिन, सहदेव साहु, पृ. सं.-10

<sup>407</sup> सेई सबु दिन, सहदेव साहु, पृ.सं.-46

करती हैं वहीं उत्तरआधुनिक समाज की कमी तथा वैश्वीकरण की अधोगति दृष्टिगोचर होती है। वही लता और सनातन के प्रेम को दिखाकर लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि अतीत और वर्तमान में बहुत बड़ा फासला आ गया है। पहले प्रेम और संबंधों की महत्ता पर पूरा समाज खड़ा था वहीं आज के समय में सामाजिक संबंधों की ऊष्मा खत्म हो गई है। बाज़ारीकरण से उपजा पारिवारिक विघटन और स्वतंत्र जीवन जीने की आकांक्षा ने सामाजिक संबंधों की नींव को हिला कर रख दिया है। जिसमें आगामी भविष्य में परिवार व्यवस्था कितना फलप्रद होगी यह चिंता का विषय बनता जा रहा है।

### 7.2.4 जिगालो संस्कृति

जिगालो संस्कृति वैश्वीकरण की उपज है। इस पर हिन्दी की प्रथम और महत्वपूर्ण कृति 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' है। इस उपन्यास में उपभोक्तावादी समाज में बढ़ते 'देह' के बाजार की पोल खोली गई है। आज के दौर में जिस्म एक ऐसा बाजार है जिसकी कीमत अधिक से अधिक है और लोग अपनी मनोवांछित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसका सहारा ले रहे हैं। क्योंकि इस दौर में सामाजिक मूल्य और नैतिकता की कमी ने लोगों में अपराधबोध को भी कम किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस दौर में मनुष्य ने स्वयं को भी एक उत्पाद के रूप में निर्मित कर बाजार में अपना मूल्य निर्मित किया है। बाजार अपने तरीके से सभी कुछ को बिकाउ बना देने की क्षमता रखता है। "हम जिस पूंजीवादी समाज में जी रहे हैं, उसमें हमारे सामने पेट भरने का एक ही रास्ता है -अपनी किसी काबिलियत को बाजार में बेच पाना।"<sup>408</sup>

यही कारण रहा है कि अधिक से अधिक धन संचय की लालच में युवा वर्ग 'पथभ्रष्ट' हो रहा है साथ ही उच्च जीवन शैली को प्राप्त कर अंतिम समय में स्वयं को निपट अकेलेपन की त्रासदी सौंप रहा है। इस उपन्यास का पात्र नील अधिकाधिक यथाशीघ्र पैसों का इरादा रखते हुए 'जिगालो' में परिवर्तित होता है। इस दौरान वह उच्च घराने की बहुत-सी औरतों के संस्पर्श में आता है जो उच्चवर्ग से थीं और महानगरीय संत्रास से पीड़ित रहीं। इसमें कुमुद, ब्लोसम, यास्मीन, कुंतल राव, वरुणा, शिल्पी, वैशाली, उर्वशी, शिल्पा, मार्था, रोला, जुली, कृष्णा, सैदामिनी, करुणा, सुमंगला आदि को देखा जा सकता है। इन सभी

<sup>408</sup> दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, पृ.सं.-163

स्त्रियों की अपनी-अपनी फैंटसी है । कुमुद नील को रतिक्रिया में पारंगत बनाती है । शिल्पा की फैंटसी इन सबसे अलग है, वह नील को औरत के रूप में देखना पसंद करती है। पारुल भारतीय स्त्री की तरह उससे विवाह कर उसके बच्चे की माँ बनना पसंद करती है। ये सभी स्त्रियाँ कहीं-न- कहीं दमित वासनात्मक अवशाद से घिरी हुई दिखाई देती हैं जो बाजार की सुविधा पा कर अपनी दमित यौन इच्छाओं को पूर्ति कर पाती हैं। इस उपन्यास में ये औरतें कैसे उपभोग की वस्तु की तरह नील का वस्तु के रूप में इस्तेमाल करके झटक कर आगे बढ़ जाती हैं, इसका चित्रण किया गया है ।

साथ ही इस दौरान मिले खट्टे-मीठे अनुभव अंत में नील की दुर्गति को चित्रित कर लेखक सामाजिक व्यवस्था में विवाह जैसी व्यवस्था की ढहती हुई स्थिति और समाज कैसे रसातल की ओर अग्रसारित हो रहा है इसपर चिंता प्रकट की है । साथ ही मर्यादा जैसे शब्द कैसे खोखले करने में बाजार की महत्वपूर्ण भूमिका को प्रस्तुत करते हैं ।

‘ओ एकाकी’ उपन्यास वैश्वीकरण में पनपा जिस्म के बाजार की वास्तविकता को प्रस्तुत करता है । आज विश्व में जिस्मफरोशी का एक बहुत बड़ा बाजार है जिसमें लोगों को कामेच्छा के प्रति ज्यादा आकृष्ट किया जाता है । यह प्रवृत्ति मूलरूप से पश्चिम की रही है । स्त्री वेश्या जैसी समस्या तो हमारे समाज में प्राचीन दौर से रही है किन्तु विश्व बाजार ने गुप्त संबंध और उससे संबंधित चीजों की नुमाइश की है । आज धड़ल्ले से बाजार में कॉन्डोम, शारीरिक उत्तेजक पदार्थ और औषधि आदि के विज्ञापनों की भरमार रही है । लड़कियों के अधखुले जिस्मों को विज्ञापनों और सिनेमाघरों में दिखा कर एक ऐसा वर्ग निर्मित किया जा रहा है जो शारीरिक भोगवाद को बढ़ावा देता है । भारतीय संस्कृति में शारीरिक संबंधों को पवित्र माना गया किन्तु वर्तमान उसे सरे आम बड़ी बेहयाई से पेश किया जा रहा है । साथ ही आज शारीरिक संबंध दो आत्माओं का मिलन न होकर बाजार का एक बहुत बड़ा हिस्सा है जिसके केंद्र में अर्थनीति है । स्त्रियों को खरीदने की शौकिया परंपरा प्राचीन है किन्तु इससे यह नहीं इनकार किया जा सकता कि आज भी यह परंपरा विद्यमान है । यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि आज जिस्मफरोशी केवल स्त्री की नहीं जा रही बल्कि आज पुरुषों की भी उतनी ही मांग हो रही है । आज उभय स्त्री और पुरुष वर्ग इस शौकिया-संस्कृति के चपेट में आ गए हैं जो कि भूमंडलीकरण का एक मुख्य कारक है । भारतीय परंपरा में लौंडा नाच एक क्षेत्र विशेष में प्रचलित रहा

जिसकी भर्त्सना बरबस होती रही है किन्तु पुरुषों को भोगने की लालसा भारतीय परंपरा के विपरीत है । भारत में वैश्विक बाजार के प्रतिस्थापन ने नए जिस्म के बाजार को बढ़ावा दिया है । आज नए उपभोक्ता-वर्ग और नवीन तकनीक को ध्यान में रखते हुए 'कॉल गर्ल' और 'जिगालो' वर्ग उत्पन्न हुआ है जिसमें उपभोक्ता की स्वैच्छा को प्राथमिकता मिली है । इसलिए यह जिस्म का बाजार किसी गली या किसी क्षेत्र तक सीमित न होकर घर-घर तक प्रवेश कर गया है । इस उपन्यास में एक संदर्भ आता है -“फाइव स्टार होटल और मॉल संस्कृति के अंदर पुराने दुःख और आवश्यकता बदल गए हैं ... । सेक्स के प्रति पुराना आकर्षण कम नहीं हुआ है बल्कि एक सुंदर पैकेट में सेक्स को पैक करके घर-घर पहुंचाया गया है ।”<sup>409</sup>

‘ओ एकाकी’ उपन्यास पुरुष जिस्मफरोशी पर आधारित है जिसके केंद्र में एक तरफ भूमंडलीकरण का नग्न- यथार्थ है तो वहीं दूसरी तरफ समाज में पनपे जिगालो की आर्थिक, शारीरिक और मानसिक स्थिति को दिखाया गया है । यह उपन्यास स्त्रियों का विरोध नहीं करता और न यह दावा करता है कि पुरुष जिस्मफरोशी के केंद्र में नारी शोषण है । इस उपन्यास में समकालीन समाज में परिवार व्यवस्था में भूमंडलीकरण का किस प्रकार प्रभाव पड़ा है इसका बखूबी चित्रण किया गया है । लेखक इस उपन्यास में स्त्री पुरुष के मध्य संबंधों में घटती ऊष्मा को चित्रित करते हुए इसका प्रमुख कारण पश्चिमी सभ्यता को मानते हैं । साथ ही इस उपन्यास में स्त्रियों की ओर इशारा करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि इस भूमंडलीकरण के चपेट में स्त्रियाँ भी हैं जो सक्षमता का फायदा भी उठाने लगी हैं । क्योंकि सदियों से पुरुष वर्ग से प्रताड़ित स्त्री आज पुरुष से प्रतिशोध की अग्नि में जल रही है । यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक भी है ऐसे स्त्रियों की संख्या नगण्य है । किन्तु इससे यह इनकार नहीं किया जा सकता कि स्त्रियों का एक छोटा सा वर्ग भोगवादी प्रवृत्ति से ग्रस्त है । लेखक इस उपन्यास में उच्च वर्ग की स्त्रियों का हवाला दे कर स्पष्ट करते हैं कि “नारी सिर्फ एक वर्ग की नहीं होती प्रत्येक नारी दूसरे से भिन्नता रखती है । नारी के लिए संभोग केवल तृप्ति का साधन नहीं है, अगर तुम ऐसा सोचोगे तो ठगे रह जाओगे । नारी के लिए संभोग कभी मानसिक, कभी राजनीतिक, कभी आर्थिक, तो कभी सामाजिक, कभी तृप्ति, कभी फायदा तो कभी प्रतिशोध है । वरन् अनेक केस में

<sup>409</sup> ओ एकाकी, अनिलकुमार पाढ़ी, पृ.सं.-106

नारी पुरुष जिगालो को खुद के वश में, अपना स्वामी या प्रेमी को मानसिक प्रतिनिधि बना कर उसे पूर्ण रूप से अख्तियार करती है, व्यवहार करती है, अपनी बातों में नचाती है। यह करने के द्वारा वह प्रायः पुरुषों से अपना प्रतिशोध लेती है।<sup>410</sup> यहाँ एक ओर कुछ स्त्रियों में बढ़ते शारीरिक क्षुधा को प्रस्तुत किया गया वहीं उत्तर आधुनिक स्त्री की मानसिकता की भी पड़ताल करने की कोशिश की गई है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस उपन्यास में सिर्फ भोगवादी दृष्टि को आधार नहीं बनाया गया बल्कि इसमें नए उपभोक्ता के मध्य आवश्यकता तथा शारीरिक संबंधों को लेकर नई दृष्टि को भी प्रस्तुत किया गया है। साथ ही समाज में बढ़ते बेकारी की समस्या और नए दलाल वर्ग की वास्तविकता प्रस्तुत है।

इस उपन्यास में मुख्य पात्र निम्न मध्य वर्ग में जन्मा ब्रजसुन्दर है। ब्रज सुंदर आर्थिक स्थिति से तंग आकर बड़े शहर में नौकरी की तलाश करता है किन्तु बी.ए. की शिक्षा अर्जित करने के बावजूद उसकी नौकरी एक राशन दुकान में होती जिससे उसकी जीवन चर्या बहुत कष्टदायक हो जाती है। ऐसे में दूसरी नौकरी की तलाश करते हुए वह दलाल के हाथों पड़ कर यौन-व्यवसाय करने के लिए बाध्य होता है। इस उपन्यास का खल पात्र केके (कौशिक खाड़के) है जो ब्रज को कपड़े की दुकान में काम करने के बहाने उसे इस गिरोह में शामिल कर लेता है। इस उपन्यास में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि इस पेशे में ऐसे लोग भी आते हैं जिनको नौकरी के नाम पर ठगा जाता है। किन्तु शारीरिक भोग में दिलचस्पी रख कर इस पेशे को चुनने वालों की भी कमी नहीं है। ब्रज जो पूंजीवाद का सदैव विरोध करने का पक्षपाती था आज वह नए पूंजीवाद के ऐसे शोषण चक्र में फँस चुका है जिससे वह चाह कर भी निकल नहीं सकता। ब्रज ऐसे गिरोह में फँसने वाला एक मात्र व्यक्ति नहीं है बल्कि क्रिस, जीनी, अरिंदम, इन्द्र, मानवेश आदि हैं। क्रिस कहता है –“पहले पहले इसमें मुझे मज़ा आता था, मैं इसे उपभोग भी किया करता था ... धीरे-धीरे... धत् ! कितनी बार जो ! छोड़ो।”<sup>411</sup> इस पेशे में आए व्यक्तियों की अलग-अलग कहानी है। इन्द्र सक्सेना इस पेशे में नारी शरीर के रहस्य को जानने की उत्कंठा रखता है, मनवेश गुप्ता अपनी प्रेमिका के प्रतिशोध को नारी जाति पर निकालना

---

<sup>410</sup>ओ एकाकी, अनिलकुमार पाढ़ी, पृ.सं.- 69

<sup>411</sup>ओ एकाकी, अनिलकुमार पाढ़ी, पृ.सं.-63

चाहता है, अंसारी इस पेशे से बहुत धन कमाने की आकांक्षा रखता है, सुदीप और बेन स्त्री शरीर को उपभोग करना चाहते हैं ।

इस नए दौर में मनुष्य एक वस्तु है । जिसके पास पैसा होता है वह दूसरे मनुष्य को वस्तु की तरह खरीदता है । जिगालो के क्षेत्र में नारी उपभोक्ता है और जिगालो भोग की वस्तु । “देखो, अन्ततः तुम जब तक जिगालों की भूमिका निर्वाह कर रहे हो, तब तक तुम्हें प्रोफेशन की आंतरिकता को प्यार करना होगा । याद रखो तुम एक पुरुष वेश्या हो। यहाँ तुम्हारी कोई चॉइस नहीं है । सभी चॉइस कस्टमर की है ।”<sup>412</sup> इस उपन्यास में जिगालो को शिक्षा दी जाती है कि रतिक्रीड़ा के समय नारी के अनुसार ही पुरुष को ढलना है । क्योंकि यहाँ कस्टमर एक व्यवसायी है जिसकी इच्छा के अनुसार वे सेक्स बेचने आए हैं । आज की सभ्यता ही नंगी है । पूरी दुनिया लज्जाहीन हो उठी है । जहाँ संवेदना का कोई मोल नहीं है । यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें संबंध केवल देह के साथ है । यहाँ मन का कोई संबंध नहीं है । मनुष्य बस एक प्रोडक्ट है जो खुद को बेचता है । आज हमने कैसे समाज का निर्माण किया है जिसे हम अनैतिक और ‘जारज’ कहते रहे आज पूरा समुदाय उसी से ही भरा पड़ा है । आज जो इस विकास में पीछे हैं उन्हें पशु समझा जाता है और पशुत्व को अपना कर मनुष्य सभ्य बनने का ढोंग करता है। सही मायने में आज पशुत्व की ही आवश्यकता है ।

आज इस पूरी व्यवस्था को विज्ञापनों के माध्यम से अंजाम दिया जा रहा है । समाज में फ्री- फ्रेंडशिप जैसे विज्ञापनों और नेट के आधार पर सेक्स घर-घर पहुंचाया गया है । किन्तु विडंबना यह है कि किसी की दृष्टि उनपर नहीं पड़ रही है । जो इन सबसे परिचित हैं वे पैसे खा कर ऐसी सभ्यता को बढ़ावा दे रहे हैं ।

सुंदरम इस पेशे में आकर ऐसी अनेक महिलाओं से मिलता है जिससे उसे स्त्रियों को देखने की एक दृष्टि मिलती है । वह यह जान पाता है कि पुरुषों की तुलना में स्त्री केवल भोग के लिए पागल नहीं है । स्त्री सेक्स के इतर भी बहुत कुछ अपने पुरुष साथी से चाहती है । किन्तु कामांध पुरुष कभी स्त्री मन को समझना ही नहीं चाहता । कभी स्त्री मानसिक, कभी आर्थिक, कभी शारीरिक और कभी सौंदर्यता की प्रशंसा की लालसा स्त्री में होती है । सेक्स को लेकर प्रत्येक स्त्री दूसरी स्त्री से भिन्न मत रखती है -मिसेस नटराजन

---

<sup>412</sup>ओ एकाकी, अनिलकुमार पाढ़ी, पृ.सं.- 78



के लिए सेक्स एक इकनॉमिक रिलेशन है । जो स्ट्रेस दूर करने का एक कारण है । नटराजन के पति विदेश में उनसे दूर रहते हैं । शारीरिक क्षुधा को दूर करने के लिए ये इसका सहारा लेती हैं । मिसेस ब्रिगेनजा का छह महीने पूर्व विवाह विच्छेद हो चुका है । जिसका कारण विवाह के बाद का संबंध रहा है । उनके लिए सेक्स कोई ओबसेसोन नहीं है । ये एक आकर्षण है । सेक्स कोई अर्थनीति नहीं है जिसमें लाभ या हानि हो । सेक्स एक नशा है । एक मुहूर्त के लिए मिला सुख । जीनी स्त्री वेश्या हो कर भी प्युर सेक्स की खोज में सुंदरम से संबंध जोड़ना चाहती है । सुधा के लिए सेक्स एक सौंदर्यबोध है । पुरोहित जैसे व्यक्ति के लिए सेक्स एक्सपेरिमेंट है । जो खुद की पत्नी के साथ ब्रज को संभोग करने की अनुमति देता है । क्लाइंट नंबर 876 के लिए संभोग इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह इसके बिना माँ नहीं बन सकती । एक तरफ जहाँ स्त्रियों से घिरे दुनिया में सुंदरम शारीरिक रूप से गोता लगा रहा है वहीं दूसरी तरफ उसका मन और मानस इस मानसिक स्थिति को सहन करने में असमर्थ था । उसे भोग से इस प्रकार वितृष्णा होने लगती है जिसे वह किसी से कह भी नहीं पाता है । उसके मन में भोग से उत्पन्न कुंठा ने जन्म ले लिया है जिससे छुटकारा पाने के लिए उसे एक मात्र रास्ता आत्महत्या ही लगता है । ब्रज कहता है -“मैं सच कहता हूँ, इस तरह का संभोग, मेरी कभी इच्छा में नहीं था और न आज है । मैंने जितने बार भी संभोग किया है उसी समय को छोड़ कर दूसरे मुहूर्त में मेरे भीतर कुंठा ने जन्म लिया है । ... बाद के समय की घृणा और अनुताप ने मुझे असह्य यंत्रणा/ तकलीफ दिया है ।”<sup>413</sup> ब्रज अनेक कोशिशों के बाद भी पेशेवर सेक्स वर्कर बनने में सफल नहीं हो पा रहा था । ब्रज के लिए स्त्री कभी नशा नहीं रही ऐसे में उसका मानसिक असंतुलन होना स्वाभाविक था किन्तु उपन्यास के अंत में लेखक यह भी स्पष्ट करते हैं जिन लोगों ने स्त्री और पैसे को नशा के स्वीकार के साथ यह पेशा अपनाया था वे भी आज पलायनपंथी हैं । हिन्दी उपन्यासों में ‘दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता’ में दिल्ली जैसी महानगरीय जीवन-बोध जिगालो संस्कृति अभिव्यक्त हुई है ।

उपरोक्त हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि यह प्रवृत्ति तीन दशकों से उपन्यास विधा में अपनी जड़ जमाए हुए है । भले ही यह प्रवृत्ति किसी भाषा साहित्य में पहले और किसी में बाद में देखी गई । किन्तु आज भी ऐसा कोई

<sup>413</sup>ओ एकाकी, अनिलकुमार पाढ़ी, पृ.सं.- 117

साहित्य नहीं है जो इससे अछूता रहा है। क्योंकि आज समाज के रग-रग में बाजार बसा हुआ है। तकनीकी की इस दुनिया ने बाजार को अधिक प्रभावशाली सिद्ध किया है। आज इसकी पैठ अर्थनीति से लेकर राजनीति, समाज, संस्कृति तथा धर्म में भी हो गई है। आज वैश्वीकरण के नाम पर हमने अमेरिकीकरण को स्वीकार किया है। दोनों भाषा के उपन्यासों में वैश्वीकरण का समाज में हस्तक्षेप और जिससे भारतीय मूल्यबोध के घटते मूल्य आदि को चित्रित कर उसकी मुखालफत करने की कोशिश देखी जा सकती है। साथ ही कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जो अमेरिकीकरण, मॉल-संस्कृति और बहुराष्ट्रीय कंपनी की जालसाजी को नहीं समझ पाए हैं, और तकनीकी और वैज्ञानिक-क्रांति की प्रगति को देख कर उसकी भूरी भूरी प्रशंसा करते नहीं थक रहे हैं।

### 7.3 विस्थापन संबंधी उपन्यास

उत्तराधुनिक समय में सबसे ज्यादा प्रयुक्त होने वाला शब्द है -विकास। आये दिन अखबारों में इसकी झलक मिलती ही रहती है। वेणुगोपाल की एक पंक्ति इसके लिए सटीक बैठती है -‘भारत प्रगति कर रहा है/ कैसे मालूम ? अखबार में छपा है’। बहरहाल प्रश्न यह खड़ा होता है कि विकास क्या है ? क्या सभी लोग विकास के सही मायने समझ पाए हैं ? क्या आए दिन नयी-नयी परियोजना बनाना, कारखाने का निर्माण करना विकास है ? क्या सिर्फ औद्योगिक और तकनीकी से संपन्न होना विकास है ? तभी यही कहना पड़ेगा कि विकास का अर्थ अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है।

विकास का सम्बन्ध समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रगति से है, जिसमें लोगों की भौतिक और आध्यात्मिक (अंतर आत्मा) जरूरतों को पूरा किया जा सके। अतः विकास से तात्पर्य मानव जीवन की भलाई से है। जिस समाज में लोगों के लिए और सिर्फ लोगों के लिए ही कार्य किया जाए वह समाज सही मायने में विकास कर रहा होता है। केवल अनेक परियोजनाओं को सफल बनाने से या कारखाने बनाने से देश का विकास नहीं हो जाता, बल्कि विकास वह है जिसके द्वारा सभी के जीवन को आनंददायक या सुखद बनाया जा सके।

देश में आर्थिक और औद्योगिक विकास में संसाधनों के विकास की बात की जाती है। उद्योगपति, सरकार और बुद्धिजीवियों की दृष्टि उन संसाधनों की ओर रहती है। भूमंडलीकरण के दौर में विकास के नाम पर लोगों को विस्थापित किया जा रहा है।

औद्योगीकरण के नाम पर गरीब लोगों की जमीन छिनी जाती, वनों, पहाड़ों को नष्ट किया जाता । विकास के नाम पर जीव-जन्तु का भी संहार हो रहा है, उसने धरती, आकाश व समुद्र तक को नहीं छोड़ा । विकास के नाम पर प्राकृतिक स्रोतों पर कब्ज़ा किया जाता, जमीन मांगी जाती, न देने पर देश भक्त न होने का दावा किया जाता, तब भी अगर उनकी बात नहीं सुनी जाती तो बलात् उन्हें उनकी जमीन से बेदखल किया जाता, अतः उन्हें जबरन विस्थापित किया जाता । विकास की इस अंधी दौड़ ने विनाश को आमंत्रित किया है । हिंदी कविता के इतिहास में 'कामायनी' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है । वैसे भी विकास ने भू-आलोडन, दुर्भिक्ष, बाढ़, बवंडर आदि को जन्म दिया है । जहाँ प्रकृति का हनन होगा वहाँ प्रकृति भी प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ तो उपहार देगी ही । विकास केवल शक्तिशाली मनुष्य की सुख और शांति के लिए है । आम वर्ग तो आज भी जूझ रहा है । न उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो पाया है और न सामाजिक स्थिति में ।

विकास ने विस्थापन को जन्म दिया है । विस्थापन, विकासात्मक और सामाजिक परिवर्तन का अभिन्न हिस्सा है । आधुनिक भारत का सबसे बड़ा दंश आन्तरिक विस्थापन का दंश है । इस देश में हर तीसरा आदमी विस्थापन का दंश झेल रहा है । हमारे देश में विस्थापन नया नहीं है । आजादी के बाद से यह कार्य होते रहे हैं । इतिहास गवाह है कि आजादी के बाद किस तरह 1500 बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के कारण 1.6 करोड़ की आबादी विस्थापित हुई । 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में आंतरिक विस्थापित लोगों की संख्या 40 करोड़ तक पहुँच चुकी है । भारत में अनेक कारणों से लोगों को विस्थापित किया गया जिसमें प्रमुख है - शहरीकरण की समस्या और आर्थिक विकास के नाम पर भूमि का अधिग्रहण । 2001 के जनगणना में जहाँ शहरों की आबादी 28.6 करोड़ थी, वहीं 2011 की जनगणना के अनुसार शहरों की आबादी 37.7 तक पहुँच चुकी है । इससे हम सहज ही पता लगा सकते हैं कि शहरीकरण ने किस हद तक हमें प्रभावित किया है । गाँव को शहर बनाने की जद्दोजहद ने बिजली, पानी, सड़कों, नहरों, यातायात साधनों आदि की जरूरत को महसूस कराया है । यही जरूरतें लोगों के लिए संकट का कारण बनी । बिजली और पानी आदि की समस्या को दूर करने के लिए बाँध की आवश्यकता हुई और इसी बाँध के द्वारा उत्पन्न विस्थापन की समस्या पास आई । ऐसा भी नहीं है कि लोगों ने इन सब का विरोध नहीं किया । टिहरी बाँध इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है । लोग पुरानी टिहरी को छोड़ना नहीं चाहते थे । इसके लिए कितने विरोध हुए, जुलूस तक निकाले

गए पर सरकार के दवाब के कारण उन्हें अपनी पारंपरिक पुरानी जमीन को छोड़ नयी टिहरी में जाना पड़ा। अपनी पूर्वजों की जमीन और अपने परम्परागत पेशे को छोड़ दूसरी जगह घर बनाना कितना कष्ट दायक होता होगा यह हम समझ सकते हैं।

विस्थापन में भौतिक संपदाओं के निर्माण ने भी बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। विस्थापित लोगों से ये वादा किया गया कि उन्हें रहने की जगह, रोजगार मुहैया कराए जाएंगे। बहुत दुःख की बात है कि किये गए वादे कभी पूरे ही नहीं हुए। उन्हें उनकी परंपरागत जगह से खदेड़ा गया। हमारे आधुनिक देश में यह है विकास का मॉडल। समाज की स्थिति को देखते हुए रैदास की पंक्ति - 'ऐसा चाहूँ राज में जहाँ मिले सभी को अन्न' मुझे यह अहसास दिलाती है कि हमने आधुनिकता की आड़ में इंसानियत को कहीं बेच डाला है। निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों ने देश के गरीबों को सचमुच और कंगाल बनाया है।

अनवर सुहैल के कथा-साहित्य में भी इसी विकास के नाम पर हो रहे विस्थापन की समस्या को रेखांकित किया गया है। इनके 'पहचान' उपन्यास में विकास के मॉडल और विस्थापन की वास्तविक सच्चाई बड़े मनोहर ढंग से व्यक्त की गयी है। अनवर सुहैल भूमंडलीकरण की समस्याओं से वाकिफ थे, और इस दंश को आँखों से देख रहे थे, इसलिए उनके साहित्य में वह सजीवता पूर्ण रूप से आ पाई है।

'पहचान' उपन्यास के केंद्र में सिंगरौली का पूरा इलाका है, जो स्वाधीन भारत में भी विस्थापन का दंश झेल रहा था। आजाद भारत में नेहरु युग में समाजवाद के नाम पर विकास का सफ़र शुरू किया गया। सिंगरौली में भी इसी विकास की नींव डाली गयी। वहां के लोगों का यह मानना था कि नेहरु ने स्वयं स्थानीय लोगों से विकास के लिए उनकी जमीन माँगी थी। लोगों ने भी देश भक्त होने का सबूत देने के लिए उन्हें अपनी जमीन दी थी। भारत स्वाधीन होने के पश्चात् भी उन्हें स्वाधीनता नहीं मिल पाई थी। जिस नेहरु ने विकास की बात की, विस्थापित लोगों के लिए सोचा वही नेहरु अपनी कथनी पर अडिग नहीं रह पाए। उन्हें सभी सुविधाएँ देने में असक्षम रहे। भारत की जनता ने अंग्रेज राज से आतंकित होने के पश्चात् नेहरु को पूरा अवसर दिया था कि स्वतंत्र भारत को स्वावलंबी और संप्रभुता संपन्न बनाएँ। भारत में उस समय लोकतंत्र तो था पर विरोध की गुंजाइश न के बराबर थी। एक और जहाँ सार्वजनिक प्रतिष्ठान बनाये जा रहे थे दूसरी और पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों का पूंजी निवेश और अर्जन का जुगाड़ चल रहा था।

बाद में नेहरू के सरकार ने भी अनेक कारणों से पूंजीपतियों के साथ मिलकर षड्यंत्र रचा । और आम जन का किसी तरह हित नहीं हो पाया । इसलिए अनवर सुहैल नेहरू की सरकार और उनके द्वारा बनाये गए विकास के मॉडल पर करारा व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि -“ नेहरू का समाजवादी और पूंजीवादी विकास के घालमेल का मॉडल ”<sup>414</sup> निर्मित होता है ।

सिंगरौली में रिहंद बाँध बनाने की योजना 1960 में की गयी थी । कलीम सिद्दीकी अपने आलेख 'Development and displacement in India: Reforming the Economy towards Sustainability' में लिखते हैं -“The upper krishna irrigation project (i.e. dams and reservoir) displaced about 3,00,000 peoples. Loss of livelihoods and displacement has become a recurring feature of Singrauli region of Madhya Pradesh state mainly due to construction of dams, power and mining since 1960s. Displacement in the singrauli region began first by the construction of Rihand dam and Govind Sagar Reservoir in the 1960s. Later on in 1980 Thermal power project were set up, Which led to expansion of coal mining in the region. All these activities have initiated a series of displacement and loss of livelihoods of the people in the region (Sharma, and singh, 2009).<sup>415</sup>

इस तरह रिहंद में बाँध बना और लोग विस्थापित हुए । लोगों को कैसे और किन समस्याओं का सामना करना पड़ा उसे 'पहचान' उपन्यास में व्यक्त करते हुए अनवर सुहैल लिखते हैं-“स्वतंत्र भारत का एक बड़ा पुरस्कार उन लोगों को ये मिला कि उन्हें अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ा । वे ताम-झाम लेकर दर-दर के भिखारी हो गए । ऐसी जगह भाग जाना चाहते थे कि जहाँ महा-प्रलय आने तक डूब का खतरा न हो ।”<sup>416</sup> उनके इस उक्ति ने स्पष्ट कर दिया कि विस्थापन का दंश किस तरह लोगों को लील गया है, विस्थापित लोगों के पास न रहने का घर बचा रह गया था न खाने के लिए खाना ।

---

<sup>414</sup> पहचान, अनवर सुहैल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2009, पृ.सं.-18

<sup>415</sup> Development and displacement in India: Reforming the Economy towards Sustainability, page no -5

<sup>416</sup> पहचान, अनवर सुहैल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2009, पृ.सं.-16

भटकना जैसे उनकी नियति बन गयी थी । किसी भी इन्सान का घर से बेघर होना और नए घर बनाने की जद्दोजहद करने के पश्चात न बन पाना कितना कष्ट दायक होगा इसका शायद हम अंदाजा तक नहीं लगा सकते ।

अनवर सुहैल उपन्यास में विस्थापित लोगों का पहाड़ों की ओर भागने का इशारा करते हैं साथ ही उन्हीं लोगों की पुनः विस्थापित किये जाने की ओर संकेत करते हैं । ये कोई मिथ्या घटना नहीं है यह उस समाज की सच्चाई है और उन समाज में रह रहे लोगों का भी जिन्हें एक बार नहीं बल्कि कई बार अपनी बनी-बनाई आवास व्यवस्था को छोड़ जाना पड़ा था । ध्यान रखिये ये विस्थापन स्वयं के द्वारा चुना हुआ नहीं बल्कि बलात् रूप से किया गया था । इसलिए वे कहते हैं -“ऐसे में मोरवा, बैढन, रेनूकूट, म्योरपुर, बभनी, चपकी आदि पहाड़ी स्थानों की तरफ वे अपना साजो-सामान लेकर भागे । अभी कुछ राहत की साँस लेना ही चाहते थे कि कोयला निकालने के लिए कोयला कंपनियों ने उनसे उस जगह को खाली कराना चाहा ...वे बार-बार उजड़ते-बसते रहे ।”<sup>417</sup>

बात बस यहीं तक खत्म नहीं होती बल्कि अनवर सुहैल विस्थापन के नए कारणों की पड़ताल भी करते हुए नज़र आते हैं । वे इस उपन्यास में यह स्पष्ट करते हैं कि बाँध के निर्माण के लिए विस्थापन एक कारण है और बाँध के पश्चात् आई बाढ़ या डूब विस्थापन का दूसरा कारण । अनवर जी कल्लू के दादा के माध्यम से उस डूब के आतंक को स्पष्ट करते हैं । कल्लू का दादा आज भी उस डूब के आतंक से उभर नहीं पाए थे । उनके दिलों दिमाग में डूब का दृश्य इस तरह पैठ गया था जिससे छुटकारा पाना सचमुच ही मुश्किल था । वे भूलते भी कैसे उस बाढ़ की त्रासदी को, जिसने उनकी जन्मभूमि और पुरखों की कब्रगाहों और समाधियों को कहीं निगल लिया था । जैसे -“ये विस्थापन ऐसा था जैसे किसी बड़े जड़ जमाए पेड़ को एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह रोपा जाए । क्या अब वे लोग कभी जम पाएँगे ?”<sup>418</sup>

अनवर सुहैल अपने साक्षात्कार में लिखते हैं - औद्योगिक क्रान्ति के बाद ब्रिटिश राज की ऊर्जा मांग को पूरा करने के लिए कोयले की विपुल आवश्यकता थी । अंगरेजों ने इस क्षेत्र का सर्वे किया और उन्हें यहाँ कोयले का बड़ा विशाल भण्डार मिला । चिरीमिरी, विश्रामपुर, बैकुंठपुर, कोतमा, शहडोल होते हुए कोरबा और फिर सिंगरौली का क्षेत्र...कोयला

<sup>417</sup> पहचान, अनवर सुहैल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2009, पृ.सं.-16

<sup>418</sup> पहचान, अनवर सुहैल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2009, पृ.सं.-16

ही कोयला है भरा था । अंग्रेजों ने इस कोयले के उत्खनन के लिए ठेकेदार लाये और भाड़े के गोरखपुरिया मजदूर । इस कोयले की ढुलाई के लिए रेल पांत बिछाई गई कहते हैं कि कलकत्ता की कम्पनी जो रेल बिछाती थी उसमें प्रख्यात उपन्यासकार विमल मित्र भी काम करते थे । इस क्षेत्र के अनूपपुर स्टेशन से जुड़ी उनकी कुछ कहानियां भी हैं । कोयला खदानों से घिरे मनेन्द्रगढ़ को 'गेटवे ऑफ सरगुजा' भी कहा जाता है । बाहरी मजदूरों की दैनिक ज़रूरतों के मद्देनज़र मनेन्द्रगढ़ में एक नया उपभोक्ता बाज़ार बना..और यही बाज़ार इस नगर में तमाम धर्मावलम्बियों की आश्रय-स्थली भी बना । इस नगर में रोज़गार के लिए देश के हर प्रदेश के व्यवसायी, उद्यमी और सरकारी/ गैर-सरकारी कर्मचारी आते रहे । देखते-देखते यह नगर एक 'मिनी हिंदुस्तान' बन गया और सिंगरौली के मूल निवासी सब विस्थापित होते गए ।

सिंगरौली में पॉवर प्लांट और कोयला खदान खुलने के पश्चात विकास तो हुआ पर वहां के स्थानीय लोगों का नुकसान ही हुआ है । पॉवर प्लांट और कोयला ने देश भर को रोशनी तो दी पर सिंगरौली के स्थानीय लोग आज भी अँधेरे में हैं । पॉवर प्लांट और कोयला खदानों से निकलती बालुई पत्थर की धूल फेफड़े के लिए नुकसान दायी होती है । सिंगरौली में स्थित स्थानीय सबसे ज्यादा इनके शिकार होते हैं ।

ऐसा नहीं की अनवर सुहैल की दृष्टि विस्थापन तक ही सीमित थी उनकी दृष्टि उस समय के सूचना-जनसंचार, कानून, मानवाधिकार आयोग, पर्यावरण विभाग, एन.जी.ओ. पर भी थी । वे सभी को इन समस्याओं के लिए जिम्मेदार मानते हैं । उनका हाथ पर हाथ धरे बैठना उन्हें रास नहीं आता, और आयेगा भी कैसे ? छाती ठोक कर बोलने वाले -हम जनता की भलाई के लिए सोचते हैं, हम उनके लिए ही काम करते हैं, वे उस समय क्यों चुप थे... ? सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि वे आज भी चुप हैं । जनता कल भी ठोकरे खाती थीं और आज भी खा रही हैं पर उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता । इसलिए 'पहचान' उपन्यास में रचनाकार उनसे प्रश्न करते हैं -“ तब देश में कहाँ थी जन-क्रांति, कहाँ था सूचना का महाविस्फोट ? तब कहाँ था मानवाधिकार आयोग ? तब कहाँ थी पर्यावरण-संरक्षण की अवधारणा ? तब कहाँ थे सर्वेक्षण करते-कराते परजीवी एन.जी.ओ.? तब कहाँ थे विस्थापितों को हक़ और न्याय दिलाते कानून ?”<sup>419</sup> इस समय मुझे अरुंधती

<sup>419</sup> पहचान, अनवर सुहैल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.-2009, पृ.सं.-17

राय की वह बात याद आती है -“लाखों लाख विस्थापितों का अब कोई वजूद नहीं है। जब इतिहास लिखा जाता है, वे इसमें नहीं होते । आंकड़ों में भी नहीं । उनमें से कुछ लगातार तीन-बार और चार-बार विस्थापित हुए हैं। बांध के लिए, चांदमारी के इलाके के लिए, दूसरे बांध के लिए, यूरेनियम की खान के लिए, बिजली परियोजना के लिए। एक बार वे लुढ़कना शुरू करते हैं तो फिर रुकने की कोई जगह नहीं होती। इनमें से बहुत बड़ी संख्या आखिरकार हमारे बड़े शहरों की परिधि पर झोपड़पट्टियों में खप जाती है, जहां यह सस्ते निर्माण मजदूरों की बहुत बड़ी भीड़ में बदल जाती है (जो और ज्यादा परियोजनाओं पर कार्य करती है जिससे और ज्यादा लोग बेदखल होते हैं )। सही है कि उनका सफाया नहीं किया जा रहा है या उन्हें गैस चेंबरों में नहीं डाला जा रहा है, मगर मैं दावा करती हूं उनकी रिहाइस का स्तर थर्ड राइख (नाजीकैप) के किसी यातना शिविर से बदतर है। वे कैदी नहीं हैं, लेकिन वे मुक्ति के मतलब की एक दूसरी ही परिभाषा देते हैं।”<sup>420</sup>

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि विस्थापन और शहरीकरण विकास के लिए आवश्यक हैं । जिसे रोका नहीं जा सकता पर विस्थापित लोगों के लिए जमीन, रोजगार आदि तो मुहैया किया जा सकता है । विकसित देश अमेरिका को देख भारत ने विकास करने की प्रणाली सीखने का प्रयास किया । अमेरिका ने एक काम अच्छा किया कि देश को विकसित करने के लिए परियोजनाएं बनाई । और परियोजनाओं को सफल बनाने के लिए लोगों से जमीन ली । साथ ही विस्थापित लोगों को जमीन, रोजगार और संपत्ति देकर अपने राष्ट्र के लोगों के प्रति न्याय किया । अगर उन्होंने अपने देश के नागरिकों की स्थिति के बारे में न सोचा होता, तो वह कभी विकसित देश नहीं बन पाता । पर हमारा देश इस मायने में बहुत पीछे है । विस्थापित लोगों के लिए कार्य ही हमें विकसित बना सकता है ।

वीरेंद्र जैन का ‘डूब’ उपन्यास समकालीन समाज की सबसे बड़ी त्रासदी विस्थापन की समस्या पर आधारित है । यह उपन्यास विकास बनाम विस्थापन के द्वन्द्व को केन्द्रीयता के साथ प्रस्तुत करता है । इस उपन्यास की विशेषता यह है कि यह उपन्यास केवल विस्थापन के इतिहास को ही प्रस्तुत नहीं करता बल्कि इसके कारणों को तलाश करते हुए इस समस्या का निदान भी प्रस्तुत करता है । यह उपन्यास नव-स्वाधीन भारत की पृष्ठभूमि पर

---

<sup>420</sup> <http://hindi.indiawaterportal.org/article/visthapana-matlaba-jaindagri-kaa-ujad-jaana03/09/2013>



आधारित है। यह ऐसा दौर था जब से विस्थापन सिलसिले बार तरीके से बढ़ता गया। ऐसा नहीं है कि विस्थापन की परंपरा यहीं से ही प्रारंभ होती है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है विकास की अंधी दौड़ ने विस्थापन जैसी समस्या को उत्तरोत्तर ज्यादा बढ़ाया संभवतः लेखक ने इसलिए इसी समय को आधार बनाया है। इस उपन्यास की आवश्यकता तब और ज्यादा जान पड़ती है जब 90 के दशक से भारत में आई विदेशी मल्टीनैशनल कंपनियों के कारण यह समस्या विकराल रूप लेती है।

बहरहाल इस उपन्यास में 'लडैई' और उसके आस-पास के गाँव को आधार बना कर कथा का तानाबाना बुना गया है। इस उपन्यास में विकास के कीमत पर ओझल हो रहे आदिवासी समुदाय की अस्मिता तथा विस्थापित लोगों की आंतरिक और बाहरी स्थिति को प्रस्तुत किया गया। राजघाट पर बना बाँध 'लडैई' को डूब के क्षेत्र में तबदील कर देता है। इस उपन्यास में यह भी दिखाने का प्रयास किया गया कि कैसे डूब के क्षेत्र में रह रहे लोगों की सिर्फ जमीन ही नहीं डूबती बल्कि डूबता है उनका भविष्य, वर्तमान, जिजीविषा, सपने और आकांक्षा। देश में देखे गए विकास के सपने में वे कहीं नहीं होते हैं न उनका बलिदान मायने रखा जाता है न उनका अस्तित्व। देश के विकास के लिए अपने पुरखों की जमीन से उखड़ना और कहीं जा कर बसना क्या इतना आसान होता है? जैसे ही 'लडैई' डूब के क्षेत्र में आने की घोषणा होती है तब से सारे संपर्क सूत्र इस गाँव से काट दिए जाते हैं न यहाँ कोई मदरसा रहता है न कोई सड़क। "कोई बताता क्यों नहीं हमें कि कब खाली करना होगा गाँव? इतनी बड़ी-बड़ी बातें कर गई सरकारजू! तनिक यह भी तो बता देती कि हमें ले कहाँ जाओगी यहाँ से उखाड़कर? हम ये कर रहे हैं, हम वह कर रहे हैं! सब झूठ! सरासर लाबरी बातें!"<sup>421</sup> ये गाँव धीरे-धीरे खंडहर बनता जाता है। सरकार यह तो निर्णय लेती है कि यह क्षेत्र डूब में सम्मिलित है इसलिए उनको यहाँ से लोगों को विस्थापित होना है किन्तु विस्थापन के दंश झेल रहे लोगों को सूचना तक नहीं दी जाती है कि वे विस्थापित हो कर कहाँ जाएंगे। उनकी स्थिति उस त्रिशंकु के समान हो जाती है जो न घर का रह पाता है और न घाट का। "कैसा फरेब है ये? कितना बड़ा झूठ है ये? कैसी खुशहाली है ये? कैसा बाँध है ये?...ताज्जुब की बात तो यह कि ये सब तय हुआ कब? हमसे बिना पूछे हमारी तबाही का फैसला ले लिया? ऐसा तो डाकू भी नहीं करते।

---

<sup>421</sup> डूब, वीरेंद्र जैन, पृ. सं.-183

वे धन जरूर लूटते हैं, पर घर से बेघर नहीं करते ... और यह सरकार ! यह गरीबों को सताएगी! उन्हें सताएगी जिन्हें भाग्य, भगवान, धनवान सभी पहले ही सताने पर आमादा हैं ?”<sup>422</sup>

यह उपन्यास सरकार के खोखले वादों पर भी प्रश्न चिह्न लगाता है । रानी साहिबा के अनेक वादे धरे के धरे रह जाते हैं लोगों को आश्वासन के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता । इस उपन्यास में विकास के वादा करके सरकार लोगों को जगा कर कुंभकरण की नींद सो जाती है । जिसमें बाँध की परियोजनाएं अधूरे हो कर भी सालों तक पड़े रहते हैं और विस्थापित कुछ लोग हताश होकर शहर की ओर पलायन करते हैं जो बचे रहते हैं उनकी माली हालत बहुत ज्यादा खराब होती है । वे न तो अपने घर को छोड़ कर जा पाते हैं और न सरकार उनके लिए कोई व्यवस्था कर पाती है । उनकी समस्या कुछ बेहतर होती जब उनकी आजीविका के लिए सोचा जाता । किन्तु यहाँ तो गाँव में हो रहे काम तक में उन्हें मजदूरी करने को नहीं मिलता । ऐसे व्यक्ति विकास की मार झेलने के लिए अभिशप्त होते हैं । डूब क्षेत्र में घोषित हुए गाँव उपेक्षित होता चलता है । वहाँ से सारे संपर्क सूत्र काट लिए जाते हैं तथा विद्यालय तक स्थानान्तरित कर दिया जाता है । सारी समस्या इसलिए ज्यादा विकटतर होती है क्योंकि विकास का कार्य बड़े धीमे गति से चलता है साथ ही विस्थापितों को शीघ्र नहीं बसाया जाता है । साथ ही मुआवजे की प्रक्रिया सीधे विस्थापितों को नहीं मिलती । उच्च बाबू वर्ग तथा साहूकार वर्ग अपने तिकड़म बाजी से विस्थापितों के रूप्यों को हजम कर जाती है जिससे उनको जितना पैसा मुआवजे के नाम पर मिलता है वह मूल धनराशि का एक तृतीयांश होता है । इसका फायदा बिचौली-वर्ग ज्यादा उठाता है । हीरा साव जैसे लोग कैसे लोगों का फायदा उठाते हैं इसका चित्रण भी इस उपन्यास को और ज्यादा सजीव और वास्तविकता के निकट लाता है । “देखो भाई, इस सरकार का तो भरोसा नहीं कि वह कब उजड़ेगी ये गाँव । सो हमारी सलाह तो यह है कि तुम अपने खेत-खलिहान हमें बेच दो । बदले में चाहो तो नगद कलदार ले लो और चाहो तो यहाँ हमारे गाँव की जमीन । हाँ, हम तुम्हारे टपरा की कोई कीमत नहीं दे पाएंगे । जमीन पर अब फसल तो नहीं हो सकती, तब भी चारा तो हो सकता है । वही काटकर बेच लेंगे हम

।”<sup>423</sup>

---

<sup>422</sup> डूब, वीरेंद्र जैन, पृ. सं.-108

<sup>423</sup> डूब, वीरेंद्र जैन, पृ. सं.-199

विकास की प्रक्रिया इतनी धीमी चलती है कि जिसमें कई वर्ष बीत जाते हैं । लोग दिन-प्रतिदिन इस असमंजस में जीते हैं कि वे कहाँ उखाड़ कर बसाये जाएंगे ऐसे में मानसिक अशान्ति, शहर से काट दिए जाने की पीड़ा, रोजगार की समस्या, झोपड़ी की ढलती स्थिति, आर्थिक स्थिति का बदतर होना उनकी सबसे बड़ी समस्या बन जाती है । “वैसे अब बाखर ससुरी है किसकी सही-सलामत ? जिस बाखर की ओर टकटकी लगाकर देखो वही ढह पड़ने को तैयार ! अब किसे बचा है चाव मरम्मत का, रखरखाव का ! जाने कब तो खाली कर जाना होगा गाँव ।”<sup>424</sup>

दूसरी बड़ी समस्या जो इस उपन्यास में दिखायी गयी है कि बाँध बनाने वाले सड़कों को कई महीनों तक बहुत दूर तक खोद कर ऐसे ही छोड़ दिया जाता है, जिसमें कभी जानवर उस गड्ढे में गिर जाते हैं तो कभी आदमी । बाँध बनाने की परियोजना में समय को जितना ही बर्बाद किया जाता है उतना नुकसान मनुष्यों का भी होता है । “बाँध वालों ने बजराई के उस तरफ, पथरा बब्बा के पार से लेकर जाने कहाँ तक तो गैल की गैल खोद ली है । मिट्टी निकाल कर ले गए हैं वे । हर दस कदम पर दस-दस, बीस-बीस हाथ गहरे गड्ढे कर दिए हैं । अब किस गड्ढे में जानवर दुके हैं और किसमें ढोर-बछेरू गिर गया है ।”<sup>425</sup>

इस उपन्यास में विस्थापित लोग जिनकी जमीन नहीं है उनके लिए सरकार क्या व्यवस्था कर रही है या वे बरेदी जैसे पशुपालक की समस्या जिसकी जमीन न हो उनको कैसे मुआवजा मिल सकता है । सरकार उनके लिए क्या कर रही है ?

इस उपन्यास में डूब क्षेत्र में विस्थापन के दंश झेल रहे लोगों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सरोकारों को प्रस्तुत करते हुए सरकारी व्यवस्था में उनके प्रति की गई उपेक्षाओं को प्रस्तुत किया गया है । इस उपन्यास में चित्रित गाँव उन तमाम गाँवों का तथा इसमें चित्रित विस्थापित लोग उन तमाम विस्थापितों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जिन्हें विकास के नाम पर अपने ही जमीन से बेदखल कर दिया जाता है । इस उपन्यास में विकास और राजनीतिक के गठजोड़ को दिखाने के साथ प्रशासनिक जालसाजी, अवसरवादिता, लूटतंत्र तथा भ्रष्टाचार को दिखाने का प्रयास किया गया है । विकास के गति में बढ़ते भ्रष्टाचार की पोल खोली गई है । यह उपन्यास

<sup>424</sup> डूब, वीरेंद्र जैन, पृ. सं.-183

<sup>425</sup> डूब, वीरेंद्र जैन, पृ. सं.-185

आजादी के बाद विकास की अवधारणा पर गंभीर प्रश्न चिह्न लगाता है । इस उपन्यास में चित्रित गाँव समकालीन संघर्षों से जूझता और टूटता हुआ विलीन हो जाता है । देश की आजादी गाँव के नष्ट अस्तित्व का पर्याय बनती है । बीते कल की समस्याओं से लोग उभरे भी नहीं थे कि विकास के नए झुनझुने को लोगों के हाथों पर पकड़ा कर उनके सहज विश्वास को भी छला जाता है । यह उपन्यास समस्या प्रधान होते हुए भी कहीं उबाऊ नहीं लगता इसके केंद्र में समुचित भारत और आम जन है ।

## 7.4 पर्यावरण संबंधी उपन्यास

### 7.4.1 पर्यावरण की परिभाषा और कानूनी प्रावधान

‘पर्यावरण’ का शाब्दिक अर्थ है- परि + आवरण अर्थात् जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है । इसी पर्यावरण में जीवों की जीवन प्रणाली को विज्ञान की शब्दावली में पारिस्थितिकी कहा जाता है । पर्यावरण से मनुष्य की उपज है, मनुष्य का अस्तित्व ही उस पर निर्भर है । बिना पर्यावरण के मनुष्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती । प्राचीन दौर से मनुष्य का प्रकृति से गहरा संबंध लिखित रूप में साक्ष्य का काम करते हैं । वैदिक साहित्य और बौद्ध कालीन साहित्य में प्रकृति की रक्षा की बात की गई है । उसमें एक वृक्ष काटने पर पाँच नए वृक्ष लगाने की सलाह दी गई । अर्थात् उस दौर में प्रकृति को सम्मान के भाव से देखा गया । किन्तु यह भाव उत्तरोत्तर बदलता गया ।

आज का दौर विज्ञान का दौर है । समकालीन समय में पर्यावरण को लेकर मनुष्य के समक्ष बड़ा संकट है । पर्यावरण पर गहराता संकट की अगर पड़ताल की जाएगी तो यह स्पष्ट होगा कि इसका विकास अंग्रेजों के आगमन तथा औद्योगिकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया से हुआ है । “इतिहास यह स्वीकार करता है कि आधुनिक काल मानव के इतिहास का ऐसा कालखंड है जहां ज्ञान-विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई तथा तकनीकी का अतिशय विकास हुआ । आबादी की वृद्धि के परिणामस्वरूप जीविका की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति हेतु मशीनों की सहायता से विज्ञान की विभूतियों की सहायता से प्रकृति का अतिशय शोषण प्रारंभ हुआ, पहले वह सीमित मात्रा में था लेकिन आज कल पूंजीवादी व्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप उपयोग के स्थान पर उपभोग तथा मंत्र संस्कृति के स्थान पर यंत्र की

संस्कृति विकसित हुई है।<sup>426</sup> आधुनिकता के आगमन के साथ जो पर्यावरणीय समस्या हमारे देश में फैलती गई उसका उत्तरोत्तर विकास ही हुआ है। 1990 के बाद आई भूमंडलीकरण के नीति के तहत पर्यावरण मुद्दा संकटतर हुआ। विकास ने नाम पर तथाकथित एकीकरण ने भारत की पर्यावरणीय व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। मल्टीनैशनल कंपनी के आर्थिक नीति ने देश के प्रकृति का बहुत नुकसान किया। विकास की आंधी ने हमारी वायु को जहरीली बनाया, जमीन अपनी उर्वरता खोती गई, नदियां नालों में तबदील हो गए, जीव-जंतुओं की अनेक प्रजातियाँ लुप्त होती चली गई, वनों की अंधाधुंध कटाई से ताप की बढ़ोतरी हुई, मौसम में परिवर्तन आए, ओजोन परत में छेद हुए, ग्लेसियर पिघलने लगे, मीठे पानी के स्रोत कम होते गए आदि ऐसे अनेक समस्याएँ मुंह बाएं खड़ी हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि दुनिया की तमाम चीजों का विकल्प हमारे पास है किन्तु प्रकृति का कोई विकल्प नहीं है। प्रकृति को संरक्षित करने की ओर ध्यान किसी विकास की संस्थाओं का नहीं है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा प्रकृति का जब-जब दोहन किया गया या प्रकृति से की गई छेड़खानी पूरे मनुष्य समुदाय को नेस्तनाबूद कर देगी। थोड़े से पैसे के लोभ के कारण हम अपनी भावी पीढ़ी को कैसा समाज दे रहे हैं यह सोच का विषय होना चाहिए।

इसमें कोई दो राय नहीं कि प्रकृति को नष्ट करने की पहल अंग्रेजों के आगमन के साथ ही हो गई थी किन्तु समाज में आई नई क्रांति ने प्रकृति की सुरक्षा को दायम दर्ज में रखते हुए अपना उल्लू सीधा करना चाहा है। यही कहा जा सकता है कि देश में पर्यावरण को लेकर ऐसे दो मोड़ आए जिसने पूरी प्रकृति को नुकसान पहुंचाया।

कुछ विद्वान पर्यावरण पर गहराते संकट को केंद्र में लाने का श्रेय 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के स्टॉकहोम (1972) में हुए सम्मेलन को देते हैं। इसमें कोई दो राय नहीं है कि वैश्विक स्तर पर स्वीडन ने पर्यावरण प्रदूषण के खिलाफ विश्व के नागरिकों का ध्यान खींचा। किन्तु रचेल कर्सन के द्वारा लिखित 'साइलेंट स्प्रिंग' (1962) ने लिखित माध्यम से मनुष्य और पर्यावरण के अंतःसंबंधों पर विचार इससे पूर्व ही किया। साहित्यिक रूप से पर्यावरण चिंतन पर इस पुस्तक को प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है। भारत की अगर बात की जाए तो पर्यावरण को लेकर चिंतन सर्वप्रथम आदिवासियों का रहा है। अनुसंधान

<sup>426</sup> पर्यावरण और समकालीन हिन्दी साहित्य, डॉ. प्रभाकर हेब्बार इल्लेत, पृ.सं- 22

करने पर यह पाया गया कि आदिवासियों के आंदोलन के केंद्र में अपनी पारंपरिक जमीन और पर्यावरणीय चिंतन रहा है। उनकी जल, जंगल और जमीन की लड़ाई पर्यावरण चिंतन के करीब आती है। इसलिए पर्यावरण पर बात करते हुए आदिवासियों के योगदान को नहीं भूला जा सकता। 'गोल्डी एम. जार्ज का लेख 'हूल से उलगुलान तक : आदिवासी विद्रोहों की जड़ में रहे हैं वन कानून' में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि 1850 के दशक में अंग्रेजों ने तेजी से भारत के वन क्षेत्रों में घुसपैठ करनी शुरू कर दी तथा वन क्षेत्र पर 1855 से अपने आधिपत्य की घोषणा कर दी। यही कारण रहा जिसके वजह से आदिवासियों ने कई आंदोलन किए।' आदिवासी विद्रोह के केंद्र में अनेक मुद्दे रहे किन्तु प्रकृति के प्रति उनका अनुराग और संरक्षण की भावना ने पश्चिम से पूर्व हमारा ध्यान वनों और प्रकृति की ओर खींचा।

भारत में 1970 में 'चिपको' आन्दोलन ने पर्यावरण के प्रति और पृथ्वी की हरियाली को बचाने के लिए नागरिकों को उन्मुख किया। उत्तर का चिपको आंदोलन पूरे भारत को अपनी ओर आकर्षित किया। यही कारण रहा कि दक्षिण में 'अप्पिको' आंदोलन 1983 में कर्नाटक के उत्तर कन्नड क्षेत्र में शुरू हुआ। बाद में जल-संरक्षण को लेकर सुंदरलाल बहुगुणा ने टिहरी बाँध विरोधी आंदोलन को अंजाम दिया। नर्मदा बचाव आंदोलन भी पर्यावरण आंदोलन की परिपक्वता का उदाहरण रहा। जल-प्रदूषण को मुक्त करने के लिए - चिलका बचाव आंदोलन, गंगामुक्ति आंदोलन आदि को लिया गया। जंगलों की संरक्षण में विष्णोई आंदोलन, साइलेंट घाटी आंदोलन तथा जमीन से जुड़े आंदोलन में 'बीज बचाव आंदोलन' आदि आंदोलनों को देखा जा सकता है। जिसमें पूर्ण रूप से प्रकृति को बचाने की जद्दोजहद देखी जा सकती है।

1972 में स्टॉकहोम में पर्यावरण शिखर सम्मेलन में पर्यावरण के विविध कारणों की चर्चा ने विश्व के नेत्र खोल दिए जिसकी वजह से अनेक राष्ट्रों ने इससे संबंधित कानून बनाए। भारतीय संविधान में भी पर्यावरणीय चिंतन संबंधी कानून बनाए गए। '1976 में अनुच्छेद 48-A के तहत राज्य, देश के पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्धन का और वनों और वन्यजीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा। तथा अनुच्छेद 51 -A के अनुसार नागरिकों को कर्तव्य प्रदान करता है कि वे 'प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा करें तथा उसका

संवर्धन करे और सभी जीवधारियों के प्रति दयालु रहे।<sup>427</sup> समय समय पर पर्यावरण को लेकर किये गए कुछ अधिनियमों की निम्न में चर्चा की गई है ।

- जल (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण ) अधिनियम, 1974
- जल उपकर (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण ) अधिनियम, 1977
- वायु (प्रदूषण निवारण एवं नियंत्र) अधिनियम, 1981
- पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986
- इनसेक्टीसाइड्स एक्ट, 1968
- अर्बन लैण्ड (सीलिंग एण्ड रेग्युलेशन) एक्ट, 1976
- फोरेस्ट्स कंजरवेशन एक्ट, 1960
- वाइल्ड लाईफ प्रोटेक्शन एक्ट, 1972
- फोरेस्ट (कनजरवेशन) एक्ट, 1980
- वाइल्ड लाईफ (प्रोटेक्शन) एक्ट, 1995
- जैव-विविधता अधिनियम, 2002
- राष्ट्रीय पर्यावरण नीति, 2006

अतः यह कहा जा सकता है कि पर्यावरणीय चिंतन वैश्विक स्तर पर 70 के दशक के बाद देखे गए । भारतीय समाज में पर्यावरण संरक्षण के लिए एक ओर जहां इतने सारे अधिनियम बनाए गए वहीं दूसरी ओर समाज में पर्यावरण को प्रदूषित करते चीजों के उत्पादन की बढ़ोतरी में कमी देखी नहीं जा रही है । ऐसे में सरकार पर्यावरण के लिए कितना कार्य कर रही है यह सोचने वाली बात है । आज अधिकांश घर पर वाहनों की भरमार है जिससे निकलने वाले गैस, फ्रीज़-एयरकॉन्डीसऑन निकलने वाली गैस, प्लास्टिक के उत्पादन जैसी चीजों में रोकथाम नहीं की गई है । ऐसे में यह नियम और अधिनियम कहाँ तक कारगर हैं ? सबसे बड़ी विडंबना यह है कि 70 के दशक से ऐसे अधिनियमों को बनने के बावजूद क्या पर्यावरण प्रदूषण को रोका जा सकेगा ? ऐसे अनेक कानून केवल कागजों तक सिमटे हुए हैं । जमीनी तौर पर इससे संबंधित कार्य का औसत बहुत खराब है । आज तक गंगा और यमुना जैसी नदियों की सच्चाई से सभी वाकिफ हैं । किन्तु आज की यह सबसे बड़ी सच्चाई यह है कि सत्ता में स्थित वर्ग पर्यावरण को लेकर राजनीति कर

---

<sup>427</sup> भारत की पर्यावरण नीति – <https://hi.Vikaspedia.in/rular-emergy/policy-support/16/04/2020>

रहे हैं । यह राजनीति बड़ी वीभत्स और कुरूप है । जिसमें थोड़े से पैसों के लिए समूचे पर्यावरण की जिम्मेदारियों से पीछा छुड़ाया जा रहा है । मुख्य रूप से यह राजनीति विदेशी नीति की समर्थक हैं । जिसमें विदेशी पूंजी के प्रति लालच पूरे विश्व पर भारी पड़ने वाली है । ऐसे में सरकार की यह जिम्मेदारी बनती है कि पर्यावरण मुक्त समाज के गठन में अपनी राजनीतिक लाभ को न देखते हुए स्वस्थ समाज का निर्माण किया जाए ।

### 7.4.2 साहित्य में पर्यावरण

साहित्य के विविध विधाओं में पर्यावरण को लेकर विभिन्न समय में चिंता व्यक्त की गई है । प्रकृति और मानव का आदिम युग से सहजात संबंध रहा है । पश्चिम की दृष्टि प्रकृति को जीतने की या उस पर विजय पाने की रही है । भारतीय दृष्टि इससे इतर प्रकृति के साथ सहजीवन की रही है । साथ ही भारतीय संस्कृति के केंद्र में प्राकृतिक चिंतन ही रहा है ।

वेदों, उपनिषदों से होते हुए 'रामायण' और संस्कृत साहित्य में कालिदास का 'ऋतुसंहार' जैसी रचना प्रकृति के साथ मनुष्य के रिश्ते को प्रस्तुत करने के साथ हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि निर्माण करने का भी काम करती है ।

हिन्दी साहित्य सदैव अपने उपजीव्य ग्रंथों और संस्कारों को लेकर चला । इसलिए प्रारम्भिक दौर से ही 'प्रकृति के प्रति अनुराग' देखा जा सकता है । प्रारम्भिक दौर में ऐसी अनेक रचनाएं हैं जिसमें प्रकृति के सौन्दर्य को बड़े सुगठित ढंग से प्रस्तुत किया गया । आदिकाल में 'बीसलदेव रासो' और विद्यापति के 'पदावली' को इस दृष्टि से देखा जा सकता है । यह परंपरा भक्तिकाल के कवियों में भी देखने को मिली इसमें तुलसीदास, रहीम, कबीर, जायसी, मीराबाई आदि के द्वारा लिखित काव्य में पर्यावरण सौन्दर्य की नवीनता रही है । रीतिकाल में सेनापति, बिहारी, पद्माकर और देव ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया । आधुनिक काल में भी यह परंपरा विकसित हुई विशेष रूप से छायावाद के दौर में प्रकृति परक कविताओं की भरमार रही । इस दौर में प्रकृति के सूक्ष्म रूप को उत्कट रूप से दिखाया गया । पंत को 'प्रकृति का सुकुमार कवि' की उपमा दी गई । प्रसाद और निराला की कविताओं में प्रकृति की भव्यता देखी जा सकती है । छायावादी काव्य में जयशंकर



प्रसाद के द्वारा लिखित 'कामायनी' काव्य पर्यावरण की दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण लगता है क्योंकि इस काव्य में समकालीन समय और प्रकृति को लेकर चिंता व्यक्त की गई है।

“हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर/ बैठ शिला की भीतल छाँह ।/ एक पुरुष भीगे नैनो से देख रहा था प्रलय-प्रवाह ।”<sup>428</sup>

इसमें यह स्पष्ट किया गया कि प्रकृति के प्रति मनुष्य का भोगवादी दृष्टिकोण मनुष्य के जीवन को चुनौती दे रहा है। जब-जब प्रकृति का दोहन हुआ है प्रकृति ने उसका प्रतिफल दिया है।

‘प्रकृति रही दुर्जेय, हम सब थे भूले मद में’।

इस काव्य के दूसरी पंक्ति में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि आधुनिकता की सबसे पहले मुठभेड़ प्रकृति से है। प्रकृति को नष्ट कर उसकी सत्ता को कमजोर करना और मानव को सर्वोपरि बनाना मनुष्य को कहीं का नहीं रहने देगी। प्रकृति का तांडव रूप मनुष्य के सामने अकाल, बाढ़ तथा प्राकृतिक आपदाएँ लेकर आ रहा है। अकाल पर नागार्जुन का ‘बंगाल का अकाल’ कविता आती है। हिंदी में इस विषय पर दिनकर, अज्ञेय, ज्ञानेंद्रपति, सुदीप बैनर्जी, एकांत श्रीवास्तव, राजेश जोशी, अरुण कमल, विनोद कुमार शुक्ल, निर्मला पुतुल, रोज केरकेट्टा आदि ने गंभीर और सार्थक कविताएँ लिखी हैं। निबंध जगत में पर्यावरण को लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम उल्लेखनीय है। ‘अशोक के फूल’, ‘शिरीष का फूल’, ‘आम फिर बौरा गए’, ‘मनुष्य का भविष्य’ आदि ललित निबंध में पर्यावरण प्रदूषण की समस्या और पर्यावरण संरक्षण को आवश्यक बताया गया है।

आज का दौर विज्ञान का दौर है जिसमें अनेक प्रयोग हो रहे हैं और यह प्रयोग प्रकृति विरोधी है जिससे प्रकृति को बहुत नुकसान हो रहा है। जिससे प्राकृतिक संपदा अपनी अस्मिता खोती जा रही है। काशीनाथ सिंह जी की कहानी ‘जंगल जातकम’ कहानी पर्यावरण को बचाने की पहल को लेकर लिखी गई है। यह कहानी चिपको आंदोलन के समय लिखी गई कहानी है। पर्यावरण पर लिखी गई कहानियों में ‘जंगलगाथा’ (नमिता सिंह), ‘आरोहण’ (संजीव) आदि को भी देखा जा सकता है।

उपरोक्त विश्लेषण में हमने यह स्पष्ट किया कि प्रकृति पर लेखन कार्य भारतीय साहित्य में प्राचीन दौर से होते रहे हैं। किन्तु आधुनिक संदर्भ में अगर पर्यावरण चिंतन पर बात

---

<sup>428</sup> कामायनी, जयशंकर प्रसाद, चिंता सर्ग, पृ. सं.- 5

की जा रही है तो इसका विकास मूल रूप से साहित्यिक क्षेत्र में यह दौर छायावादी दौर है । पर्यावरण चिंतन के बीज सही मायने में छायावाद की 'कामायनी' में तलाशे जा सकते हैं । यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि पर्यावरण चिंतन और प्राकृतिक-सौन्दर्य एक-दूसरे से जुड़ते हुए भी अलग हैं। क्योंकि पर्यावरण चिंतन जैसे संजीदा मसले को प्रकृति के सौन्दर्य से नहीं जोड़ा जा सकता है । पर्यावरण-चिंतन ही आगे चल कर विमर्श का रूप लेता है । इसलिए पर्यावरण-विमर्श को पढ़ते समय प्रकृति प्रेम और पर्यावरण-चेतना को अलग करके देखना होगा । यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि उपरोक्त विश्लेषण में आदिवासियों के आंदोलन और उनसे संबंधित साहित्य को पर्यावरणीय दृष्टि से देखने की बात की गई । कई आलोचक इसमें भी प्रकृति प्रेम को महत्व देते ही पर्यावरण के चिंतन के मुद्दों से उन्हें खारिज करना का प्रयास करेंगे । किन्तु यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि उनका प्रकृति के प्रति प्रेम प्राकृतिक सौन्दर्य तक सीमित नहीं उनमें प्रकृति को बचाने की जद्दोजहद देखी जा सकती है । जो जिस तरह के परिवेश में रहेगा वह उसकी समस्या से वाकिफ होगा भले ही आदिवासियों को सभ्य की श्रेणी में रखना पसंद नहीं किया किन्तु इस दृष्टि से वे तथाकथित सभ्य लोगों से ज्यादा सभ्य दिखाई पड़ते हैं । साहित्य में आदिवासी साहित्य में पर्यावरण चिंतन को अलगाने की कोशिश भी देखी जा सकती है । वहीं हमारे समक्ष यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि प्राकृतिक आपदाओं को क्या पर्यावरणीय चिंतन में लिया जा सकता है ? पर्यावरण विमर्श के केंद्र में प्राकृतिक दोहन है और विश्व में बढ़ते प्राकृतिक आपदाओं का संबंध कहीं न कहीं उससे जुड़ा है । किन्तु तब यह प्रश्न खड़ा होगा कि क्या प्रकृति जन्म के साथ यह समस्याएं विद्यमान नहीं थी ? किन्तु तब यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि पर्यावरण का अधिक दोहन ने अधिक प्राकृतिक आपदाओं को जन्म दिया है । यह प्रक्रिया ही प्रकृति का विरोधक रूप है जिसके द्वारा ही मनुष्य प्रकृति के रौद्र रूप से परिचित हो रहा है । इसलिए साहित्य में पर्यावरण विमर्श पर शोध करते हुए कई विषयों को इसमें जोड़ने की पहल देखी जा सकती है । कामायनी में जलप्लावन के कारकों की तलाश कर प्राकृतिक दोहन का चित्रण उसे पर्यावरण चिंतन से जोड़ता है । इसलिए पर्यावरण विमर्श के बीज खोजे जा सकते हैं ।

भारतीय साहित्य में पर्यावरण पर बहुत लेखन कार्य हुआ है इसलिए यह कहा जा सकता है कि साहित्य की यह कोई नई प्रवृत्ति नहीं है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसके रूप में परिवर्तन होते गए हैं । पहले पहल जहां प्रकृति का सौन्दर्य को महत्व मिला

वहीं आगे चल कर पर्यावरण प्रदूषण के विभिन्न स्तरों पर बात की गई किन्तु सिर्फ बात करना ही इसका एक मात्र उपाय नहीं था इसलिए पर्यावरण के संरक्षण और प्रदूषण को दूर करने के लिए अनेकों आंदोलन किए गए । जब यही आंदोलन साहित्य में आया तो इसने विमर्श का रूप लिया ।

आज साहित्य में विमर्श के केंद्र में पर्यावरण से संबंधित समस्याओं को लोगों के समक्ष पहुँचने की पहल हो चुकी है वैसे भी प्रकृति के रौद्र रूप ने देशवासियों को सूचित कर दिया है कि अगर ऐसे ही पर्यावरण दोहन होता रहा तो इसका परिणाम क्या हो सकता है । वैश्वीकरण के इस दौर ने जितना नुकसान पर्यावरण का किया है वैसा नुकसान पहले नहीं हुआ है । आज भारत देश पश्चिमी के अनुकरण पर खुद को आर्थिक विकास के मॉडेल में फिट करना चाहता है । भारत देश के पास पश्चिम देशों की तरह पूंजी नहीं है इसलिए ऐसे अनेक योजनाएं पूरी नहीं हो पाती तथा उसको आधा-अधूरा छोड़ कर कम में निपटाने वाली प्रवृत्ति पूरे पर्यावरण को ले डूबी है । ऐसे में पर्यावरण के प्रति जागरूकता अनिवार्य बन गई है । इसलिए आज के उपन्यासों में पर्यावरण की एक नवीन छवि हमारे समक्ष है । 90 के दशक के बाद उभरे पर्यावरण संकट ने साहित्यकारों को लिखने के लिए मजबूर किया है इसलिए इसे इस दौर की एक मुख्य प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है ।

हिन्दी साहित्य की ओर अगर दृष्टिपात करें तो यह पाएंगे कि पर्यावरण से कोई भी उपन्यास अछूता नहीं है । किन्तु पर्यावरण प्रदूषण को अगर दृष्टि में रखें तो भूमि क्षरण की समस्या को लेकर लिखे गए उपन्यास में प्रेमचंद के 'रंगभूमि' को लिया जा सकता है । "आज के संदर्भ में जब पर्यावरण की चर्चा होती है तो प्रेमचंद की 'रंगभूमि' (1925) को हिन्दी का प्रथम पारिस्थितिकी उपन्यास माना जा सकता है । औद्योगिकरण से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण और उससे उत्पन्न अन्य समस्याओं का चित्रण बड़े सहज ढंग से किया है ।"<sup>429</sup> इसी परंपरा में वृक्षों के संरक्षण का संदेश नागार्जुन द्वारा लिखित उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) में देखने को मिलता है । भगवती चरण वर्मा का उपन्यास 'सामर्थ्य और सीमा' (1962) में लेखक मनुष्य के प्रकृति पर विजय पाने की अटूट प्रयासों की निंदा करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य का अस्तित्व प्रकृति में ही है । प्रकृति से छेड़-छाड़ उसे कहीं का रहने नहीं देगी । "लेखक यहीं यह स्वीकार कर लेता है कि मनुष्य प्रकृति

---

<sup>429</sup> हिन्दी साहित्य: समकालीन परिप्रेक्ष्य, सं. -डॉ. प्रमोद कोवप्रत, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं.-54

का सहयोगी न रह कर धीरे-धीरे इसे मनुष्य की खामखयाली मानता है । बल्कि लेखक यह मानता है कि मनुष्य प्रगति के पथ पर कितना ही क्यों न बढ़ जाये पर “अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य भी प्रकृति से ही उभरा है, उसका समस्त इस प्रकृति का ही एक भाग है ।”<sup>430</sup>

वैसे तो प्रत्येक उपन्यासों में प्रकृति चित्रण होता ही है इसलिए इसे यहाँ उल्लेख करना समीचीन नहीं होगा। उपरोक्त उपन्यासों के हवाले देकर यह समझने का प्रयास किया गया कि पर्यावरण चेतना पर उपन्यासों में लेखन 20वीं सदी से होने लगा था किन्तु 21वीं सदी में पर्यावरण चिंतन जोर पकड़ने लगा । इस दौर में ऐसे उपन्यास मुख्य रूप से लिखे गए जिसमें पर्यावरण मुद्दा मुख्य रूप से उभरा । साथ ही इनमें ऐसे मुद्दों को महत्व मिला जिसमें पर्यावरण विमर्श के अनुगूँज सुनाई देती है ।

कमलेश्वर का ‘अनबीता व्यतीत’ (2009) उपन्यास समकालीन पर्यावरण समस्या को लेकर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है । “उपन्यास में लेखक ने मासूम वन्य जीव पक्षियों की पीड़ा तथा उसके जीवन को संकटमय करने वाले एवं उनके संहार को ही अपनी जीविका का साधन बनाने वाले व्यक्तियों और परिस्थितियों के कटु यथार्थ को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है ।”<sup>431</sup> हिन्दी में पर्यावरण के मुद्दे पर ‘कुइयांजान’ -2005 (नसिरा शर्मा), ‘मीठी नीव’ -2012, ‘मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ’ (महुआ माजी) -2012, ‘ताकि बची रहे हरियाली’ अनंत कुमार सिंह - आदि उपन्यासों को देखा जा सकता है ।

ओड़िया साहित्य की ओर अगर दृष्टि करें तो यह स्पष्ट होगा कि प्राकृतिक सौन्दर्यपूर्ण साहित्य की भरमार रही है । यह स्थिति अमूमन साहित्य की सभी विधाओं में रही है । किन्तु उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि प्राकृतिक सौन्दर्य और प्राकृतिक चिंतन को अलग करके देखना होगा । इस दृष्टि से ओड़िया उपन्यासों में प्राकृतिक चिंतन को लेकर सबसे अधिक चर्चा आदिवासी उपन्यासों में की गयी है । आदिवासी समाज में प्रकृति के योगदान और प्रकृति को संरक्षण करने की चिंता उनके साहित्य में देखी जा सकती है ।

प्रकृति पर लिखे, ओड़िया उपन्यासों में चार तरह के विषयों को समाहित किया गया है -

#### 1. प्राकृतिक-सौन्दर्य

<sup>430</sup> समकालीन हिन्दी साहित्य में पर्यावरण विमर्श, सं.-डॉ. ए. एस. सुमेष, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2016, पृ. सं.-63

<sup>431</sup> हिन्दी साहित्य: समकालीन परिप्रेक्ष्य, सं. -डॉ. प्रमोद कोवप्रत, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं.-57

2. आदिवासी उपन्यासों में पर्यावरणीय चिंतन
3. प्राकृतिक-आपदाओं की समस्या
4. पर्यावरण-संरक्षण ।

दूसरी ओर ओड़िशा प्राकृतिक आपदाओं से घिरा राज्य है इसलिए अन्य परंपरा प्राकृतिक आपदाओं की रही है । एक ओर बाढ़ और तूफान का संकट तो दूसरी तरफ सूखा और दुर्भिक्ष । ओड़िशा हर साल इस तरह के संकट से जूझता रहता है । प्राकृतिक आपदाओं की दृष्टि से ओड़िशा में 1915-16 में आया दुर्भिक्ष बहुत भयावह रहा । जिसने इससे पूर्व हुए दुर्भिक्ष को पीछे छोड़ दिया । 1966 में भी कालाहांडी अंचल में बहुत बड़ा अकाल और सूखा पड़ा था । इस अंचल में अधिकांश लोगों ने इस दौरान आम के बीज को उबाल कर अपनी भूख मिटाई थी । आज भी यह अंचल आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा है । सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि प्राकृतिक आपदाओं का आतंक पूर्व की तुलना में तेजी से ज्यादा भयावह होता जा रहा है । इसके पीछे के कारणों में प्राकृतिक संपदा का तेजी से बढ़े क्षरण को लिया जा सकता है ।

ओड़िया के उपन्यासों में इन्हीं प्राकृतिक आपदाओं को लेकर बहुत उपन्यास लिखे गए जिसमें -कान्हु चरण महंती के द्वारा लिखित 'हाँ अन्न'(1934-35) उपन्यास अकाल और दुर्भिक्ष पर आधारित है । गोपीनाथ मोहंती का 'माटी मोटाल'(1964) उपन्यास बाढ़ की समस्या पर आधारित है । 'कालाहांडी और इन्द्रदेवता' (2000) उपन्यास कालाहांडी में पड़े अकाल की त्रासदी पर लिखा गया है । 'कालाहांडी और इन्द्रदेवता' उपन्यास सर्वप्रथम अंग्रेजी भाषा में लिखा गया बाद में लेखक ने स्वयं इसका अनुवाद प्रकाशित करवाया । इस उपन्यास में लेखक जहां एक ओर अकाल और अकाल से त्रस्त लोगों की समस्या को चित्रित करते हैं वहीं सरकारी अधिकारियों की स्वार्थपरता और राजनीतिज्ञों की प्राकृतिक आपदाओं के प्रति उदासीनता को प्रस्तुत करते हैं । इसी परंपरा में प्रतिभा राय का 'मग्न माटी' और कविता बारीक का 'जीवन नई' उपन्यास आता है ।

ओड़िया उपन्यासों की चौथी परंपरा पर्यावरण संरक्षण पर लिखी गई है । इस परंपरा पर बहुत कम उपन्यास लिखे गए हैं जबकि प्राकृतिक आपदाओं पर सबसे अधिक उपन्यासों की भरमार रही है ।

### 7.4.3 विवेच्य उपन्यासों की समीक्षा

‘गलापुत्र’ उपन्यास किसानों की आत्महत्या पर लिखा गया है किन्तु इसमें किसानों के आत्महत्या के पीछे के कारणों को तलाशते हुए प्राकृतिक पर्यावरण के दोहन को चित्रित किया गया है। साथ ही इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें प्रकृति को मानवीकृत करने का प्रयास किया गया है। यह उपन्यास भले ही पर्यावरण पर विशेष रूप से नहीं लिखा गया हो किन्तु लेखक इसमें समकालीन समय में पर्यावरण की समस्याओं को चित्रित करना नहीं भूलते हैं। इस उपन्यास को पढ़ने के दौरान यह स्पष्ट होता है कि लेखक आधुनिकता के हिमायती नहीं हैं बल्कि आधुनिकता के वजह से आई समस्याओं से समाज को जागृत करने का प्रयास करते हैं। पर्यावरण को बचाने की तथा वृक्ष रोपण के द्वारा उसके संरक्षण की बात लेखक इस उपन्यास में करते हैं। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र शंकर के द्वारा लेखक पर्यावरण के प्रति लोगों के रवैये तथा आधुनिक मनुष्य के दृष्टिकोण को दिखाने का प्रयास करते हैं। इस उपन्यास में लेखक यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि अत्याधुनिक चीजों ने परिवेश को सबसे ज्यादा प्रदूषित किया है जिसकी वजह से वायु में विषैले गैस की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई है। नदियां, नालों में तबदील हो रही है। नालों से निकलता गंदे पानी को नदियों में निष्कासित कर नदियों के अस्तित्व को मिटाने की पहल प्रारंभ हो गई है। मृदा की उर्वरता कम होती गई है जिसकी वजह से किसानों को अधिक रासायनिक चीजों का प्रयोग करना पड़ रहा है। यह एक ऐसा दौर है जहां प्राकृतिक उत्स खतरे में है। अगर अभी ही सचेत नहीं हुआ तो आगामी भविष्य में धरती की स्थिति और खराब हो जाएगी जिसका परिणाम मनुष्य को ही भोगना पड़ेगा। स्वप्न में शंकर और पृथ्वी के मध्य संवाद के जरिए लेखक पृथ्वी के दृष्टिकोण से मनुष्य को देखने की पहल को प्रस्तुत कर इस उपन्यास में नई पहल करते हैं - “तुम सच कहती हो पृथ्वी। वे पेड़ काट कर जंगल नष्ट कर रहे हैं। खेतों को साफ करके कारखानों का निर्माण कर रहे हैं। आकाश में काला धुआँ छोड़ रहे हैं। शहरी सभ्यता को प्रोत्साहन दे कर गंदे पानी वाली नाली की सृष्टि कर रहे हैं। गाड़ी, मोटर में आना-जाना कर रहे हैं, जिससे परिवेश प्रदूषित हो रहा है।”<sup>432</sup> लेखक इसके जरिए यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि आधुनिक सभ्यता तथा नई संस्कृति ने लोगों की पर्यावरणीय चेतना को बदल दिया है

<sup>432</sup> गलापुत्र, डॉ. सच्चिदानंद कर, पृ.सं.-30

। लोग निसंकोच प्राकृतिक संसाधनों से खिलवाड़ कर रहे हैं, दुःख की बात यह है कि प्रकृति के प्रति जो अनुराग पहले मनुष्य में विद्यमान था वह भी खत्म होने की कगार पर आ पहुँचा है । भारतीय संस्कृति में धरती जिसे माँ स्वरूपा माना गया उसके प्रति इतना निरादर ने भारतीय संस्कृति की नींव को हिला कर रख दिया है । आज पृथ्वी मनुष्यों के अत्याचार से सबसे ज्यादा प्रताड़ित है । धरती दुःखी है कि कुछ पूंजीपति वर्ग के लालच के वजह से पूरा मानव समुदाय कष्ट झेल रहा है । “पूँजीपति वर्ग का जो अत्याचार मुझ पर हो रहा है उसका फल निर्दोष गंगाधर (किसान) को मिला । पूँजीपति वर्ग का अत्याचार का ही फल है कि तुम्हें अनावृष्टि या अत्यधिकवृष्टि जैसी समस्या का सामना करना पड़ रहा है ।”<sup>433</sup> लेखक का ध्यान इस ओर भी रहा है कि कुछ उच्च वर्ग के लोग अपने फायदे के लिए प्रकृति का नुकसान कर रहे हैं किन्तु इसका फल उस बेगुनाह को भी मिलता है जिसने प्रकृति को हानि नहीं पहुंचाई ।

सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि प्रकृति के प्रति की गई अवहेलना ने अपना स्वरूप दिखाना प्रारंभ कर दिया है । बाढ़, सूखा, ग्लोबल वार्मिंग, मीठे पानी की कमी आदि समस्याओं से पूरा विश्व जूझ रहा है । इन सब के केंद्र में प्राकृतिक दोहन ही रहा है । लेखक इसकी समस्या को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि -“पेड़ लगाने के लिए कोई हाथ नहीं बढ़ाना चाहता । जबकि पेड़ों को काट कर मैदान बनाए जा रहे हैं । जिसकी वजह से बारिश की कमी हो रही है । देश में सूखा की समस्या बढ़ रही है । असमय में ही अनेक परिवार उजड़ रहे हैं ।”<sup>434</sup> जंगलों को बनने में सालों साल लग जाते हैं पर मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए उसे कुछ ही समय में नेस्तनाबूद कर देता है । वृक्षा-रोपण एक महत्वपूर्ण कार्य है इस कार्य को आग्रह के साथ करना आवश्यक है । सच तो यह है कि हम सभी में अगर पृथ्वी के प्रति श्रद्धा है तो उसकी हिफाजत करते हुए तथा अपने प्रेम का प्रमाण देते हुए वृक्षों का संरक्षण करना चाहिए । विश्व में बढ़ते तापमान को कम करने का एक मात्र उपाय यही है । इस उपन्यास में शंकर अपने उसी जमीन पर सालों-साल वृक्षों को लगा कर जंगल का निर्माण करता है इसलिए लोग उन्हें श्रद्धावश ‘पेड़ के नाना’ कहते हैं । शंकर उन वृक्षों में अपने पुत्र को देखता है । उसने सही मायने में प्रकृति को प्रेम किया

<sup>433</sup> गलापुत्र, डॉ. सच्चिदानंद कर, पृ. सं.-30

<sup>434</sup> गलापुत्र, डॉ. सच्चिदानंद कर, पृ. सं.-93

था । लेखक का मूलमंत्र यही है कि प्रकृति को प्रेम करके ही जीवन को सार्थक बनाया जा सकता है ।

वैश्विक दृष्टि से समकालीन समय में पर्यावरणीय समस्या सबसे बड़ी समस्या बन कर उभरा है । यह विषय मूल रूप से वैज्ञानिक विषयों के ज्यादा करीब है । साहित्य में सदैव सामाजिक समस्याओं पर विचारात्मक पहल को प्रस्तुत करने के साथ लोक जागरण के स्वर को मुखर करने का प्रयास किया गया है ऐसे में पर्यावरण पर गहराते संकट पर साहित्य का लिखा जाना अत्यंत आवश्यक बन पड़ता है । पर्यावरण पर ऐसे अनेक विषयों में लेखन कार्य हुए हैं किन्तु साहित्य से उनकी स्थिति इसलिए भिन्न है कि उसमें विषय की गंभीरता अधिक है जबकि साहित्य में यह गंभीरता साहित्य को उबाउ बना सकती है । ऐसे में गंभीर विषय पर लेखन करना सबसे बड़ी चुनौती है । आज के दौर में पूरी दुनिया में पानी का संकट विकराल रूप लेता जा रहा है । जिससे लोगों की साफ पानी की मौलिक आवश्यकता को ही पूरा नहीं किया जा रहा है । नासिरा शर्मा का 'कुड़ियांजान' उपन्यास वैश्विक और भारतीय संदर्भ में पानी की त्रासदी पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है । इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गंभीर विषय पर बात करते हुए भी यह उपन्यास कहीं भी उबाऊ नहीं लगता बल्कि उनका 'कुड़ियांजान' पानी पर हुए गंभीर शोध की पुष्टि करता है । इस उपन्यास में गाँव से शहर, पानी युक्त क्षेत्र से शुष्क क्षेत्र, सामाजिक से लेकर राजनीतिक समस्याओं को इस प्रकार कथा में पिरोकर प्रस्तुत किया जाता है जिस पर शायद ही किसी ने इस प्रकार विचार किया हो । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि पानी के इतिहास की तलाश करते हुए वह प्राचीन स्रोतों का हवाला देकर वर्तमान की समस्याओं का निदान ढूँढती हैं । उपन्यास में कुड़ियां का प्रयोग इसी पारंपरिकता की तलाश में भविष्य की योजना का संकेत है । भविष्य में पानी की समस्या से लोगों की जान पुरातन कुड़ियां की प्रणाली से सार्थक होगी यह लेखिका का आशय है यही कारण रहा कि उन्होंने अपने उपन्यास का नाम 'कुड़ियांजान' रखा ।

गाँव और शहर दोनों ही जगह पर पानी की समस्या विकराल रूप ले रही है । गाँव में जहाँ पानी के स्रोत में कमी तथा शुद्ध पानी की समस्या देखी गई है वहीं शहर में पानी की अकालग्रसता देखी जा सकती है । बारिश के समय में पानी की अधिकता और गर्मियों में पानी की कमी से पूरा देश जूझ रहा है । आज पशु-पक्षी भी पानी की समस्या से जूझ रहे हैं । पहले तालाब, नहरें और झील हुआ करती थी किन्तु आधुनिकता ने इनको भी समाप्त



करना चाहा है । ऐसे बहुत कम क्षेत्र रहे होंगे जहां इन्हें नुकसान न पहुंचाया गया हो । पानी की कमी के वजह से हर साल हजारों की मौत हो रही है । “गरमी से मरने वालों की संख्या दो सौ से बढ़कर ढाई सौ हो गई है । ये मौतें सूखे के कारण ज्यादा हुई हैं, क्योंकि पानी की कमी से ये सारे व्यक्ति अपने को कड़ी धूप से बचा नहीं पाए ।”<sup>435</sup> एक ओर जहां सूखे की समस्या हो रही है वहीं दूसरी ओर बाढ़ की समस्या ने लोगों की कमर तोड़ रखी है । चाहे सवाल सूखा का हो या बाढ़ का शुद्ध पानी की समस्या से पूरा देश गुजर रहा है । जहां पानी की उपलब्धता है वहाँ भी पीने लायक पानी नहीं है । कहीं पानी में संख्या ज्यादा है तो किसी में लौह की मात्रा अधिक । आम जन इसी पानी को पी कर अपनी प्यास बुझाने के लिए मजबूर है । “कई जिलों में पानी की जांच से पता चला है कि नलकूप से आने वाला पानी पीने लायक नहीं है । भोजपुर जिले में पानी में आर्सेनिक (संख्या) की मात्रा बहुत अधिक पाई गई है, जिसका सेवन स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक है । अब सारे नलकूप सील कर दिए गए हैं और उस इलाके में टैंकर की सहायता से जनता को सरकार जल उपलब्ध करवा रही है ।”<sup>436</sup> आज तो समस्या इतनी बढ़ गई है कि शुद्ध पानी की लालसा में लोग स्टेशन के पानी को खरीद कर पीना पसंद कर रहे हैं ।

पानी की समस्या देश की एक महत्वपूर्ण समस्या बन गई है । उच्चवर्ग जहां शुद्ध पानी प्राप्त करने के लिए प्युरफाइजर का इस्तेमाल कर रहा है वहीं निम्नवर्ग शुद्ध पानी के नाम पर सरकारी पानी पर निर्भर है । सरकारी पानी की व्यवस्था आम लोगों के शुद्ध पानी के लिए की गई किन्तु शुद्धता के नाम पर इसमें कई केमिकल और जगह जगह पर गड्ढों में भरे गंदे पानी के मिश्रण से युक्त है । नालियों और उसके पानी के संपर्क में आ कर पानी की शुद्धता नष्ट हो जाती है । दरअसल भारत जैसे देश में यह परियोजना इतना कारगर साबित नहीं हो पायी है । पुरानी परंपरा कुड़ियां या कुएं का इस्तेमाल शुद्धता की दृष्टि से सही साबित हुआ । जिससे पानी को समय-समय पर साफ भी कराया गया । इस उपन्यास में पानी पर शोध के दौरान पाए गए संदर्भों को सूचित करते हुए लिखा गया है कि -“आज विश्व में आंकड़ों द्वारा ज्ञात होता है कि लगभग एक अरब से ज्यादा लोगों को साफ पानी पीने के लिए उपलब्ध नहीं है । दो अरब लोगों को

<sup>435</sup> कुड़ियांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.- 57

<sup>436</sup> कुड़ियांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-83

नहाने-धोने के लिए पानी नहीं मिल पाता, जिससे लोग अनेक तरह के रोगों का शिकार हो रहे हैं । मृत्यु-दर दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही है । भारत में गाँव, कस्बों, शहरों में लोग कुआं, तालाबों और नदियों से पानी लेते हैं जो अधिकतर गंदा और कीटाणु-युक्त होता है । उसमें प्राकृतिक रूप से पाए जाने वाले संखिया की मिलावट होती है ।<sup>437</sup> आज के समय में कुएं में भी पानी की उपलब्धता कम होती जा रही है जिसका कारण पानी का अनियंत्रित तरीके से दोहन करना रहा । आज पानी के नाम पर व्यवसाय तक किया जा रहा है । भारतीय नई आर्थिक नीति के तहत एक वर्ग पानी पर अपना हक जमाए हुए है । “विश्व बैंक कह ही चुका है कि पानी की कीमत तय करो, बाजार में बिक्री के लिए उसे रखो और बाजार को उसका भविष्य तय करने दो । ध्यान रहे कि पानी एक ‘मानवीय आवश्यकता’ है, न कि ‘मानवीय अधिकार’ भर है । इसी कथन को जब हम आगे देखते हैं तो यह षड्यन्त्र समझ में आता है कि विश्व बैंक और मुद्रा कोष के समर्थन से कई बहुराष्ट्रीय निगमों ने कई देशों में जल की आपूर्ति एवं उसके हल का काम अपने जिम्मे ले लिया है ।”<sup>438</sup> सारी समस्या नदियों के निजीकरण करने के कारण हुई है ।

पानी की वजह से देश में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तनाव पनपे हैं, आगे चल कर यह और उग्र रूप लेंगी । भारत और पाकिस्तान, भारत और बांग्लादेश, भारत और नेपाल, सीरिया और तुर्की के बीच हुए पानी का विवाद एक बड़े संकट की ओर इशारा कर रहा है । “इराक युद्ध के लिए अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति बुश को बिना देर किए 75 अरब डॉलर देने की घोषणा कर दी ; मगर ऐसी कोई तत्काल घोषणा उसने जल-समस्या पर नहीं की और ऐसा ही कुछ हाल हमारे अपने देश का है । यहाँ पर जनमानस से जुड़ी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जगह परमाणु बम निर्माण और परीक्षण पर धन खर्च करना उसे ज्यादा तर्कसंगत लगता है । सबसे खतरनाक मुद्दा जो आज हमारे सामने है, वह है समस्या के हल का निजी क्षेत्र में देखा जाना, जिससे निजी क्षेत्र अपने मुनाफे की बात कर सके ।”<sup>439</sup>

इस उपन्यास में नव-उपनिवेशवाद का पर्दाफाश करते हुए एकीकरण के नाम पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सच्चाई और पर्यावरणीय समस्या को प्रस्तुत किया गया है । बहुराष्ट्रीय

<sup>437</sup> कुइयांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-88

<sup>438</sup> कुइयांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-89

<sup>439</sup> कुइयांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-89

कंपनियों की राजनीति को स्पष्ट करते हुए लेखिका इस उपन्यास में स्पष्ट करती हैं कि भारत जैसे देश में नदियों को जोड़ने की परियोजना भ्रान्त धारणा है। इससे प्रदेशों को बहुत हानि पहुँचेगी। साथ ही भारत जैसे विशाल देश में भौगोलिक भिन्नता के कारण नदियों को जोड़ने की कल्पना भी साकार नहीं हो सकती और अगर होगा भी तो वह हमारे लिए खतरनाक होगा। फरक्का का बाँध और बांग्लादेश की समस्या इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। “नदियाँ एक-दूसरे से मिलाई जा रही थीं। जिसके चलते गाँव, बस्तियाँ, जंगल उजड़ रहे थे। पहाड़ काटे जा रहे थे। जंगल के कटने से दूर-दूर तक खाली मैदान फैल गए थे। उजड़ी बस्तियों के लोग परेशान इधर-उधर भटक रहे थे। कुछ स्थानों पर पानी ने दल-दल बना दिया और लाखों लोग बरबाद हो गए। जल स्तर नीचे हो जाने के कारण प्रांतों के बीच पानी बराबर न पहुँचने से तनाव और नदियों का समुद्र में जाकर न मिलने से मीठे पानी की कमी से करोड़ों मछलियों एवं समुद्री जीवों का तड़प-तड़पकर मरना आरंभ हो गया।”<sup>440</sup> आज नदियाँ गंदगी से भरी हुई हैं, यमुना और गंगा की स्थिति से सभी परिचित हैं। एक नदी को तो साफ करना मुमकिन नहीं हो पा रहा है। ऐसे में प्रदूषित नदियों को साफ कर सम्मिलित करना तथा सभी नदियों से जुड़ कर बनी एक नदी को प्रदूषित होने पर साफ करना एक विराट समस्या बन कर उभरेगी। लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि “यह भारत विरोधी परियोजना है, जो भारतीय दिमाग की उपज नहीं, बल्कि विदेशी षड्यन्त्र की चाल है। यह हमारी जरूरत नहीं बल्कि विदेशी कब्जा नीति है।”<sup>441</sup> लेखिका यह आशंका व्यक्त करती हैं कि अब वह समय दूर नहीं जब पानी के लिए युद्ध होंगे। संभवतः तीसरा विश्व युद्ध पानी के लिए ही हो सकता है। यहाँ तक कि भारत में नदियों के वजह से गृह युद्ध होने की भी संभावना बनी है। अब वह दिन दूर नहीं जब मीठे पानी के सभी स्रोत खत्म हो जाएंगे और आम जन शुद्ध पानी की तलाश में भटकेगा।

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास की पृष्ठभूमि झारखंड के आदिवासी बहुल क्षेत्र से है जिसमें लगभग 32 जनजातियाँ रहती हैं। झारखंड वन से घिरा राज्य रहा जिसके कारण यह राज्य आदिवासियों का गढ़ बना। आदिवासियों का प्रकृति के प्रति प्रेम और अनुराग ने उन्हें तथाकथित सभ्य लोगों से कोसों दूर वन में रहना सिखाया। आधुनिकता के आगमन के साथ अंग्रेजों की नजर वन में स्थित प्राकृतिक

<sup>440</sup> कुइयांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-91

<sup>441</sup> कुइयांजान, नासिरा शर्मा, पृ. सं.-401

संसाधनों पर पड़ी । प्राकृतिक संसाधनों के प्रति दोहन का सिलसिला यहीं से प्रारंभ हुआ । उत्तरोत्तर यह लालसा और बढ़ती गई । भारत पर लागू की गई नई आर्थिक नीति ने एक बाजार की कल्पना को साकार किया और प्रकृति के प्रति दोहन ने एक नया रूप लिया । आधुनिकता के एवज में आए यंत्रीकरण से वैसे भी देश के पर्यावरण को बहुत नुकसान पहुंचा है किन्तु उत्तर आधुनिकता ने इसको और विकराल रूप दिया । भारत में आई नई आर्थिक नीति ने एक ओर जहां पर्यावरण को नुकसान पहुंचाया वहीं आदिवासियों के लिए नए संकट का भी आगाज किया ।

अर्थात् यह उपन्यास एक ओर जहां विकास के शर्तों पर शोषित हुए समकालीन आदिवासी समाज की समस्याओं को प्रस्तुत करता है वहीं दूसरी तरफ विकास के हथ्थे चढ़े पर्यावरणीय संकट की ओर इशारा करता है । इस उपन्यास में आदिवासी और पर्यावरण मुद्दों को इसलिए आधार बनाया गया है क्योंकि पर्यावरण के साथ आदिवासियों का गहरा संबंध रहा है । आदिवासी समुदाय आज तक पर्यावरण को सँजोता और हिफाजत करता आया है वहीं उनकी जमीन को अधिकृत कर सरकार उनको उनके ही जमीन से विस्थापित करती आई है । जंगलों पर आदिवासियों की पाबंदी तो पहले ही हो गई थी किन्तु विकास के नए झुनझुने ने उन्हें जमीनी हक से भी बेदखल किया है । यह उपन्यास विकास पर प्रश्न चिन्ह लगाता हुआ यह सवाल करता है कि विकास आखिर किसका ? विकास के नाम पर एक समुदाय की अस्मिता के साथ खिलवाड़ तो किया ही जा रहा है साथ ही पर्यावरण सुरक्षा जैसे गंभीर विषय को भी दरकिनार किया जा रहा है । नवउदारवादी अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावाद के आने के उपरान्त बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भारत पर अपना अधिकार जमा लिया है । जिसके फलस्वरूप विकास के नाम पर पर्यावरण का असंतुलित तरीके से दोहन हो रहा है । नई आर्थिक नीति ने सस्ती और टिकाऊ जैसे शब्दों के जाल में भारत को भ्रमित किया है । इस उपन्यास में यूरेनियम जैसी धातु पर विदेशी कंपनियों का आकर्षण और सस्ती बिजली की लालसा में आकर्षित भारतीय सत्ताधारी वर्ग पर करारी चोट की है । इस उपन्यास में लेखिका की चिंता का विषय मानव समुदाय और उससे जुड़ी समस्या है । लेखिका उपन्यास में गंभीर अनुसंधान करते हुए इस विषय से आम समुदाय को परिचित करवाना चाहती हैं । कहीं-कहीं पर यह उपन्यास ज्यादा विज्ञान की ओर झुका हुआ तथा अनुसंधान परक लगता है जिससे कथा के भाव प्रवणता में तो कोई कमी नहीं दिखाई देती किन्तु साहित्यिकता का पुट कम दिखाई देता है । विज्ञान जैसे विषयों पर

लिखने की यह एक सबसे बड़ी समस्या हो सकती है लेकिन लेखिका ने जो तथ्य हमारे समक्ष रखा है शायद ही उस तरह से लोग उससे परिचित हों । यह उपन्यास एक ऐसा उपन्यास है जो पर्यावरण पर गहराते संकट की ओर इशारा करते हुए मानव में पर्यावरण सुरक्षा के प्रति चेतना को जगाने का कार्य करता है ।

इस उपन्यास में लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि भले ही विदेशी कंपनियों ने यहाँ आकर यूरेनियम की खोज की और उसको निकाल कर लोगों के हित की बात की । किन्तु इसका दुष्परिणाम कितना भयावह हो सकता है इससे लोग परिचित नहीं थे । यूरेनियम खनन की प्रक्रिया में प्रभावित अधिसंख्यक जब ज्यादा प्रभावित हुए तब जाकर उन पर अनुसंधान करने की कोशिश की गई । अनुसंधान के दौरान यह पाया गया कि “यूरेनियम प्रकृति में पायी जाने वाली सबसे भारी धातु है ही, यह एक अस्थिर रेडियोधर्मी तत्व भी है जो धीरे-धीरे ऊर्जा की किरणों को बिखेरते हुए नष्ट होता जाता है। नष्ट होने की यह अवधि हमारी कल्पना से भी ज्यादा लंबी है । प्राकृतिक यूरेनियम का अर्द्ध जीवन ही करीब साढ़े चार खरब (बिलियन) वर्ष है। यानी जमीन से खोदकर बाहर निकाले गए यूरेनियम को... हमारे द्वारा पर्यावरण में जमा किए गए यूरेनियम के जीवनकाल को घटकर आधा होने में ही करीब साढ़े चार खरब वर्ष लगेंगे ।”<sup>442</sup> सबसे बड़ी समस्या इस विकिरण की यह है कि इसका न कोई स्वाद, गंध और न ही आकार होता जिसे देख कर पहचाना जा सके । जब तक यह द्रव्य प्रकृति के गर्भ में दबा हुआ रहता है तब तक यह शांत रहता है किन्तु जैसे ही यह बाहर निकलता है तबही मचाना प्रारंभ कर देता है ।

लेखिका इस उपन्यास में यह भी स्पष्ट करती हैं कि यूरेनियम में परमाणु बम बनाने की क्षमता है । जिससे कई सदियों तक उस जगह के लोगों को प्रभावित होना पड़ता है । हिरोशिमा और नागासाकी इसका सबसे अच्छा उदाहरण है । ‘परमाणु संयंत्र में एक हजार मेगावाट बिजली पैदा करने पर करीब सत्ताईस किलोग्राम रेडियोधर्मी कचरा उत्पन्न होता है । जिसे निष्क्रिय होने में एक लाख साल से भी ज्यादा समय लगता है ।’ ये रेडियोधर्मी द्रव्य बहुत खतरनाक होता है जो प्रभावित व्यक्ति की कोशिकाओं को अनयांत्रित ढंग से संचालित करने लगता है। यही कारण है जिसकी वजह से बच्चों का शारीरिक विकास अनियंत्रित होता है और बच्चे विकलांग पैदा होते हैं । इससे

---

<sup>442</sup> ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’, महुआ माजी, पृ. सं-158-159

ज्यादा प्रभावित बच्चे हैं किन्तु यूरेनियम के संस्पर्श आए बड़ों में भी टी.बी., कैंसर, स्त्रियों में गर्भपात, तपेदिक, पीब-लहू से बजबजाते हाथ-पाँव आदि बीमारियाँ देखने को मिलती हैं । साथ ही इससे पशु और जलीय जीव भी प्रभावित होते हैं।

यूरेनियम खतरनाक तब होता है जब इसको निकालते समय सावधानियों का ध्यान नहीं रखा जाता है । जैसे टेलिंग डैम को आवासीय स्थान से 50 किलोमीटर से कम दूरी पर ही बनाया जाता है, खुदाई के बाद यूरेनियम लगे पत्थरों को सड़क के किनारे फेंक दिया जाता है, जिससे लोग इसके संपर्क में आकर ज्यादा बीमार होते हैं । प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्यों खान में काम कर रहे मजदूरों के स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखा जाता साथ ही विकिरण के अवगुण से आम लोगों को सचेत क्यों नहीं किया जाता है । जिसके कारण इससे प्रभावित होने वालों की संख्या बढ़ती जाती है ।

सवाल यह खड़ा होता है कि अमेरिका के इशारों पर नाचती सरकार ने ऐसा कौन सा विकास किया है ? “झारखंड, छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में खनन कंपनियों की लूट को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है । यह लूट प्राकृतिक संपदा के अंधाधुंध दोहन के साथ ही समाप्त नहीं होती, अपने साथ अनेक विकृतियाँ, अव्यवस्था और समस्याएं भी लाती हैं । जैसे भूमि अधिग्रहण, विस्थापन, पर्यावरण प्रदूषण, खनन के बाद खुले गड्ढों में बरसाती पानी भरने से रोगाणुओं का संक्रमण, स्थानीय लड़कियों का शोषण, कुपोषण के कारण बढ़ती मृत्यु दर ...।”<sup>443</sup> दरअसल पश्चिमी देश के अनुकरण आई व्यवस्था ने भारत को भारी नुकसान पहुंचाया है । विकास के केंद्र में अगर भारतीय परिप्रेक्ष्य होता विकास की दिशा कुछ भिन्न होती ।

बहरहाल समकालीन भारत में पूरा देश बीमारियों का गढ़ बनता जा रहा है । ये बीमारियाँ पर्यावरण को क्षति पहुँचने से ज्यादा हुई है । वहीं दर्जनों भर पर्यावरण पर बनाए गए नियम कागजों पर सिमट कर रह गए हैं । ऐसी क्या वजह रही कि पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले पर कोई गंभीर सज़ा निश्चित नहीं की गई है । सच बात तो यह है कि सरकार स्वयं पर्यावरण प्रदूषण को बढ़ाने में साड़ी हकदार है । ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि ऐसे अनेक कंपनियों को सरकार ने आसरा तो दिया साथ ही खनिज पदार्थों में हुए मुनाफे को भी महत्व दिया लेकिन खनिज पदार्थों को पृथ्वी के गर्भ से निकालते हुए प्रदूषण

---

<sup>443</sup> [www.hindisamay.com/content/4911/1/रोहिणी-अगवाल-आलोचना-समकालीन-हिन्दी-और-पारिस्थितिकीय-संकट.csp](http://www.hindisamay.com/content/4911/1/रोहिणी-अगवाल-आलोचना-समकालीन-हिन्दी-और-पारिस्थितिकीय-संकट.csp)

को रोकने के उपाय कितना कारगर हैं इस पर दृष्टिपात नहीं किया । इस उपन्यास में विकास बनाम आतंक का गठजोड़ देखा जा सकता है । आए दिन विकास के नारों में पर्यावरण की उपेक्षा भावी आगामी पीढ़ी को कहाँ लेकर जा रही है यह इस उपन्यास का मूल तत्व है।

## 7.5 प्रवासी जीवन संबंधी उपन्यास

हिन्दी साहित्य में प्रवासी-साहित्य और प्रवासी विमर्श समकालीन समय में बहुत प्रचलित है । 'प्रवासियों' पर उपन्यासों की प्रवृत्ति भी इस दौर में प्रमुख रूप से ज्यादा बढ़ी है । हालांकि ये देखा गया है कि प्रत्येक साहित्य की शुरुआती विधा कविता ही रही है ऐसे में प्रवासी कविता की भी शुरुआत होती है । वैसे प्रवासी कविता लेखन की परंपरा बहुत प्राचीन रही है किन्तु 1980 के बाद प्रवासी उपन्यासों का उत्तरोत्तर ज्यादा विकास हुआ है । किन्तु प्रवासी साहित्य को पढ़ते हुए यह प्रश्न मन में कौंधता है कि प्रवासियों के द्वारा लिखित साहित्य को ही प्रवासी साहित्य माना जाएगा या नहीं । क्या स्वदेशी भूमि में प्रवासन पर लिखे गए साहित्य को प्रवासी साहित्य कहा जा सकता है ? या अल्पकालिक प्रवासी के द्वारा लिखित साहित्य को प्रवासी साहित्य के अंतर्गत रखा जा सकता है ? क्या साहित्य प्रवासी हो सकता है ? अगर प्रवासी साहित्य की अवधारणा को स्वीकार कर भी लिया जाए तो उसके मानदंड कैसे होंगे ?

प्रवासी उपन्यासों पर बात करने से पूर्व 'प्रवासी' शब्द और प्रवासी साहित्य से परिचित होना आवश्यक है ।

'प्रवास' मनुष्य का शाश्वत नियम रहा है । प्रारम्भिक दौर से ही मनुष्य 'प्रवास' करता रहा है । 'प्रवासन' शब्द 'डायस्पोरा' का पर्याय है । यह शब्द ग्रीक शब्द 'डायस्पेरो' से बना है जिसका अर्थ 'मैं फैलता हूँ या बिखरता हूँ' है । 'प्रवास' का अर्थ मूल रूप से अपने निवास स्थान को छोड़कर प्रशासनिक सीमाओं को पार कर किसी दूसरा स्थान पर निवास करना रहा है । यह अल्पकालिक और बहुकालिक भी होता है । अगर अल्पकालिक या बहुकालिक प्रवासन में से बहु कालिक प्रवासन को महत्व दिया जाए तब यह निश्चित करना मुश्किल

हो जाएगा कि इसकी सीमा कहाँ तक निर्धारित होनी चाहिए । दूसरी ओर भारत जैसे विशाल देश में व्यापक रूप से प्रवासी को दो भागों में बाँट कर देखना होगा - एक राष्ट्रीय प्रवासन, दूसरा अंतर्राष्ट्रीय प्रवासन ।

भारत को ध्यान में रखते हुए देखा गया कि - “विश्व का सबसे बड़ा डायसपोरा भारतवंशियों का है । करीब तीन करोड़ की संख्या वाला यह डायसपोरा विश्व के 28 देशों में फैला हुआ है ।.. अगर डायसपोरा की तीन प्रमुख श्रेणियाँ (उत्पीड़ित डायसपोरा, श्रमिक डायसपोरा और तिजारती डायसपोरा) मानी जाएं तो भारतीय डायसपोरा तीनों श्रेणियों का निर्माण करता है ।”<sup>444</sup> कमलकिशोर गोयनका प्रवास में दो प्रवृत्तियों को प्रमुखता देते हुए - स्वैच्छा से प्रवास और विवशता में प्रवास प्रमुख मानते हैं । आलोचक का विवशता में प्रवास से आशय प्रारम्भिक समय में भेजे गए मजदूरों के कान्ट्रैक्ट से है तथा वर्तमान के समय में अपनी आकांक्षा की आपूर्ति के लिए चुने गए प्रवास को स्वैच्छा से प्रवास के रूप में देखा गया है । विवशता में प्रवास का एक संबंध विस्थापन से भी जुड़ा है । किन्तु प्रवासन और विस्थापन में थोड़ा अंतर है । आलोचकों ने इस अंतर को समझते हुए दोनों के साहित्य को अलग किया है ।

### 7.5.1 प्रवासी साहित्य की संकल्पना और मुद्दे

‘प्रवास’ में रह रहे लेखकों के द्वारा साहित्य को प्रवासी साहित्य कहा जा रहा है । वैसे प्रवासी साहित्य की अवधारणा एक दृष्टि से सही भी नहीं है क्योंकि प्रवासी लेखक होता है साहित्य नहीं किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रवास के दौरान आयी समस्याएं इस साहित्य के केंद्र में रही हैं इसलिए विषयवस्तु की दृष्टि से साहित्य में स्वदेश की भूमि से अलग विदेशी भूमि पर कथावस्तु का निर्माण होता है । किन्तु देश में रह कर भी लिखने वाले लेखक विदेशी भूमि पर साहित्य लिख सकते हैं। ऐसे में विषयवस्तु को ध्यान में रख कर साहित्य का मूल्यांकन करना सटीक नहीं लगता किन्तु प्रवासी साहित्य के अध्ययन के क्रम में स्वदेशी अनुराग और खुद को पूर्ण रूप से विदेशी न बना पाने की जद्दोजहद इस साहित्य की विशेषता रही है । यही कारण रहा है कि कुछ आलोचकों ने प्रवासी साहित्य को विषादों का साहित्य भी कहा अर्थात् जिसे मूल रूप से नास्टेलिज्या से जोड़ कर देखा

---

<sup>444</sup> <http://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B5%E0> 15-03-2020



गया । इसमें मुख्य रूप से राजेन्द्र यादव का नाम लिया जा सकता है । इस पर साहित्यकार आलोचक कमल किशोर गोयनका लिखते हैं -

जैसे कि पहले ही स्पष्ट किया गया कि प्रवास प्रारम्भिक प्रक्रिया है जिसमें अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मनुष्य ने ऐसा किया होगा । यह कोई नवीन संकल्पना नहीं है । किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति का विकास 19वीं शताब्दी में होता है । इसके पीछे भारतीयों का गिरमिटियाँ मजदूर के रूप में विदेशों में लेकर जाना रहा । यह मजदूर मूल रूप से अग्रीमेन्ट के तहत यहाँ से वहाँ ले जाए गए । इसलिए इन्हें गिरमिटिया मजदूर कहा गया । कुछ लोग इसका आशय अल्पकालिक प्रवास को मानते । किन्तु कुछ समय व्यापार या वाणिज्य तहत लोगों का विदेशों में जाना प्रवासन भले ही कहा जा सकता है किन्तु इनके द्वारा लिखित साहित्य को प्रवासी माना जाए या न जाए यह आज भी विचार का मुद्दा बना हुआ है । किन्तु अनुसंधान करते हुए यह पाया गया कि साहित्य की दृष्टि से प्रवासी साहित्य का 'यात्रा साहित्य' से संबंध जुड़ता है । कई लोग इन दोनों में अंतर न कर पाते हुए दोनों को एक ही मान लेते हैं ।

आज प्रवासी और अप्रवासी जैसी बहस साहित्य में देखने को मिल रही है । इसमें अप्रवासी से तात्पर्य स्थायी प्रवासन से रहा है । पहले पहल प्रवासी साहित्य के अंतर्गत विदेशों में जा कर रह रहे साहित्यकारों का अनुभव और समस्याएं रही जिनका संबंध अल्पकालिक प्रवासन से रहा । किन्तु बाद के दौर में प्रवासी साहित्य का संबंध स्थायी प्रवासन से रहा है । प्रवासी साहित्य के समक्ष कई सारी समस्याओं के बीच यह समस्या भी पनपी है कि प्रवासी साहित्य किसे कहा जाए ? प्रवासी साहित्य के मानदंड क्या होना चाहिए ? इसके अंतर्गत किस तरह के विषयों को प्रमुखता दी जानी चाहिए?

“प्रवासी साहित्य की संवेदना, सरोकार, परिवेश, जीवन-दृष्टि एवं मूल्य आदि की अपनी विशिष्टता है जो भारत के लिए नए प्रकार का साहित्य है । प्रवासी लेखक अनेक बार स्वदेश-प्रेम के द्वन्द्व में जीते हैं और नई-नई अनुभूतियों, तनावों, विसंगतियों एवं संघर्षों से गुजरता है और रचना नए भाव-बोध, नया दृष्टिकोण, नए जीवन-मूल्य तथा नए जीवन के साथ अवतरित होती है ।... यह न तो द्वितीय कोटि का साहित्य है, न आरक्षण का और न अघाए लोगों का और न हिंदूवादी साहित्य है, जैसा कि राजेन्द्र यादव ने 'हंस' में लिखा था । यह भारतीय मन से रचा नई वैश्विक, अनुभूतियों का साहित्य है और भारतीय चित्त-दृष्टि से निर्मित साहित्य-संसार है । यह हिन्दी साहित्य की एक नई दिशा है -व्यापक

और घनीभूत, प्रवाहवान एवं गतिशील तथा हिन्दी विश्व की रचना के लिए संकल्पशील  
।<sup>445</sup>

हिन्दी में प्रवासी साहित्य की जानकारी भले ही पं. बनारसी दास चतुर्वेदी के प्रयासों से मिलती हैं। किन्तु प्रवासी साहित्य की शुरुआत सन् 1914 में फीजी द्वीप में 'मेरे इक्कीस वर्ष' पुस्तक से इसका विकास मानना कहीं न कहीं इस तर्क की पुष्टि करता है। बाद में चतुर्वेदी जी ने 'प्रवासी भारतीय में' (1918), 'फीजी में भारतीय', 'फीजी की समस्या' जैसी पुस्तक लिखकर प्रवासी साहित्य की पृष्ठभूमि को पैदा किया। गांधी जी का अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों के विद्रोह की अनुगूँज पैदा करना तथा उनकी समस्याओं तथा अपनी पहचान को बनाए रखने की जद्दोजहद ने प्रवासियों के भीतर प्रवासी चेतना को पुष्ट और साहित्य के लिए, एक नए विषय को बढ़ावा मिला। चतुर्वेदी जी के तर्ज पर 1926 में 'चाँद' का नवंबर अंक प्रवासी पर प्रकाशित होता है। इस संदर्भ में प्रेमचंद की मॉरीशस के प्रवासी भारतीयों पर 'शूद्रा' कहानी छपी।<sup>446</sup>

मॉरीशस में 'दुर्गा' (1935-38) हस्तलिखित पत्रिका आरंभ हुई। इस पत्रिका का उद्देश्य हिन्दू, हिन्दी, हिंदुस्तानी रहा। प्रवासी साहित्य की शुरुआत मॉरीशस में ही होती है। 'मॉरीशस की पहली रचना 'होली' कविता तथा पहला लेख 'सत्य होली' है जो हिंदुस्तानी पत्र के 2 मार्च 1913 के अंक में छपे थे।'<sup>447</sup> मॉरीशस की कविताओं में स्वजातीय प्रेम, धर्म एवं भाषा की रक्षा, एकता, स्वतंत्रता आदि मुद्दों पर काव्य लिखा जाना प्रारंभ हुआ। रसपूँज की कविताएं ठेठ बिहारी भाषा में लिख कर हिन्दी भाषा को समृद्ध करने का कार्य किया। प्रवासी हिन्दी कविता के आधुनिक काल की शुरुआत 1968 से होती है।

भारतीय डायसपोरा का एक लंबा इतिहास रहा है। "उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के कारण उन्नीसवीं सदी में बहुत बड़ी संख्या में भारतवासियों को अनुबंध की शर्तों में बंधे हुए बंधुआ श्रमिक के तौर पर ब्रिटिश उपनिवेशों के बागानों में काम करने के लिए भेजा गया था। इस डायसपोरा का एक हिस्सा ऐसा भी है जिसे तिजारती श्रेणी में रखा जाएगा। इसके तहत वे भरतवंशी आते हैं जो अपनी व्यापार और व्यवसायगत योग्यताओं के

<sup>445</sup> समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी 2019, पृ. सं.-33

<sup>446</sup> समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी 2019, पृ.सं. 25

<sup>447</sup> समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी 2019, पृ.सं.-27

आधार पर विदेशों में बेहतर अवसरों की तलाश में गए थे।”<sup>448</sup> प्रवासन की प्रारम्भिक परंपरा आलोचकों ने मूल रूप से अग्रीमन्ट के तहत मजदूरों को विदेशों में भेजे जाने से रहा है। इसलिए 1834 से 1918 के बीच के समय को आलोचकों ने मूल रूप से प्रवासन की प्रक्रिया माना है। अनुसंधान करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक दौर में अग्रीमन्ट के तहत ले जाए जाने के कारण उन्हें गिरमिटिया मजदूर कहा है। यह प्रक्रिया मूल रूप से जबरन रही है किन्तु आर्थिक स्थिति का सही न हो पाना उनके लिए प्रवासन की समस्या को प्रस्तुत करता है, इसलिए वे प्रवासी कहलाये। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का इतिहास गवाह है कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के बीच ही गांधी ने अहिंसक आंदोलन और सत्याग्रह के सबसे पहले प्रयोग किये थे। किन्तु वैज्ञानिकता इस दौर में विदेशों के प्रति आर्थिक लालच ने लोगों को ज्यादा आकृष्ट किया। किन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि तब भी प्रवासियों की संख्या बहुत कम थी मूल रूप से अल्पकालिक प्रवासियों की संख्या ज्यादा थी। तब प्रवासन की आकांक्षा के केंद्र में स्वैच्छा से लिया गया प्रवासन ही रहा है। 1980 के बाद भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने वैश्विक बाजार से आकर्षित युवा वर्ग प्रवासन को आवश्यकता के पर्याय के रूप में देखता रहा। साथ ही उपभोक्तावादी समाज ने पैसे और कैरियर के प्रति जो मोह लगाया था उसका निदान अमेरिका जैसे विकसित देशों से ही पूरा हो सकता है। साथ ही इस खुले बाजार ने लोगों को आमंत्रित किया जिससे भारत का युवा वर्ग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इसलिए यह अवश्य कहा जा सकता है अमेरिकी संस्कृति तथा पाश्चात्य संस्कृति के आगमन ने लोगों को 80 के दशक के बाद ज्यादा प्रभावित किया है। इसलिए ये देखा जा सकता है प्रारम्भिक दौर में प्रवासन जहां फीजी, मोरिसूस, आफ्रिका आदि देशों में रहा वहीं अभी इंग्लैंड, अमेरिका, चीन, आस्ट्रेलिया जैसे देशों में प्रवासन की संख्या बढ़ी है।

### 7.5.2 साहित्यिक साक्ष्य

‘हवन’ उपन्यास सुषम बेदी के द्वारा प्रवासी जीवन पर लिखित महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में ‘प्रवासी’ भारतीयों के जीवन मूल्य तथा अमेरिकी भूमि में विदेशी संस्कृति को न स्वीकार कर पाने की अक्षमता तथा भारतीय प्रवासियों की आंतरिक मनोदशा का चित्रण उपन्यास को ज्यादा महत्वपूर्ण और सजीव बनाता है। यह उपन्यास प्रवासी

<sup>448</sup> <http://hi.m.wikipedia.org> 10-05-2022

जीवन पर अपेक्षित कमी को पूरा करने में समर्थ है। साथ ही यह उपन्यास मूल रूप से प्रवासी स्त्री की आंतरिक और बाहरी समस्याओं का मनोवैज्ञानिक तरीके से विश्लेषण करता है।

विदेशों में भारतीय प्रवासियों का अपनी संस्कृति और परंपरा को बनाये रखने की जद्दोजहद प्रमुख है। इस उपन्यास में भारतीय प्रवासियों की अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम और अमेरिकी संस्कृति में हो रहे घुटन को प्रस्तुत किया गया है। “पैंट या स्कर्ट में गुड़डो खुद को कोई और ही लगती थी। दोगली भाषा, अब दोगला पहनावा। गुड़डो को अपने जिस्म पर अमेरिकी कपड़े फबते ही नहीं थे। शरीर की बनावट कुछ ऐसी थी जहां साड़ी-कुरते में जिस्म ठीक-ठाक लगता था, वहाँ पैंट-स्कर्ट में पेट बाहर निकला-सा लगता। यूं चीनी, जापानी, वियतनाम या और किसी भी देश के लोग यहाँ अमेरिकी कपड़े ही पहनते थे, चाहे जैसे भी शरीर हों।”<sup>449</sup> गुड़डो अमेरिकी भूमि में अपने को ढालने की हर संभव प्रयास करती है किन्तु मन में दूसरी भाषा और संस्कृति को अपने में नहीं ओढ़ पाती है।

बहरहाल उपन्यास को पढ़ने के दौरान यह स्पष्ट हुआ कि प्रत्येक प्रवासी की आकांक्षा यही रहती है कि वह एक ऐसे समूह का निर्माण करे जहां वह खुद सांस्कृतिक और संवेदनात्मक दृष्टि से सुख प्राप्त कर पाए। विदेशों में भारतीयों का मंदिर, हवन, पूजा आराधना और इसी बहाने सभी भारतीयों का एकजुट होना इसी सांस्कृतिक विरासत के प्रति अनुराग को व्यक्त करता है। प्रारम्भिक दौर में प्रवासी मजदूरों का ‘रामचरित मानस’ को लेकर जाना तथा उसका पठन पाठन इसी सांस्कृतिक अनुराग और प्रेम को व्यक्त करता है। गुड़डो सहित डॉ. जुनेजा की माँ तथा अन्य सदस्यों का अमेरिकी भूमि में हवन और पर्व-त्योहारों का एक साथ मनाना इसकी पुष्टि करता है।

एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह स्थापित हो जाना क्या इतना आसान होता है? गुड़डो के लिए भी यह आसान नहीं था उसे “कंकरिले पत्थरों की ऊंची-ऊंची इमारतों से सिले इस शहर ने एक अजीब उदासी और घुटन का अहसास दिया था।”<sup>450</sup> ऐसा नहीं है कि उसने यह पहली बार अनुभव किया था। 10 साल अमेरिका में रहने के बावजूद भारत की याद उसे आज भी तरोताजा कर देती है और अमेरिका आज भी उसके लिए अजनबी बना हुआ है। “बर्फ पड़ने लगी थी। गुड़डो को चंडीगढ़ और उसकी सर्दियों की गुनगुनाती दोपहर

<sup>449</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-64

<sup>450</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-12

याद आती । बाहर लॉन में चारपाई डलवाकर धूप सेंकने का भी अपना मज़ा था । फिर किसी फेरीवाले की आवाज सुनकर उसे बुलाना और भुनी मूंगफली, मुरमुरे या गज़क खरीदकर चबाते रहना ... ये छोटी-छोटी बातें बड़े मीठे-से अनुभव बन कर स्मृति के कैमरे के फोकस में आ जातीं । कभी कोई पड़ोसन आकर बैठ जाती ... लेकिन यहाँ कभी कोई बिना सूचना दिए किसी के घर थोड़े ही जा सकता है । .. रिश्तों में सहजता और अनौपचारिकता की बहुत कमी महसूस करती थी गुड्डो ।<sup>451</sup> देश की प्रत्येक यादों को गुड्डो अपने में सँजोए रखती है । यह वही यादें हैं जिसमें अपनत्व का अहसास है जो उसे कभी अमेरिका में रहने के बाद नहीं हुआ । यह स्थिति अमूमन प्रत्येक प्रवासी की होती जो एक समय में भले ही कितना क्यों न विदेश के प्रति आकर्षित हो किन्तु अपना देश उसे याद अवश्य हो आता है ।

प्रवासियों को विदेशी सभ्यता को अपनाना जितना कठिन होता है उससे कहीं ज्यादा समस्या उन्हें रोजगार के क्षेत्र में उठानी पड़ती है । नौकरी के तलाश में आए भारतीयों को अमेरिका में बहुत पापड़ बेलना पड़ता है । गुड्डो, गुड्डो के जीजाजी, अणिमा, तमीना, अनुज तथा राकेश को अमेरिका में नौकरी मिलने में बहुत परेशानी हुई थी । “काफी धक्के खाने के बाद जीजाजी को एक ‘रेजिडेंशियल इमारत’ में डोरमैन की नौकरी मिल गई । शुरू में ऐसी किसी नौकरी करने के हक में वह नहीं थे, पर जब कहीं कुछ बना नहीं तो लगा निजात इसी में है कुछ आमदनी का जरिया तो बनेगा ।”<sup>452</sup> सबसे बड़ी समस्या भारतीयों की यह है कि विदेशों में उन्हें अपनी योग्यता के हिसाब से नौकरी मिलने में बहुत परेशानी होती है । “गरीबी, बेकारी और प्रवासियों की भरमार ने यहाँ के सचेत युवक को बड़ा कंजरवेटिव बना दिया था .. नौकरियों की दिन पर दिन कमी और लगातार नए प्रवासियों के आगमन ने कहीं-कहीं इस युवा वर्ग को अमेरिका की इस प्रवासी स्वागत नीति के खिलाफ भी कर दिया था ।”<sup>453</sup> इस उपन्यास में अमेरिका का हवाला देते हुए यह स्पष्ट किया गया कि इसके पीछे अमेरिका में रहनेवालों की भारतीयों के प्रति दोयम दृष्टि काम करती है । एक ओर जहां उनका उदारवादी तरीका दिखाना रहा दूसरी तरफ नस्लीय भेदभाव प्रवासियों के लिए घातक सिद्ध होता है । यहाँ तक कि उदारवादी सोच वाला अमेरिका कतई यह नहीं

<sup>451</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-54-55

<sup>452</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-15

<sup>453</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-86

चाहता कि भारतीय कभी नंबर 1 पर रहे । साथ ही अमेरिका में आए प्रवासियों के लिए रोजगार के साधन तक सुनिश्चित किये गए हैं । कई बार प्रवासियों को मिलती रोजगार की अधिकता अमेरिकी के लिए आँखों की किरकिरी भी बन जाती है । अमेरिका भले ही बाहर से कितनी भी चकाचौंध रहने वाला क्यों न दिखाई दे किन्तु वहाँ भी ऐसी कई समस्याएँ हैं जो हैरतंगेज हैं । जैसे - डाका और लूटने वालों की अधिकता, बलात्कार जैसे बढ़ते जघन्य अपराध, नशापान की अधिकता आदि । इस उपन्यास में ऐसे कई संदर्भ आते हैं जहाँ ऐसे अपराध की बढ़ती स्थिति को दिखाया गया है । अमेरिका में काम करते हुए गुड्डो को कई बार लुटेरों का सामना करना पड़ा है । सोचने वाली बात तो यह है कि धन-धनाढ्य से सम्पन्न देश में ऐसी स्थिति कैसे और क्यों बढ़ती जा रही है ? लेखिका इसकी वजह को स्पष्ट करती हुई बताती हैं कि कम उम्र में माँ बनने वाली बच्चियों से पैदा बच्चे जिनको परवरिश सही से नहीं मिल पाती तथा आर्थिक समस्या के कारण वे लुटेरे बन जाते हैं । स्वतंत्रता के नाम पर लोगों में बढ़ते यौन पिपासु दृष्टि तथा संबंधों की ऊष्मा में कमी, तथा परिवार व्यवस्था में सामाजिक मूल्यों का न होना मूल रूप से इस समस्या को बढ़ावा देता है । भारतीय लोगों की यह धारणा अमेरिका जैसे देशों के प्रति यही रही है कि यहाँ बलात्कार जैसे जघन्य अपराध नहीं होते । किन्तु इस उपन्यास में राधिका के साथ हुई यह घटना उन सभी मान्यताओं को तोड़ देती है । साथ ही उपन्यास में चित्रित पीड़िता के साथ इतनी बद-सलूकी अपने चरम पर है जिससे पीड़िता के चेहरे तक का अंदाजा लगाना कठिन था । 'नशापान' अमेरिका की संस्कृति में शामिल है । यहाँ के लोगों में शराब और ड्रग्स की लत बहुत ज्यादा होती है । यह नाशपान की लत यहाँ के युवा वर्ग को बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचा रही है । वर्तमान में जीवित रहने वाला देश भविष्य में ऐसे गर्त में पहुँच चुका होता है जहाँ से निकालना प्रायः असंभव हो जाता है ।

अमेरिका में हर दूसरा आदमी अकेलेपन की समस्या से ग्रसित है । "अकेलेपन पहले खुद चुन लेते हैं ये लोग फिर रह जाते हैं निपट अकेले ।"<sup>454</sup> मुक्ति की चाह में यह समाज अकेलेपन को बढ़ावा दे रहा है । यहाँ ऐसे बहुत सारे वृद्ध-वृद्धा मिलेंगे जो अकेलेपन की कसमसाहट में घिरे रहते हैं । बचपन से जवानी तक स्वतंत्रता का पाठ बुढ़ापे के लिए समस्या बन जाता है । तब अकेलापन बांटने के लिए कोई नहीं होता तथा अकेलापन अपने

<sup>454</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-132

चरम पर पहुँच जाता है। यहाँ आए प्रवासी वर्ग भी अकेलेपन में डूब जाता है जिसको कई बार सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से दूर करने के प्रयास में रहता है। सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि भारतीय प्रवासियों में भी अमेरिकी संस्कृति का प्रभाव इतना पड़ने लगता है कि जिससे परिवार की ऊष्मा में कमी देखी जाती है तथा अहं और अस्मिता जैसे प्रश्नों को तलाशते प्रवासी पारिवारिक जीवन मूल्य को कहीं खो देता है। इस समाज में प्रवासियों को लेकर दूसरी बड़ी समस्या बच्चों को लेकर होती है। अमेरिका में पैदा हुए प्रवासियों के बच्चे जो न तो भारतीय संस्कृति तथा समाज की महत्ता को समझ सकते हैं और न ही अमेरिकी संस्कृति से उनका परिवार उन्हें जुड़ने देता है। उनके मस्तिष्क पर इन दोनों संस्कृति की टकराहट उनके मानसिक द्वन्द्व को बढ़ावा देता है। इस उपन्यास में राधिका का खुद को हिंदुस्तानी न स्वीकार करने की अक्षमता तथा हिंदुस्तानीपन पर पैदा हुई शर्मिंदगी ऐसे बच्चों का प्रतिनिधित्व करती है जो न खुद को पूरी तरह हिंदुस्तानी स्वीकार कर पाते हैं और न अमेरिकी। कई बार अपनी माँ से अपनी स्वतंत्रता को लेकर प्रश्न करने लगती है। अमेरिका के चकाचौंध में गुम राधिका अंत में इस सच से वाकिफ हो जाती है कि यहाँ संवेदना और रिश्तों की नींव खोखली है। जिसके परिणाम स्वरूप मन में पैदा अवसाद और पीड़ा, उसकी मृत्यु का कारण बनता है। गुड्डो का बेटा राजू भी भारतीय परिवेश को छोड़ अमेरिका में अकेला और समाज से कटा-कटा सा रहने लगता है। ये कटाव इतना बढ़ जाता है कि वह अपने परिवार से भी अलग-थलग रहने लगता है। लेखिका इस उपन्यास में आगे स्पष्ट करती हैं कि विदेशों से आए प्रवासी यहाँ का प्रवासी अपने फायदे और तरक्की के मसले में ही व्यस्त है। “यहाँ आकर वह बड़ी स्वार्थी होती जा रही है। चंडीगढ़ में पड़ोसियों, स्कूलों के कुलीग वगैरह के दुःख-दर्दों में न चाहने पर भी शिरकत हो जाती थी। यहाँ किसी तरह का कमिटमेंट है ही नहीं। ज्यादातर हिन्दुस्तानी अपने फायदे और तरक्की के सिलसिले में ही बात करते हैं।.. इनमें कुछेक भारत में अपने परिवारों को पैसा जरूर भेजते हैं-इसके आगे उनकी दुनिया का विस्तार नहीं होता। बस जी-जान लगाकर काम करना और उनसे अपने लिए नई-से-नई सुविधा जुटाना। सभी इसलिए तो आते हैं इस देश में !... अपनी जात, अपने वर्ग, या समाज और परिवार के बंधनों से दायित्वों से निकल मुक्त जीवन जीने।”<sup>455</sup> अमेरिका की आबोहवा में प्रवासी

---

<sup>455</sup> हवन, सुषम वेदी, पृ. सं.-77

भारतीय भी घुलमिल जाते हैं जिससे उनमें भी आत्मकेंद्रित जीवन जीने की लालसा पैदा होने लगती है ।

एक ओर जहां अमेरिका में सांस्कृतिक समस्याओं का प्रवासियों पर प्रभाव को लेखिका दिखाती हैं वहीं दूसरी ओर लेखिका अमेरिका का उदारवादी नजरिए में प्रवासियों के लिए भी कुछ कार्य करती है । अमेरिका में प्रवासियों तथा गरीब नागरिकों के लिए फ़ैडरल सरकार चाइना टाउन में एक ट्रेनिंग की एक योजना बनाई है जिसके तहत शिक्षा अर्जित कर रहे प्रवासियों को सौ डॉलर का वजीफा भी मिलता है । यही कारण रहा है कि अमेरिका जैसे देश में प्रवासियों की संख्या बहुत ज्यादा है अमूमन पंद्रह से ज्यादा देशों के लोग तो न्यूयॉर्क में ही रहते हैं । दूसरी बड़ी विशेषता इस समाज की यह रही है कि इस देश में 45 वर्षीय गुड्डो को नौकरी पाने में कोई समस्या नहीं होती है । आर्थिक रूप से सक्षमता के कारण ही गुड्डो अपनी जिम्मेदारियों को बखूबी रूप से निभा पाती है ।

‘प्राची प्रतीची’ उपन्यास प्रवासी नारी को आधार बना कर लिखा गया है । इस उपन्यास में चित्रित प्रवासी नारी की विदेशी भूमि में नारी अस्मिता और पहचान को लेकर चलने की जद्दोजहद तथा आत्मनिर्भरता की नई उमंग और समकालीन समस्याओं की परवाह किये बिना अदम्य आत्मस्वाभिमान को दिखाया गया है । इस उपन्यास में ओडिशा से अमेरिका की ओर प्रवासित दंपति की कथा को आधार बनाया गया है । लेखिका इस उपन्यास में जहां स्त्री के पक्ष को आधार बनाते हुए यह स्पष्ट करती हैं कि नारी आर्थिक और अस्मितात्मक लड़ाई की दृष्टि से अमेरिका में जितनी स्वतंत्र है शायद ही भारतीय परिप्रेक्ष्य में उतनी स्वतंत्र हो । इस उपन्यास में वन्या को लेखिका 41 के उम्र में दिखाती हुई यह स्पष्ट करती है कि भारत में यह बात आश्चर्य करने वाली हो सकती है किन्तु अमेरिका जैसे देश में यह आम बात है । साथ ही लेखिका इस ओर भी इशारा करती हैं कि औरत भले ही भावनात्मक दृष्टि से कमजोर रही हो किन्तु उसमें भी अदम्य साहस भरा है, यह संभव आर्थिक रूप से सक्षम होने की वजह से भी रहा है । वन्या के पति से उसका विवाह विच्छेद होने के उपरांत बैंक की नौकरी ही उसका एक मात्र सहारा रहा है । अकेलापन एक ऐसी स्थिति है जिसे काटना बहुत ही मुश्किल रहा है किन्तु अमेरिकी देश में अकेलेपन से हर दूसरा आदमी ग्रसित है । इसका कारण बताते हुए लेखिका बताती हैं कि “अमेरिका आने के बाद वन्या समझ चुकी थी कि इस देश की संस्कृति व्यक्तिगतता पर ही आधारित है -‘me, myself and I’ बचपन से ही इस देश में सभी को यही सिखाया



जाता है । प्राइमेरी स्कूल में भी । खुद की परवाह खुद को ही करना है । खुद को लेकर खुद को ही सजग और सावधान रहना है । खुद को स्वयं ही गढ़ना है । खुद अगर स्वस्थ हो पृथ्वी भी स्वस्थ है । इसलिए सब खुद पर ही पैसा खर्च करते हैं । खुद के लिए ही समय निकालते हैं ।<sup>456</sup> एक तरह ये आत्मकेंद्रित समाज जहां एक तरफ अकेलेपन को बढ़ावा देता है वहीं दूसरी तरफ खुद को आत्मसक्षम भी बनाता है । वन्या अमेरिका में अपने घर के कामों के लिए काम करने वाली ढूंढती है किन्तु अमेरिका जैसे देश में जो आत्मसक्षमता को बल देता है वहाँ मैड का मिलना बहुत मुश्किल था । वैसे भी यहाँ वही लोग मैड बनते हैं जो खुद ही प्रवासित हो कर आते हैं । जिन्हें भी चोरी छिपे काम करने के लिए रखना पड़ता है । प्रवासी भारतीय निर्भरशील समाज को आत्मनिर्भरता को स्वीकार करने में कई मामलों में तकलीफ होती है । स्त्री को जहां भारतीय परिप्रेक्ष्य में निर्भरशील लता के रूप में स्वीकार किया जाता है वही लता इस भूमि में खुद को पेड़ बनाने की क्षमता रखती है ।

प्रवासी उपन्यासों को पढ़ने के दौरान यह स्पष्ट हो पाया कि प्रत्येक प्रवासी विदेशों में जाकर अधिक से अधिक पैसे संचय करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है । “वन्या ने लक्ष्य किया है कि अमेरिका में रहने वाले और नौकरी करने वाले मध्यवर्गीय स्त्रियों में कितने लोग अवश्य अपने पोशाक को लेकर ध्यान देते हैं, किन्तु अधिकांश प्रतिक्रिया शून्य हैं । डॉलर संचय करने के नशे में वे खुद पर पैसा खर्च करना भी भूल जाते हैं ।”<sup>457</sup> ऐसा इसलिए भी क्योंकि मध्यवर्गीय भारतीय समाज ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाने की लालसा में ही विदेश में आता है साथ ही ज्यादा पैसा कमा कर पुनः भारत लौटने की कोशिश में रहता है किन्तु समय के चक्र तथा डॉलर का नशा उन्हें कई बार विदेशी भूमि में रहने के लिए मजबूर भी करता है । वन्या डॉलर से आसक्त नहीं है और न ही अमेरिका की भूमि में वह अपनत्व का अहसास कर पाती है । कई बार मन अपने देश की तरफ झुकता है किन्तु विवाह विच्छेद के बाद इस बीच खुद को बहुत आत्मनिर्भर बना चुकी है । इस आत्मनिर्भरता के कारण अकेलेपन को झेलती वन्या खुद को बहुत कठोर और मजबूत बना चुकी है । साथ ही भारत में आ कर कहीं वह दया का पात्र न बन जाए यह सोच संभवतः उसे विदेश छोड़ने की इजाजत नहीं देता ।

<sup>456</sup> प्राची प्रतीची, सुस्मिता बागची, पृ. सं. -129

<sup>457</sup> प्राची प्रतीची, सुस्मिता बागची, पृ. सं. -129

लेखिका ने विवाह-विच्छेद के कारणों को तलाश में सौरभ का दूसरी अमेरिकन लड़की एमिली के प्रति बढ़ते प्रेम और संबंध को बताया है जहां एमिली सौरभ के बच्चे की माँ बनने वाली होती है ऐसे में सौरभ वन्या को डिवोर्स देना चाहता है । इस देश में डिवोर्स की घटना चमकाने वाली नहीं है किन्तु भारतीय संस्कृति में पली बड़ी वन्या के लिए यह घटना हृदय विदारक रही । पाश्चात्य विवाह व्यवस्था तथा संबंधों में ऊष्मा की कमी आदि को वन्या ने अनुभव किया था । उसने यह भी देखा था कि लोगों में विदेशियों के प्रति लालच ने एक नई समस्या को जन्म दिया है । ग्रीन कार्ड पाने की लालसा में प्रवासियों का अमेरिकी लोगों से विवाह करना और बाद में उनसे अलग हो जाना एक नई समस्या को बढ़ावा दे रहा है । इसलिए भी संबंधों की पवित्रता और आवश्यकता यहाँ कोई मायने नहीं रखती । बहरहाल इस अमेरिकी समाज में एक्स्ट्रा मेरिटल अफेयर को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता इसलिए लड़की के हक में पुरुष को हरजाना भरना पड़ता है । वन्या एक ऐसी औरत है जो विदेशी भूमि पर भी अपनी सांस्कृतिक मूल्यों को सँजोती आई है । यही कारण रहा जिसकी वजह से किसी और पुरुष को वह अपने जीवन में आने नहीं देती है ।

एक ओर जहाँ लेखिका कई मामलों में अमेरिका के समर्थक दिखाई देती हैं तथा वहाँ की उदारता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता, विदेशी टेक्नॉलजी आदि को अधिक महत्त्व देती है वहीं अमेरिका के कुछ सांस्कृतिक मूल्यों की मुखालफत भी करती हैं । उधार की कील पर चढ़ा अमेरिका लोगों में क्रेडिट कार्ड के नाम पर जो लालच देता आया है उसकी घोर विरोधी वन्या रही है । ये क्रेडिट कार्ड के जाल में न पड़ने के लिए अपने बेटे सोमू को भी समझाती रहती है । उसने देखा है आँजेला जैसे कम उम्र के लड़की-लड़के क्रेडिट कार्ड को लेकर कितने उत्साहित होते हैं किन्तु उसका परिणाम क्या होता है बैंक में नौकरी करने के कारण वन्या इससे बखूबी रूप से परिचित है । “आज पाँच डॉलर, कल दस डॉलर -ऐसे होते होते जब पैसे हजार-हजार डॉलर में पहुँच जाता है, तभी उनकी बुद्धि काम करती है । किन्तु उस समय बहुत देर हो चुकी होती है । क्रेडिट कार्ड के विषैले दाँत शरीर के भीतर घुस गए होते हैं । ऋण जैसे ऑक्टोपस के बंधन में लोग बंध कर उसमें रह जाते हैं । उस बंधन से निकलना इतना आसान नहीं होता ।”<sup>458</sup> इसलिए वन्या युवा हो रहे पीढ़ी को इसके संबंध में नई शिक्षा देना चाहती है ।

<sup>458</sup> प्राची प्रतीची, सुस्मिता बागची, पृ. सं. -216

प्रवासी बच्चों की समस्या को भी इस उपन्यास में चित्रित किया गया है । मार्गरेट (पात्र) के माध्यम से लेखिका स्पष्ट करती हैं कि कई ऐसे प्रवासी बच्चे होते हैं जिन्हें अपनी भाषा के अतिरिक्त विदेशी भाषा का ज्ञान नहीं होता तथा उस भाषा को सीखने में बहुत परेशानी भी होती है ऐसे में विदेशी बच्चों को चिढ़ाना उनकी मानसिक स्थिति को असंतुलित कर देता है । ऐसे में प्रवासी बच्चों के समक्ष कई सारी समस्याएं आती हैं ।

## अष्टम अध्याय

### चयनित उपन्यासों में सांप्रदायिकता, शरणार्थी-प्रसंग, अल्पसंख्यक-अस्मिता और कश्मीर का संदर्भ

8.1 सांप्रदायिकता संबंधी उपन्यास

8.1.1 सांप्रदायिकता की अवधारणा

8.1.2 उपन्यासों में सांप्रदायिकता का संदर्भ

8.2 शरणार्थी जीवन पर आधारित उपन्यास

8.3 अल्पसंख्यक-अस्मिता संबंधी उपन्यास

8.3.1 ऐतिहासिक-परिप्रेक्ष्य

8.3.2 विवेच्य उपन्यास

8.4 विवेच्य उपन्यास में कश्मीर-संदर्भ

इस अध्याय के अंतर्गत सांप्रदायिकता और शरणार्थी, अल्पसंख्यक विमर्श और कश्मीर प्रसंग को दिखाया गया है । प्रत्येक विषय एक दूसरे से जुड़े हुए हैं जैसे - अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की राजनीति से अल्पसंख्यक विमर्श भी जुड़ता है और सांप्रदायिकता भी । वहीं सांप्रदायिकता और अल्पसंख्यक विमर्श से कश्मीर भी संबंधित है क्योंकि कश्मीर में एक ओर जहां सांप्रदायिक वातावरण फैला हुआ है वहीं बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की राजनीति के तहत कश्मीर पंडित प्रताड़ित रहे हैं । सांप्रदायिक हिंसा और विभाजन से पनपा शरणार्थी प्रसंग कश्मीर से भी जुड़ता है । इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति आपस में एक-दूसरे से जुड़े होने के कारण इस अध्याय में इन सभी प्रवृत्तियों को आधार बनाया गया है । इस अध्याय में सांप्रदायिकता की अवधारणा, संप्रदाय, धर्म और सांप्रदायिकता का अन्तः संबंध, चयनित उपन्यासों में चित्रित सांप्रदायिकता का स्वरूप, सांप्रदायिकता से पनपा शरणार्थी प्रसंग तथा चयनित उपन्यासों में शरणार्थी समस्याएं और उत्पीड़न, अल्पसंख्यक विमर्श की अवधारणा तथा हिन्दी उपन्यासों में अल्पसंख्यक वैचारिकी का विकास तथा मुद्दे, कश्मीर में सांप्रदायिकता का स्वरूप, कश्मीरियों की सुरक्षा का प्रश्न, कश्मीर की आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक बिगड़ती स्थिति, अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की राजनीति में पीसते कश्मीरी पंडित आदि का चित्रण इस अध्याय में किया गया है ।

## 8.1 सांप्रदायिकता का संबंधी उपन्यास

### 8.1.1 सांप्रदायिकता की अवधारणा

सांप्रदायिकता पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि इसका संबंध आधुनिक राजनीति से है। इस संदर्भ में असगर वजाहत कहते हैं कि -“भारतीय संदर्भ में दो धार्मिक समुदायों के बीच धर्म तथा अन्य सामाजिक मान्यताओं में मतभेद के कारण जन्मे वैमनस्य और हिंसा सांप्रदायिकता का आधार बनते हैं।”<sup>459</sup> कई लोग संप्रदाय और सांप्रदायिकता को एक समझते हैं किन्तु शब्दकोश के अनुसार “परंपरा से चला आया हुआ ज्ञान, मत सिद्धांत, गुरु परंपरा से मिलने वाला उपदेश, मंत्र, किसी धर्म के अंतर्गत कोई विशिष्ट मत या सिद्धांत। उक्त प्रकार के मत व सिद्धांत को मानने वालों का वर्ग या समूह।”<sup>460</sup> संप्रदाय धर्म की ही एक शाखा है जिसे अलग करके नहीं देखा जा सकता। धर्म के प्रति भारतीय दृष्टिकोण व्यापक माना जाता है जबकि संप्रदाय एक सीमाओं में आबद्ध है। “संप्रदाय किसी महापुरुष के द्वारा संस्थापित होता है। इनमें देश काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के कारण एक संप्रदाय में अनेक शाखाओं का प्रादुर्भाव होता है। उनमें वाद-विवाद जन्म लेने लगता है। इसका कारण यह है कि पवित्र या विशुद्ध ‘संप्रदाय’ कालांतर में चल कर मनुष्य के प्रदूषित भावनाओं का शिकार हो जाता है।”<sup>461</sup> संप्रदाय की एक सीमा यह भी है कि प्रत्येक संप्रदाय स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरे को निकृष्ट मानने लगता है। यही श्रेष्ठ रूप जब उग्र रूप लेता तो वह सांप्रदायिक बन जाता है।

आज जिसे सांप्रदायिकता कहा जा रहा है, उसमें विध्वंसात्मक रूप विद्यमान है, जिसमें धर्म और संप्रदाय के नाम पर पूरे राष्ट्र के हितों के विरुद्ध तथा अपनी धार्मिक आस्था को संरक्षण और प्रोत्साहित करने की भावना है। एक धर्म या समुदाय के लोगों द्वारा दूसरे धर्म या समुदाय के लोगों के विरुद्ध किये गए शत्रु भाव को सामान्य दृष्टि से सांप्रदायिकता कहा जाता है। सांप्रदायिकता अब एक ऐसी विचारधारा है जिससे राजनीतिक स्वार्थ को पूरा किया जा रहा है जिससे समाज में हिंसा बढ़ती जा रही है। सांप्रदायिकता में नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्ष शामिल हैं। किसी व्यक्ति या एक समुदाय के

<sup>459</sup> सांप्रदायिकता का हिन्दी पर प्रभाव, पृ.सं.-11

<sup>460</sup> [www.scotbuzz.org/2019/07/sampraday.html?m=1](http://www.scotbuzz.org/2019/07/sampraday.html?m=1)

<sup>461</sup> [www.scotbuzz.org/2019/07/sampraday.html?m=1](http://www.scotbuzz.org/2019/07/sampraday.html?m=1)

समूहों द्वारा अपने समुदाय के उत्थान के पक्ष शामिल होते हैं। वहीं दूसरी ओर नकारात्मक पक्ष में प्रत्येक समुदाय अन्य समुदाय से अलग अपनी धार्मिक पहचान पर अधिक बल देता है तथा स्वयं को शक्तिशाली और तार्किक सिद्ध करते हुए दूसरे के व्यक्तित्व तथा धर्म को आधारहीन, शक्तिहीन, निरर्थक समझता है। इस सांप्रदायिकता में दूसरे समूह के हितों को नजरअंदाज कर अपने हितों की आपूर्ति की जाती है।

सांप्रदायिकता के इतिहास को अगर टटोला जाए तो यह देखा जाएगा कि प्राचीन काल से ही सांप्रदायिक हिंसात्मक लड़ाइयाँ होती रही हैं जिसमें वैष्णवों (सनातन) -बौद्धों के बीच हुए संघर्ष को देखा जा सकता है। मुगलों के आगमन के साथ भी धार्मिक स्थलों की लूटपाट, हिन्दू राजाओं का शोषण तथा जबरन धर्मांतरण की शुरुआत ने हिंदुओं के मन में सांप्रदायिकता के बीज बो दिए थे किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि सांप्रदायिक लड़ाइयाँ इस दौर में नहीं हुईं साथ ही ऐसे कई मुगल बादशाह रहे जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को बनाए रखने की कोशिश की। किन्तु अंग्रेजों ने अपनी सत्ता को बरकरार करने के लिए सांप्रदायिक चिंगारी को हवा दी इसने आग का रूप लिया। इसी का परिणाम था कि वर्ष 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई तथा 1909 में मार्ले-मिंटो सुधार के तहत पृथक निर्वाचन की बात की गयी। 1940 में लाहौर अधिवेशन में पृथक राज्य के रूप में एक मुस्लिम राष्ट्र पाकिस्तान की मांग ने सांप्रदायिकता को पृष्ठभूमि प्रदान की। “इस युग की सांप्रदायिक ताकतों ने अविश्वास, घृणा और हिंसा फैलाने के लिए जिन मुद्दों का प्रचार किया था उनमें पहला भ्रामक मुद्दा था कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्रीयताएँ हैं और ये दोनों एक साथ नहीं रह सकती। इस कारण भारत का विभाजन आवश्यक है।”<sup>462</sup> 1947 में विश्व के पन्नों पर खून का इतिहास लिखा गया। इस दौर में सबसे ज्यादा नर संहार हुआ। सांप्रदायिकता की जो शुरुआत यहाँ से हुई वह आगे और उग्रतर रूप लेती गयी जिसमें प्रमुख रूप से 1984 में सिख विरोधी दंगे, 1989 में कश्मीरी पंडितों का शोषण और विस्थापन, 1992 में बाबरी मस्जिद विवाद को लेकर हुए दंगे, 2002 में गुजरात में हुए दंगे, 2007 कंधमाली ओड़िशा में ईसाइयों और हिंदुओं के बीच दंगे, 2016 कलियाचक दंगे पश्चिम बंगाल में जहाँ 500 घरों को आग के हवाले कर दिया था, सन् 2018 के बिहार दंगे आदि। इन दंगों में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों ही वर्गों

---

<sup>462</sup> सांप्रदायिकता का हिन्दी पर प्रभाव, पृ.सं.-11

के लोगों का नुकसान हुआ । कई आलोचक 80 के दशक से बढ़ते सांप्रदायिकता के उग्र रूप को 'उग्र सांप्रदायिकतावाद' की संज्ञा देते हैं ।

## 8.2 उपन्यासों में सांप्रदायिकता का संदर्भ

हिंदी साहित्य में सांप्रदायिकता पर बहुत सारे उपन्यास लिखे गए जिसमें हिन्दू सांप्रदायिकता और मुस्लिम सांप्रदायिकता पर बहसें चली हैं । इन वैचारिक मुद्दों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि उपन्यास विधा में सांप्रदायिकता को लेकर पुरजोर विरोध हुआ है । चाहे इसके लेखक विभिन्न धार्मिक समुदाय से ही क्यों न हों । इस संबंध में पुष्पपाल सिंह लिखते हैं कि "देश में कहीं भी हो रही सांप्रदायिक हिंसाओं का तीव्र विरोध, गंगा-जमुनी सांझी संस्कृति का रेखांकन और हिन्दू-मुस्लिम के दायरे से ऊपर उठ सम्पूर्ण इंसानियत की पक्षधरता में, हिन्दी उपन्यास पूरी चिंता और गहरे सरोकारों के साथ खड़ा दिखाई देता है ।"<sup>463</sup> असगर वजाहत साहित्य में अभिव्यक्त सांप्रदायिकता को कई चरणों में विभाजित करते हुए उसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । पहल चरण लेखक आजादी के तुरंत बाद लिखे गए सांप्रदायिक विरोधी साहित्य को, दूसरा चरण, आजादी के बाद 70 के दशक में सांप्रदायिक दंगों को माना जा सकता है, तीसरा चरण, बाबरी मस्जिद के ध्वंश के बाद लिखा गया साहित्य को और चौथे चरण में गुजरात नरसंहार के बाद लिखी गयी सांप्रदायिक विरोधी रचनाओं को मानते हैं । आपका कहना था 'सांप्रदायिक ताकतों ने अविश्वास, घृणा और हिंसा फैलाने के लिए भ्रामक मुद्दा प्रचार किया जिसमें पहला मुद्दा हिन्दू और मुसलमानों को दो अलग-अलग राष्ट्रीयता स्वीकारने के साथ दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते जैसी बातें फैलाई गयी । स्वाधीनता के बाद जो सांप्रदायिक विरोधी साहित्य लिखा गया उसके केंद्र में राष्ट्रीयता कभी धर्म का आधार नहीं बन सकती यह सिद्ध करने की कोशिश होती रही ।' आगे लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि "आजादी के बाद हिन्दू सांप्रदायिकता ने मुसलमानों का विरोध दो मुद्दों पर करना शुरू कर दिया था । पहला मुद्दा वह था कि भारत के मुसलमानों को पाकिस्तान चले जाना चाहिए । दूसरा मुद्दा था कि भारत के मुसलमान मन-वचन और कर्म से भारतीय नहीं हैं । वे पाकिस्तान से सहानुभूति रखते हैं । ये दोनों मुद्दे भी उस युग के सांप्रदायिकता विरोधी हिन्दी साहित्य पर छाये रहे ।"<sup>464</sup>

<sup>463</sup> 21वीं शदी का हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ. सं.-95

<sup>464</sup> सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता एवं साहित्य, सं-पी.रवि, वी. जी गोपालकृष्णन, पृ. सं.-12



छठवें और सातवें दशक में लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि इनको इतनी गंभीरता के साथ नहीं लिया गया तथा इनका राजनीतिक लाभ उठा कर वोट बैंक के रूप में इसका इस्तेमाल किया जाता रहा । 8वें दशक में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भयानक दंगे होते रहे किन्तु इसका समाधान नहीं ढूँढा गया इसलिए इस दौर की कहानियों में सांप्रदायिक दंगों के पीछे के कारण और उसका समाधान न ढूँढे जाने पर सरकार पर प्रश्न चिह्न लगाए जाते रहे । सांप्रदायिकता के विरोध में बाबरी मस्जिद पर जो लेखन हुआ उसके संबंध में वजाहत जी लिखते हैं -“दरअसल यह घटना भारतीय सौहार्द, सहिष्णुता, सद्भावना, मिली-जुली संस्कृति की उपलब्धियों, लोकतंत्र की गरिमा, धार्मिक व्याख्याओं और विश्वासों पर इतना बड़ा हमला थी कि उसने बुद्धिजीवियों और जनमानस को विचलित कर दिया था ... इन रचनाओं में क्षोभ और आक्रामकता के स्वरों के साथ-साथ ग्लानि का स्वर भी प्रमुख रूप से सामने आता है । इस संदर्भ में पहली बार रचनाओं में आक्रोश के स्वर बहुत उग्ररूप में मुखरित हुए हैं ।”<sup>465</sup> गुजरात नरसंहार ने सांप्रदायिकता को उग्र रूप दिया जिसमें राज सत्ता की बहुत बड़ी भूमिका थी । इसलिए राज सत्ता की भरसक निंदा इस समय के रचनाकारों ने की । अतः अंत में यही कहा जा सकता है देश में जैसे-जैसे सांप्रदायिकता के रूप बदलते गए वैसे-वैसे साहित्य के तेवर भी बदले तथा साहित्यकार हमेशा से सांप्रदायिक स्वरों का विरोधी होकर मानवतावाद और संवेदना को महत्त्व देता आया है ।

सांप्रदायिकता पर लिखी गयी रचनाओं में -अजेय (भारत-पाक विभाजन सम्बन्धी कविताएँ भी लिखी हैं) की कहानी ‘शरणदाता’, कृष्णा सोबती की कहानी ‘सिक्का बदल गया’, यशपाल का उपन्यास ‘झूठा सच’ और भीष्म साहनी का उपन्यास ‘तमस’ आदि को देखा जा सकता है । भारत-पाक विभाजन और सांप्रदायिक दंगों के इतिहास ने रचनाकारों के जमीर को झिंझोड़ा इस क्रम में ‘झूठासच’, ‘आधागाँव’, ‘काला जल’ जैसी रचनाएँ आयीं । इसी क्रम में ‘शहर में कफरू’, ‘काला पहाड़’, ‘दस बरस का भँवर’, ‘काला पादरी’, ‘पहचान’ और ‘पिघले चेहरे’ को देखा जा सकता है ।

एक ओर जहाँ हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिकता पर लिखा गया वहीं उससे उपजे विस्थापन और शरणार्थी प्रसंग पर भी काफी लेखन हुआ है । क्योंकि इन दोनों को सांप्रदायिकता से अलग करके नहीं देखा जा सकता । कभी-कभी विस्थापन और शरणार्थी

<sup>465</sup> सांप्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षता एवं साहित्य, सं-पी.रवि, वी. जी गोपालकृष्णन, पृ. सं.-14-15

की वजह राजनीतिक अथवा धार्मिकता से अलग आर्थिक भी होती है । किन्तु विभाजन के उपरांत तथा हिंसा से ग्रसित जनता अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यधिक विस्थापित हो कर शरणार्थी की समस्या झेलती है । सबसे बड़ी समस्या तो यह है विभाजन के उपरांत शरणार्थियों की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई है चाहे भारत-पाक विभाजन हो, बांग्लादेश के विभाजन के समय भारत आए शरणार्थी की संख्या हो या रोहिंग्या मुसलमानों की । एक ओर जहां शरणार्थी अपनी नागरिकता, आवसीय आवश्यकता, अस्मिता की तलाश, सांस्कृतिक अस्मिता को संरक्षित रखने की समस्या और सुरक्षा की समस्या से ग्रसित दिखाई देता है वहीं राज्य के स्तर पर पड़ोसी देशों से आए शरणार्थियों की वजह से देश के संसाधनों पर बोझ बढ़ता रहता है । भारत में 1951 में हुए शरणार्थी सम्मेलन और शरणार्थी संरक्षण से संबंधित कानूनी दस्तावेज 1967 प्रोटोकॉल का पक्षकार नहीं करती । भारत सरकार ने CAA को इस संदर्भ में पारित किया है जो भारत के पड़ोस में धार्मिक अल्पसंख्यकों और राज्य द्वारा प्रताड़ित लोगों को नागरिकता देने की बात करता है । कई आलोचक इस नीति को शरणार्थी संरक्षण से नहीं बल्कि शरणार्थी से बचने के अधिनियम के रूप में देखते हैं । इसलिए अंततः यही कहना होगा कि शरणार्थी संरक्षण के लिए देश में उचित कदम नहीं उठाये गए तथा यह भी कहना उचित होगा कि इसमें बिना किसी पक्षपात के नियमों का लागू करना आवश्यक होगा नहीं तो देश में फिर से सांप्रदायिक हिंसा को देखा जा सकता है । विस्थापन और शरणार्थी की समस्या को लेकर साहित्य में भी काफी लेखन कार्य स्वाधीनता के बाद हुए हैं जिसमें अज्ञेय, भीष्म सहानी, कृष्णा सोबती, देवेन्द्र सत्यार्थी, चंद्रकांता आदि लेखकों के साहित्य को इस संदर्भ में देखा जा सकता है । यशपाल का 'झूठा सच' में भी इस संदर्भ को देख सकते हैं । देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली' (1954) उपन्यास इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है इस उपन्यास में पंजाब में हुए दंगे तथा पाकिस्तान से हिंदुस्तान और हिंदुस्तान से पाकिस्तान आने-जाने वाले शरणार्थियों के जीवन की वास्तविकता उजागर हुई है । 'रेणु' के द्वारा लिखित 'जुलूस' उपन्यास पूर्वी पाकिस्तान (बांग्लादेश) से आए शरणार्थियों का चित्रण करता है । 1994 में प्रकाशित 'तकसीम' उपन्यास (द्रोणवीर कोहली), 'मैं बोरिशाइल्ला' (2006), 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' (2017), 'कथा सतीसर' (2007) आदि उपन्यासों को इसी श्रेणी में देखा जा सकता है ।

एक ओर जहां सांप्रदायिकता की एक परंपरा हिन्दी साहित्य में देखी जा सकती है वहीं ओड़िया साहित्य में भी सांप्रदायिकता और शरणार्थी प्रसंग को लेकर लेखन हुए हैं

किन्तु उनकी संख्या बहुत कम हैं। प्राणकृष्ण सामल के द्वारा लिखा गया 'प्रेम' (1947) उपन्यास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष पर आधारित है। इस के बाद 1967 में 'तमसा तीरे' उपन्यास आता है जो सांप्रदायिक संघर्ष और शरणार्थी समस्या पर आधारित है इसमें मानवीयता के उल्लंघन को महत्व दिया गया। देश-विभाजन के समय पूर्वबंग के धर्मांध मुसलमानों की हिंदुओं पर अमानुषिक बर्बरता को इसमें चित्रित किया गया है। दयाल जोशी के द्वारा लिखित 'सतलेज रु जीरा' (1979) उपन्यास में शरणार्थी जीवन को विषयवस्तु बनाया गया है। सांप्रदायिक हिंसा के शिकार हो कर हरभजन सिंह ने अपनी पत्नी चमेली के साथ पश्चिम पंजाब में अकथनीय दुःख झेला है। शेख मतलूब अली के द्वारा लिखित 'झेलम तीरे' उपन्यास सांप्रदायिकता के शिकार हुए लोगों पर आधारित है। 'पिघले चेहरे' उपन्यास में बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों के आन्तरिक पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है। एक ओर जहाँ बहुसंख्यक धर्म, जाति, स्वाभिमान, सांस्कृतिक खतरे जैसे मामलों में उलझा हुआ है वहीं अल्पसंख्यक अपनी असुरक्षा की भावना तथा पहचान के संकट से ग्रसित दिखाई पड़ता है। जैसे बहुसंख्यक को डर है कि कहीं अल्पसंख्यक या निम्न जाति के लोग उन पर शासन करने न लगे। ये शंकालु दृष्टि, जाति पर संकट तथा सरकार की नीतियों से असंतुष्टिकरण ही उन्हें कट्टरता की ओर उन्मुख करता है। जैसे - "भारत की वर्तमान सरकार पूरी तरह निकम्मी है तथा तुष्टिकरण की नीति अपनाकर बहुसंख्यक हिन्दुओं का अहित कर रही है।"<sup>466</sup>

इस उपन्यास के केंद्र में इंदिरा गाँधी की मौत के बाद हुए हिंसा और दंगे को दर्शाया गया है। इंदिरा गाँधी को उन्हीं के अंग रक्षक ने गोली मारी थी। उनके अंगरक्षक सिख थे। उनके गोली मारने के पीछे भी 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' जैसा कारण रहा। रचनाकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप सिर्फ समस्या को प्रस्तुत नहीं करते बल्कि समस्या की जड़ की तलाश भी करते हैं। इंदिरा गाँधी की मृत्यु का हवाला देकर वह समस्या को बस प्रस्तुत कर सकते थे किन्तु उन्हें यह भी आवश्यक लगा कि पाठक के पास पूरा सत्य उपस्थित हो आखिर क्यों उन्होंने इंदिरा गाँधी की हत्या की थी। उनकी दृष्टि ऐतिहासिक सत्य की तलाश तथा शोधपरकता से तथ्य को उपस्थित करने की रही है। वे एक ओर दहशतगर्दों के पक्ष को उपस्थित करते हैं तो दूसरी ओर दंगाइयों की दृष्टि क्या रही इस

<sup>466</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-39

पार की भी बात करते हैं | साथ ही साथ उनकी दृष्टि आमजन की मानसिक स्थिति पर भी गयी और अल्पसंख्यक वर्ग की आंतरिक मनोदशा को भी उन्होंने महत्व दिया | वे एक पक्षीय दृष्टि को आधार न बना कर बहु-पक्षीय दृष्टि से हमारे समक्ष सत्य को उपस्थित करते हैं | 'पिघले चेहरे' की विशिष्टता यह भी है कि हिंदी उपन्यासकारों ने हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगों को आधार सामग्री के रूप में चुनना बेहतर समझा | जबकि उपन्यासकार ने हिन्दू और सिखों के मध्य 1984 में घटी घटना को इसका विषय बनाया है | इस रूप में रचनाकार ने हिंदी उपन्यासों के अंतर्गत समय और समाज के ऐतिहासिक विकास को 'पिघले चेहरे' में चित्रित करके हिंदी उपन्यास की विधा को सामाजिक जीवन से जोड़ने का कार्य किया है |

रचनाकार जब दंगे में आम लोगों की मानसिकता को स्पष्ट करते हैं तब वह यह संकेत करते हैं कि लोग सिखों पर भड़क गए थे उनका मानना था इसकी सज़ा पूरे सिख समुदाय को चुकानी पड़ेगी | इस हिंसा ने लोगों को एक दूसरे का दुश्मन बना दिया | वे इतने भड़क गए थे कि अपनी ही गली मुहल्लों में रह रहे सिखों को मार-डाल रहे थे | जो रिश्ता कभी बंधुत्व का हुआ करता था आज वे उनके जान के दुश्मन बन बैठे थे | रचनाकार ने उदाहरण स्वरूप उनकी उत्तेजना तथा उनके आक्रोश को भी प्रस्तुत किया है जैसे -एक स्कूटर पर दो प्रौढ़ आयु के सरदार आपस में हंसते हुए आ रहे थे उन्हें देख वे भड़क उठे | उन्हें ऐसा लगने लगा जैसे इंदिरा गाँधी को इन्होंने ही मारा हो | उन दोनों को वे ही वहीं पीटना शुरू करते हैं | दो सिख स्वयं इसलिए हैरान थे कि वे समझ नहीं पा रहे थे कि उन्होंने ऐसा क्या किया था जिसके कारण लोग उन्हें मार रहे थे | वे उसी मोहल्ले के निवासी थे, सब उन्हें जानते थे और सब उनको | हिन्दुओं के मन में उस समय यही बात थी कि -“जिन्होंने (इंदिरा गाँधी जी) उनकी हत्या की है, हो सकता है कि ये सिख उन्हें जानते भी न हों | तो क्या हुआ, जाति-धर्म तो उनके एक ही हैं | विषैले वृक्ष की शाखाएँ चाहे जितनी दूर तक फैली रहें विष उनमें एक समान ही होता है | विष मिटाने के लिए वृक्ष को मूल से काटना पड़ता है |”<sup>467</sup> उस समय उनका मूल लक्ष्य अल्पसंख्यकों को सबक सिखाना रहा | ताकि वे भविष्य में कभी हिन्दुओं की ओर आँख उठाने की जुरत भी न करें।

---

<sup>467</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-80

इस उपन्यास में दंगे के दौरान मार-काट का दृश्य भी दिखाया गया है। इस दृश्य के जरिये रचनाकार दंगाइयों का रूप तथा अल्पसंख्यक का डरा, सहमा रूप भी प्रस्तुत करते हैं। जैसे -“देवदत्त ने उन्हें (सरदार) कोई मौका नहीं दिया, अपनी कुल्हाड़ी से उसकी गर्दन पर एक जोरदार वार किया। उनकी गर्दन आधी कटकर आगे की ओर लुढ़क गयी। ...खून फव्वारे जैसा फूटने लगा था, होश खो कर गिर गए। जो घायल होकर जिन्दा बचे, रेंगकर घर से बाहर सड़क तक आ गए और वहीं सहायता के इंतज़ार में, खून बहाते-बहाते मर गए। उनके पड़ोसी हिन्दुओं ने उन्हें तड़प कर मर जाते देखा। पड़ोसी धर्म के उल्लंघन के ऐसे उदाहरण विश्व के सभ्य समाज में देखे गए। पता नहीं, तब इन हिन्दुओं का ‘जीवों पर दया करो’ वाला मन्त्र कहाँ चला गया था।”<sup>468</sup>

दंगे में सैनिकों ने अपने कार्य सही से नहीं किये बल्कि दंगाइयों का साथ दे रहे थे। उनकी भी पोल उपन्यासकार खोलते हैं। “क्या यही हैं वे सैनिक जिन पर देश की रक्षा की जिम्मेदारी है? यदि ऐसा है तो हम बहुत बड़े भ्रम में हैं। किसी भी देश की सेना उसकी संख्या की विशालता और उसके मारक अस्त्रों से शक्तिशाली नहीं बनती, उसके सैनिकों के ईमान से बनती है और हमारे सामने जो सैनिक खड़े हैं, वे छद्म ईमान वाले हैं, मतलब कि हमारा देश ईमानदार हाथों में नहीं है। पिछले चौबीस घंटों में मैंने अपनी पुलिस का खंडित ईमान देख लिया है और अब मैं अपने सैनिकों का खोखला ईमान देख रहा हूँ।”<sup>469</sup>

दंगों से एक चीज़ तो यह साफ हो गई कि सिखों को यह अहसास हो गया था कि यह मुल्क उनका नहीं है। अगर होता तो वे आज सुरक्षित होते। सरकार भी उनका साथ नहीं दे रही थी। वे अपनी जान बचाने के लिए मारे-मारे फिर रहे थे। जो जान बचा पाए वह भाग निकले और हजारों की संख्या में लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। कई सिख परिवारों ने रातों रात अपने केश कटवा लिए। क्योंकि आज वे अपनी पहचान से ही आतंकित थे। अगर वे अपनी पहचान या केश न कटवाए होते तो शायद ही उनमें से कोई बच पाता। कुछ अपने पहचान को मिटाना नहीं चाहते थे। जैसे -“परमिंदर की मम्मी !

<sup>468</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-86

<sup>469</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-93

पागल हो गई है क्या ? हम इन पिद्दी हिन्दुओं से डर कर अपनी पहचान मिटा दें ? हमारे गुरु कहेंगे कि उनके अनुयायी कायर निकले । सिख कायर नहीं होते ।”<sup>470</sup>

असुरक्षा की भावना ने उन्हें अपने राष्ट्र की कल्पना को साकार किया था । उन्हें ऐसा लगने लगा था कि अगर उनके लिए कोई राष्ट्र होता तो वे वहां सुरक्षित होते । “रवि, परमी अपने केश काट डालो और मम्मी-बच्चों को घर से लेकर निकल जाओ । यह मुल्क अपना नहीं है । पापा जी ! आज हमें पहली बार ऐसा लग रहा है कि हम हिन्दुओं के देश में रह रहे हैं । क्या सिखों का कोई अलग देश नहीं हो सकता ? आज हमें खालिस्तान मिल गया होता तो शायद यह बुरा बखत हमें न देखना पड़ता ।”<sup>471</sup> एक तरह उपन्यासकार दोनों समुदाय की आन्तरिक एवं मानसिक स्थिति को प्रस्तुत करते हैं ।

रचनाकार की सोच दंगे को लेकर भी बहुत सेकुलर और मानवतावादी है । (रुद्र देव) ‘श्रीमती गाँधी के हत्यारे को दण्डित करने के लिए दिल्ली की पुलिस है और भारत की अदालतें हैं । उन्हें ‘भारतीय दंड संहिता’ के हिसाब से कड़ी से कड़ी सज़ा मिलेगी । पर आपस में खून-खराबा करने से हमें क्या हासिल हो जाएगा ? सिख हमारे शत्रु नहीं हैं, वे कभी भी के हिन्दू ही हैं और इसी देश के निवासी हैं । हमारे रक्षा के लिए ही उन्होंने एक अलग पंथ की स्थापना की थी । सिख गुरुओं के हमारे ऊपर किये गए अहसानों को क्या हम इतनी जल्दी भूल सकते हैं ? ...दो-चार सिरफिरे हत्यारे के लिए हमें पूरे सिख समुदाय पर संदेह नहीं करना चाहिए । हिन्दू और मुसलमानों के बीच पड़ी दरार हम आज तक नहीं पाट पाए हैं और आज हम एक नई दरार पैदा करने निकल पड़े हैं ।’ इस वाक्यांश के द्वारा कथाकार दंगे की राजनीति से अवाम को अवगत करवाना चाहते हैं । आप यह सन्देश देना चाहते हैं इस तरह के दंगों से फायदा केवल राज सत्ता का होता है और नुकसान आम वर्ग का । जबकि हम यह भी बखूबी रूप से जानते हैं दंगाइयों का कोई जाति या धर्म या मजहब नहीं होता । बस धर्म के नाम पर दंगे को और भड़काया जाता है ।

रचनाकार इस उपन्यास में दो तरह के हिन्दूओं को उपस्थित करते हैं । एक हिन्दू कट्टरवादिता का शिकार है तो दूसरा मानवतावाद का समर्थक । रुद्र देव इसी मानवता का साथ देते हुए कट्टर हिन्दुओं के द्वारा मारे जाते हैं । साथ ही इसी मानवतावाद का रूप हमें बागसर गाँव में भी देखने को मिलता है । जो दंगे की समस्या को समझते हुए सिखों

<sup>470</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-87

<sup>471</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-88

का साथ देते हैं | दंगों के बाद इसी तरह शांति वहां फैल गयी थी जैसे तूफान के बाद एक अजीब सी शांति दिखाई देती है | जो सब कुछ लूट कर वातावरण को शांत कर देती है | उन्होंने यह भी संकेत किया है कि अल्पसंख्यकों का वोट-बैंक के रूप में इस्तेमाल होता रहा है | इसलिए सब कुछ बिगाड़ कर ढोंग करना कि हम तुम्हारे साथ हैं | यह राजनीति का सबसे बड़ा उसूल है | अल्पसंख्यक भी उनकी चिकनी चुपड़ी बातों में आ जाते हैं | इसलिए राजनीति की न कोई जाति होती है और न कोई ईमान | वे अपना उल्लू सीधा करने के लिए प्रताड़ित लोगों को विभिन्न तरह के प्रलोभन दिखा कर वश में कर लेते हैं |

रचनाकार की दृष्टि सेकुलर है जो कट्टरता और धर्म के नाम पर राजनीति का विरोध करते हैं चाहे वह अल्पसंख्यक हो या बहुसंख्यक | उनकी दृष्टि सभी को समान देखने की है | प्राचार्य के द्वारा वह अपनी बातों को स्पष्ट भी कर देते हैं (कृपाचार्य)-“तू अगर अपने को ब्राह्मण कहता है तो मैं महाब्राह्मण हूँ |...जाने से पहले लिसेन, अपने दोनों कान खोल कर कि यह देश जितना तुम्हारा है, उतना ही बभ्रुवाहन का | तेरी बपौती इस देश में जब थी तब थी, अब नहीं है | आत्मा-परमात्मा को बेचने वाली तेरी दुकानें कब की बंद हो चुकी हैं | अब यह देश मनुस्मृति से नहीं भारतीय संविधान से चलता है | एंड तुझे भलीभांति पता है कि भारतीय संविधान के अनुसार तेरी औकात इस देश की जनसंख्या के ग्यारह प्रतिशत से अधिक नहीं है |”<sup>472</sup>

इस उपन्यास में लड़कियों के पढ़ाई को लेकर समाज के विचारों को भी स्पष्ट किया गया है | देवयानी भगत की पहली लड़की थी | जिसे उन्होंने उच्च शिक्षा देने की कभी जरूरत नहीं समझी क्योंकि वह लड़की जात है | किन्तु इतना अवश्य चाहा कि वह खत लिखना और पढ़ना सिख ले | उस समय में यह मानसिकता गाँव के लोगों की रही | शायद आज भी कुछ गाँव की हालत इससे बेहतर नहीं है | उपन्यासकार देवयानी के जरिये लड़कियों में मुक्त होने की आशा को भी स्पष्ट किया है | कितनी भाग्यशाली होती होंगी वे लड़कियाँ जो रोजाना ऐसे मुक्त होकर जीती होंगी |

देवयानी का विवाह लोमहर्ष से होता | जिसका सारा परिवार समृद्धता की व्यर्थ की एक ऐंठन का शिकार है | उसका पति भी इसी अर्थ के लालच में इतना अँधा हो जाता है कि उसे उसकी पत्नी एक दाव लगाने वाली घोड़ी लगती है | उसका धनवान बनने का

---

<sup>472</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-40

लालच तथा समृद्ध बनने की लालसा ने उसके अन्दर के मनुष्यता को कहीं मार दिया था | उसकी पत्नी उसके लिए वस्तु मात्र ही थी | देवयानी के लिए कभी उसके मन में प्रेम या संवेदना नहीं जागी | बल्कि सदैव से वह उसका शोषण करता रहा है | किन्तु आश्चर्य तब लगता है जब देवयानी 'वकील' बन कर भी उसके पति को छोड़ नहीं पाती है | उपन्यासकार इसमें देवयानी को स्वतंत्र जीने तथा उसका विरोध करते हुए दिखा सकते थे किन्तु उनके जेहन में दो बातें थी जो आज की सबसे बड़ी सच्चाई भी है | पुरुष प्रधान समाज में भी एक नारी को स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए एक मर्द की आवश्यकता है | क्योंकि एक मर्द ही उसे अन्य मर्दों की हवस भरी नजरों से दूर कर सकता है | दूसरा जब एक औरत परिवार में बंध जाती है तो वह उसे जल्दी तोड़ नहीं पाती है | इसका एक कारण उसका माँ बनना भी था | अपने बच्चे के लिए भी वह उसे नहीं छोड़ पाती है | इसके जरिये रचनाकार यह बताना चाहते हैं कि एक और शिक्षित हो कर भी कैसे शोषण की शिकार होती रहती है |

“उसे लगता था (देवयानी) कि वह एक गृहस्थ वेश्या है और पति के एहसानों के बदले में, अपना शरीर अनिच्छापूर्वक उसे समर्पित कर रही है |”<sup>473</sup> प्रतीकात्मकता का पुट तथा व्यंग्य का रूप भी उनके उपन्यास में देखने को मिलता है |

“लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि सूरज आज निकलने में इतनी देर क्यों लगा रहा है ? वास्तव में उस दिन नगर की हालत ऐसी थी कि कोई भी सूरज होता, निकलने से मना कर देता | हाँ, यदि वह केवल हिन्दुओं का सूरज होता तो बात दूसरी थी, तब तो हो सकता है वह खुशी के मारे आधी रात को ही निकल कर चमक पड़ता | खेद की बात यही थी कि यह सूरज सबका था, इसलिए शर्म के मारे बहुत देर कर कोहरे के पीछे छिपा रहा था | लेकिन फिर वह निकला था, प्रकृति का संतुलन बनाये रखने के लिए सूरजों को निकलना ही पड़ता है |”<sup>474</sup>

**‘दस बरस का भँवर’** उपन्यास सांप्रदायिकता पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है | इस उपन्यास के संदर्भ में पुष्पपाल सिंह लिखते हैं कि -“उपन्यास अपने समय का जीवन आलेखन नहीं है अपितु समय की विकराल स्थितियों में एक सार्थक हस्तक्षेप भी है, अपने पाठक को एक सही सोच देता हुआ और गहरी समझ विकसित करता है | ... वस्तुतः

<sup>473</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-72

<sup>474</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ. सं.-89



सांप्रदायिकता, सांप्रदायिक मनोवृत्ति का प्रतिरोध उपन्यास की कथा में एक अन्तः सलिल की तरह अपनी निरन्तरता बनाए हुए हैं। न्यस्त राजनीतिक स्वार्थों से प्रेरित बाबरी-मस्जिद और रामलला जन्मभूमि की घटनाओं ने हमारे सामाजिक ताने-बाने को किस प्रकार एकबारगी क्षत-विक्षत कर प्रत्येक भारतीय के मानस को विक्षुब्ध किया, उसे उपन्यास में विभिन्न बिंबों और प्रसंगों द्वारा विश्लेषित किया गया है।<sup>475</sup> बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) से गुजरात नरसंहार (2002) के बीच इन दस वर्षों के इतिहास को इस उपन्यास में आधार बनाया गया है। लेखक ने 1992 से 2002 के घटनाओं के बीच सांप्रदायिकता के विकराल रूप को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लेखक तत्कालीन समाज की राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सभी गतिविधियों से पाठक को रूबरू कराते हैं।

इस दशक में नव-उदारवादी ताकतें एक ओर जड़ जमाना प्रारंभ कर रही थीं वहीं दूसरी ओर सांप्रदायिकता भी परवान चढ़ी थी। बाँके बिहारी इस उपन्यास का ऐसा पात्र जो सांप्रदायिकता से भयभीत और चिंतित दोनों है। कथा का प्रारंभ अखबार में गोधराकांड तथा सांप्रदायिक हिंसा को देख बाँके बिहारी की चिंता में अपनी बहू का चेहरा नूरजहां का आता है। क्योंकि बाबरी मस्जिद की घटना में नूरजहां को मानसिक रूप से प्रताड़ित होते देखा था। लेखक उपन्यास में सांप्रदायिकता की नींव को पकड़ते हुए राजनीति को इन्हीं धार्मिक मुद्दों को हवा देने के लिए दोषी मानते हैं। जब भी देश में ऐसे उन्मादी वातावरण फैलता है तब इसका सबसे ज्यादा प्रभाव अल्पसंख्यक पर होता है। अल्पसंख्यक वर्ग इन सभी धार्मिक उन्माद में भयभीत और डरा हुआ महसूस करता है। लेखक स्पष्ट करते हैं कि बहुसंख्यक जो राम के भक्त बने बैठे रहते हैं दरअसल वे उस राम के भक्त नहीं हैं जो अयोध्या के राजा थे। लेखक व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि राम-राम पर लोग कुर्सी की राजनीति कर रहे हैं। “सन् 1949 में जो रामलला बाबरी मस्जिद में अवतरित हुए और जिनकी अध्यक्षता में 1992 में मस्जिद गिरी, वे तुलसी के राम नहीं थे। राम दिल्ली की कुर्सी का पायदान नहीं हो सकते।”<sup>476</sup> देश में जब भी चुनावों का दौर प्रारंभ होते हैं तभी बाबरी मस्जिद का मुद्दा उभार कर माहौल को गरम अथवा खराब किया जाता है। दरअसल ये मुद्दा कई सालों तक सुलझाया ही नहीं गया क्योंकि इसे आस्था से जोड़ कर इस पर राजनीति की जा सके। यह इसलिए भी किया जाता है कि भारत में जनता धर्म

<sup>475</sup> 21 वीं शदी का हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, पृ.सं.-254

<sup>476</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-96

को लेकर बहुत संजीदा है। इसी को केंद्र में रख कर सामाजिक मूलभूत समस्याओं से उनका ध्यान हटाया जा सकता है। लेखक इस राजनीतिक षड्यन्त्र को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं - “चुनाव होने वाले थे। पोस्टर और नारों में इसी ओर ध्यान खींचा गया था कि अयोध्या और चुनावों का एक साथ गरमाना कोई संयोग नहीं था। मंदिर के हल्ले की धूल में भूख और बेरोजगारी और महंगाई छिप जाती थीं।”<sup>477</sup> लेखक इस उपन्यास में समन्वय के तार को जोड़ते तथा सेक्युलर दृष्टि से विचार करते हुए नूर और नमन के बेटे मुन्ना के जरिए कहलवाते हैं - क्या मंदिर और मस्जिद एक साथ नहीं रह सकते ?

उपन्यास में उपन्यासकार प्रवासी भारतीयों की दृष्टि और विश्व हिन्दू परिषद के प्रति उनकी आस्था को प्रदर्शित कर उन्हें इसका जिम्मेदार मानते हैं तथा आस्था के होते खिलवाड़ को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि - “आप नहीं जानते पापा परदेश में अपना देश कैसे-कैसे याद आता है ! तब शाहरुख खान की फिल्म देखना या मंदिर जाना बहुत काम आता है। वही काम गुजरात के गाँवों में त्रिशूल-यज्ञ और भगवा-पट्टी बनकर फैला था। उन्हीं हाथों ने तलवारें थामी थीं। वही हाथ गुजरात जला रहे थे।”<sup>478</sup> आगे लेखक यही स्पष्ट कर रहे होते हैं कि ये ऐसे संगठन हैं जिसमें धार्मिकता के नाम पर लोगों की मति को भ्रष्ट किया जाता है। राम नाम का सहारा लेकर लोगों को भड़काया जाता है यही घृणा और आक्रोश सांप्रदायिक समय में खतरनाक रूप धारण करता है।

आगे लेखक बाँके बिहारी के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि भारत में बढ़ते सांप्रदायिकता को पुष्ट करने का कार्य अमेरिका कर रहा है। अमेरिका उस बंदर के समान है जो बिल्लियों के लड़ाई में फायदा उठा जाता है। अमेरिका कभी भारतीय हिन्दू परिषद को आर्थिक दृष्टि से सक्षम बना कर भारतीय समन्वय संस्कृति को खत्म कर रहा है जिससे देश में असमन्वय का वातावरण फैला रहे। “बाँके बिहारी ने अपने तर्क-सरणि बयान की जिसमें भैया का विश्व हिन्दू परिषद को अमेरिका में दिया गया डॉलर गुजरात के गाँवों में त्रिशूल और तलवार बनकर लखनऊ में अपने घर में बैठी नूरजहां को डरा रहा था। यह साज़िश है, वे चीखें। अमरीका मेरे घर के पीछे पड़ा है।”<sup>479</sup>

<sup>477</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-96

<sup>478</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-13

<sup>479</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-17

एक ओर जहां लेखक सांप्रदायिकता की जड़ को पकड़ रहे हैं दूसरी ओर सांप्रदायिक उदाहरणों को प्रस्तुत कर शर्मसार हुई मानवता को प्रस्तुत करते हैं । गुजरात दंगे के दौरे पर गए बाँके बिहारी ऐसे अनेक तथ्यों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं जो हमारे पूर्वाग्रहों को तोड़ पुनः सोचने के लिए मजबूर करता है । बाँके बिहारी के माध्यम से लेखक ऐसे जन समुदाय की पीड़ा और असुरक्षा बोध को हमारे पास प्रस्तुत करते हैं, जिस ओर प्रायः लोगों की दृष्टि नहीं गयी थी। गुजरात में बड़े सांप्रदायिक हिंसा में हुए बेस्ट बेकरी कांड जिसमें एक मुस्लिम युवक को बेकरी में तथा उसके परिवारवालों को उसके घर में जला देने वाली घटना है दूसरा बड़ा मुद्दा एहसान जाफ़री तथा उसके परिवार का है जिनकी भी निर्मम हत्या की जाती है । तीसरा बड़ा मुद्दा वली दकनी की मज़ार को नेस्तोंनाबूद की है । चौथी घटना गुजरात के दंगों में हुई लूट की है तथा पाँचवी घटना गर्भवती स्त्री के साथ बलात्कार तथा गर्भस्थ शिशु को त्रिशूल पर टाँगना आदि घटना समाज में बढ़ते बर्बरता, अमानवीयता तथा संवेदनहीनता को दर्शाता है । लेखक सांप्रदायिक हिंसा में शिकार हुए लोगों की पीड़ा को बड़ी संवेदनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं -“मैंने तुमसे कहा न, कि अब सिर्फ जली दीवारें बची हैं । वे गैस सिलिन्डर नहीं हैं जो घरों में फूटे । न वे तेल के डिब्बे हैं जिन्हें आदमियों पर उँड़ेला गया और आग लगाई गयी । वो आग भी नहीं है । न वह पानी है जिसमें बिजली चलाकर लोगों को आखिरी बार नहलाया गया । न वे त्रिशूल और तलवारें हैं जिनसे पेट चिर और सिर कटे । जलते हुए टायर भी नहीं हैं । शरीर कोई नहीं बचा ।”<sup>480</sup> लेखक इस घटना को जलियाँवाला बाग़ और ब्लैक होल की घटना से अत्यधिक क्रूर और अमानवीय ठहराते हैं । लेखक स्पष्ट करते हैं ब्लैक होल अंग्रेजी राज का षड्यन्त्र था वहीं नरोडा-पाटिया जनतंत्र का षड्यन्त्र था । इन दोनों की तुलना करते हुए लेखक लिखते हैं कि - “नरोडा-पाटिया ने आदमियों को आदमी की तरह ज़िंदा जलाया गया, औरतों को औरतों की तरह रेप किया गया और बच्चों को बच्चों की तरह हवा में उछालकर संगीन पर छेदा गया ! ‘ब्लैक होल’ में लाशें बची थीं । नरोडा-पाटिया में लाशें नहीं थीं -ताकि कोई सनद न रहे जो वक्त पर काम आए ।”<sup>481</sup> लेखक सारे प्रश्न हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं जैसे जलियाँवाला बाग़ की घटना में 379 लोगों की जाने गयी और जनरल डायर पर मुकदमा चला किन्तु गुजरात नरसंहार में तीन हजार की जानें गयी किन्तु क्या किसी पर मुकदमा चला ?

<sup>480</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-177

<sup>481</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-179

लेखक अल्पसंख्यक समुदाय का शोषण और सांप्रदायिकता में सबसे ज्यादा उनकी हानि को चित्रित करते हैं। जब भी ऐसी कोई हिंसा होती है तो सबसे पहले उन्हें निशाना बनाया जाता है। “मोहन ने बताया कि नवरंगपुरा में मुसलमानों के घर उसी तरह चिह्नित थे जैसे नाज़ी जर्मनी में यहूदियों के। जब शहर भड़कता, मुसलमान पुराने शहर में अपनी बस्तियों में भाग जाते।”<sup>482</sup> 1984 में इंदिरा गांधी की मृत्यु के बाद सिख विरोधी दंगे ने सांप्रदायिक दंगों में सिखों का बहुत नुकसान हुआ और गहरा असंतोष देश में फैला। “पिछले माह कानपुर में विकराल दंगे हुए थे, जिसमें सिखों को गले में जलते टायर डालकर या उन्हें पेट्रोल में नहलाकर जला दिया गया था। वे सड़क पर आग पहने हुए भागे थे ... वे चीखते थे और उनको घरे, आग भड़क जाती थी।”<sup>483</sup> दूसरे संदर्भ में लेखक ओड़िशा में ग्राहम स्टेंस और उनके दो बच्चों को जिंदा जला देने की घटना को प्रस्तुत कर अल्पसंख्यक समुदाय के असुरक्षा के सवाल तथा सांप्रदायिक हिंसा में सबसे ज्यादा क्षतिग्रस्तता को प्रस्तुत करते हैं। लेखक सांप्रदायिक हिंसा को कम करने का सुझाव भी इस उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं - “धर्म हटाओ देश बचाओ ! नमन ने अपनी कुछ सफेद होती दाढ़ी हिलाते हुए इसका विरोध किया था। उसका कहना था कि अधिकांश लोग किसी निजी धर्म के बिना नहीं रह सकते; हमें असली जन-समस्याओं पर एकाग्र होना चाहिए जिन्हें मौजूदा तंत्र धर्म की धुंध में ढँक रहा था। इसी सिक्के का दूसरा पहलू सत्ता के खेल में धार्मिक रूपकों और प्रतीकों का दोहन था। अयोध्या में यही हो रहा था। इस दोहन का पर्दाफाश ज़रूरी था।”<sup>484</sup> अंततः लेखक सांप्रदायिकता के विरुद्ध खड़े हैं और मानवतावाद को सर्वोपरि मानते हैं।

**धर्मयुद्ध** उपन्यास में ओड़िशा के भुवनेश्वर में रसूलगढ़ अंचल का हवाला देते हुए लेखक दिखाते हैं कि सांप्रदायिक हिंसा बढ़ती है। कुछ बदमाश लोग केबिन में आग लगा देते हैं। इसी आग में तीन लोग आहत हो जाते हैं। जब इस सांप्रदायिक स्थिति को उपजने के पीछे कारणों की तलाश की जाती है तब यह स्पष्ट हो पाता है कि मस्जिद के पीछे कोई मरे हुए सुअर को फेंक कर चला गया है। इसी स्थिति को देख कर 144 धारा

<sup>482</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-170

<sup>483</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-59

<sup>484</sup> दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, पृ. सं.-96

जारी हो जाती है । ऐसी स्थिति में सत्यकाम के घर आयी असीमा बाहर नहीं जा पाती है । असीमा सत्यकाम के दोस्त हुमायूँ की बहन है जो धार्मिक दृष्टि से इस्लाम से संबंध रखने वाली है । सत्यकाम न्यूज रिपोर्टर होने के नाते गुंडों से उसकी बनती नहीं है । इसलिए भी उन पर और उनके घर पर नजर रखी जाती है । टेलीफोन पर किसी अपरिचित की आवाज -“तुमने घर पर उस लड़की को क्यों आश्रय दिया है । उसको आश्रय देकर तुमने खुद के लिए समस्या क्यों खड़ी कर ली है ? शीघ्र ही उसे घर से बाहर निकाल दो, नहीं तो इसके परिणाम के लिए तैयार रहो ।”<sup>485</sup> इसी लड़ाई में हुमायूँ के माता पिता का कोई ठिकाना नहीं मिल रहा होता है । सत्यकाम की माँ श्रीमयी यह सोचती हैं कि “हजार हजार साल से भाई-भाई की तरह रहने वाले एक ही जगह के लोग तुरंत ही कैसे एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं ? किस स्वार्थ के लिए ? धर्म क्या कभी एक- दूसरे के गले को काटने की शिक्षा दे सकता है ? कोई भी धर्म घृणा, हिंसा, हत्या और बलात्कार को प्रश्रय नहीं देता है । सभी ईश्वर के संतान हैं । .. सभी धर्म का मूल है मानव धर्म । .. समस्त जगत उनकी ही सृष्टि है, सभी उनके ही संतान हैं । फिर इतना धर्म और संप्रदाय को लेकर इतना वितर्क, विघटन, वाद विवाद एवं इतना संघर्ष क्यों ?”<sup>486</sup> ओड़िशा की राजधानी में यह दंगा दंग कर देने वाला था । कुछ ही क्षण में कई सालों से बने रिश्ते टूटने लगते हैं । दुःख तब होता है जब ये संबंध दिन-प्रतिदिन और खराब होते जाते हैं । “रसूलगढ़ चौक पर चालीस साल से बकरे का मांस बेचने वाला बड़े मियां के दुकान पर हिन्दू भाई अब और नहीं आते। ईद मनाने के समय इफ्तार के बाद अन्य धर्म के लोग उनके साथ शामिल नहीं हुए और न ही दशहरा के दिन मूर्ति विसर्जित करते समय दोनों संप्रदाय के लोग मिल कर न आतिशबाजी और बेंडबाजे में साथ निकले ।”<sup>487</sup> इस उपन्यास में सलामत खाँ और रहमत का उदाहरण देते हुए लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि इस दंगे में नुकसान के कारण ये लोग पुनः मुर्गे और अंडे का दुकान नहीं बना पा रहे थे । ओड़िशा जैसे राज्य में जहां दो धर्मों में एकता और बंधुत्व इतनी गहरी होने के बावजूद ऐसा क्यों हुआ यह एक चिंता का विषय बना हुआ था । लेखक दोनों के भाईचारा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि - “मुहर्रम के समय मुस्लिम लोग ताजिया लेते समय मंदिर के रास्ते न जा कर दूसरे रास्ते

<sup>485</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ. सं.-81

<sup>486</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ. सं.-81

<sup>487</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ. सं.-85

से जाना पसंद करते थे एवं होली के समय मस्जिद के सामने जैसे कोई गोलमाल न हो इसके प्रति हिन्दू भाई सचेत थे।”<sup>488</sup> शहर में दंगे के बाद नए संघठन भी बनने लगे थे। एक संगठन हिंदुओं का था जिसे ‘सनातन दल’ के नाम से जाना जा रहा था तो दूसरा संगठन मुस्लिमों का था जिसे ‘लादेन दल’ कहा जाता था। इन दोनों संगठन के मुखिया हारू मियां और दुर्योधन थे जो पहले अच्छे दोस्त हुआ करते थे लेकिन अब एक दूसरे को देखना तक पसंद नहीं करते। यह दंगे धार्मिक नहीं होते इसके मूल में राजनीतिक षड्यन्त्र होते हैं इनसे अनभिज्ञ आम लोग होते हैं जिनकी भावनाओं का फायदा उठा कर राजनीतिज्ञ अपना लाभ उठाते हैं। “सभी सामाजिक और सांप्रदायिक संघर्ष के मूल में राजनेताओं की राजनीति होती है। कौन किसे कहाँ हराएगा एवं खुद जीतेगा यही मारकाट की रेस चलती है। ओड़िशा के दरिद्रता को दूर करने के उपाय की तजबीज या उसे कैसे लागू किया जाए इस पर सोचने के लिए किसी के पास समय नहीं है।”<sup>489</sup> अन्ततः उपन्यासकार, इनके पीछे के मुख्य साजिशकर्ताओं को सामने लाते हैं जो शेख अख्तर और सिंधु महाराज जैसे होते हैं जिनका संबंध अन्डर वर्ल्ड और राजनीतिक पार्टी से होता है।

## 8.2 शरणार्थी-जीवन पर आधारित उपन्यास

‘चलापथे’ उपन्यास की पृष्ठभूमि बंगभंग विभाजन से पूर्व की है। इस उपन्यास में दो समानांतर कथा चलती है। एक कथा सुनील और मालती की है जिनका वास्तविक नाम मीही और हाफिज है। ये दोनों प्रेमी जुगल अपनी सुखद जीवन को जीने के लिए बांग्लादेश से भाग कर भारत आते हैं। बांग्लादेश के शरणार्थी के रूप में न पहचाने जाएँ इसलिए नाम परिवर्तित करके जीवन व्यतीत करते हैं। वहीं दूसरी ओर इसी के समानांतर कोइंटू और उसके परिवार की समस्याएँ तथा उनके पुत्र पितु और सितु की कथा चलती है। पितु सुनील से गाड़ी चलाना और गाड़ी का काम सीखता है। कथाकार यहीं से दोनों कथा को जोड़ कर आगे की कहानी गढ़ते हैं। इस उपन्यास में भारत-पाक विभाजन के बाद भारत में आये शरणार्थियों का चित्रण भी है। साथ ही इस उपन्यास में पूर्व वंग स्वतंत्र होने के लिए हो रहे मुक्ति युद्ध का चित्रण भी चित्रण है। उपन्यासकार इस उपन्यास में लिखते

<sup>488</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ. सं.-87

<sup>489</sup> धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, पृ. सं.-90

हैं - “पूर्वबंग पूर्व पाकिस्तान हुआ, फिर पाकिस्तानी सैनिकों के अत्याचारों से पूर्व बंग को छोड़कर लाखों लोग भारत में आश्रय लेते हैं | वर्तमान पूर्व बंग स्वाधीन होने के लिए युद्ध कर रहा है |”<sup>490</sup> अतः इससे स्पष्ट हो रहा है कि यह उपन्यास बांग्लादेश के विभाजन से पूर्व की घटना को यहाँ आधार बनाया गया है | किन्तु यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस उपन्यास का केंद्रीय विषय शरणार्थी- समस्या नहीं है | इस उपन्यास में रचनाकार ने मीही और हाफिज के जीवन को आधार बनाते हुए शरणार्थी समस्या की एक झांकी प्रस्तुत की है | साथ ही उपन्यासकार का इस उपन्यास की भूमिका में यह लिखना यह स्पष्ट करता है कि उपन्यासकार का संकेत ‘मनुष्यता’ की ओर है | जैसे -“जीवन का पथ काँटों से भरा पड़ा है, जीवन कभी भी सरल रेखीय नहीं होता है | यहाँ कौन अपना है, कौन पराया, यह जानना बहुत कठिन है, अपने आत्मीय लोग जहाँ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते हैं वहीं अनजाने जाति, धर्म के लोग अंत में हमारी सहायता और सहानुभूति दिखाते हैं | यह एक रोजमर्रा की घटना होने पर भी हमें आश्चर्य करता है | व्यक्तिकेंद्रित समाज में एक पूर्व-वंग का व्यक्ति, अन्य धर्म का शरणार्थी होकर भी भारत के एक मजदूर के प्रति सहानुभूतिपूर्वक उसे एक मनुष्य के रूप में देखता और गढ़ता है |”<sup>491</sup> अतः यहाँ उनकी दृष्टि मानवतावादी रही है | वर्तमान की स्थिति से यह ज्ञात होता है कि धर्म के नाम पर जो विभेद किया जा रहा है यह केवल कुछ स्वार्थ में अंधे मौलवियों, पुरोहितों और राजनीतिज्ञों के षड्यंत्र के फलस्वरूप है | दरअसल उपन्यासकार की सारी चेष्टा इस उपन्यास में दोनों समुदाय के मध्य पनपते सम्बन्ध तथा एक मनुष्य होने की शर्त पर रहा है |

जैसा कि हम जानते हैं कि भारत-विभाजन के बाद से ही हमारे देश में शरणार्थियों का आगमन होने लगा | यह आगमन उत्तरोत्तर बढ़ता गया | पूर्वी पाकिस्तान के विभाजन से पूर्व अनेक लोग भारत में शरणार्थी बन कर आने लगे थे | इसका कारण यह रहा कि पाकिस्तान के सैनिकों ने वहाँ के लोगों पर अत्याचार करना प्रारंभ कर दिया था | यह अत्याचार कितना दर्दनाक था इसका हवाला देकर रचनाकार लिखते हैं -“पाकिस्तानी सैनिकों ने लोगों को जमीनें, उनकी संपत्ति सब लूट ली है | लोगों की इज्जत लूटी | बहू और बेटियों पर अत्याचार किया | सामूहिक बलात्कार कर अनेक लड़कियों को मारा गया | जिस गाँव

<sup>490</sup> चलापथे, दयालाल जोशी, पृ.सं.-112

<sup>491</sup> चलापथे, दयालाल जोशी, भूमिका

को उन्होंने पाकिस्तान विरोधी समझा उनको परेशान किया।<sup>492</sup> जिन लोगों ने इस्लाम के नाम पर पाकिस्तान की मांग की थी उन्हीं के हिंसक व्यवहार के शिकार बांग्लादेश के लोग हुए। इस स्थिति को देख कर भारत-विभाजन की त्रासदी याद आती है। पाकिस्तानी लोगों की यह तो नाराजगी तो थी ही हिन्दुस्तान के कुछ मुसलमानों ने उनका साथ नहीं दिया। किन्तु बाद में भाषा के आधार पर पाकिस्तान का बँटवारा उन्हें असहनीय लग रहा था। साथ ही यह डर की ऐसा होने पर पाकिस्तान कमजोर हो जाएगा इसी संदेह ने वहाँ के लोगों पर अत्याचार को और क्रूर बना दिया था। जो भी हो किन्तु यह व्यवहार हिंसक होने के साथ-साथ अमानुष/ मनुष्य विरोधी भी था। इसी हिंसा के वातावरण ने लोगों को मजबूरन विस्थापित किया। अमीना उनके इसी दर्द को व्यक्त करते हुए कहती है -“हाफिज भाई, अब हमारा गाँव और गाँव होकर नहीं रह गया है, अब वहाँ पर गाँव-गाँव में पाकिस्तानी गुंडे और सैनिकों का अत्याचार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है जिसे सुन कर तुम्हारी रूह तक कांप जाएगी।”<sup>493</sup> उपन्यासकार इस हिंसा को बढ़ने के पीछे कट्टरवादियों, अलगाववादियों तथा मौलवियों की स्वार्थपरता को देखते हैं। उनका मानना था अगर धर्म का हवाला देकर वे पाकिस्तानियों का समर्थन न करते तो शायद यह व्यवहार इतना दर्दनाक और क्रूर न होता। उपन्यासकार कहते हैं -“यह सब अत्याचार इस्लाम के नाम पर ‘पाकिस्तान’ का दावा कर भारत को विखंडित करने वालों का ही कुकर्म है। साथ ही फिर हमारे मौलवी और मौलानाओं की संकीर्ण स्वार्थ रक्षा की दृष्टि ने उन्हें ‘नीरव द्रष्टा’ बना कर रख दिया। बल्कि वे स्थिति अनुसार अत्याचारियों को उत्साहित करते रहे हैं।”<sup>494</sup>

दंगे के दौरान कुछ लोग तो वहीं उनके हाथों मारे गए और जो लोग शरणार्थी बन कर भारत आये थे, उनकी दशा भी प्रतिकूल (दयनीय) थी। किसी का हाथ टूट गया था तो किसी का पैर ऐसे अनेक लोग अनेक कारणों से अस्पताल में भर्ती थे। इसका सन्दर्भ भी इस उपन्यास में देखा गया है। साथ ही उपन्यासकार पात्रों के माध्यम से उस समय की स्थिति का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। जैसे -सीमांत अंचल में लोग कैम्प बनाकर रह रहे थे। इस हिंसा के शिकार मीही के घरवाले और बड़े भाई अहमद भी होते हैं। अहमद पाकिस्तान की यथास्थिति को स्पष्ट करते हुए बताते हैं -“गाँव में

<sup>492</sup> चलापथे, दयालाल जोशी, पृ.सं.-121

<sup>493</sup> चलापथे, दयालाल जोशी, पृ.सं.-117

<sup>494</sup> चलापथे, दयालाल जोशी, पृ.सं.-121



कौन मरा या कौन खो गया इसकी भी सूचना हमें नहीं मिल पाई है। गाँव का प्रत्येक घर लूट लिया गया और मूल्यवान सामान और वस्तुएँ आदि लेकर वे भाग गए। यह स्थिति हमारे गाँव की है किन्तु ऐसा वीभत्स काम सभी गाँव में पाकिस्तानी सैनिकों ने किये हैं। जो लोग उनके साथ, हाथ मिला कर मुक्ति संग्राम के विरुद्ध थे, वे ही वहाँ जीवित हैं। वर्तमान हमारे पास कुछ नहीं है, हमारा घर, जमीन, धन, संपत्ति कुछ भी नहीं है।<sup>495</sup>

साथ ही इस उपन्यास में यहाँ ये भी चिंता प्रकट की गयी है कि अगर भारत सरकार इस मुक्ति संग्राम में बांग्लादेशियों का साथ देगी तभी यह संग्राम सफल हो पाएगा और उन्हें उनका निवास स्थान वापस मिल पाएगा। अंततः भारतीय सैनिक बांग्लादेशियों के साथ युद्ध भूमि में खड़े हैं।

इस उपन्यास की सीमा यही है कि इस उपन्यास में शरणार्थी जीवन की झांकी है। किन्तु अगर शरणार्थियों पर ही अगर स्वतंत्र उपन्यास लिखा गया होता तो यह उपन्यास ओड़िया भाषा साहित्य में विशेष स्थान रख पाता।

### **गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान**

भारत-पाक विभाजन की त्रासदी तथा शरणार्थी जीवन को आधार बनाकर कृष्णा सोवती का यह उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस उपन्यास की लेखिका स्वयं इस स्थिति की भुक्तभोगी रही हैं। इस उपन्यास में ऐसे कई संदर्भ उपस्थित हुए हैं जिससे उनकी वास्तविक जीवन की झांकी वहाँ उपस्थित होती है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र कृष्णा उर्फ किशनी वास्तविक जीवन की कृष्णा सोबती हैं। उन्होंने अपनी आँखों से विभाजन की त्रासदी को देखा और झेला है। उनके जेहन में विभाजन की आततायी स्मृतियाँ डायरी के पन्नों से उपन्यास का रूप लेती हैं।

लेखिका उपन्यास के प्रारंभ में ही विभाजन का दृश्य तथा विभाजन के फल स्वरूप आम आदमी को मिले विस्थापन और शरणार्थी जीवन को प्रस्तुत करती हुई सत्ता और उसके स्वार्थ को इसके लिए जिम्मेदार मानती हैं। लेखिका एक तरफ आजाद देश प्राप्त करने वालों की खुशी को व्यक्त करती हैं वहीं दूसरी तरफ स्थानांतरित होने के कारण अपनी पुरानी स्मृति पूर्वजों की धरोहर को खोने के दुःख को दिखाती हैं। आप यह प्रस्तुत

---

<sup>495</sup> चलापथे, दयालाल जोशी, पृ.सं.-121-122

करती हैं कि जब भारत-पाक का विभाजन हुआ तब अनिच्छा के होते हुए भी हिन्दू हिंदुस्तान की ओर और मुस्लिम पाकिस्तान की ओर पलायन किये । इस उपन्यास में कुरेशी अंकल और आंटी तथा राहत हैदर के माध्यम से पाकिस्तान की ओर पलायन करते समय अपनी जमीन के प्रति मोह और अफसोस को लेखिका दिखाती हैं । लेखिका इस सांप्रदायिक हिंसा के लिए अंग्रेज सरकार की 'फूट डालो राज करो' नीति को तथा उसके बाद सत्ता के राजनीतिक षड्यन्त्र को स्वीकार करती हुई उनकी मुखालफत करती हैं । "काकी अब किसे रुखसत कर आई - अरी हम अंदर ही अंदर घुख मर रहे हैं और तुम भी सरकारी मुंह-मुलाहजों पर हो । राख डालो गोरी सरकार और अपने डराकल लीडरों पर जिन्होंने मुसलमानों को पहले सिखाया-पढ़ाया था फिर अपने वतन की चीर-फाड़ कर दी ।"<sup>496</sup>

कृष्णा सोबती के द्वारा लिखित उपन्यास विभाजन के पहले और बाद के हिंदुस्तान को नक्शे सहित प्रस्तुत करता है । इस उपन्यास में सांप्रदायिक तथा धार्मिक टकराहटों, कट्टरताओं, द्वेष से दूर उन लाखों लोगों की पीड़ा को व्यक्त करती है जो कहाँ रहें जैसी असमंजस स्थिति में खुद को डाल निर्णय लेने की स्थिति में नहीं थे । कई लोगों के जेहन में धार्मिक सुरक्षा को ध्यान में रख कर पाकिस्तान का स्मरण हो आता है तो कई लोगों की पूर्वजों की धरोहर को न खो कर अपने ही जगह में रहने की चाहत जन्म ले रही थी । जिसमें धार्मिक विभाजन से खुद को बहुत दूर कर रखा था । सोबती पाकिस्तान और भारत जैसे देश में विभाजन से लोगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करती हैं । इस उपन्यास में लेखिका शरणार्थियों के मानसिक द्वन्द्व तथा अपने सांस्कृतिक अस्मिता को भूल कर दूसरी सांस्कृतिक परंपरा में ढलने की मजबूरी को प्रस्तुत करती हुई लिखती हैं - "किशनी यह नए धर्म नाते का खाता है । अंग्रेजों ने भी यही चालें चली होंगी और उनके हुक्म हासिल को कायम रखनेवाले कारकूनों ने भी यही कुछ किया होगा जो मेरी बहन कर रही है । समझो आजादी के बाद यह नई गुलामी शुरू हो गई । सत्यार्थ प्रकाश के नियम कहाँ गए ?"<sup>497</sup>

भारत-पाक विभाजन में एक बड़ी आबादी एक जगह से दूसरी जगह विस्थापित हुई यह स्थानांतरण अपनी जड़ों से उखड़ना था । इस समय में ऐसे बह से लोग भुखमरी, गरीबी, शारीरिक अस्वस्थता, भावनात्मक पीड़ा तथा सांप्रदायिक हिंसा के कारण अत्याधिक

<sup>496</sup> गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, पृ. सं.-12

<sup>497</sup> गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, पृ. सं.-132

लोगों की जानें गयीं । इस विभाजन ने केवल लोगों को ही नहीं बाँटा बल्कि दो संस्कृति आपसी संबंधों में गहरी खाई खुद गयी जो विभाजन के इतने वर्षों के बाद भी समाप्त नहीं हुई । “कोई पीछे छूट गए बूढ़े माँ-बाप को याद करता -घरों को पागलखाना बना दिया सियासतों ने । सारा शहर भरा है अपने-अपने घरों से फेंके गए वजूदों से । इनसानी चिथड़ों से । स्टेशन, प्लेटफॉर्म, पटरियाँ, गलियाँ चौक-बाजार और खंडहरों के आसपास फैली तितर-बितर खूँरजियाँ । नेताजी सुभाष के मुँह से निकली यह ऐलानी चुनौती जैसे पंजाब, बंगाल और सिंध के लिए पेशीन गोई बन गई । दिल्ली चलो, मरो, कटो मगर दिल्ली चलो ।”<sup>498</sup> इस विभाजन में लाखों मासूम लोगों की जान गयी । तथा शरणार्थियों के समक्ष अपनी अस्तित्व की तलाश एक सबसे बड़ी समस्या बन कर उभरी । लेखिका, शरणार्थी शिविरों का हवाला देती हुई कहती हैं -“दरवाजा खटखटाना नहीं पड़ा -भिड़ा था और बाहर किसी की थकी हारी बदरंग पेशोरी जूतियाँ पड़ी थीं । तो एक ओर अपना संबंधी अपने ही वतन से भागा हुआ जखमी घायल । जाने कैसा हिसाब बना - कोई यहाँ से गया और कोई वहाँ से आया - राहों में मार-काट दीवानगी - यहाँ से रवानगी तो वह गए, वहाँ से पीठ तो कुछ यहाँ पहुंचे, कुछ रास्ते में ही ...”<sup>499</sup>

सोबती जी मूल रूप से हिंसात्मक उन्मादी सोच की विरोधी हैं । उनका मानना था कि इस विभाजन ने लोगों को एक दूसरे से अलग किया तथा हिन्दू-मुस्लिम के मध्य एक गहरी खाई को जन्म दिया । साथ ही इसमें धर्माधता की जीत हुई और इंसानियत की हार हुई । एक तरफ अल्लाह-हो -अकबर की प्रतिध्वनि सुनाई देती है तो दूसरी तरफ हर-हर महादेव की । इन सबमें गुम इंसानियत दरकिनार होती गयी और राजनीति ने धर्म का जाम पहन लोगों में विष को घोल दिया । जिसके कारण हजारों लोग घर से बेघर हुए तथा शरणार्थी होकर शिविरों में सुरक्षा की गुहार करते रहे । शिविरों के दृश्य को व्यक्त करती हुई लेखिका लिखती हैं कि तंबुओं की कतारें अंदर बाहर लूटे-पीटे घायल लोग तथा बीमार शरणार्थियों की स्थिति हृदय विदारक है तथा कैम्प में लड़कियों के साथ भी दुष्कर्म होते रहते हैं ऐसे में शरणार्थी स्त्रियों की बहु दयनीय थी । सबसे बड़ी समस्या तो यह थी कि इस नारकीय जीवन को जीते लोग कैसे कई सालों तक अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए तरसते रहते हैं तथा कई बार उनके स्थायित्व का कोई पता भी नहीं होता । लेखिका

<sup>498</sup> गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, पृ.सं.-1213

<sup>499</sup> गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, पृ. सं.-12

बार-बार इस प्रश्न को उपन्यास में उठाती हैं कि इस विभाजन में प्रवासियों को क्या मिला ? मृत्यु की कतारें ? शारीरिक हिंसा, पीड़ा, प्रताड़ना ? विस्थापन ? या असुरक्षा ?

## 8.3 अल्पसंख्यक अस्मिता

अल्पसंख्यक अस्मिता का संबंध अल्पसंख्यक विमर्श से रहा है । इसी अस्मिता की तलाश ने 'अल्पसंख्यक विमर्श' को जन्म दिया है । कई आलोचक अल्पसंख्यक अस्मिता तथा विमर्श की वैचारिकी को नहीं मानते तथा इसे राष्ट्रवाद के विरुद्ध स्वीकार करते हैं। 'अल्पसंख्यक-विमर्श' एक नया विमर्श है, जो अल्पसंख्यक वर्ग की ज्वलंत समस्या और अस्मिता को केंद्र में लेकर उभरता है । जब भी अल्पसंख्यक की उपेक्षा की जाती है चाहे उसका आधार कुछ भी क्यों न हो तब अपनी अस्मिता और अस्तित्व को लेकर खड़ा हुआ विमर्श ही अल्पसंख्यक-विमर्श है । पश्चिम में इस विमर्श की शुरुआत स्पेन से होती है और धीरे-धीरे पूरे विश्व में स्थापित हो जाती है । कार्ल-मार्क्स ने 'जेविश-क्वेशचन'(1844) को अल्पसंख्यक-विमर्श के परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम सिद्धांतः उठाया था । उसका विकास पश्चिम में भिन्न-भिन्न विचारकों ने किया था । जैसे - गीलेस देल्यूजे और फेलिक्स गुअत्तरी । भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ 'अल्पसंख्यक' शब्द का परिचय हुआ । उत्तराधुनिक समाज में अस्मिता की तलाश के दौरान अल्पसंख्यक-विमर्श को भी गति मिलना प्रारंभ हुआ । इस तरह समकालीन विमर्शों की होड़ में अल्पसंख्यक-विमर्श भी अल्पसंख्यक मुद्दों को लेकर उपस्थित हुआ ।

जैसे -

- असुरक्षा की भावना
- पहचान का संकट
- संस्कृति के विलय का डर
- भाषा का प्रश्न
- मीडिया में अल्पसंख्यक
- तुष्टिकरण की सच्चाई

निष्कर्षतः अल्पसंख्यक को जानने, समझने, और परिभाषित करने की प्रक्रिया का नाम 'अल्पसंख्यक-विमर्श' है । अल्पसंख्यक हैं कौन ? उनका सम्बन्ध किस देश-प्रदेश से है ? उनकी भाषा-बोली क्या है? देश के साथ उनके धर्म, मजहब का क्या ताल्लुक है ? उनके आचार-विचार, तीज-त्यौहार क्या होते हैं? खुद अल्पसंख्यक लेखक, कलाकार, चिन्तक अल्पसंख्यकों के बारे में क्या सोचते हैं? गैर-अल्पसंख्यक रचनाकार की अल्पसंख्यक के प्रति दृष्टि क्या है? उनके केंद्र में कौन-कौन से मुद्दे हैं ? इन सबको परिभाषित करता है- 'अल्पसंख्यक-विमर्श' ।

पिछली सदी से ही 'मुस्लिम विमर्श' अस्तित्व में आया जिसमें मुस्लिम साहित्य और मुस्लिम रचनाकारों को अलगाने की कोशिश रही । जहां तक रही मुस्लिम साहित्य की बात तो साहित्य हर समुदाय का होता है और उसमें उसका समाज, संस्कृति और इतिहास नजर आता है । इस दृष्टि से मुस्लिम साहित्य का अपना अलग महत्व है । अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि 'अल्पसंख्यक विमर्श' का मुस्लिम विमर्श का रूपांतरण है तो यहाँ यही कहना होगा कि मुस्लिम विमर्श जहां मुसलिम विमर्श तक सीमित है वहीं अल्पसंख्यक विमर्श भारत में स्थित भाषाई, संवैधानिक और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय की समस्याओं पर की गयी वैचारिक लड़ाई है । अल्पसंख्यक विमर्श यह स्पष्ट करता है कि भारत में दो वर्ग है एक बहुसंख्यक और दूसरा अल्पसंख्यक । ये अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक राजनीतिक दृष्टि से सबसे ज्यादा प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं । यह राजनीति अंग्रेजों के आगमन के साथ भारत देश में प्रारंभ होती है जो सांप्रदायिक ताकतों को मजबूत करती है ।

### 8.3.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

उत्तराधुनिकता का दौर विमर्शों का दौर है । जहाँ अनेक विमर्श 'अस्मिता और अस्तित्व' को केंद्र में लेकर उपस्थित हैं । इसी विमर्श की सदी में अल्पसंख्यक विमर्श की भी शुरुआत हुई है । इस दृष्टि से अल्पसंख्यक विमर्श नया है । नया इसलिए क्योंकि अल्पसंख्यक विमर्श की एक शाखा मुस्लिम विमर्श से तो जन समुदाय परिचित हैं लेकिन अल्पसंख्यक विमर्श से नहीं । वैसे तो इस समय की सबसे बड़ी समस्या विमर्शों की होड़ है, जिसमें प्रत्येक चीजों को विमर्शों के केनन से देखा जा रहा है । यहाँ तक कि प्रारंभिक साहित्य में जबरन विमर्श ढूंढने की मुहिम भी जारी हो गयी है । ऐसे समय में किसे 'विमर्श' के खांचे में स्थापित किया जाए यह एक सबसे बड़ी चुनौती है । यहाँ समझने वाली बात यह है कि

‘विमर्श’ कोई आकर्षक नाम नहीं है जो लोगों को आकर्षित करता है बल्कि वह एक वैचारिक बहस है, जिसमें नए नजरिये से हमारे बीच समस्याओं को देखने की पहल है। उसे दूर करने की कोशिश और जद्दोजहद है। लोगों ने इसके अर्थ को बहुत हल्का बनाना प्रारंभ कर दिया है। ऐसे में अल्पसंख्यक विमर्श के समक्ष भी यह चुनौती है कि इसे विमर्श के रूप में देखा जाए या नहीं। बहुत से आलोचक अल्पसंख्यक विमर्श के सपक्ष में नहीं हैं। उनका मानना है कि अल्पसंख्यक विमर्श जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, अगर यह मान भी लिया जाए तो ‘मुस्लिम विमर्श’ ही इस का रूपांतरित रूप होगा। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुस्लिम विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श की एक शाखा है। जिसमें मुस्लिम समुदाय के अतिरिक्त अन्य समुदाय भी शामिल हैं। किन्तु यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यक विमर्श में मुस्लिम समुदाय ही वैचारिक बहस में शिरकत कर रहा है जबकि अन्य वर्ग इससे महरूम हैं। मुस्लिम विमर्श को इसलिए भी अल्पसंख्यक विमर्श के अंतर्गत रखना ज्यादा तार्किक है क्योंकि मुस्लिम समुदाय संवैधानिक दृष्टि से अल्पसंख्यक है। भले ही अल्पसंख्यक समुदाय में आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से मुस्लिम समुदाय ज्यादा पिछड़ा हुआ है। किन्तु अन्य अल्पसंख्यक समुदाय की समस्याएँ भी लगभग मुस्लिम समुदाय जैसी ही हैं। मुस्लिम विमर्श ने एक तरह से सांप्रदायिक और अलगाववादी पहल को जन्म दिया है।

बहरहाल अब अल्पसंख्यक विमर्श के समक्ष यह प्रश्न खड़ा होता है कि अगर मुस्लिम समुदाय ही इस विमर्श के केंद्र में है और अन्य समुदाय चुप्पी साधे हुए हैं तो इसे क्यों अल्पसंख्यक विमर्श कहा जाए। पर इस समय यह बात सोचने वाली है कि अगर कोई वर्ग साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं कर रहा है तो क्या है मान लिया जाए कि उनकी कोई समस्या ही नहीं है। हमें वहाँ यह देखना आवश्यक है कि उनसे सम्बन्धित साहित्य है या नहीं। अब यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अल्पसंख्यक समुदाय के अन्य वर्ग जैसे बौद्ध, जैन, सिख आदि पर लेखन कार्य प्रारंभिक दौर में भी हुए हैं और अभी भी हो रहे हैं। समकालीन दौर में अब्दुल बिस्मिल्लाह का ‘झीनी झीनी बिनी चदरिया’(पसमांदा मुस्लिम की समस्या), अपवित्र आख्यान, कुठाँव, आदि। अनवर सुहैल के उपन्यास ‘पहचान’ में मुस्लिम और सिख समस्या, ‘ग्यारह सितम्बर के बाद’ कहानी में मुस्लिम और सिखों की समस्या, सच्चिदानंद चतुर्वेदी का ‘पिघलेचेहरे’ उपन्यास सिख दंगों पर, मधुकांकरिया

का 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास जैनों पर आधारित है, आदि ऐसे अनेक साहित्य उपलब्ध हैं | ऐसे में अगर यह मान लिया जाए कि अल्पसंख्यक विमर्श है ही नहीं तो अल्पसंख्यक समुदाय की समस्याओं की अभिव्यक्ति देता साहित्य ही निरर्थक होगा | साथ ही उनके साहित्यिक चिंताओं पर भी प्रश्न चिह्न लग जाएगा | ऐसा देखा जाता रहा है कि जब भी किसी विमर्श की शुरुआत होती है तो उसे निरर्थक बनाने का प्रयास होता रहा है, उन पर प्रश्न चिह्न लगते रहते हैं | किन्तु तब यह ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि यह विमर्श हमारे लिए कितना प्रासंगिक है | बहरहाल इन विमर्शों की कसौटियों से पार पाते हुए 'अल्पसंख्यक विमर्श' समकालिक समाज की जरूरत है | क्योंकि अल्पसंख्यक विमर्श संकीर्ण मानसिकता के इतर एक व्यापक परिभाषा को लिए उपस्थित है | यह विमर्श धार्मिक संकीर्णता को दूर कर एक समुदाय की समस्याओं को लेकर उपस्थित है जो बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक की राजनीति को चुनौती देता है | इस विमर्श में अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक जैसे बहुप्रचलित नामों के मध्य दो वर्गों की दृष्टि समाहित है | एक तरफ इस विमर्श में अल्पसंख्यक समुदाय की अपनी समस्याएँ प्रस्तुत हैं तो वहीं बहुसंख्यक समुदाय का अल्पसंख्यक समुदाय के प्रति दृष्टिकोण भी सम्मिलित है | यह विमर्श एक तरह से अल्पसंख्यक समुदाय के आन्तरिक और बाहरी कारकों को प्रस्तुत करता है |

### 8.3.2 विवेच्य उपन्यास

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास अब्दुल बिस्मिल्लाह की उन क्लासिक रचनाओं में गिनी जाती है जिसे आगामी पीढ़ी को भेंट के रूप में दिया जा सकता है | यह उपन्यास बनारस और उसके आस-पास के बुनकरों को आधार बना कर लिखा गया है | बनारस में मजदूर बुनकरों के शोषण और पीड़ा को इस उपन्यास में उठाया गया है | "आर्थिक शिकंजे में ग्रस्त यहाँ के बुनकरों का रहन-सहन इतना निम्न स्तर का है कि वे स्वयं कपड़ा बुनकर भी अपने बच्चों को कपड़ा पहना नहीं पाते | घर के नाम पर इन्हें कच्चे सीलन-युक्त अथवा टीन शेड के मकानों में रहना पड़ता है | मामूली-सी वर्षा में घर कीचड़युक्त हो जाता है, फिर भी वे इस नारकीय जीवन को बिताने के लिए मजबूर हैं |"<sup>500</sup> इस उपन्यास में लेखक की आकांक्षा है कि - "आखिर वह दिन कब आयेगा जब एक आम मजूर बुनकर भी

<sup>500</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-142

एक बेहतर ज़िंदगी जी सकेगा ? वह एक मजूर नहीं, बल्कि एक फ़नकार समझा जाएगा।<sup>501</sup> इस उपन्यास का मुख्य पात्र के जरिए उपन्यासकार यह स्पष्ट करते हैं कि मतीन कैसे कलाकार/बीनकार से मजदूर में तब्दील हो जाता है। मतीन के घर अब करघा नहीं है करघे को बेच कर वह अपनी मौलिक आवश्यकता को पूरा करता है। लेखक उसकी आर्थिक स्थिति को व्यक्त करते हुए लिखते हैं -“मतीन के घर में करघे की जगह सिर्फ एक गड़ढा शेष रहा और रह गए खुदे हुए करघे के निशान। खट-खट की आवाज गायब हो गई। घर एक अनंत सन्नाटे में डूब गया। और मतीन को लगा कि वह असमय ही बूढ़ा हो गया है। अगले दिन वह हाजी अमीरुल्ला की कोठी में एक मजूर की हैसियत से गया, बानी पर बिननेवाले बुनकर की हैसियत से नहीं। जहां कुछ लोग मजूर से बानीवाले, बानीवाले से बिक्रीवाले और बिक्रीवाले से ‘गिरस्ता’ में बदलते जा रहे थे वहीं मतीन था कि बानी पर बिनते -बिनते मजूर हो गया था।”<sup>502</sup> यह उपन्यास वैसे तो बुनकरों की आर्थिक समस्या पर ही आधारित किन्तु इसकी पृष्ठभूमि मुस्लिम समाज की रही है जिसमें एक ओर मुस्लिम समाज के लोगों का आर्थिक संकट तो दूसरी तरफ उनके पिछड़ते चले जाने के पीछे की वजह को भी प्रस्तुत किया गया है। रचनाकार इस उपन्यास में मुस्लिम समाज के पिछड़ने के पीछे कारण के जिम्मेदार स्वयं मुस्लिम समाज तथा उनकी दकियानूसी सोच तथा शिक्षा के प्रति पिछड़ेपन को स्वीकार करते हैं। शिक्षा की कमी के कारण ही मतीन जैसे गरीब मुस्लिम हाजी अमीरुल्लाह और सेठ गजाधर के शोषण का शिकार होते हैं। लेखक इस उपन्यास में अंग्रेजी शिक्षा की ओर इशारा करते हुए इकबाल के जरिए मुस्लिम समाज की समस्याओं का निदान ढूंढते हैं। “और अचानक उसकी निगाह अपने लड़के की ओर घूम जाती है, जो अंग्रेजी के शब्दों की मीनिंग याद कर रहा था - सी ए टी कैट, कैट माने बिल्ली। डी ओ जी डॉग, डॉग माने कुत्ता ... मतीन देर तक इकबाल को और उसकी उस किताब को देखता रहता है, जिसकी भाषा वह नहीं समझता।”<sup>503</sup>

एक ओर जहां आम बुनकर अमीरुल्लाह और सेठ गजाधर जैसे लोगों से शोषित हैं तो वहीं दूसरी ओर सरकार की ओर से भी उनकी प्रताड़ना कम नहीं है, जो उन्हें बुनकर होने का दर्जा तक नहीं देता। साथ ही रेशम जैसे कच्चे माल में होती बढ़ोतरी भी उनकी

<sup>501</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-67

<sup>502</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-66

<sup>503</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-67



दूसरी बड़ी समस्या बन कर उभरी है । “बुनकरों ने बताया कि सरकार की निगाह में हम बुनकर नहीं हैं । बुनकर वे हैं जो मिल तथा साइजिंग खोलकर शोषण तथा ऋण-अदायगी में आनाकानी करते हैं । हम तो इनके यहाँ मजदूरी पर कार्य करते हैं । .. बुनकरों ने आरोप लगाया कि स्थानीय हस्तकरघा निगम में गरीब बुनकरों का कपड़ा नहीं खरीदा जाता, क्योंकि वे निगमवालों को खुश नहीं कर पाते । सूत, रेशम ऊन, स्टेपुल तथा केमिकल्स आदि के मूल्यों में वृद्धि से बुनकर अलग परेशान हैं ।”<sup>504</sup> गरीब बुनकर यहाँ कैसे मजदूर बुनकर बनने के लिए विवश है यह दिखाया गया है ।

“सरकार ने बुनकरों के लिए काफी सहूलियतें दे रखी हैं अब तो । शेयर कैपिटल है, आर. बी. आई. है, कहीं से भी वह लोन ले सकता है । लोन लेकर अपना निजी धंधा शुरू कर सकता है ।”<sup>505</sup> सरकार के दिए हुए प्रलोभन को देख कर मतीन तीस मेम्बर की सोसाइटी का निर्माण करता है किन्तु हाजी अमीरुल्लाह के षड्यन्त्र के तहत मतीन को कोई लोन नहीं मिलता । मतीन के मानस में अपने जैसे लोगों को बानीवाले बना कर उनकी स्थिति को सुधारने की रही है किन्तु हाजी अमीरुल्लाह के मानस में बानीवालों को मजूर बना कर उनसे फायदा कमाना रहा । हाजी अमीरुल्लाह के सहारे लेखक यह स्पष्ट कर देते हैं हाजी हो कर भी वह इस्लाम धर्म के सिद्धांतों पर नहीं चलते बल्कि इसके स्थान पर गैर कानूनी तरीके से मजूर का शोषण करते हैं । आज की व्यवस्था में लोग धार्मिक मान्यताओं से ज्यादा अपनी शौकिया आवश्यकताओं को पूरे करने के हिमायती हैं । ऐसे लोग हर संप्रदाय और धर्म में होते हैं । यहाँ लेखक का ये आशय कतई नहीं है कि हाजियों का असम्मान करें किन्तु उनकी सोच में धार्मिक सिद्धांतों के बदलते स्वरूप और राजनीतिक भ्रष्टाचार को दिखाना रहा है ।

रचनाकार की सोच मुस्लिम के बरक्स हिन्दू को शोषणकर्ता का हिमायती दिखाना कतई नहीं रहा इसलिए जहां उन्होंने सेठ गजाधर बाबू को आधार बनाया वहीं हाजी अमीरुल्लाह जैसे पात्र को चित्रित कर यह सिद्ध किया कि व्यवस्था में अपना उल्लू सीधा करने वाले न तो कोई जात से संबंध रखते हैं न धर्म से । साथ ही लेखक मुस्लिमों के कट्टर समर्थक भी नहीं दिखाई देते बल्कि तटस्थ हो कर मुस्लिम समाज का मूल्यांकन करते हैं । साथ ही मुस्लिम समाज से संबंध रखने के बावजूद वह उनके हिमायती नहीं दिखाई देते बल्कि

<sup>504</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-143

<sup>505</sup> झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ. सं.-17-18

मुस्लिम समाज में स्थित रुढ़िवाद- हलाला, पुनर्विवाह आदि का विरोध करते हैं । इस उपन्यास में पाकिस्तानपरस्ती जैसे मुद्दों को प्रस्तुत कर लेखक मुस्लिमों में स्थित दकियानूसी सोच को प्रस्तुत करते हैं । साथ ही यह भी चित्रित करते हैं कि ऐसी क्या वजह रही है जिसके कारण आज भी मुस्लिम समाज खुद को अलग-थलग रखता आया है । अपनी पहचान को सुरक्षित न रख पाने अब इंसानियत लोगों में कहाँ बची रह गयी है, पैसों का ही बोल वाला है कहा जाता है-‘यहाँ बाप बड़ा न भईया सबसे बड़ा रुपैया’। खैर जो भी हो वह अपनी ‘पहचान’ तलाशना चाहता है, इसमें उसका साथ देती है सनूबर जो उसकी प्रेयसी है ।

अंत में यह साबित हो जाता है कि जातीय पहचान से बढ़कर जरूरी है व्यक्ति को आर्थिक रूप से मजबूत होना, और उसके लिए जरूरी है तकनीकी दक्षता, कुशलता प्राप्त करना । यह उपन्यास कमोबेश शिक्षा के महत्त्व को भी रेखांकित करता है । अतः यह उपन्यास निम्न मध्यवर्गीय अल्पसंख्यक समाज का प्रतिनिधि चरित्र है, जो अपने बनने की प्रक्रिया में हमें अपनी स्मृतियों के साथ उस पूरे परिदृश्य से परिचित कराता है । जिसमें साम्प्रदायिक ताकतों की राष्ट्रीय राजनीति में घुल मिल जाने के बाद आज भारत का मुस्लिम तबका रह रहा है । इस उपन्यास में यह स्पष्ट किया गया है कि मीडिया का भी बड़ा रोल होता है साम्प्रदायिक दंगों को बढ़ावा देने में । इस उपन्यास में मीडिया किस तरह न्यूज़ क्रियेट करता है इसका भी वर्णन देखने को मिलता है । जैसे - “ये देखिये हाथ में पेट्रोल से भरी बोतलें लिए औरतें आगे बढ़ रही हैं । ये देखिये हरे रंग में पुता हुआ एक खास जाति के लोगों का मकान, पर्दे की ओट से झांकती बुर्का ओढ़े औरतें, छत पर पत्थर-ईंट इकठ्ठा करते बच्चे, नमाजें अदा करते बच्चे...ये देखिये हमारे संवाददाताओं के साथ जनता कैसे बर्ताव कर रही है...रात नौ बजे पूरे घटना-क्रम पर फिर एक बार निगाह डालता हमारा दंगा-विशेष देखना न भूलें..।”<sup>70</sup> इस तरह उपन्यास में ‘गोधरा कांड’ के बाद हो रहे मारकाट के दृश्य का भी सजीव चित्र उपस्थित किया गया है ।

इस उपन्यास में अल्पसंख्यक वर्ग की मनोदशा, उनके अन्दर आ रही असुरक्षा की भावना, उसकी राष्ट्रीयता पर संदेह, सांस्कृतिक पहचान का संकट तथा उसके दोयम दर्जे की स्थिति रेखांकित है । इसके लिए लेखक केवल बाहरी कारकों को जिम्मेदार नहीं मानता बल्कि उसके साथ-साथ स्वयं मुस्लिम समाज में दकियानूसी विचारों और कट्टरता को समान रूप से जिम्मेदार मानता है ।

मीडिया द्वारा अल्पसंख्यक विशेषकर मुस्लिम वर्ग की आतंकवादी के पर्याय के रूप में छवि बनाने की खुल कर आलोचना करता है। अनवर सुहैल भारतीय मुसलमानों की जिंदगी पर पड़ने वाले समसामयिक प्रभावों को गहराई से पकड़ते हैं। 'पहचान' नयी तकनीक आधारित दुनिया में 'पहचान' तकनीक के सहारे भाषा को जोड़ने पर बल देने वाली रचना है। अल्पसंख्यक वर्ग को भी नयी टेक्नोलॉजी के माध्यम से अपनी अभिनव 'पहचान' बनानी होगी जिसका रास्ता आधुनिक शिक्षा एवं तकनीक आधारित कौशल से निकलता है। यहाँ लेखक का जीवन-दर्शन अभिव्यक्त हुआ है जिसमें अल्पसंख्यक युवाओं को दिशा एवं ज्ञान दोनों लेखक ने दिए हैं। यह उपदेशात्मक रूप में नहीं है। समकालीन-सृजन में समस्या तो इंगित की जाती है लेकिन विकल्प एवं समाधान देना लेखक का उद्देश्य भी होना चाहिए। अनवर सुहैल यह समाधान और लेखकीय दायित्व-बोध दोनों को एक साथ ले कर चलने वाले लेखक हैं।

### **‘मेरे दुःख की दवा करे कोई’**

19 वीं शताब्दी और 20 वीं शताब्दी में भले ही बहुसंख्यकों में महिलाओं को लेकर जितने पूर्वाग्रह रहे हों वर्तमान के सन्दर्भ में उनमें तब्दीली आई है। वे शिक्षा लेने के लिए, बाहर निकलने तथा नौकरी पर जाने आदि के स्तर पर आगे बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। वहीं मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति 21वीं सदी में आते हुए भी विपरीत दिखाई देती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जहाँ शिक्षा के मामले में स्वाधीनता नहीं है वहाँ नौकरी और बाहर निकलने के मामले में तो सोचा ही नहीं जा सकता। जहाँ औरतों की शिक्षा का औसत 39.42% है, वहीं मुस्लिम औरतों की शिक्षा का औसत 11 प्रतिशत है। इनमें भी कुछ ही लड़कियाँ हाई स्कूल तक की ही पढ़ाई पूरी कर पाती हैं। शिक्षा की इसी कमी के कारणों को अनवर सुहैल 'सलीमा' उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार शिक्षा के मामले में मुस्लिम समाज लड़का या लड़कियों के मामले में कम रुचि लेता है। इसका एक कारण उनका पूर्वाग्रहों से ग्रसित होना भी है। उनके अनुसार जितना पढ़ लो मुस्लिमों को कहाँ नौकरी मिलती है? साथ ही औरत जात दुनियावी तालीम लेकर क्या करेगी दिनी तालीम ही उसके लिए काफी है। उसे कौन सा अफसर बनना है? उनकी दृष्टि में मुस्लिम लड़कियाँ 'पराई अमानत' होती हैं। दूसरा कारण आर्थिक भी है जिसे दो वक्त की रोटी के लिए सोचना पड़े वे पढ़ने के बारे में कैसे सोच सकते हैं? उनकी स्थिति आर्थिक दृष्टि से भारत के पिछड़े वर्ग दलित और आदिवासियों से बेहतर नहीं है!

‘मेरे दुःख की दवा करे कोई’ उपन्यास में गरीबी और पितृसत्ता दो पाट हैं, जिससे सलीमा जूझती हुई नजर आती है। यह उपन्यास पुरुषवादी समाज की सच्चाई को भी प्रस्तुत करता है। साथ ही आधुनिक मुस्लिम स्त्री के उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का आकलन भी प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र सलीमा सपनों के इस दौर में भाग खड़ी होती हुई वास्तविक जीवन की क्रूर सत्य से वाकिफ होती है। जहाँ रोज कुआँ खोद पानी का सबब है। उसके पास हुनर तो है लेकिन पूँजी नहीं है। उसके दिल में अक्रीदा तो है कि वह दो वक्त के रोटी का जुगाड़ कर पाएगी किन्तु गरीबों की ज़िन्दगी उनके अनुरूप नहीं गढ़ी जाती है बल्कि गरीबी उन्हें अपने अनुरूप गढ़ लेती है। तब पाप-पुण्य जैसे सवाल प्राथमिक नहीं रह जाते हैं। “गरीब का जीवन उस गर्म तवे की तरह है जिसमें सुविधाओं की बूँदें पड़ती हैं तो छन से भाप बन कर उड़ जाती है।”<sup>506</sup> सलीमा एक ऐसी नारी है जो विपरीत परिस्थिति में लगातार जूझती रहती है और इसी बीच वह अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए तत्पर है। इस विकृत परिस्थितियों में भी सलीमा अपनी जिम्मेदारियों को निभाती है। उसकी इस दशा के लिए अनेक कारक जिम्मेदार हैं जिनमें एक प्रमुख कारक आर्थिक है। घर की परिस्थितियों के कारण सलीमा को बाल यौन शोषण का भी शिकार होना पड़ता है। उसके स्कूल के अध्यापक गंगाराम सर आठवीं में पढ़ती सलीमा को यह एहसास दिला ही देते हैं कि गरीबी के मारे को तो भगवान भी सहारा नहीं देते। रचनाकार सलीमा के संबंध में कहते हैं कि-“ऐसा नहीं की सलीमा की काया खुबसूरत और देह गदराई हुई थी, वह बस एक लड़की थी। और उसका लड़की होना ही दोष था। लड़की और वो भी निर्धन परिवार की ...गरीबी की मार खाई सूखी सी काया, पतले-दुबले काठ-पैर, कंकाल-नुमा चेहरा पर चुंधियाई आँखें और चिपके गाल से बाहर निकलते डेढ़ दाँत...इतने बेरौनक, कुरूप, बदरंग जिस्म की मालकिन सलीमा किसी भी कोण से आकर्षक नहीं थी। लेकिन फिर भी लोलुप समाज ने सलीमा की कुरूपता में छुपी चमक खोज ली।”<sup>507</sup> गरीब होना ही उसके लिए सभी समस्याओं की जड़ रहा। आर्थिक दशा की इसी गिरावट के कारण वह अपने जिस्म को हथियार बनाती है। उसको यह अहसास हो गया था कि आठ-दस घंटे की हाड़-तोड़ मेहनत के बाद भी उसके अब्बू इतना पगार नहीं कमाते थे जितना कि सलीमा ने गंगाराम सर के हाथों से कमाए थे। उसने अभाव को दूर करने

<sup>506</sup> मेरे दुःख की दवा करे कोई, अनवर सुहैल, पृ.सं.-17

<sup>507</sup> मेरे दुःख की दवा करे कोई, अनवर सुहैल, पृ.सं.-33-34

का शॉर्टकट अपना लिया था । इसी से मिले पैसे से अंत में एक आटा चक्की की दुकान खोलती है जिससे उसकी दुनिया का गुजर बसर हो सके । इसलिए रचनाकार लिखते हैं - “ज़माने की ठोकरों से उसने जान लिया कि औरत को अल्लाह ने मर्दों की तुलना में एक अतिरिक्त कुदरती औज़ार दिया है । जिस्म का हथियार । औरत के लिए एक ऐसा हथियार है जिस्म जो उसकी ताकत भी है और उनकी कमजोरी भी ।”<sup>508</sup>

14 जून 2001 में नव भारत टाइम्स में एम. हसीन ‘शिक्षा नहीं उनकी चिंता में शामिल’ शीर्षक से एक लेख लिखती हैं । उसमें वह स्पष्ट करती हैं कि इन दिनों संपन्न इस्लामी फिकह के चार दिवसीय अधिवेशन के बाद भी किसी की दृष्टि स्त्री शिक्षा और आर्थिक दुर्दशा की ओर नहीं गयी । उस अधिवेशन में 150 उलेमाओं ने भाग लिया था, अलग-अलग देशों से विद्वानों ने भी भाग लिया था । जिसमें देश भर के प्रभावी संस्थान जैसे -ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड, दारुल उलूम देवबंद, नदवातुल-उलूम लखनऊ, इमारते-शरिया बिहार आदि आये पर किसी की दृष्टि स्त्री शिक्षा, बुर्के से आजादी, आर्थिक आजादी तथा रोजगार और बाहर निकलने की ओर नहीं गयी । परिवर्तन के इस दौर में कठमुल्लों और उलेमाओं ने इसको अंगीकार नहीं किया है । हैरत तब होता है जब इस्लाम को मानने और समझने वाले पैगम्बर मुहम्मद की बातों को नहीं समझना चाहते हैं -‘उनका मानना था यदि तुमने एक पुरुष को पढ़ाया तो एक व्यक्ति को पढ़ाया और यदि तुमने एक महिला को पढ़ाया तो एक कुनबे को पढ़ा दिया ।’ आधुनिक परिवर्तन के इस दौर में अब आवश्यक है ‘दिनी तालीम’ के साथ ‘दुनियावी तालीम’ दी जाए ।

मुस्लिम स्त्रियों से संबंधित एक अन्य मुद्दा ‘हलाला’ में उठाया गया है । पर्दापर्था तो उनके लिए समस्या है ही साथ में चार शादियों (बहु-विवाह) और तलाक़ का कहर भी मुस्लिम स्त्रियों पर ज्यादा है । किन्तु मजे की बात यह है कि अरब देशों में जो हिजाब की प्रथा है जिसे भारत का पूरा मुस्लिम समुदाय स्वीकारता है उसका ताल्लुक ‘कुरान’ से नहीं है । ‘कुरान’ में कहीं जिक्र नहीं है कि औरतें अपने चेहरे सहित सर से पाँव तक कपड़ा ढके । इसका सम्बन्ध ‘कुरान’ की बजाए रिवाज से है । ‘कुरान’ में बस ये अपेक्षाएँ की गयी है कि औरतें ऐसे पोशाक पहने जिसमें यौन आकर्षण का दिखावा न हो, जिससे पुरुषों

---

<sup>508</sup> मेरे दुःख की दवा करे कोई, अनवर सुहैल, पृ.सं.-18

का ध्यान उसकी ओर न जाए । किन्तु कुछ उलेमाओं ने 24:31 की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि औरतों को अपना हाथ और चेहरा खुला रखने की इजाजत है । इससे यह स्पष्ट होता है कुछ गलत व्याख्याकारों के कारण बुर्का जैसी प्रथा ने जड़ जमा लिया है ।

साथ ही बहु-विवाह की जो प्रथा है यह प्रथा भी विशेष स्थितियों में ही एक से अधिक विवाह करने की इजाजत देती है । जैसे विधवाओं की संख्या समाज में काफी बढ़ गए हों और इससे समाज में बुराई फैलने का डर हो । “जामिया मिल्लिया इस्लामिया के इस्लामी स्टडीज विभाग के प्रोफेसर जुनैद हारिस कहते हैं -इस्लाम में एक से अधिक शादी की इजाजत जरूर दी गयी है । लेकिन न इसे आवश्यक बनाया गया है और न ही इसे बढ़ावा देने की बात कही गयी है, बल्कि इसके लिए कुछ शर्तें भी रखी गयी हैं ।”<sup>509</sup> अतः इसके लिए भी ‘कुरान’ के गलत व्याख्याकार जिम्मेदार हैं ।

पर्दा-प्रथा और बहुविवाह की प्रथा के गलत व्याख्याओं को जैसे लोगों ने अंगीकार कर लिया है ऐसे ही स्थिति ‘हलाला’ के साथ है । मुख्य रूप से ‘हलाला’ का दंश मुस्लिम स्त्रियों के लिए सबसे ज्यादा भयावह है । जिसमें ‘तलाक़’ शब्द के उच्चारण करने के फलस्वरूप दंड का विधान है । ‘कुरान’ में सूरह अल-बकरा की आयत 231 का सार है, “जब तुम औरतों को तलाक़ दे दो और उसकी इद्दत अवधि(3 माह 10 दिन) पूरे होने को आ जाए तब या तो भले तरीके से उन्हें रोक लो या भले तरीके से उन्हें विदा कर दो । महज सताने की खातिर उन्हें न रोके रखना, यह ज्यादाती होती ।”<sup>510</sup> तथा दूसरा आयत 232 का सार है- “पहले शौहर से तलाक़ के बाद औरत शादी कर लेती है लेकिन दूसरा शौहर भी उसे तलाक़ दे देता है या मर जाता है, तब औरत के इद्दत अवधि पूरी कर लेने के बाद अगर दोनों(पूर्व पति-पत्नी) को परस्पर विश्वास हैं तो फिर एक हो सकते हैं ।”<sup>511</sup> ‘कुरान’ की दोनों आयतों में कहीं भी ‘हलाला’ का जिक्र नहीं हुआ है । और इसमें यह भी नहीं बताया गया है कि पहले पति से निकाह टूटने के बाद दूसरा विवाह करना जरूरी है या पहले पति से विवाह करने के लिए दूसरा विवाह आवश्यक है । किन्तु लोक-प्रचलन में यही अवधारणा विद्यमान है । लोगों में ये अवधारणा का जन्म कब और कैसे हुआ यह एक सबसे बड़ा प्रश्न है ? इन अवधारणाओं के जड़ की तलाश करते हुए यह पाया गया

<sup>509</sup> [www.bbc.com/hindi/india/2009/08/090810four\\_wives\\_muslim](http://www.bbc.com/hindi/india/2009/08/090810four_wives_muslim)

<sup>510</sup> पवित्र कुरान, अनु-मौलाना मुहम्मद फारुख खां(अरबी से उर्दू), डॉ. मुहम्मद अहमद (उर्दू से हिंदी) पृ.सं.-37-38

<sup>511</sup> पवित्र कुरान, अनु-मौलाना मुहम्मद फारुख खां(अरबी से उर्दू), डॉ. मुहम्मद अहमद (उर्दू से हिंदी) पृ.सं.-37-38

कि मुस्लिम समाज 'कुरान' की तिलावत तो करता है किन्तु इसके अर्थ से अधिकांश जनसमुदाय परिचित नहीं है। उनमें यह अंधविश्वास भी है कि 'कुरान' का अर्थ उन लोगों को नहीं जानना चाहिए। इससे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि इस तरह की गलत चीजों के प्रचार के लिए 'कुरान' के व्याख्याकार और कठमुल्ले जिम्मेदार हैं। जिनके द्वारा लोगों को गुमराह करने की कोशिश की जाती है। आज के सन्दर्भ में देखा जाए तो मुस्लिम जनसमुदाय दिनी तालीम के नाम पर बस अनुकरण /रटन विद्या को अपनाये हुए रहते हैं। 'आज तक न्यूज' में एक रिपोर्ट के अनुसार -“अंजुमन मिन्हाज -ए -रसूल के अध्यक्ष मौलाना सैयद अतहर हुसैन दहलवी कहते हैं-अगर दो बार तलाक देने के बाद शौहर ने बीवी को तीसरी बार तलाक दे दिया तो औरत उसके लिए हलाल नहीं होगी।’ इसी मसले को मौलवियों ने 'हलाला' बना दिया।”<sup>512</sup>

किन्तु आज समाज में 'हलाला' का वह रूप प्रचलित है जो मुस्लिम औरतों के जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। आज यह मुस्लिम लोगों में प्रचलित है और उन्होंने यह धारणा बना ली है कि - 'इस्लामी कानूनों के आधार पर जब कोई व्यक्ति तीन बार तलाक कह देता है और उसी पत्नी को फिर विवाह करने का इच्छुक है, तो उसकी औरत जिसके साथ विवाह-विच्छेद हुआ है, उसे किसी दूसरे व्यक्ति के साथ पुनः विवाह करना पड़ता है। उससे मिले विवाह विच्छेद के बाद ही वह पहले पति के लिए हलाल हो सकती है। इसे 'हलाला' कहा जाता है। भगवान दास मोरवाल का 'हलाला' उपन्यास भी इसी पर केन्द्रित है। किन्तु समस्या और बड़ी तब बन जाती है जब उस औरत को अपने दूसरे पति के साथ हमबिस्तर होना पड़ता है। 'हलाला' उपन्यास में “शरीयत के मुताबिक हलाला यह नहीं होता कि खाली निकाह कराकर फिर से तलाक दिलवा दो...यह तो अल्लाह पाक की निगाह में एक और गुनाह हो गया ...ऐसे तो रोज तलाक दो और रोजाना हलाला कराओ।...हलाला के लिए सिर्फ दूसरा निकाह ही काफी नहीं है, बल्कि उस वक्त तक औरत पहले शौहर के लिए हलाल नहीं हो सकती, जब तक कि वह दूसरे शौहर के साथ हमबिस्तर न हो ले।”<sup>513</sup> कभी-कभी ऐसा भी होता है कि 'हलाला' की प्रक्रिया को पूरा करने के दौरान उसका दूसरा पति उसे तलाक नहीं देता है। ऐसे में न चाह कर भी उसे दूसरे पति के पास

---

<sup>512</sup> Aajtak.in/india-today-hindi/indiatoday-special-report/story/muslim-society-supreme-court-halala-polygamy quran-1014606-2018-07-09

<sup>513</sup> हलाला, भगवानदास मोरवाल, पृ.सं.-130

रहना पड़ता है । शरीयत के अनुसार यह सज़ा पुरुष को दी जाती है । जिसकी पत्नी को दूसरे के साथ सोना पड़ता है । किन्तु सज़ा पुरुष को नहीं औरत को ही मिलती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पुरुष का मन परिवर्तन होने के कारण वह हलाल हुई पत्नी को नहीं स्वीकार करता है । अगर 'हलाल' हुई स्त्री से पुनः विवाह कर भी ले तो उसे उलाहना ही सुनने को मिलती है । औरत दोनों ओर से ही प्रताड़ित होती है । 'हलाला' उपन्यास में नजराना, उन पुरुषों से प्रश्न करती है कि जो 'तलाक' का खेल, खेल कर औरतों को वस्तु के रूप में देखते हैं - "दादा, मेरी आबरू तो या आदमी ने वा दिन तार-तार कर दी ही, जा दिन याने चौड़ा में मेरो आसरा छीन लियो हो, और मैं एक पराया मरद के संग सोणे कू मजबूर कर दी ही । मैं तो उल्टो सारा पंचन् सू पूछणो चाहरी हूँ के तम सब अपणा- अपणा दिल पर हाथ धर के ईमानदारी सू पूछो के मोहे ऐसा आदमी के संग जाणो चाहिए, या न ?"<sup>514</sup> पितृसत्तात्मक समाज आखिर यह क्यों नहीं समझना चाहता कि औरत कोई वस्तु नहीं है, जिसे मनचाहा उसके संग विवाह कर लिया और तलाक कह कर पिंड छुड़ा लिया । नजराना भी सवाल करती है कि - " दादा, हम कोई लत्ता-कपड़ा हैं के जब जी करे पहर लेओ, और जब जी करे उन्ने उतार फेंक देओ ?"<sup>515</sup> एक तरह से उपन्यासकार ने ऐसा कह कर ऐसे पुरुषों के मुँह में तमाचा जड़ा जो औरत को वस्तु के रूप में देखते हैं । साथ ही इस ओर भी इशारा किया है कि मौलवियों के कारण ही ऐसी प्रथा आज तक प्रचलित है । यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि ऐसी प्रथा जो प्रचलन में है जिसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसे में या तो वह बदल दिए जाए या तलाक शब्द को बोलने का अधिकार पाने वाले 'पुरुषों' को ही उस दंड का अधिकारी बना दें ।

तीसरा मुख्य मुद्दा है -सुन्ना की प्रथा । पुरुषों में सुन्ना की प्रथा तो मुस्लिम समाज में व्याप्त है ही । किन्तु औरतों में भी सुन्ना की प्रथा विद्यमान है, जिससे लोग अनभिज्ञ हैं । स्त्री की सुन्नत/सुन्ना का मतलब है- उसके यौनांग के बाहरी हिस्से (भगनासा समेत उसके बाहरी ओष्ठ) को काट कर सिल देना, ताकि उसकी नैसर्गिक कामेच्छा को पूरी तरह से नियंत्रित करके उसे महज़ बच्चा पैदा करने वाली मशीन में बदला जा सके । यह प्रथा विश्व के अनेक मुस्लिम देशों में हैं । जिसमें भारत भी शामिल हैं । मुस्लिमों में 'बोहरा' जाति के लोगों में औरतों के सुन्ना की प्रथा प्रचलन में है । 'इथियोपिया में इसे

<sup>514</sup> हलाला, भगवानदास मोरवाल, पृ.सं.-178

<sup>515</sup> हलाला, भगवानदास मोरवाल, पृ.सं.-175



फलाशान नाम से जाना जाता है जो नवजात बच्ची पर किया जाता है । सुन्ना को ईजिप्ट में ताहार, सूडान में ताहुर, माली में बोलोकोली, काकिआ में बुनडु नाम से जाना जाता है । सुन्ना की प्रक्रिया अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग तरह के हैं जैसे -अफ्रीका के अमहारा में यह सुन्ना आठवें दिन में होता है, अड़ेरे, ओरोमो में चार साल से लेकर किशोरी लड़कियों का किया जाता है और सोमाली में चार से नौ साल के बीच सुन्ना करवाने की प्रथा है । नाइजीरिया तथा ईजिप्ट में मर्द लड़कियों का करते हैं । सूडान में एक खास हिस्से को आधा काट दिया जाता है, इसे सुन्ना 'काशफ़ा' कहते हैं और जननांग के बाहरी हिस्से को पूरी तरह काटने पर उसे 'मातवासात' कहा जाता है ।' सुन्नत की यह प्रथा मुस्लिम समाज की सबसे बड़ी कुप्रथा है, जिससे आज तक निजात नहीं मिल पायी है । आधुनिक शोधों के अनुसार औरतों में होने वाले सुन्ना की प्रथा का संबंध इस्लाम या धर्म से नहीं है बल्कि इसका संबंध कबीलाई जीवन के रिवाज से है । वहां के ईसाईयों में भी यह प्रथा विद्यमान है । किन्तु लोगों ने इसे मजहबी रूप दे दिया है । पुरुष और स्त्री दोनों ही इसके सहभागी हैं । मर्दों का जहाँ एक बार सुन्ना किया जाता है वहीं औरत को सुन्ना के पश्चात गुप्तांगों को बार-बार सिलाई करवाना पड़ता है । सुन्ना करवाना ही उन्हें एक पवित्र और पूर्ण औरत होने का दर्जा दिलवाता है । आश्चर्य तब होता है जब सुन्ना के पीछे उनकी कट्टर मानसिकता का पता चलता है । उनका मानना है कि नेक औरत का यह फर्ज होता है कि वह अपने शरीर से मर्दाना हिस्सा अलग करे, और एक पवित्र और पूर्ण औरत बने । जिस तरह मर्द अपने जिस्म से खतना के जरिये औरत वाला हिस्सा अलग करवा लेता है और पूर्ण पुरुष बनता है । जयश्री रॉय माहरा के जरिये प्रश्न करती हैं- "मर्दवाला हिस्सा ...! कौन सा ? ...अरे, गुप्तांग के जो बाहरी हिस्से हैं वे सब मर्दाना हिस्सा है । जो अंदरूनी कोमल हिस्सा है वही जनाना हिस्सा है !" <sup>516</sup> उनका मानना है कि अगर यह अंश ही नहीं रहेगा तो औरतों में यौन क्रिया के प्रति इच्छा भाव पैदा ही नहीं होगा । और वह कुमारी ही अपने पति के पास पहुँच पाएगी । इसका हवाला देकर लेखिका लिखती हैं -"औरत खता की पुतली होती है वह बार-बार गुनाह करती है । उसके फितरत में वफ़ा नहीं होती इसलिए उन पर नज़र रखनी पड़ती है ।" <sup>517</sup>

<sup>516</sup> दर्दजा, जयश्री राय, पृ.सं.-20

<sup>517</sup> दर्दजा, जयश्री राय, पृ.सं.-45

सबसे ज्यादा तकलीफ सुन्ना के बाद होती है - सबसे ज्यादा दर्द तब होता है जब उसी अवस्था में टट्टी-पेशाब करना पड़ता । क्योंकि सुन्ना के बाद माचिस की तिल्ली के बराबर स्थान रख कर उसे बंद कर दिया जाता । बस इतना ही स्थान रखा जाता जिसमें माहवारी और रक्तस्राव हो पाए । “पहली बार जब अपने ताजे घाव के साथ मैंने पेशाब किया था, लगा था किसी ने जख्म में तेज़ाब डाल दिया है !”<sup>518</sup> पेशाब करने में बहुत तकलीफ होती एक-एक बूंद गिरती 15-20 मिनट के बाद कार्य संपन्न होता । सुन्ना के दौरान जिन गंदे औजारों का इस्तेमाल किया जाता उससे कई लड़कियां इन्फेक्शन, टेटनस, खून में जहर, एड्स आदि के शिकार हो जाती हैं । वहां के लोगों का मानना है कि जो लड़कियां सुन्ना के बाद यातना-गृह से वापस नहीं आती, वे डायन होती हैं । डायन असीमित तकलीफें नहीं सह पाती हैं और मर जाती हैं । शिक्षित समाज में इन दकियानूसी कुप्रथा के लिए कोई जगह नहीं है । इसलिए इन सब रीति और कुप्रथा को दूर करने के लिए शिक्षा की बहुत आवश्यकता है ।

## 8.4 विवेच्य उपन्यासों में कश्मीर-संदर्भ

कश्मीरियों का इतिहास 400 साल पुराना है जिसमें 1945-46 से पूर्व उनकी स्थिति खराब नहीं थी । धार्मिक वैमनस्य नहीं था ‘कश्मीर’ की कश्मीरियत ही वेदान्त के मूल्य (जहां शंकराचार्य का मंदिर है), बौद्ध धर्म का सिद्धांत तथा सूफी धर्म की शिक्षा से बना है अर्थात् कश्मीरी संस्कृति इन तीनों के गठजोड़ से ही बनी थी । कश्मीर में नुरुद्दीन नूरानी को नन्द ऋषि के नाम से जाने वाला राज्य था जहां हिन्दू-मुस्लिम की एकता की मिसालें थी । कालांतर में भारत की आजादी के बाद 560 रियासतें थी जिसमें कुछ कश्मीर में मिल गए । तथा कश्मीर मुस्लिम बहुल राष्ट्र बन गया । कश्मीर-सैन्य दृष्टि से भी उस समय महत्वपूर्ण था । जिन्ना की यह सोच थी कश्मीर मुस्लिम बहुल राज्य है इसलिए इसे पाकिस्तान में मिला लेना चाहिए इसलिए जिन्ना ने राजा हरिसिंह पर आक्रमण भी करवाया । नैशनल कांफ्रेंस में शेख अब्दुल्ला ने भारत से मदद लिया था । शेख अब्दुल्ला की सोच थी कि पाकिस्तान में सामंतवाद है तथा आर्थिक और विचारों की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है । शेख अब्दुल्ला भारत की धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र की महत्ता से प्रभावित थे । भारत ने कश्मीर का निर्माण किया और 370 अनुच्छेद अनुबंध के तहत कश्मीर को चार मुद्दों

<sup>518</sup> दर्दजा, जयश्री राय, पृ.सं.-16

में आजादी मिली - सुरक्षा, संचार, पैसा तथा विदेशी विभाग । भारत के साथ कश्मीर के मिलने पर सांप्रदायिक ताकत ज्यादा सक्रिय हो गई । तथा उस कश्मीर का मुद्दा हल नहीं हो पाया जिसका परिणाम यह था कि आज भी कश्मीर चारों ओर से पिसा हुआ है । जो सांप्रदायिक हिंसा स्वाधीनता के समय प्रारंभ हुई विभाजन के बाद भी वह समाप्त नहीं हुई बल्कि उसने 80 के दशक से उग्रतर रूप धारण किया । जिसके परिणाम स्वरूप पाकिस्तान ने इसका अलगाववाद का फायदा उठाया और कश्मीर में अलगाववाद ने आतंकवाद में रूप धारण किया । कश्मीरी मिलिटेंन्सी का रूप बदल गया और कश्मीर में 1985-90 मिलिटेंन्सी ने सांप्रदायिक रूप ले लिया । कश्मीर में मकबूल भट्ट की हत्या, पाकिस्तान का हस्तक्षेप तथा कश्मीरी नौजवानों की बेचैनी ने कश्मीर में असंतोष का वातावरण फैला था । 1987 में हुए इलेक्शन में पैदा हुआ असंतोष ने कश्मीरी पंडितों को टारगेट किया । पाकिस्तान के (JKLF) हिजबूल मुजाहिद्दीन ने एंटी-पंडित की बात की तथा मस्जिदों से नफरत भरे नारे और डरावने मैसेज आने लगे 1989 में मुफ्ती सईद की बेटी का अपहरण हुआ तथा उनकी बेटी के बदले पाँच आतंकियों की रिहाई ने संवेदनशील जम्मू-कश्मीर की राजनीति में दूरगामी प्रभाव पड़े । उसी समय में आतंकवाद ने सिर उठाना प्रारंभ किया और 1990 में कश्मीरी पंडितों की विस्थापन की कहानी शुरू हुई । कश्मीर में पनपे आतंकवाद ने नैशनल कान्फ्रन्स के प्रमुखों को मारा इसमें 1500 लोगों की जानें गई जिसमें कश्मीरी पंडित, सिख और मुस्लिमों को भी मारा गया । इस दौर में जहां कश्मीरी पंडितों ने घर छोड़े वहीं कई कश्मीरी मुस्लिम भी निष्कासित हुए। देश के लिए सबसे शर्मनाक और दुःख की बात थी कि इस दौर में विस्थापितों की संख्या 3.5 लाख थी । यह वास्तविकता है कि उस समय सत्ता में स्थित सरकार कश्मीरी पंडितों को सुरक्षा नहीं दे सकी । कश्मीरी पंडित जहां एक ओर विस्थापित हुए वहीं उनकी आवासीय सुविधा का कोई ध्यान नहीं रखा गया वे कई वर्षों तक शरणार्थी शिविर में रहे । सबसे बड़ी विडंबना तो यह है कि आज तक उनकी समस्याओं का हल नहीं ढूंढा गया ।

कश्मीर पर हिन्दी उपन्यासों में दर्जन से भी अधिक उपन्यास लिखे गए हैं । आज कश्मीर एक ज्वलंत मुद्दा है जिसपर भारतीय भाषाओं में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं । हिन्दी में चंद्रकांता -कथा सतीसर, यहाँ वितस्ता बहती है, एलाने गली ज़िंदा है, मीरा कान्त -‘एक कोई था कही नहीं सा’; संजना कौल ‘पाषाण-युग’; मनीषा कुलश्रेष्ठ -‘शिगाफ़’, क्षमा कौल -‘दर्द पुर’, भूमिका द्विवेदी -‘शिकारी और शिकारा’, ‘नक्की तवी पर रिहर्सल’; जयश्री

राय -‘इकबाल’; आरिफा एविस - ‘नाकाबंदी’, मधु कंकरिया- ‘सूखते चिनार’, सुजाता -‘कश्मीर का दर्द’, नीरजा माधव- ‘तेभ्यः स्वधा’; सूर्य नाथ सिंह -‘चलती चाकी’; शत्रुघ्न प्रसाद - ‘कश्मीर की बेटी’, ‘क्षिप्रा साक्षी है’ आदि उपन्यास लिखे गए ।

वहीं ओड़िया में विशेष रूप से कश्मीर केंद्रित उपन्यासों में विभूति भूषण पट्टनायक के द्वारा लिखित ‘चुप युद्ध चालीछी’ उपन्यास मिला । शोध के दौरान इस पर और उपन्यास ओड़िया साहित्य में नहीं मिले इसलिए इस पर अनुसंधान की आवश्यकता है । ‘पाषाण युग’ उपन्यास कश्मीर जीवन को आधार बनाकर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है । यह उपन्यास स्वाधीनता के बाद कश्मीर में बढ़ते आतंक को प्रस्तुत करता है । मूल रूप से यह उपन्यास कश्मीर में स्थित लोगों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन और उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करता है । इस उपन्यास में लेखिका संजना कौल कश्मीर के ‘अल्पसंख्यक’ हिन्दू पंडितों की दयनीय दशा, पहचान का संकट, विस्थापन की त्रासदी, आतंकवाद के समर्थक बताए जाने की पीड़ा आदि को प्रस्तुत करती हैं । साथ ही इस उपन्यास में लेखिका कश्मीर को लेकर दो देशों में वर्चस्व और विस्तारवादी लालसा, अलगाववाद और सांप्रदायिक हिंसा को प्रस्तुत करती हैं ।

इस उपन्यास में लेखिका स्पष्ट करती हैं कि कश्मीर के हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही हिंसा करने की शक्ति नहीं है । कश्मीर में बढ़ते हथियारबंद और पाकिस्तानी मुजाहिदों के गढ़ ने आम लोगों में ऐसा डर पैदा किया है जिससे वे बढ़ते आतंक का विरोध नहीं कर पाते हैं । दूसरी ओर लेखिका यह भी स्पष्ट करती हैं कि कश्मीर में अधिकांश लोगों में मुसलमान होने के कारण धार्मिकता का आधार लेते हुए उन्हें बरगलाने की कोशिश होती रही है । जेहाद के नाम पर आम लोगों में हिंसात्मक तथा सांप्रदायिक लड़ाई को बढ़ाया जा रहा है । “दुनिया का सबसे कायर आदमी है कश्मीरी हिन्दू, वह तो हथियार उठाने से रहा । रहा यहाँ का मुसलमान तो वह मिट्टी के तेल के डिपो कर काँगड़ियाँ उछालेगा और हाय-तौबा करता हुआ घर लौट आएगा । ज्यादा बहादुर हुआ तो दरिया के दोनों किनारों पर खड़ा होकर एक-दूसरे को मुक्के दिखाएगा ।... यहाँ का जो आदमी पाकिस्तान चाहता है, वो भी बंदूक उठाने को तैयार नहीं है । कश्मीर को प्लेट में सजाकर उसे पेश करो तो वो मिठाई के टुकड़े की तरह उसे गपक लेगा, कश्मीर नाम की रसीली नाशपाती छत से टपककर लेटे-लेटे मुंह में आ जाए तो और भी अच्छा । गोली चलानेवाला

कलेजा नहीं है यहाँ के लोगों के पास ।”<sup>519</sup> लेखिका आतंक के केंद्र में स्थित समस्या को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करती हैं । लेखिका का यह उपन्यास हिन्दू और मुसलमानों में बीच दरार पैदा करने वाला नहीं है बल्कि इनके उपन्यास में ऐसे कई मुसलमान पात्र आते हैं जो इस व्यवस्था से स्वयं ही परेशान दिखाई देते हैं तथा अपने हिन्दू दोस्तों के प्रति संवेदनशील और सहयोगी हैं । “कुछ लोग बता रहे थे, शाहिद के खिलाफ इसी ने मुखबिरी की है और यह है कि मुजाहिद के खिलाफ मुखबिरी करनेवाला सबसे बड़ा गुनहगार होता है । यह दुनिया अब रहने लायक नहीं रही, भाईसाहब । ... मेरी बात सुनो सज्जाद । यह यहाँ के लोगों की बोली नहीं है । यह उन अड्डों का जहर है जहां लोगों को इकट्ठा करके इसके इन्जैक्शन दिए जाते हैं । देख लेना, अभी हालत और बिगड़ जाएगी ।”<sup>520</sup> लेखिका का पूरा का पूरा संकेत बाहरी घुसपैठ की राजनीतिक षड्यन्त्र को प्रस्तुत करते हुए कश्मीरी आम लोगों के आंतरिक डर को प्रस्तुत करने का रहा है ।

लेखिका की चिंता कश्मीर को नष्ट हो जाने की रही है । कश्मीर में बहुसंख्यक मुस्लिम और अल्पसंख्यक हिन्दू हैं । देश या राज्य जो भी हो अल्पसंख्यक उसमें पिसता जरूर है । यहाँ कश्मीरी हिन्दू बहुत हद तक विभिन्न कारणों से प्रताड़ित हैं । कश्मीर में बहुसंख्यक मुस्लिम राज्य होने की वजह से पाकिस्तान उसे पूरा प्राप्त करना चाहता है । इसी षड्यन्त्र के तहत कश्मीरी मुस्लिमों को मुजाहिदों ने बहुत हद तक बरगलाने की कोशिश की है । इसी षड्यन्त्र में कश्मीर की सुषमा तथा उसके प्राकृतिक सौन्दर्य तक नष्ट होने की ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है । आज कश्मीर के लोग इस आतंक का सामना करने के लिए अभिशप्त हैं जो न तो हिंदुस्तानियों का विरोध कर पा रहा है न पकिस्तानियों का । मूल रूप से कश्मीर के लोग इसी आतंक से विस्थापित हो रहे हैं जिसमें ज्यादातर अल्पसंख्यक हैं । उन्हें यह डर है कि कहीं वह विलीन न हो जाए । इसलिए कश्मीर से भारत के विभिन्न क्षेत्र में हिन्दू पंडितों का विस्थापन देखा गया है । अपनी जगह से उखड़ कर दूसरी जगह बसना उनके लिए आसान नहीं है । किन्तु अपने जानमाल की हानि, पारिवारिक सुरक्षा जैसी आवश्यकता ने उन्हें जबरन विस्थापन की ओर प्रवृत्त किया ।

कश्मीर में बढ़ते आतंकवादी संगठन आज सबसे बड़ी समस्या बनती जा रही है । कश्मीर में आए दिन स्कूल, कॉलेजों को बंद कर दिया जाता है । स्कूल और कॉलेज में बढ़ते

<sup>519</sup> पाषाण युग, संजना कौल, पृ. सं.-20-21

<sup>520</sup> पाषाण युग, संजना कौल, पृ. सं.-32

दहशत के माहौल से सभी डरे हुए रहते हैं । इस उपन्यास में अंजलि के कॉलेज के हवाले देकर लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि आए दिन बच्चियों और शिक्षकों को बुरका, हिजाब, परदा, नमाज़ की पाबंदी, पाकिस्तान के नारे, मुजाहिदों की तकरीरें आदि से गुजरना पड़ता है । इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि परदा न करने पर हरे रंग डालना तथा मारने की धमकी भी मिलती है । कश्मीर में स्थित अन्य संप्रदाय के लोगों को अपनी पहचान बनाए रखने की मजबूरी बनी रहती है । जो महिलाएं हिन्दू होती हैं उन्हें बिंदी लगाने की हिदायत जो पंजाबी हैं उन्हें पराँदों का इस्तेमाल करना होता है । कश्मीर की लड़कियां अपनी पहचान को छुपाये कई सारे संकटों का सामना करती हुई भी दिखाई देती हैं । इस उपन्यास की मुख्य पात्र अंजलि बिना बिंदी लगाए घर से नहीं निकलती है । यह दहशत का ऐसा शहर बन गया है जहां स्वतंत्रता दो टके में मिलती है । कश्मीर जिसे भारत का स्वर्ग कहा जाता है आज वह बारूदों और गोलियों के ढेर पर बैठा है । यह प्रदेश बाहर से भले ही अपनी सौंदर्यता से सबको आकर्षित करता हो किन्तु यहाँ के लोग इस विद्रूपता को अच्छी तरह से झेल चुके हैं । उनके लिए कश्मीर को लेकर दृष्टि भिन्न हो गई है जो आजादी और स्वतंत्रता की मांग करता है तथा चैन की साँस लेना चाहता है । “कैसा होगा उस दुनिया का आदमी जहां युद्ध नहीं होगा, शोषण नहीं होगा । बेशक दूध की नदियां नहीं बहेगी, किसी के हाथ अमृत की कलश भी नहीं लगेगा, लेकिन पानी तो सबको मिलेगा । किसी को पत्थर उबालकर खाने की जरूरत भी नहीं पड़ेगी ।”<sup>521</sup> आज कश्मीरी की यह दशा है कि वह कहीं सुरक्षित महसूस नहीं कर रहा है । रिश्तों और दोस्ती में भी सांप्रदायिकता का जहर घुल चुका है ।

कश्मीरियों को लेकर भारतीय सेना का अविश्वास तथा उनके द्वारा किया गया शोषण भी इस उपन्यास में चित्रित है । विडंबना पूर्ण बात तो यह है कि सेना और आतंकी इस मुठभेड़ में आम कश्मीरी कितना परेशान है यह अंदाजा भी नहीं लगाया जा सकता । ऊपर से उन पर आतंकी का हिमायती होना उनके देश के प्रति ईमानदारी पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है । अंजलि पर आतंकी का हिमायती होने का इल्जाम पर वह तो टूक जवाब देती हुई कहती है -“किनके साथ मुहब्बत बनी हुई है ? आतंकवादियों के साथ ? जरायमपेशा लोगों के साथ ? आपने खाकी वर्दी पहन ली, फ़ौजी बूट पहन लिए तो लोगों की इज्जत को

<sup>521</sup> पाषाण युग, संजना कौल, पृ. सं.-15-16

सरेआम उछालना आपका बर्थराईट बन गया ? मुझे ये बताइए, इतनी बड़ी गाली देने का हक आपको किसने दिया ?”<sup>522</sup> मूल समस्या तो कश्मीरियों की यह है कि आतंकवादी सेना के डर से उनके घर पर बंदूक दिखा कर जबरन घुसपैठ कर जाते हैं । दूसरी ओर सेना का आतंकवादियों का हिमायती समझ कर घर की बार-बार तलाशी उन्हें दोहरे दुःख से प्रताड़ित करता है । शशि के घर ठहरी अंजलि आतंकवादियों को देख कर सकते में आ जाती है । “कभी एक पार्टी आती है कि हमें खाना खिला दो । कभी दूसरी कि रात के लिए सोने की जगह चाहिए । हम परेशान कि छापा पड़ा या एक पार्टी दूसरे की दुश्मन निकली तो हम बेमौत मारे जाएंगे । नींद हराम हो जाती है रातों की ।”<sup>523</sup> यह देख कर ही अंजलि को आजादी की अहमियत तथा आतंकवादियों और सेना के मुठभेड़ में परेशान होती कश्मीरियों के दर्द से जुड़ पाती है । दुःख की बात तो यह है कि आज आतंक केवल कश्मीर तक सीमित नहीं है बल्कि कठमुल्लों की गंदी राजनीति अब भारत के विभिन्न क्षेत्र में हो रही है । जिससे देश में आतंकवाद और सांप्रदायिक हिंसा अपने चरम पर है ।

‘शिगाफ़’ उपन्यास के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह शब्द फारसी से लिया गया है जिसका अर्थ ‘दरार’ है । इस उपन्यास में लेखिका ने सांझी संस्कृति (कश्मीरियत), मजहब तथा इंसानियत में आयी दरार को प्रस्तुत करती हैं । इस उपन्यास में लेखिका विस्थापन की त्रासदी, कश्मीर की वास्तविक स्थिति, भारतीय सैनिकों की स्थिति, कश्मीरी पंडितों की दयनीय स्थिति और इतिहास, कश्मीरी मुसलमानों का शारीरिक और मानसिक शोषण, कश्मीरी मीडिया की स्थिति, मुजाहिदीनों की बर्बरता, कश्मीरी स्त्रियों की आर्थिक, शारीरिक और शिक्षा गत बदहाली, शरणार्थी समस्या आदि को प्रस्तुत करती हैं । कश्मीर के संबंध में लेखिका लिखती हैं कि ‘सारा विश्व आज बर्बर युग में लौट रहा है’, जहां धर्म, नस्ल, रंग और विचारधारा के नाम पर पूरी दुनिया जल रही है इससे कश्मीर भी अछूता नहीं है । कश्मीर आज बारूदों के ढेर पर बैठा है । कश्मीर को लेकर हो रही लड़ाइयों से पूरा कश्मीर घायल है, पता नहीं कब कश्मीर का अस्तित्व भी नष्ट हो जाए ? कश्मीर की कश्मीरियत जो उसकी धरोहर रही है, आज नष्ट होने के कगार पर है । दरगाहों पर मुजाहिदीनों ने कब्जा कर सूफियाना कल्चर की अमानत को खाक कर दिया है ।

<sup>522</sup> पाषाण युग, संजना कौल, पृ. सं.-70

<sup>523</sup> पाषाण युग, संजना कौल, पृ. सं.-103

“पश्चिमवालों के लिए कश्मीर महज कट्टरपंथियों के हिंसक खेल का मैदान बना रहा । यहाँ के लोगों की समस्या से वो लोग नावाकिफ रहे हैं- मुसलमानों की भी और हिंदुओं की भी ।”<sup>524</sup>

यह उपन्यास कश्मीर के उस इतिहास को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है जिस पर लोगों की दृष्टि प्रायः कम गयी है या उपेक्षित रही है । आज के कश्मीर की स्थिति के लिए राजनीतिक मुद्दे जिम्मेदार हैं जो पिछले 50 साल से अनसुलझे रहे हैं । लेखिका के इस उपन्यास के केंद्र में विभाजन की खीज इससे मिली विस्थापन की समस्या तथा शरणार्थी जीवन की समस्याएं और अस्मिता का प्रश्न तो है ही साथ ही 1980 के बाद कश्मीर का काला इतिहास भी है जिसमें सैकड़ों हिन्दू पंडितों को मौत के घाट उतारा गया । यह वही दौर है जब कश्मीर के अलगाववादी संगठनों ने पुलिस और सेना के छक्के छुड़ा दिए और हिंदुओं का कत्लेआम करना चालू किया । लेखिका ने इस उपन्यास में यह स्पष्ट किया है कि मूल रूप से इस समस्या के केंद्र में भले राजनीतिक मुद्दा रहा हो किन्तु इसे धार्मिक रंग देने की कोशिश की गयी है । इसे देखते हुए यह कहना गलत नहीं होगा कि भारत ऐसा देश है जहां धर्म और आस्था के नाम पर किसी को भी बरगलाया जा सकता है ।

आज कश्मीरी आत्मसुरक्षा के लिए जमीन से उखड़ कर दूसरे स्थान पर निर्वासित हो रहे हैं । यह निर्वासन शारीरिक और मानसिक तो है ही बल्कि हमें सांस्कृतिक विरासत से भी कोसों दूर करता है।

“मैं आज निर्वासित हूँ ... क्योंकि तुमने चुना था निहत्थों को मारना ।

मैं आज निर्वासित हूँ ...मैंने चुना सम्मान से जीना ... हथियार न उठाना ।

मैं आज निर्वासित हूँ ...क्योंकि पूरा संसार चुप रहा ... महज कुछ लोग ही तो मर रहे थे।

मैं आज निर्वासित हूँ ...क्योंकि मेरा भारतीय होने में विश्वास था ।”<sup>525</sup>

एक जगह से दूसरी जगह जड़ जमाने में उनके अस्मिता का संघर्ष, कहीं स्थिर न बन पाने की विवशता के साथ पहचान को रखने या छोड़ने की समस्या, अपनी परंपरागत जमीन और यादों को छोड़ अपने को दूसरी जगह पर न व्यवस्थित कर पाना उनकी अंतरआत्मा को प्रताड़ित करता है । मुजीब -“मैं दो साल पहले कश्मीर लौटा था मगर वहाँ

<sup>524</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-153

<sup>525</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-29



जाकर लगा कि मैं एक भगोड़ा हूँ । लोगों ने, मिलिटरी, मिलिटेंट सभी ने मुझे शक से देखा ... मैं अपनी पहचान से बचता हूँ ।”<sup>526</sup> इसी जमीन से उखड़े जाने का दर्द अर्थात् विस्थापन और शरणार्थी कश्मीरियों की छिछली अस्मिता को इस उपन्यास में दिखाया गया है । “अब्बू, फिर कश्मीर की तारीख में .. ऐसा क्या हुआ कि इस अमनपसंद तहजीब में ... हिन्दू और मुसलमान के रिश्तों में ये शिगाफ़ (दरार) आ गया ?”<sup>527</sup>

लेखिका ने इस उपन्यास में केवल एक पक्षीय दृष्टिकोण को आधार नहीं बनाया । लेखिका उपन्यास में स्पष्ट करती हैं कि कश्मीर में दहशतगर्दी ने जबरन घुस कर बंदूक की नोक पर कश्मीरियों से काम कराए । उनकी औरतों के साथ छेड़खानी की । बच्चों को जबरन उठा ले गए बंदूक पकड़ा दी । कितनों को मना करने पर मौत के घाट उतार दिए गए । मुखबिरी के दोष में कितनों की जाने लीं । उनके साथ बदसलूकी की । क्या ये सच में मुसलमान हैं जो दूसरे मुसलमान को मारने में ज़रा भी संकोच नहीं करता । यास्मिन के अब्बू कहा करते थे - “मजहब की आड़ लेकर जेहाद-जेहाद चिल्लाकर पैसा, औरत, शराब और गोश्त के लालच में कश्मीर आनेवाले ये भाड़े के जेहादी हमारे बच्चों से हमारा ही घर जलवा रहे हैं । ये हमारे हमदर्द नहीं हो सकते ।”<sup>528</sup> लेखिका उपन्यास में स्पष्ट करती हैं कि कश्मीर में इस्लाम को लेकर हमारे पूर्वाग्रह रहे हैं वे गलत हैं क्योंकि दहशतगर्दी और आतंकवादियों का कोई धर्म नहीं होता । कोई धर्म हिंसा का समर्थन नहीं करता । यह व्यवस्था और सत्ता के गठजोड़ से बना षड्यन्त्र है जिसे अमली जामा पहनाया जाता है । इस उपन्यास का पात्र वसीम जो आज कश्मीरी मुसलमानों की मानवाधिकार की बात कर रहा है उसी ने 1990-95 के बीच कश्मीरी हिंदुओं को मार कर एक बड़ा स्कोर बनाया था । यह वही दहशतगर्दी है जो इस्लाम का हिमायती बन कर हीरो बन बैठा है । किन्तु हैरत की बात यह है कि चरारे शरीफ की दरगाह को इसी ने उड़ाया था । “मेरी भी समझ नहीं आता, दरगाह बरबाद करने वाला इस्लाम का हीरो कैसे हो सकता है ?.. कश्मीरी असमंजस में हैं कि इस्लाम को वे लोग कैसे बचाएंगे जो नमाज़ियों और दरगाहों पर ग्रेनेड फेंकते हैं ? सरकार की तरफ से मिले शांति के वादे का कोई भरोसा नहीं रहा । सरकार कठपुतली

<sup>526</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-60

<sup>527</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-97

<sup>528</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-106

है। मौकापरस्त है।<sup>529</sup> यहाँ लेखिका यह भी स्पष्ट करती हैं कि कश्मीरी दोनों तरफ से परेशान हैं। वे खुद भी निर्णय लेने की स्थिति में नहीं हैं कि वे किसका साथ दें ? उपन्यास में एक दूसरा संदर्भ भी आता है जब लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि कश्मीरी चुप हैं तथा यथास्थितिवादी रुख अपनाए हुए हैं क्योंकि उसके केंद्र में आत्मसुरक्षा का सवाल है। “हमेशा से कुल मिला कर कश्मीरी मुसलमान मजहब को मानता था मगर फिर्क:परस्ती को नहीं। कश्मीरी को तो चार तरफ से मार पड़ी है। पाकिस्तान से, भारत की नीतियों से। फिर फौजी घेरा... एन्काउंटर ... ब्यूरोक्रेसी। अब तो यह तय है ... एक तरफ वह भारतीय सुरक्षाबलों से भी खुश नहीं है तो दूसरी तरफ दहशतगर्दी से भी तंग आ चुका है।<sup>530</sup> यह कहना गलत नहीं होगा कि कश्मीर दुनिया का सबसे खूबसूरत जन्नत से दोजख में तब्दील हो गया है। “आम कश्मीरी बंटा हुआ महसूस करता है। आधा जो पाक के हिस्से में है ... आधा इधर हिंदोस्तान में। उसके रिश्तेदार हैं उधर, जहां वे पहले सहज ही खच्चरों पर उनसे मिल आया करते थे, फिर एकदम दीवारें खींच गईं। आज ज़रा राहत है तो दस औपचारिकताएँ-जाँचें ...।”<sup>531</sup>

फ़ौज और उग्रवादियों ने कश्मीर में लाखों औरतों से उनका संसार छिन लिया है उनको न तो समाज से कोई सहारा है न सरकार से। हिजाब, जुल्म, आतंक, आर्थिक तंगी से परेशान औरतें विवश हैं ऐसी ज़िंदगी जीने के लिए। कश्मीरी औरतें बस शांति चाहती हैं जिन्हें बुर्का या ऐसिड का चुनाव मिलता है। जिन औरतों ने कश्मीर छोड़ दिया है वे स्वतंत्र हैं किन्तु जो यहाँ रह गयी हैं उनकी स्थिति और पिछड़ती गयी है। हर दिन विधवाओं की नई फसल तैयार होती है। “मेरे कश्मीर की मुसलमान औरत ... मैं उनके बारे में जान कर तकलीफ में हूँ। ... कौन ज्यादा दुःख में है - हम, जो वहाँ से भगा दी गईं ... मार दी गईं ... जला दी गईं ... या वो वहाँ लगातार भाग रही हैं अपने वर्तमान से, रोज मर रही हैं ... ? ... सियासी दांव-पेंचों छद्म युद्ध, आतंकवाद से उनका क्या वास्ता ? वे घर चाहती हैं, दो वक्त के गुज़ारे लायक रोजगार और सुरक्षा। मेहनतकश, सुंदर कश्मीरी औरतें, जो अपने मर्दों के साथ रोजगार में पूरा साथ देने वाली हुआ करती थीं, आज हताश

<sup>529</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-25-26

<sup>530</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-24

<sup>531</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-171

हैं ? ...कभी वे मुक्त होंगी ?”<sup>532</sup> कश्मीर के दहशतगर्द नहीं चाहते कि यहाँ की लड़कियाँ और युवा शिक्षा अर्जन करें । इन्हें दुनिया की सारी खबरों से काट दिया जाता है जिससे वे यहाँ के युवा का मति भ्रष्ट कर सकें न उनमें सोचने-समझने ताकत बचे, सिर्फ धर्म का चोला पकड़ाकर लोगों को बस गुमराह किया जाता है ।

कश्मीर में जहाँ कश्मीरी सुरक्षित नहीं हैं वहीं भारतीय सैनिकों तथा मीडिया कर्मियों को भी बहुत से खतरों का सामना करना पड़ता है । हर दिन उन्हें इस जीवन का डर लगा रहता है । सैनिकों की ज़िंदगी के संबंध में लेखिका लिखती हैं कि - “जो यहाँ हैं उन्हें क्या मिलता है ? परिवार से दूरी ! जंगलों की खाक... चप्पे-चप्पे पर बिछी बारूदी सुरंगों पर सैर, राइफल थामे-थामे घंटों की लंबी ड्यूटी पर चौकन्ने बने रहना अपनी ही नहीं, दूसरे की जान की जिम्मेदारी अपने काँधों पर लिए ।”<sup>533</sup> कश्मीरी मीडिया को भी आतंकी कई बार धमकियाँ देते रहते हैं यह मीडिया तो मिलिटेंट और मिलिटरी दोनों की आँखों की किरकिरी बन जाता है ।

### **चुप युद्ध चालिछी :**

‘चुप युद्ध चालिछी’ उपन्यास कश्मीर के ज्वलंत मुद्दे पर आधारित है । इस उपन्यास में अभय नायक सैनिक पर कथा का तानाबाना बुना गया है । इस उपन्यास में दो कथा एक साथ चलती है जिसमें एक कथा कश्मीर से संबंधित है । लेखक सैनिक अभय नायक के जरिए कश्मीर की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति को प्रस्तुत करने के साथ-साथ कश्मीरियों की मनोदशा तथा कश्मीर में स्थित सैनिकों की सुरक्षा जैसे मुद्दों को प्रमुखता से उठाता है । लेखक विभूति पट्टनायक इस उपन्यास में यह स्पष्ट करते हैं कि ‘धर्मयुद्ध’ के नाम से जो कश्मीर में जो युद्ध चल रहा है, इससे वहाँ के कश्मीरी ज्यादा प्रभावित हैं । क्योंकि इसका संबंध धार्मिक संवेदना से है जिससे वे अपने को पाकिस्तान के साथ जोड़ कर देखते हैं । कश्मीरियों ने राजनीतिक दृष्टि से कभी इस समस्या का निदान नहीं ढूँढा बल्कि उनकी धार्मिक आस्था ही उन्हें उनके करीब लाती है दूसरा कारण मुस्लिम वहाँ की बहुसंख्यक वर्ग में गिनी जाती है जबकि अन्य संप्रदाय वहाँ अल्पसंख्यक है । अल्पसंख्यक बनाम बहुसंख्यक का डर एक समस्या तो उनके समक्ष तो है ही किन्तु शरणार्थी बन कर रह रहे मुस्लिमों को यह डर कि कहीं वे भी कश्मीर से खदेड़ न दिए जाए यह उनकी दूसरी

<sup>532</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-79

<sup>533</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ.सं.-81

बड़ी समस्या रही है। यही कारण रहा है जिसकी वजह से इस्लामी मुजाहिदों के प्रति उनकी सहानुभूति बनी रहती है तथा इंडियन आर्मी के प्रति विरोध का भाव देखा जाता है। किन्तु सही माएने में न उनको हिंदुस्तानियों की आवश्यकता है और न पाकिस्तानियों की। उनको अपने राज्य में इस मुठभेड़ से आजादी चाहिए। “कश्मीरी मुस्लिम अंततः भारतीय सेना के आधिपत्य से मुक्ति चाहते हैं। भारत के सामरिक सेना वाहिनी से वे खुद की सुरक्षा की आशा नहीं रख रहे हैं। .. कश्मीर के कश्मीरी मुस्लिम जैसे आजादी के लिए लड़ रहे हैं वैसे ही दूसरी तरफ कश्मीरी मुस्लिम भी पाकिस्तानी सेना शासन से मुक्ति चाहते हैं। वहाँ पाकिस्तानी आर्मी शासन के विरोध में भी विद्रोह प्रारंभ हो चुका है। दो विभक्त कश्मीर हिंदुस्तान-पाकिस्तान सेना और शासन से मुक्त होकर स्वतंत्र कश्मीर को जन्म देना चाहते हैं।”<sup>534</sup> जो राष्ट्र उन्हें यह आजादी का सपना दिखाता है वे उसके हिमायती दिखाई देते हैं।

लेखक इस उपन्यास में यह स्पष्ट करते हैं कि कारगिल के मिथ में यह धारणा बनी हुई थी कि इसमें शिया सम्मिलित नहीं थे जबकि यह गलत है। 2016 में जब से आजादी के आंदोलन ने आगाज किया है तब से कश्मीर के बच्चे तक इंडियन आर्मी को देख कर पत्थर फेंकते हैं इससे प्रताड़ित आर्मी आफिसर भी इसका विरोध कर कई बच्चों को मौत के घाट उतार देते हैं। “उसी कश्मीरी किशोरों के प्रतिवाद के प्रतिशोध लेने के लिए इंडियन आर्मी उन पर पेलेट बम प्रहार करते हैं जिसके फलस्वरूप सौ-सौ कश्मीरी किशोर-किशोरी मौत के घाट उतार दिए जाते हैं कुछ लोग आहत और अंधे भी हो जाते हैं।”<sup>535</sup> आगे वह स्पष्ट करते हैं कि आजादी की आवाज और पत्थर के कारण ऐसे बहुत से लोगों को जीप पर घसीटा भी गया किन्तु फिर भी आजादी की आवाज में कमी नहीं आयी। इससे यह अवश्य पता लगाया जा सकता है कि कश्मीरी आजादी के कितने आकांक्षी हैं। इस उपन्यास में लेखक यह भी स्पष्ट करते हैं कि इसमें सबसे ज्यादा प्रताड़ित आम कश्मीरी है। कई बार “पाकिस्तानी आतंकवादी को प्रश्रय देने के संदेह से बहुत से कश्मीरी युवकों को इन्काउण्टर में मार दिया जाता है। आतंकवादी को ढूँढने के कारण आर्मी के जवान कभी भी किसी के भी घर पर स्वैच्छा से युवक-युवतियों को पकड़ कर थाने ले जाया करते हैं। .. इसमें ऐसे कई लोग हैं जिनका कोई अतापता नहीं मिलता। यही पता न मिलने वाले कश्मीर युवक

<sup>534</sup> चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, पृ. सं.-56

<sup>535</sup> चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, पृ. सं.-53

ही सी. आर. पी.एफ. ऑक्टोपोस से कश्मीर को मुक्त करने के लिए हाथ में बंदूक पकड़ते हैं।”<sup>536</sup> इस उपन्यास में ऐसे कई सारे हवाले लेखक देते हैं - आदिल को जबरन पाकिस्तानी मुजाहिद का समर्थक मान कर गंदीबाग गाँव में लोगों के साथ अत्याचार तथा जबरन समर्पण करवाने की कोशिश ने आदिल को आतंकवादी बनाया है। दूसरा हवाला स्थानीय आज़ादपंथी विद्रोही नेता बुरहान वानी का है। जिसके बड़े भाई को पाकिस्तानी आतंकवादी को प्रश्रय देने के मिथ्या आरोप में उसकी हत्या कर दी जाती है जिससे वह क्रिकेटर से बागी बन जाता है। इसी आतंक से आतंकित कश्मीरी जिहादियों के धर्मयुद्ध के चक्र में फँस जा रहा है।

लेखक का यह मशविरा कि - “भारतीय सेना के द्वारा अधिकृत कश्मीर में कश्मीरी ही सेना के विरुद्ध अस्त्र का प्रयोग कर रहे हैं -यह एक अप्रिय किन्तु सत्य है जो देश और सेना में अस्थिरता पैदा करता है। जितना पाकिस्तान के विरुद्ध में विष उद्गार करने के बाद भी सेना को जम्मू-कश्मीर के लोगों के मन में असंतोष को दूर किए बिना सर्जिकल स्ट्राइक के द्वारा अशांत कश्मीर को शांत नहीं किया जा सकता।”<sup>537</sup>

कश्मीर को संविधान में दिया गया स्वतंत्र अनुच्छेद 370 के प्रश्न को भी इस उपन्यास में उठाया गया है। उन्होंने इसमें स्पष्ट किया है कि 370 धारा के उच्छेद के बाद जम्मू-कश्मीर को जो स्वतंत्र सुविधा मिलती थी उसका अंत होता है। अब कश्मीरियों की स्थिति और ज्यादा सोचनीय है।

अभय नायक अंत में आतंकवादियों की तलाश में एक ऐसे घर में घुस जाता है जहां दो लोग छिपे हुए थे किन्तु वहाँ एक कश्मीरी युवती बंदूक लेकर खड़ी अभय नायक को नली को नोक पर रखती हुई कहती है कि 370 के हटने के बाद सरकार कश्मीर को बेइज्जत की है। तुम्हारी बेइज्जती का प्रतिशोध लेने के लिए कश्मीर का प्रत्येक मुसलमान तुम्हारी भाषा में आतंकवादी हो सकता है किन्तु हमारी दृष्टि में वे मुजाहिदीन हैं जिसका अर्थ - स्वतंत्रा संग्रामी होता है। हम बस आजादी चाहते हैं। “अभय नायक सोचता है कि कश्मीर के किशोर-किशोरी, युवक-युवती आजादी के लिए हाथ में आग्नेयास्त्र ले लिया है। एक कश्मीर नहीं, समग्र हिंदुस्तान आज उस उत्पन्न बारूद के गढ़ पर बैठा हुआ है। क्रोधी युवा

<sup>536</sup> चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, पृ. सं.-53

<sup>537</sup> चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, पृ. सं.-54

संप्रदाय अग्नि स्फुलिंग बनता जा रहा है । बारूद के गढ़ पर बैठा देश सामान्य चिंगारी से ध्वंश हो सकता है ।”<sup>538</sup>

निष्कर्ष :-

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इस अध्याय में सांप्रदायिकता, शरणार्थी, कश्मीर और अल्पसंख्यक विमर्श के विभिन्न मुद्दों को हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है । सांप्रदायिकता के संबंध में हिन्दी और ओड़िया दोनों ही उपन्यासों की परंपरा पुरानी रही है । किन्तु बढ़ते सांप्रदायिकता के उग्र रूप जहां हिन्दी उपन्यासों में आधार बनाया गया है वहीं ओड़िया उपन्यासों में सांप्रदायिकता का वह उग्र रूप को नहीं नजर आता । साथ ही यह कहना गलत नहीं होगा कि हिन्दी के उपन्यासों की तुलना में ओड़िया उपन्यासों की संख्या बहुत कम है । ऐसा नहीं है कि देश में चल रहे सांप्रदायिक दंगे से ओड़िया अछूता रहा है । सांप्रदायिक घटना के संदर्भ में देखें तो 1991 में भद्रक दंगा तथा 2007 में कंधमाल में क्रिसमस की हिंसा जिसमें चर्चो और ईसाई संस्थानों को जला दिया गया तथा 837 से भी अधिक परिवार बेघर हुए जिसमें 700 से अधिक घर जलकर क्षतिग्रस्त हो गए । ओड़िया के कुछ स्थानों पर रामनवमी और मुहर्रम के समय हिन्दू मुस्लिम में भिड़ंत अकसर देखी जाती है । ओड़िया में गंभीर सांप्रदायिक विरोधी उपन्यासों की आवश्यकता महसूस होती है । वहीं अगर हिन्दी के उपन्यासों की बात की जाए तो यह मिलेगा कि प्रारम्भिक समय में कुछ उपन्यासकारों ने यह तो अवश्य स्वीकार किया कि सांप्रदायिकता देश के लिए हेय है किन्तु उनके उपन्यासों में इसका अभाव अवश्य दिखता है जिसमें चतुरसेन शास्त्री और शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों को देखा जा सकता है । किन्तु बाद के समय में ऐसे बहुत सारे उपन्यासकार हुए जिन्होंने सांप्रदायिकता के विरोध में लेखन कार्य किया जिनमें कमलेश्वर का ‘कितने पाकिस्तान’, दूधनाथ सिंह का ‘आखिरी कलाम’, गीतांजलि श्री का ‘हमारा शहर उस बरस’, भगवान मोरवाल का ‘काला पहाड़’, रवींद्र वर्मा का ‘दस बरस का भँवर’, अनवर सुहैल का ‘पहचान’, सच्चिदानंद चतुर्वेदी का ‘पिघले चेहरे’ आदि को देखा जा सकता है । इन उपन्यासों को देखते हुए यही कहना होगा कि समय-समय पर सांप्रदायिकता के विभिन्न स्वरूपों को लेकर

---

<sup>538</sup> चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, पृ. सं.-61

उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास के रूप में लेखन-कार्य किया है साथ ही इसकी मुखालफत करते हुए इसे समाज और मानवतावाद के लिए घातक सिद्ध किया है ।

शरणार्थी प्रसंग को लेकर हिन्दी और ओड़िया दोनों ही भाषा में साहित्य लिखा गया है । हिन्दी में शरणार्थी-जीवन बड़ी गंभीरता के साथ प्रस्तुत है जहां उनकी समस्याएं तथा प्रताड़ना अभिव्यक्त है वहीं हिन्दी की अपेक्षा ओड़िया में इसकी संख्या कम होने के साथ साथ विशेष रूप से लिखे गए शरणार्थी जीवन भी उपेक्षित है । शरणार्थी जीवन पर अगर बात की जाए तो यह स्पष्ट होगा कि ओड़िया में बांग्लादेशी शरणार्थियों की संख्या काफी ज्यादा है । जिसमें अधिकांश लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं । इसलिए शरणार्थी जीवन पर उपन्यास लेखन की आवश्यकता महसूस होती है । अनुसंधान करते हुए यह पाया गया कि 80 के दशक के बाद इस विषय पर ओड़िया उपन्यासों की संख्या नगण्य है । हालांकि हिन्दी साहित्य में भी शरणार्थी संदर्भ भले ही बहुत पुराना क्यों न हो किन्तु इसपर लेखन कार्य की शुरुआत इस दौर में जोरों-शोरो से हो रही है ।

अल्पसंख्यक विमर्श की अवधारणा हिन्दी साहित्य के लिए भी बिल्कुल नयी है । इसलिए इस पर लेखन की परंपरा भी नई है जबकि ऐसी अवधारणा अब तक ओड़िया उपन्यासों में नहीं दिखाई देती ।

कश्मीर पर उपन्यास-लेखन की परंपरा चंद्रकांता से सही मायने में प्रारंभ होती है । समकालीन समय में बढ़ते हिंसा ने उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को महत्वपूर्ण बना दिया है ।

## नवम अध्याय

### नव्य औपन्यासिक शैली

- 9.1 वर्णनात्मक-शैली
- 9.2 आत्मकथात्मक-शैली
- 9.3 जीवनीपरक-शैली
- 9.4 पत्रात्मक-शैली
- 9.5 ईमेल-शैली
- 9.6 ब्लॉग-शैली
- 9.7 डायरी-शैली
- 9.8 संवादात्मक-शैली
- 9.9 विश्लेषणात्मक-शैली
- 9.10 चित्रात्मक-शैली
- 9.11 मनोविश्लेषणात्मक-शैली



साहित्यिक विधाओं में प्रत्येक विधा की अपनी एक शैली होती है और यही शैली उसे दूसरी विधा से भिन्न और विशिष्ट बनाती है । आधुनिक युग से उपन्यास के आगमन के साथ उपन्यास की शैली को लेकर भी विभिन्न मत दिए गए । कई आलोचकों ने उपन्यास को संस्कृत परंपरा से जोड़ते हुए उपन्यास को गद्य महाकाव्य की संज्ञा तक दे डाली । जिसमें फील्डिंग का नाम प्रमुख है-‘उपन्यास एक मनोरंजन पूर्ण गद्य महाकाव्य है ।’ किन्तु उपन्यास की शैली महाकाव्य की शैली तथा भारतीय लंबी कथात्मक साहित्य से भिन्न पश्चिम के साहित्य और शैली के करीब रहा । उपन्यास संस्कृत के लक्षण ग्रंथ में नाटक की संधियों के उपभेद से भिन्न रहा । आलोचकों ने अंग्रेजी में प्रयुक्त नॉवेल से इसका संबंध जोड़ा जिसे नवीन और लघु गद्य दोनों ही अर्थों में प्रयोग किया गया । इतालवी भाषा में नॉवेल का अर्थ लघुकथा भी रहा है, जिसका संबंध नवीनतम और यथार्थ जगत या जीवन से रहा है । किन्तु समय की गतिशीलता में उपन्यास केवल लघु आकार तक सीमित नहीं रहा बल्कि इसका रूप विस्तृत और समग्र जीवन पर आधारित होने लगा । अतः कहने का यही आशय रहा है कि उपन्यास की शैली और स्वरूप में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं । इसी परिवर्तन ने उपन्यास को विकृत नहीं बल्कि और सुंदर या आकर्षक बनाया है ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उपन्यासों के संदर्भ में कहते हैं- ‘उपन्यास आधुनिक युग की देन है । नए उपन्यास केवल कथामात्र नहीं है यह आधुनिक वैयक्तिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है । इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है और कथा को इस प्रकार सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सकें और उससे प्रभावित हो सकें ।’ हिन्दी आलोचना के प्रायः आलोचकों ने उपन्यासों की आंतरिक सुंदरता को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत कर उसका सांगोपांग आलोचना की किन्तु उपन्यास के शैली पक्ष की अगर बात की जाए तो यही कहा जा सकता है इसमें आलोचकों ने अपनी लेखनी कम चलाई है । यही कारण है कि औपन्यासिक-शैली पर नगण्य पुस्तक मिलती हैं ।

उपन्यास विधा की शैली में भी प्रत्येक लेखक की अपनी एक शैली है जो उसे दूसरों से भिन्न और विशेष बनाती है । यह शैली उसके परिवेश, भाषा संस्कार, अनुभूति, प्रभाव, कहने की विलक्षणता से प्राप्त होती है । साहित्य की यह एक विशेषता रही है कि साहित्य किसी भी वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत करने का हिमायती है जिससे पाठक वर्ग बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता, जिसमें महत्वपूर्ण भूमिका शैली की भी रही है । साहित्य में

विषय वस्तु चाहे कितना भी प्रभावी क्यों न हो किन्तु लेखक की प्रस्तुत करने की क्षमता या सम्प्रेषण करने की अद्भुत क्षमता पाठक को अंत तक बांधे रखने का कार्य करती है। इसलिए साहित्य में शैली का विशेष महत्व रहा है। डॉ. श्यामसुंदर दास शैली के संबंध में कहते हैं -“किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्य की बनावट और उसकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।”<sup>539</sup> आलोचक श्यामसुंदर दास के अनुसार लेखक के शब्दों और वाक्यों का चुनाव तथा उससे व्यंजित ध्वनि ही एक रचनाकार की कहन शैली है, जिसे वह अपनी रचनाओं में स्थान देता है। वहीं आलोचक और साहित्यकार गुलाबराय की दृष्टि शैली के संबंध में दूसरी है। उनके अनुसार “शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप से दूसरों तक पहुँचाने के लिए अपनाता है।”<sup>540</sup> उनके अनुसार शैली लेखक की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख गुण है जो लेखक और पाठक के मध्य एक संबंध स्थापित करता है। अर्थात् लेखक के व्यक्तित्व की छाप उसकी शैली को नया आयाम देती है।

उपन्यासों की रचना-शैली साहित्य में सौन्दर्य बढ़ाने वाला तत्व है क्योंकि रचना शैली जितनी सुंदर होगी पाठक, पाठ के प्रति उतना ही आकर्षित होगा। कई बार भाषा या शैली की अनगढ़ता उपन्यास के सौन्दर्य को कम कर देती है। जैसा की सर्वविदित है, साहित्य की सबसे जीवंत विधा उपन्यास विधा को माना जाता है, इसलिए आत्मकथा के बाद सबसे ज्यादा मानव जीवन के करीब उपन्यास रहा है। इसलिए उपन्यास की एक लंबी परंपरा रही है। उपन्यासों का विषय वैविध्य और शैली के नए प्रयोग ने उपन्यास को नया आयाम दिया है। उपन्यास आज के दौर में विस्तृत फलक को अपने में समाहित किये हुए है जिसमें अनेक विधाओं का समागम आज उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता रही है। किन्तु सबसे बड़ी समस्या यह भी है कि कुछ आलोचकों ने इसमें विरोध दर्ज किया है क्योंकि उनका मानना रहा है कि अन्य विधाओं का उपन्यासों में अगर प्रयोग होगा तो उन विधाओं की विशेषता क्या रहेगी तथा उपन्यासों से उन विधाओं को अलग करके कैसे देखा जा सकता है। इस रूप में हम यह देख सकते हैं कि इस समय में साहित्य में विधा और शैली जैसी दो अवधारणा हमारे सामने है जिसमें विधा की विशेष प्रवृत्ति को आधार बनाकर नए शैली का निर्माण हुआ है।

<sup>539</sup> साहित्य लोचन, डॉ. श्यामसुंदर दास, पृ. सं.-95

<sup>540</sup> सिद्धांत और अध्ययन, डॉ. गुलाब राय, पृ. सं.-180

मूल रूप देखा जाए तो उपन्यास का वर्गीकरण रचना-शैली के आधार पर भी किया जाता है । उपन्यास का जब से जन्म हुआ है तब से लेकर आज तक किसी एक शैली में उपन्यासों की रचना नहीं हुई है। विविध-शैली का विकास प्रारम्भिक दौर से ही होता रहा है । समकालीन समय में तो उपन्यास के अंतर्गत और भी नई शैलियों का विकास हुआ है । किन्तु कोई भी उपन्यास केवल एक ही शैली में नहीं लिखा जाता । कई बार एक से अधिक शैलियाँ होने के कारण कौन सी प्रमुख शैली है यह भी स्पष्ट करते समय समस्या आती है । लेकिन अमूमन उपन्यासों के विश्लेषण के समय ऐसे प्रमुख शैलियों को एक साथ प्रस्तुत कर उसे उदाहरण दे कर समझाने की परंपरा चलती आयी है ।

## 9.1 वर्णनात्मक-शैली

वर्णनात्मक-शैली अधिक प्राचीन और अधिक व्यवहार में लाई जाने वाली शैली है । इस शैली के अंतर्गत किसी भी घटना, दृश्य अथवा पात्रों का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है । इस शैली में उपरोक्त तत्व का वर्णन सीधे-सादे ढंग से किया जाता है । साथ ही किसी वस्तु, घटना या दृश्य की आलोचना इस शैली में नहीं की जाती । इस शैली के अंतर्गत घटनापरक उपन्यास लिखे जाते हैं । इस शैली में लेखक को यह छूट होती है कि वह किसी भी परिस्थिति में या समय, काल की मांग के अनुरूप अपनी टिप्पणी दे सकता है । वर्णनात्मक शैली के संबंध में डॉ. त्रिभुवन सिंह लिखते हैं -“वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक शैली का व्यापक प्रयोग हिन्दी उपन्यासों में पाया जाता है क्योंकि इस शैली के द्वारा उपन्यासकार के अपेक्षा कृत विषय-विस्तार के लिए अधिक भूमि मिल जाती है और उसे कलात्मकता का भी उतना ध्यान नहीं रखना पड़ता। इस शैली के उपन्यासकार को इतिहास की भांति उपन्यास के चरित्रों तथा उनसे संबंधित घटनाओं को ‘इतिवृत्तात्मक वर्णन अपनी कल्पना अनुभूति एवं जानकारी के आधार पर लिख देना है । अंत में वह कभी-कभी एक तटस्थ द्रष्टा की भांति अपना कोई न कोई निर्णय भी घोषित कर अपनी किसी न किसी मान्यता की स्थापना करने की चेष्टा भी करता है ।”<sup>541</sup> इस शैली को आधार बना कर चयनित उपन्यासों में से ‘चुप युद्ध चालिछी’, ‘अस्पृश्य’, ‘धर्मयुद्ध’, ‘जंगल जहां शुरू होता है’, ‘गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान’, ‘पिघले चेहरे’ आदि उपन्यास लिखे गए हैं । इस शैली का एक उदाहरण निम्नलिखित है -“जिन्होंने (इंदिरा गाँधी जी) उनकी हत्या की

<sup>541</sup>हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ. त्रिभुवन सिंह, पृ.सं.-160

है, हो सकता है कि ये सिख उन्हें जानते भी न हों। तो क्या हुआ, जाति-धर्म तो उनके एक ही हैं। विषैले वृक्ष की शाखाएँ चाहे जितनी दूर तक फैली रहें विष उनमें एक समान ही होता है। विष मिटाने के लिए वृक्ष को मूल से काटना पड़ता है।<sup>542</sup>

## 9.2 आत्मकथात्मक-शैली :-

वर्णनात्मक-शैली के बाद दूसरी सबसे प्रमुख शैली आत्मकथात्मक-शैली है, जिसमें सबसे ज्यादा साहित्य लिखा गया है। आत्मकथात्मक-शैली में उपन्यासकार उपन्यास के किसी पात्र या प्रमुख पात्र से अपनी कथा का बखान करता है। इसमें लेखक प्रथम पुरुष या मैं शैली में ही कथा का वर्णन करता है। “उपन्यास में निर्वैयक्तिक ‘कथक’ के स्थान पर ‘मैं’ को प्रतिस्थापित करके कथा को नाटकीय प्रभाव से युक्त करने की प्रविधि का अपना महत्व है, पर ‘मैं’ यदि औपन्यासिक पात्र के स्थान पर उपन्यासकार का ही पर्याय बन जाए तो कथा में नाटकीयता के साथ-साथ आत्मीयता और विश्वसनीयता का एक और आयाम जुड़ जाता है।”<sup>543</sup> मूल रूप से हम यह पाते हैं कि आत्मकथा में अगर कल्पना का समावेश हो जाए तो उसकी विश्वसनीयता नष्ट हो सकती है जबकि उपन्यास के साथ ऐसी अनिवार्यता नहीं है।

इस शैली के अंतर्गत आरंभ से अंत तक पात्र स्वयं की कथा को ही कहता रहता है। इस शैली के अंतर्गत मूल रूप से चरित्र प्रधान उपन्यास लिखे जाते हैं। इस शैली में लेखक पाठक से ज्यादा आत्मीयता स्थापित कर सकता है। इस शैली की कमी यह होती है कि इसमें अन्य गौण पात्र की जानकारी नेरेटर के द्वारा स्थापित की जाती है तथा मैं के अनुभव से इतर घटित अनुभव का समावेश इसमें नहीं होता है। इसमें विशेष रूप से पूर्व-दीप्त शैली को भी समाहित कर लिया जाता है। इस शैली में ‘देहाती दुनिया’ (शिवपूजन सहाय), ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ (हजारीप्रसाद द्विवेदी), ‘अमृत और विष’ (अमृतलाल नागर), ‘शेखर एक जीवनी’ (अज्ञेय), ‘वे दिन’ (निर्मल वर्मा) जैसे उपन्यासों को देखा जा सकता है। आत्मकथा और उपन्यास को आलोचक एक मानने की वकालत करते हैं किन्तु आलोचक गोपाल राय दोनों को अलग विधा के रूप में देखते हुए दोनों की भिन्नताओं को स्पष्ट कर इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार हर उपन्यास किसी न किसी

<sup>542</sup> पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, पृ.सं.-80

<sup>543</sup> उपन्यास की संरचना, गोपालराय, पृ. सं.-214

रूप में आत्मकथा होती है किन्तु उसमें आत्मकथा विधा जैसी वास्तविकता नहीं होती । “उपन्यास की जरूरी शर्त है कि वह कल्पनाप्रसूत हो आपबीती के साथ जगबीती भी हो । पर आत्मकथा को यह छूट नहीं है कि वह कल्पनाप्रसूत और जगबीती भी हो । उसे अधिक से अधिक इतनी ही छूट है कि वह आपबीती से जुड़ी उस जगबीती को साथ कर ले जो सत्य हो । तथ्य होना आत्मकथा की मजबूरी है, जबकि उपन्यास के साथ यह मजबूरी नहीं है ।”<sup>544</sup> ‘प्राची-प्रतिची’; ‘कठगुलाब’; ‘उधर के लोग’; ‘प्रतिबंदी’, ‘दर्दजा’; वीरांगना झलकारी बाई; मौसी आदि उपन्यास इस शैली में लिखे गए । इस शैली के उदाहरण हैं- “उसे प्यार करने के तरीकों से ऐतराज नहीं था, तरीका कोई हो, प्यार हो, तो केवल प्यार होता है, पर प्यार के नाम पर मनोविश्लेषण का माध्यम बनाना, उसे बेहद हास्यास्पद लगता । पूरी स्थिति पर मन ही मन हँसकर ... बहुत कुछ अवमाननापूर्ण व निर्मम झेल लेती; अगर जिम बराबर उससे बोलने की मांग न करता रहता ।”<sup>545</sup> दूसरा उदाहरण - “क्या महाराष्ट्र की महार जाति, दूसरी दलित जातियों पर अत्याचार करने लगी हैं ? मुझे इसकी अज्ञानता पर दुःख हुआ था ।”<sup>546</sup>

### 9.3 जीवनीपरक-शैली

जीवनीपरक-शैली, आत्मकथात्मक-शैली से मिलती जुलती शैली है । इस शैली में लेखक कथा के केंद्र में एक ही पात्र को रख कर उसकी जीवनगाथा प्रस्तुत करता है । इस शैली में लेखक स्वयं उपस्थित नहीं होता किन्तु पाठ को चरित्र की दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है । जैसा कि जीवनी शैली में कल्पनाप्रधान तथ्यों की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही इसमें भी कल्पना की बहुलता तो नहीं होती किन्तु कथा का गठन करने में कल्पना कई हद तक सफल हो जाती है । जीवनीपरक उपन्यास में आत्मकथात्मक उपन्यास की भांति लेखक को यह छूट होती है कि अपने मुख्य पात्र के अलावा अन्य पात्रों तथा क्रिया-कलापों का वर्णन स्वतंत्र रूप से कर सके । लेखक का उद्देश्य इस उपन्यास में उस चरित्र के महत्वपूर्ण पहलू को प्रस्तुत करना है जिससे पाठक की दृष्टि परिष्कार हो तथा उससे प्रेरणा प्राप्त कर पाए । प्रतिभा राय के द्वारा लिखित ‘यज्ञासेनी’ उपन्यास जीवनी परक शैली में लिखी गयी मिथकीय कथा है । इस उपन्यास में ‘मिथक’ में गढ़े गए द्रौपदी के

<sup>544</sup> उपन्यास की संरचना, गोपालराय, पृ. सं.-272

<sup>545</sup> कठगुलाब, मृदुला गर्ग, पृ.सं.-53

<sup>546</sup> उधर के लोग, अजय नावरिया, पृ.सं.- 148

चरित्र को लेकर वर्तमान के संदर्भ में आक्षेपों पर विचार करती हुई उनकी चारित्रिक विशेषताओं को तथा मिथकीय परंपरा के उलट द्रौपदी की कर्तव्यपरायणता तथा उनके बलिदान को स्पष्ट करती हैं। मूल रूप से लेखिका का वर्तमान संदर्भ में नारी अस्मिता और अस्तित्व की खोज इस उपन्यास को नया आयाम देती है। “कितना झूठ या पति-पत्नी का सम्बन्ध ! स्नेह, प्रेम, त्याग और उत्सर्ग ! अपने कर्म अगर मनुष्य स्वयं भोगता है तो फिर युधिष्ठिर की धर्म रक्षा के लिए पाँच पतियों का वरण कर सारी दुनिया के लिए उपहास, व्यंग-विद्रूप और निंदा-अपवाद क्यों वह ढोती फिरी ?”<sup>547</sup> प्रतिभा राय के द्वारा लिखित ‘महामोह’ उपन्यास भी अहल्या पर केंद्रित है, जो ‘यज्ञासेनी’ की भांति अपनी विशेषताओं को प्रस्तुत करता है। तथा लेखिका ‘अहल्या’ को वह स्थान देती है जिसे मिथकीय दृष्टि से गलत देखा गया। एक तरह से लेखिका वर्तमान संदर्भ में स्त्री दृष्टि का परिष्कार करती हुई दिखाई देती हैं।

## 9.4 पत्रात्मक-शैली

पत्रात्मक-शैली बहुत पुरानी शैली है, जिसमें भले ही कम साहित्य लिखा गया हो परंतु समय-समय पर इस शैली पर लेखन कार्य होते रहे हैं। पत्रात्मक शैली पर लिखे गए उपन्यासों का अगर अनुसंधान किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि इसमें विशेष रूप से निजी पत्र को आधार बनाया जाता है जबकि पत्र शैली में निजी पत्र के अतिरिक्त सरकारी पत्र भी शामिल हैं। मूल रूप से पत्रात्मक-शैली में कथानक को गतिशीलता प्रदान करने के लिए तथा अपने अव्यक्त भाव को गति देने के लिए प्रयोग किया जाता है, वहीं सरकारी पत्रों में यह एक सूचना का माध्यम होता है। यह एक प्रभावी शैली है। पत्रात्मक-शैली में कथा का विस्तार, पत्र के माध्यम से ही होता है। निजी पत्रात्मक-शैली में उपन्यास के दो पात्रों के बीच पत्र का व्यवहार होता है जबकि सरकारी पत्रों में एक से अधिक लोगों तक संदेश पहुँचाने का माध्यम होता है। निजी पत्रात्मक-शैली में पात्र एक दूसरे से प्रत्यक्ष रूप से बात नहीं कर पाते वहीं वे पत्रों के माध्यम से उनमें संपर्क सूत्र बाँधते हैं। यह पत्र ही मन की व्यथा, उदासी, भावुकता, वैचारिकता, ‘भाव कम लिखा जाना और ज्यादा समझना’ तथा संकेतात्मक संदेश को व्यक्त करता है। साहित्य में इन्हीं दोनों पत्रों को आधार बना कर साहित्य लिखने का प्रयास किया गया है। अखबारों पर छपे पत्रों को आधार बना कर

<sup>547</sup> यज्ञासेनी, प्रतिभा राय, पृ.सं.-3

ओड़िया उपन्यास में एक नया प्रयोग किया गया है । समकालीन समय में इस शैली पर उपन्यास लेखन की कमी देखी जा सकती है । ‘चंद हसीनों के खतूत’, ‘पाँव तले की दूब’, ‘नदी के द्वीप’, ‘समाज की वेदी पर’ (अनूपलाल मण्डल) ‘जंगल जहां शुरू होता है’ आदि उपन्यास में इस शैली का प्रयोग हुआ है । ‘चंद हसीनों के खतूत’ पत्रात्मक शैली में लिखा गया हिन्दी का पहला उपन्यास है । उपरोक्त उपन्यासों में कहीं-कहीं पर पूरा उपन्यास इस शैली में लिखा गया है तो कभी कुछ-कुछ स्थानों पर इस शैली का प्रयोग हुआ है । ‘पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा’ उपन्यास पत्रात्मक-शैली में लिखा गया है । इस उपन्यास में पत्र के माध्यम से कथा का प्रारंभ होता है और सत्रह पत्र लिखकर पत्रात्मक शैली में ही उपन्यास समाप्त होता है । उदाहरण स्वरूप-

30.07.2011

¾ मोहन बाबा नगर, बदरपुर, दिल्ली

मेरी बा,

कल तुझे पत्र लिखने की सोची थी । अच्छा नहीं लगता है जब तेरे लिए जतन से बटोरा हुआ समय कहीं और खर्च हो जाए ।”<sup>548</sup>

साथ ही अंतिम पृष्ठ पर स्वर्गवासी माँ का अंतिम पत्र अथवा माफीनामा अपने किन्नर बेटे से घर वापसी के लिए की जाती है । “अपने मँझले बेटे विनोद शाह जिसे हम सभी प्यार से बिन्नी कह कर पुकारते थे, प्रार्थना करती हूँ वह अपनी बा के इस अक्षम्य भूल को क्षमा कर दे और अपने घर वापस लौट आए ।”<sup>549</sup>

‘कवर स्टोरी’ ओड़िया उपन्यास अखबारों में छपी बलात्कार की घटना पर आधारित है । इस उपन्यास में संवाद-पत्र में छपे सरकारी पत्रों के समूह को आधार बनाकर कथा का तानाबाना-बुना गया है । यह शैली ओड़िया उपन्यास साहित्य में एक नवीन प्रयोग है । कथा को सजीवता प्रदान करते हुए लेखक ने बालिका की ओर से लिखी गई, कानूनी कार्रवाही के तहत FIR की ऑफिसल कॉपी को भी अखबार पत्र में प्रस्तुत किया है । यह शैली नवीन है तथा इस उपन्यास को देखने पर ऐसा महसूस होता है कि संवादों और सूचनाओं ने मानसिक और आंतरिक पहलुओं को उतना नहीं छुआ जैसा कि दूसरे उपन्यासों में दृष्टिगोचर होते हैं । संभवतः सरकारी पत्रों को संगठित कर उपन्यास की रचना कठिन

<sup>548</sup> पोस्ट बॉक्स नं.203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-16

<sup>549</sup> पोस्ट बॉक्स नं.203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, पृ.सं.-222

कार्य रहा हो किन्तु इस उपन्यास की इस शैली में सूचनाओं की भरमार दृष्टिगोचर होती है जिसके कारण कथा में विस्तार थोड़ा कम होता है जिससे कथा में संवेदनात्मक पक्ष थोड़े कम दिखाई देते हैं । साथ ही इसमें जासूसीपरक उपन्यास की झलक भी देखी जा सकती है, जब लेखक बालिका के आरोपी को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं । “हस्तिनापुर, 31/5 : पिछले 28 तारीख हस्तिनापुर जिला के कुआउड़ा ग्राम की 4 वर्षीय नाबालिग बच्ची के साथ बलात्कार की घटना । सूचनायोग्य है कि, पिछले शुक्रवार दोपहर को महिमदास (छद्म नाम) के घर के पास खेलते समय विश्वमंगल सेनापति (18) ने लड़की को खजूर देने के बहाने बुला कर उनका बलात्कार और हत्या करने की साजिश की । पुलिस 137/04 में केस करते हुए आरोपी को गिरफ्तार कर कोर्ट पर पेशगी की है ।”<sup>550</sup>

### संचार-माध्यम की शैली

संचार माध्यम की शैली जैसी साहित्य में कोई अवधारणा हमारे समक्ष अभी नहीं आयी है किन्तु संचार माध्यम का प्रयोग करती हुई कितनी ही शैलियाँ आज जीवन और उपन्यास दोनों को घेरे हुए हैं । शैलियों को एक खाँचे में डालने के लिए ऐसे वाक्य-विन्यास को इस अध्याय में प्रयोग किया गया है जबकि किसी आलोचक ने इस प्रकार की शैली पर बात नहीं की है । साथ ही आलोचक राजेन्द्र यादव अपनी पुस्तक ‘उपन्यास : स्वरूप और संवेदना’ में लिखित ‘उपन्यास और प्रयोग’ अध्याय में लिखते हैं कि उपन्यास ताश के पन्नों की तरह तो है नहीं जिसे कहीं से भी फेंट कर पढ़ा जा सके भले ही ऐसे प्रयोग पश्चिम में होते रहे हों किन्तु भारतीय साहित्य में ऐसे प्रयोग या शैली अभी नहीं मिलती । हमारी कहानी की परंपरा एक-दूसरे से जुड़ती हुई लंबी कहानी बन सकती है । यह अलग बात है कि समय की जरूरत ने लघु-उपन्यास और लघु-कथा को अधिक बढ़ावा दिया है । संभवतः स्क्रीन-प्ले, टी. वी. स्क्रिप्ट या रेडियो आलेख उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों के रूप में सामने आए ऐसे में शैलीगत नए प्रयोग की संभावनाएं काफी हैं । “हमारा हर प्रयोग सोद्देश्य और सार्थक होने के लिए अभिशप्त है । यही कारण है कि रूप या फॉर्म के स्तर पर एकदम अलग, विलक्षण या चौंकानेवाली रचना हमारे यहाँ नहीं आ सकती । ... यहाँ अगर चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि स्वतंत्रता के बाद हिन्दी में उपन्यास के रूप या फॉर्म के स्तर पर प्रयोग भले ही कम हुआ हो-कथ्य के स्तर पर प्रयोगों की कमी नहीं है

<sup>550</sup> कवर स्टोरी, सत्यप्रिय महालीक , पृ.सं.- 12-13



।<sup>551</sup> आज की उपन्यास की शैली में हुए नए प्रयोग को देख कर यह अवश्य कहा जा सकता है कि आलोचक राजेन्द्र यादव की बताई गई संभावनाएं सत्य साबित हो रही हैं ।

## 9.5 ईमेल-शैली

ईमेल की आवश्यकता समकालीन जीवन में बहुत ज्यादा बढ़ी है । इंटरनेट दुनिया का सबसे कारगर लिखित माध्यम मेल रहा है । इसकी विशेषता यह रही है कि यह दूरी को पाटने के साथ-साथ समय को भी पाटता है । ईमेल में समय ज्यादा कारगर तभी साबित हो सकता है, जब दो व्यक्ति के मध्य कई हजारों मील का फासला हो । एक ही देश में रहे दो व्यक्तियों के मध्य समय के ज़ोन में अंतर नहीं होता इसलिए उस समय कोई समस्या नहीं आती । साथ ही मेल आज ज्यादा कारगर इसलिए भी साबित हुआ है क्योंकि सालों तक रेकॉर्ड के रूप में इसमें दस्तावेजों को सुरक्षित रखा जा सकता है । साथ ही इसकी विशेषता तब विशेष रही जब स्मार्ट फोन नहीं आए थे या विडिओ कॉल जैसी सुविधा उपलब्ध नहीं थी । किन्तु आज के समय में संचार के लिए सैकड़ों एप (app) बनाए गए हैं । जैसा कि सर्वविदित है जिससे समाज प्रभावित है वह साहित्य का हिस्सा होता ही है इसलिए ईमेल को साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करना या इस शैली पर उपन्यास का लिखा जाना कोई अनोखी बात नहीं है । किन्तु इस शैली में उपन्यास की रचना करना अपने आप में नवीन तो है ही साथ ही सराहनीय भी है । उपन्यास की संरचना में क्रमबद्धता को अधिक महत्व है तथा कथा परस्पर एक दूसरे से गूँथी हुई रहती है, ऐसे में लेखक पर यह जिम्मेदारी होती है कि वह इसी क्रमबद्धता को बनाए रखे किन्तु ईमेल शैली को अपनाते हुए लेखक को इसी क्रमबद्धता को बरकरार रखने में समस्या आती है । साथ ही यह समस्या भी बनी रहती है कि कहीं पाठ की पुनरावृत्ति न हो और पाठ उबाऊ भी न लगे, ऐसे में लेखकीय जिम्मेवारी ज्यादा बढ़ जाती है । इस कार्य को सटीक रूप से साधना एक चुनौती पूर्ण कार्य रहा है । यह शैली 'मैं' शैली से प्रभावित है । इस शैली पर बहुत कम उपन्यास लिखे गए हैं जिसमें 'पासवर्ड' और 'ज़िंदगी ईमेल' प्रमुख हैं । इन उपन्यासों में ईमेल संबंधी समस्याओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिसमें यह उल्लेख है कि ईमेल भेजने वाले को यह तो अवश्य पता होता है कि मेल भेज दिया गया है लेकिन वह मेल पहुंचा है या नहीं एक भ्रम रहता है । ईमेल भेजनेवाला प्राप्तकर्ता के मेल की

---

<sup>551</sup> उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, राजेन्द्र यादव, पृ. सं.-224

अपेक्षा करता रहता है । एक उद्धरण - “हाय आशीष । कभी-कभी लगता है तुम तक मेरी बात नहीं पहुँच रही । मेरी ईमेल और एस. एम. एस तो पहुँच रहे हैं ।”<sup>552</sup>

इस उपन्यास को पढ़ते हुए यह स्पष्ट हो पाया कि इस शैली के उपन्यासों में विस्तार की कमी को भी देखा जा सकता है । इसमें सूचनात्मक तथ्य की भरमार होती है जो निजी अनुभवों पर ही आधारित होती है । इस शैली में लिखित उपन्यास में लेखक का उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा तथ्यों को प्रस्तुत करना होता है । साथ ही इस शैली में संगीत का समावेश होता है जिससे उपन्यास को रसपूर्ण बनाए रखने में सहायता मिलती है ।

## 9.6 ब्लॉग-शैली

ब्लॉग, उत्तर-आधुनिक युग में विस्तृत फलक पर प्रसारित है जिसको पढ़ने वाले पाठकों की संख्या काफी है । ब्लॉग, उत्तर-आधुनिक दौर की आपसी विचारों को साझा करने वाली नवीन प्रणाली है । ब्लॉग को इस्तेमाल करने वाले इंटरनेटगामी वर्ग है । ब्लॉग मूल रूप से दो प्रकार के होते हैं -प्राइवेट और पब्लिक । ब्लॉग में विशेष रूप से स्वयं के विचारों को रखा जाता है, तथा इस बात का खास खयाल रखा जाता है कि इसको पढ़ने वाले, इस ब्लॉग से कुछ सीखें । ब्लॉग पर रेगुलर रहने की आवश्यकता बरबस बनी रहती है। तथा ब्लॉग को रोचक बनाने के लिए लोग फोटो भी लगाते हैं । ब्लॉग का मूल उद्देश्य अधिक से अधिक पाठक को आकर्षित करना रहा है । ब्लॉग की विशेषता है कि इसके पाठक कम समय में ही लेखन से जुड़ता चला जाता है । इसमें किसी भी साहित्यिक लेखन की भांति इंतज़ार करने की आवश्यकता नहीं है । यह मूल रूप से पब्लिशिंग हाउस का काम करता है । अतः यह एक निजी मंच की तरह है । यह मूल रूप से स्वयं के अनुभवों पर ही आधारित है । इसमें किसी भी विषय पर लिखने की स्वतंत्रता होती है कुछ लोग इसे ऑनलाइन डायरी भी कहते हैं । हिन्दी साहित्य जगत में निजी ब्लॉग को संगठित कर नवीन शैली पर उपन्यास की रचना हुई है । साहित्यजगत के कई विद्वान ब्लॉग से जुड़े हुए हैं जो अपने साहित्य की पृष्ठभूमि तथा अपने विचारों पर पाठक की सोच या राय को जान कर किसी विषय पर साहित्य रचना की प्रेरणा भी प्राप्त करते हैं । एक तरह से विभिन्न ब्लॉग लिख कर शिक्षित जनसमुदाय की रुचि को भी जाना जा सकता है । साहित्य की पूर्वपीठिका या किसी सर्जनात्मक कला को ब्लॉग के द्वारा भी अंजाम दिया

---

<sup>552</sup> पासवर्ड, कमल कुमार, पृ.सं.-105

जा सकता है। उपन्यास में ब्लॉग-शैली के प्रयोग ने उपन्यास की शैली में विस्तार के साथ नई शैलीगत पृष्ठभूमि को जन्म दिया है। भले ही ब्लॉग की तमाम विशेषताओं को इस शैली में लिखे गए उपन्यास ने समेटने की कोशिश की है किन्तु उपन्यास में कथा गठन की शैली ने इसमें कल्पनाओं को भी स्थान दिया है। एक ब्लॉग कई बार दूसरे ब्लॉग से नहीं जुड़ता है जिसमें एक दूसरे के साथ संपर्क बांधने में तथा तारतम्य बनाने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ब्लॉग शैली में 'मैं' शैली काम करती है जिसके केंद्र में एक व्यक्ति होता है। तथा वह पात्र अपने निजी अनुभव को इसमें प्रस्तुत करने की कोशिश करता है। इस शैली के उपन्यास में यह दिखाया जाता है कि लेखक स्वयं की सोच को इसके माध्यम से स्थापित करता है। इससे आत्मकथात्मक उपन्यास का भ्रम भी लोगों में देखा जा सकता है। आत्मकथात्मक उपन्यास की शैली की तकनीक से भिन्न ब्लॉग की शैली है जो हूबहू ब्लॉग जैसी ही उपन्यास में प्रस्तुत है और उसमें पाठक की प्रतिक्रियाओं को भी स्थान मिलता है। इस तरह के उपन्यासों में नकारात्मक और सकारात्मक दोनों ही पहलू से पाठक परिचित होने के साथ उसका मूल्यांकन प्रस्तुत करने लगता है। इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें आलोचना की भांति अपने विचार भी प्रकट हो पाता है। इस शैली में उपन्यास को गढ़ा जाना एक अनूठा और अनोखा प्रयोग है। इस शैली को आधार बना कर लिखे गए उपन्यास में क्रमबद्धता के टूटने से उपन्यास उबाऊ भी हो सकता है। ब्लॉग में उपन्यास की अपेक्षा स्थिरता या ठहराव कम होता है जबकि शिगाफ़ उपन्यास में इन्हीं दूरी को पाटने की कोशिश देखी जा सकती है। “सच पूछो तो इस बेमकसद भविष्य के दरिया में तैरते रहते और खुद को डूबने से बचाने के लिए लिख रही हूँ, यह ब्लॉग।”<sup>553</sup>

## 9.7 डायरी-शैली

डायरी-शैली का प्रयोग लेखक अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देने के लिए करता है। डायरी-शैली में मुख्य रूप से व्यक्तिगत दस्तावेजों को कथा का आधार दे कर प्रस्तुत किया जाता है। इस शैली में उपन्यासकार पात्रों के मनोभावों और विवरणों को प्रस्तुत करता है। इस शैली की एक कमी यह होती है कि इसमें कई बार कथा की क्रम बद्धता टूट जाती है। 'शह और मात' -राजेन्द्र यादव, 'अपने-अपने अजनबी'-अज्ञेय, 'जयवर्धन'-जैनेन्द्र, 'अजय की

<sup>553</sup> शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, पृ. सं.-13

डायरी' -देवराज उपाध्याय, 'मुन्नी की डायरी' -प्रसन्न राय आदि उपन्यास इस शैली में लिखे गए हैं । 'नील तृष्णा' उपन्यास में डायरी शैली का प्रयोग हुआ है । "रूपमती के डायरी पृष्ठ पर चाहे कितने चरित्र अपराधी क्यों न हों । उनके विचार उनके पास नहीं छोड़ा जा सकता । इस सब पर उनके वंशज विचार करेंगे । रूपमती के डायरी में कितने ही लज्जा से पूर्ण घटनाएं क्यों न घटी हों किन्तु उसको देना ही पड़ेगा उनके हाथों में जो रूपमती के वंशज हैं, अतः विप्लव विश्वकल्याण के हाथों में है ।"<sup>554</sup>

## 9.8 संवादात्मक-शैली

यह उपन्यास की नवीन शैली है । मूल रूप से नाटक की जान संवाद होती है किन्तु उपन्यास पर भी संवाद के प्रयोग ने उपन्यास को एक नया आयाम तो दिया ही साथ ही उसे और मनोरंजक भी बनाया है । 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में एक शैली, संवादात्मक शैली भी है जिसका उदाहरण हैं - "संजीव बोले - चलिए मान लिया साहू जी कि स्कूल आपकी दुकान में चलता है। यह भी मंजूर कि स्कूल आप ही कि दुकान में तुलता भी है, पर यदि स्कूल है तो शिक्षक भी तो होंगे ? कोई किरानी बाबू? कोई चपरासी ?

अपरासी- चपरासी का हमें पता नहीं, पर मास्टर जरूर है एक ।"<sup>555</sup>

'दौड़', 'हवन', 'सेई सबु दिन', 'कुड़ियांजान', 'भेद', 'जंगल जहां शुरू होता है', 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' आदि उपन्यासों में भी इस शैली का प्रयोग किया गया है ।

## 9.9 विश्लेषणात्मक-शैली

विश्लेषणात्मक शैली किसी एक व्यक्ति या चीज के वर्णन तक सीमित नहीं है । इसमें पाठक की जिज्ञासाओं को शांत कर उनके प्रश्नों को तर्क पूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर उसका निदान ढूँढना है । इस शैली में किसी भी निष्कर्ष से पहुँचने से पहले पाठ की तार्किकता, तुलना एवं मूल्यपरकता की मांग करता है । इस शैली में लेखक का उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा सूचना या तथ्य प्रदान करना नहीं है बल्कि तथ्यों की जांच पड़ताल कर उसका मूल्यांकन प्रस्तुत करना है । यह शैली अनुसंधान में कारगर तो है ही साहित्य की रचनाशीलता में कारण-कार्य के संबंध को आसानी से स्थापित करने में भी सहायक सिद्ध

<sup>554</sup> नीलतृष्णा, प्रतिभा राय, पृ.सं.- 2

<sup>555</sup> पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ.सं.-83

है । 'आदिभूमि' उपन्यास में विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है । इस उपन्यास में लेखिका बोंडा आदिवासी से संबंधित क्यों, कैसे और किस रूप में विकसित आदि प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करती हैं । "सोमबारी के आँखों से आँसू गिरने लगा । किसने बनायी इस प्रकार की विवाह-प्रथा । कौन तोड़ेंगे इस प्रथा को? सोमबारी में यह साहस कहाँ है ? और कोई बन्डूणी (बोंडा जाति की औरत) में भी इतना साहस नहीं है । बोंडा तो और भी ज्यादा डरपोक होते हैं । मनुष्य को मारने के लिए बोंडा जाति पीछे नहीं हटता किन्तु प्रथा तोड़ने से डरता है इसलिए हर दिन जीवित हो कर भी मरता रहता है ।"<sup>556</sup> इस शैली पर लिखे गए उपन्यासों में -'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ', 'कुइयांजान' आदि उपन्यासों को देखा जा सकता है ।

### 9.10 चित्रात्मक-शैली :

इस शैली में लेखक का उद्देश्य पाठक के समक्ष ऐसे सजीव चित्र को उपस्थित करना होता है जिससे पाठक उसका प्रत्यक्ष दर्शी बन कर रस का आस्वादन कर सके । इस शैली में लिखे गए उपन्यासों में फ्लैश बैक शैली को ज्यादा ही इस्तेमाल किया जाता है, जिसमें कथावस्तु का चयन वर्तमान से आरंभ किया जाता है और फिर किसी पात्र की स्मृति को अतीत में लौट कर विगत जीवन की कथा प्रस्तुत की जाती है । इस शैली के उपन्यास हैं - 'शाल्मली', 'गुलाममंडी', 'आखिरी छलांग', 'अस्पृश्य', 'चला पथे' आदि । 'शाल्मली' का एक उदाहरण इस संदर्भ में देख सकते हैं -"दरवाजे की घंटी बज उठी, 'शाल्मली' के हाथ सब्जी काटते काटते रुक गए, सोच का सिलसिला बिखर गया, हाथ का चाकू सब्जी की टोकरी में डालकर वह उठ खड़ी हुई और आँचल से चेहरे पर आए ।"<sup>557</sup>

### 9.11 मनोविश्लेषणात्मक-शैली

इस शैली का आधार फ्रायड का मनोविज्ञान है। इसमें अवचेतन मन को आधार बना कर वर्णन किया जाता है । इस शैली में उपन्यासकार पात्रों के मन का अंतःविश्लेषण करके उनके अन्तः मन की स्थिति को स्पष्ट करता है । मूल रूप से इस शैली में पात्रों को अपनी भावनाओं को मन में ही व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है । साथ ही इस शैली में मुखर रूप से परस्पर अभिव्यक्ति वाली शैली नहीं होती है । उदाहरण के आधार पर - हम हिन्दी

<sup>556</sup> आदिभूमि, प्रतिभा राय, प्रतिभा राय, पृ.सं.-97

<sup>557</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ.सं.-9

के बहुत सारे उपन्यासों को देख सकते हैं -जैनेन्द्र के लगभग सभी उपन्यास, देवराज के उपन्यास, स्त्री लेखिकाओं में मन्नू भण्डारी का उपन्यास 'आपका बंटी' आदि बहुत प्रसिद्ध रहे हैं । 1980 के बाद उपन्यासों में भी यह परंपरा चलती रही है जिसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित दिए गए हैं -

शाल्मली कहती है -“यह कैसा पति है, जो जरा-जरा सी बात पर घर से बाहर की तरफ भागता है, जिसके व्यक्तित्व में जरा भी ठहराव नहीं है, उसे बाँध कर रखना हथेली पर सरसों जमाना जैसा है।”<sup>558</sup>

‘उसके हिस्से की धूप’ उपन्यास में बालमन को चित्रित किया गया - “मैं देवी नहीं। वृंदा मुस्कराई, इसलिए तो मैंने सहेलियों के साथ खेलना छोड़ दिया है, पर क्या देवी स्कूल भी नहीं जाती, पढ़ाई भी नहीं करती, डॉक्टर भी नहीं बनती ?”<sup>559</sup>

‘ओ एकाकी’ उपन्यास में भी मनोविश्लेषणात्मक शैली को आधार बनाया गया है । ब्रज मन ही मन सोचता रहता है -“ब्रज सुंदर को अब नींद नहीं आती थी, अजीबोगरीब ख्याल मन में आते थे । एक बार उसने आत्महत्या करने के लिए पाँच नींद की गोलियां खा ली थी । और एक बार गले में रस्सी लगा कर फैन में झूलने की चेष्टा भी कर चुका था ।”<sup>560</sup> इस शैली में लिखे गए उपन्यासों में ‘चाक’, ‘तीसरी ताली’, ‘यज्ञासेनी’ आदि उपन्यासों को देखा जा सकता है।

---

<sup>558</sup> शाल्मली, नासिरा शर्मा, पृ.सं.-12

<sup>559</sup> उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, पृ.सं.-101

<sup>560</sup> ओ एकाकी, अनिल कुमार पाढ़ी, पृ. सं.- 124

## उपसंहार

भारत जैसे बहुभाषी देश में जहाँ साहित्य का विशाल महासागर है, वहाँ प्रत्येक भाषा के साहित्य का अपना विशेष महत्व रहा है। इस दृष्टि से किसी भाषा में रचित साहित्य को दूसरे भाषा के साहित्य से कमतर नहीं आँका जा सकता। प्रत्येक साहित्य अपने समाज, परिवेश और संस्कृति का संवाहक होता है इसलिए प्रत्येक भाषा के साहित्य की प्रवृत्ति दूसरे से भिन्न और अपने समाज या परिवेश-सापेक्ष होती है। साथ ही समाज में कुछ ऐसी घटनाएँ या आंदोलन भी होते हैं जिससे प्रभावित होकर साहित्य लेखन होता है। कई बार यह आंदोलन, साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी प्रवृत्ति को लेकर आचार्य शुक्ल ने भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह स्पष्ट किया था कि- 'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता के चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है। इसी प्रतिबिंब को आदि से अंत तक वह अपने साहित्य का हिस्सा बनाता है। इसीलिए किसी भी भाषा के साहित्य को समझने के लिए प्रवृत्तिगत आधार का होना अनिवार्य होता है क्योंकि समग्रता में साहित्य का अध्ययन या अध्यापन संभव नहीं।

आधुनिक दौर में अनुवाद के माध्यम से दो भिन्न भाषा-भाषियों के मध्य संबंध जोड़ने की पहल प्रारंभ हो चुकी थी जो उत्तरोत्तर तुलनात्मक साहित्य के माध्यम से और अधिक स्पष्ट होती गई। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि आज तक 'तुलनात्मक अध्ययन' को लेकर काम करने वालों की संख्या बहुत कम है। साथ ही दो या दो से अधिक भाषाओं के मध्य प्रवृत्तिपरक-अध्ययन की आवश्यकता भारतीय साहित्य में बनी हुई है। दो या दो से अधिक भाषाओं के मध्य यह प्रवृत्तिपरक आधार भारतीय साहित्य में एकता, साम्यता और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के सूत्र को तलाशने का रहा है। ऐसे में दो या दो से अधिक भाषाओं के मध्य प्रवृत्ति की तलाश कर अदृश्य सेतु को स्पष्ट कर भारतीय साहित्य की अवधारणा को साकार रूप देने की आवश्यकता महसूस होती रही है।

साहित्य में 'प्रवृत्ति' कभी भी स्थिर नहीं रही समय के अनुरूप उसमें बदलाव भी होते रहे हैं तथा समय की अनुकूलता और प्रतिकूल स्थिति में उसका आरंभ और विलय भी संभव है। साथ ही प्रवृत्ति की यह विशेषता भी रही है कि विधागत परिवर्तन होने से प्रवृत्ति में भी परिवर्तन हो सकता है अर्थात् उसके अभिव्यक्ति की भाषा और विधा भी कई बार निश्चित होते हैं यह संदर्भ मूल रूप से काव्य और गद्य के धरातल पर देखा जा

सकता है । 'उपन्यास' विधा यथार्थ के निकट होने के कारण, पाठ-पाठक के मध्य ज्यादा निकट संबंध स्थापित करता है । इसलिए प्रवृत्तिपरक दृष्टि से सबसे ज्यादा परिवर्तन भी इसी विधा में देखे गए । सन् 1980 के बाद ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ उभरती और विघटित होती रहीं जिसका प्रभाव उपन्यास साहित्य में देखने को मिलता है । जैसे -सन् 1980 के दौर के बाद भारत की सामाजिक व्यवस्था में बहुत ज्यादा परिवर्तन आया है, जिसका सम्बन्ध उत्तराधुनिकता से है । उत्तर-आधुनिक समाज ने सबसे ज्यादा संस्कृति, मीडिया, राजनीति, अर्थनीति आदि को प्रभावित किया है । इस दौर ने वैश्विक धरातल पर नयी विचारधाराओं को स्थान मिला है । भारत में मिश्रित संस्कृति की परंपरा तो थी ही किन्तु पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव सबसे ज्यादा उत्तराधुनिक युग में रहा । इसलिए इस दौर को 'तीसरी लहर' का दौर भी कहते हैं । यहाँ एक ओर जहाँ राष्ट्रवाद का नारा है वहीं दूसरी ओर धार्मिक उन्माद, मीडिया इन दोनों के मध्य सेतु निर्माणकर्ता की भूमिका अदा कर रहा है । एक ओर समाज जहाँ आधुनिक नहीं उत्तराधुनिक बना वहीं लोगों की सोच में परिवर्तन आया, उनकी सोच उपभोगवादी बनी । इस तरह भारत में मध्य वर्ग का उदय हुआ, जो वैश्विक दुनिया में साख बना रहा है । समाज में एक ओर बाजार की बढ़ती आबादी है तो दूसरी ओर भूख से रिरियाती हथेली है । यहाँ अमीर और अमीर बनता जा रहा है और गरीब और गरीब । किसान और मजदूर की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पा रहा है । आये दिन अखबारों में छपी खबर किसानों की आत्महत्या का सबसे अच्छा उदाहरण है । एक तरह से परिवेश और परिवार में सिकुड़न दर्ज होती रही । परिवार के संबंधों में ऊष्मा खत्म होती गई और रिश्ते नोटों की गड़डी पर चलने लगे । स्त्री और पुरुष संबंधों में भी कड़वाहट बढ़ती गयी है । एक ओर समाज जहाँ बुलंदियों को छू रहा है वहीं प्रकृति के हनन के कारण पर्यावरण और पारिस्थितिकी का संतुलन भी बिगड़ा है । प्रकृति का जहाँ हनन होगा वहां प्रकृति भी उपहार स्वरूप कुछ तो देगी ही जिसका परिणाम पूरा देश भुगत रहा, है जिसके फलस्वरूप एक तरफ कई महामारियां प्रभाव दिखा रही हैं तो दूसरी तरफ सूखा, बाढ़, सुनामी की बढ़ती स्थिति ने जनजीवन को अस्तव्यस्त कर दिया है । इस दौर में भाषाओं को लेकर भी काफी विवाद हो रहे हैं । यहाँ तक विज्ञापनों ने भी नए तरह की शब्दावली को ईजाद किया है, जिसका सबसे ज्यादा प्रभाव आम जन पर पड़ा है । इस तरह पूरा बाजार देश में नहीं समाज, परिवार और मानसिक धरातल पर भी निर्मित हो रहा है । इससे यह स्पष्ट अवश्य होता है कि हमने आधुनिकता का चोला भले



ही पहन लिया हो पर हमारी स्थिति बेहतर नहीं हुई है । हम सूचना तकनीकी के स्तर पर भले ही उन्नति कर रहे हों किन्तु सोच के धरातल पर हम अतीत से ज्यादा पिछड़े हुए दिखाई देते हैं । इन सारी प्रवृत्तियों ने समाज को ही नहीं अपितु साहित्य को भी प्रभावित किया है । सन् 1980 के बाद के दौर में लिखा गया साहित्य इसका प्रमाण है ।

हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों के अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हुआ है कि दोनों ही भाषा के उपन्यासों में प्रवृत्तियों का विकास, प्रारम्भिक दौर में प्रायः एक-सा रहा है । हिन्दी में जहां उपदेशात्मक और सुधारवादी, ऐतिहासिक, जासूसी, तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों की परंपरा प्रचलित रही वहीं ओड़िया में ओड़िशा के इतिहास पर आधारित ऐतिहासिक उपन्यास 'पद्ममाड़ी', राजनीतिक उपन्यास 'सौदामिनी' और 'उन्मादनी' जिसमें ओड़िशा राज्य की राजनीतिक गतिविधि दिखाई गई है और सामाजिक उपन्यासों में उपदेशवादी और सुधारवादी रुझान प्रकट हुआ है । दोनों ही भाषाओं में प्रेम, इतिहास, राजनीति, उपदेश और मनोरंजन को आधार बनाकर उपन्यास लेखन की परंपरा विद्यमान रही । किन्तु यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक हिन्दी में चित्रित तिलस्म और ऐयारी परक रचनाएं जो कोरे मनोरंजन पर आधारित थीं ऐसी परंपरा ओड़िया साहित्य में नहीं थी । साथ ही बाद के साहित्य में भी यह परंपरा दृष्टिगोचर नहीं होती है ।

दूसरा चरण जिसे प्रेमचंद-युग (1918-1936) कहा जाता है । ओड़िया साहित्य में इस दौर तक तीन युग की समाप्ति हो जाती है- फकीरमोहन युग (1897-15), फकीरमोहनोत्तर युग (जातीयवादी/ राष्ट्रीयवादी युग) (1915-1930), सबुज गोष्ठी युग (छायावादी युग) (1930-1935) । इस दौर में हिन्दी उपन्यासों की जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ उपन्यासों में उभरती हैं, वे हैं - राष्ट्रीय जागरण ('कर्मभूमि', 'रंगभूमि'), सामाजिक यथार्थ, किसान और मजदूर की दयनीय स्थिति तथा बुर्जुआ वर्ग की शोषण -परंपरा तथा जमींदारी प्रथा, नारी-शोषण (बाल विवाह, अनमेल विवाह, वेश्या जीवन), अछूतोद्धार, शिक्षा की आवश्यकता, प्रकृतवादी शैली, सांप्रदायिकता का उभरता रूप, ग्राम्य और नगरीय जीवन की समस्या, सुधारवादी प्रवृत्ति आदि । वहीं ओड़िया उपन्यासों में ग्राम्य और नगरीय जीवन का द्वन्द्व, अंग्रेजी शिक्षा के प्रति आकर्षण तथा नौकरी पेशे की आकांक्षा तथा इसका विरोध ('प्रायश्चित्त'), नई जमींदारी प्रथा का उदय और उनका शोषण ('मामू' उपन्यास), धार्मिक पाखंड तथा जातीय भेदभाव, आदिवासी समाज का चित्रण (1908- 'भीमा भूँया') जिसमें ओड़िशा के केऊँझर जिले में स्थित भूँया जनजाति की संस्कृति और परंपरा को चित्रित

करने की पहल है । मनोवैज्ञानिक उपन्यास की परंपरा इसी दौर से प्रारंभ होती है जिसमें -‘अद्भुत परिणाम’ (1918), ‘मनेमने’ (1920), ‘मलाजहन’, ‘भांति’ (1923) आदि उपन्यासों को प्रमुखता से लिया जा सकता है । साथ ही आर्थिक समस्या के कारण प्रवासन (‘बुला फकीर’) और विस्थापन (1923-‘टंका गछ’), गाँधीवादी दर्शन (‘माटी र मनीष’(1930)), ग्रामीण समाज में शोषण की समस्या तथा साहूकारी शोषण (‘छः माण आठ गुंठ’), स्त्री जीवन (‘भांति’, ‘काली बहू’) तथा ऐतिहासिक-राष्ट्रीय चेतनापरक उपन्यास की भरमार रही । दोनों ही भाषा के उपन्यासों की प्रवृत्तियों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दौर में जहां प्रेमचंद के आने से यथार्थवादी उपन्यास तथा सर्वहारा वर्ग की समस्या प्रमुखता से उभरती है वहीं फकीरमोहन ने ओड़िया उपन्यास में यथार्थ के उसी रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । दोनों भाषा के उपन्यासों में प्रवृत्तियों का विकास अपने समाज की समस्या और आवश्यकता पर ही निर्भर रहा इसलिए हिन्दी जगत में राष्ट्रीय जागरण, सुधारवादी चेतना, स्त्री-शोषण जहां केंद्र में रहा वहीं ओड़िशा राज्य की बिगड़ती आर्थिक स्थिति ने प्रवासन और विस्थापन जैसी समस्या के साथ ओड़िशा के गर्भ में रह रहे आदिवासी समुदाय की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत को भी लेखकों ने दर्ज करने की कोशिश की । साथ ही उपन्यासों में जहां दलित और आदिवासियों को खल पात्र के रूप में दिखाया जाता था उसके विपरीत दोनों समुदाय के प्रति सहानुभूति और संवेदना को दिखा कर प्रगतिशील चेतना और परिष्कृत दृष्टि को स्थापित किया । यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक था कि ओड़िशा में आदिवासी समुदाय की बहुलता ने इस तरह के भेदभाव को जन्म ही नहीं दिया साथ ही प्रारम्भिक दौर से ही समाज में निम्न समझी जाने वाली जाति ने साहित्य में अपनी भूमिका दर्ज की है जिसे बड़ी सहृदयता से स्वीकारा भी किया गया । हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-चेतना, गांधी-वादी-दर्शन, राष्ट्रीय-चेतना, कृषक और मजदूर-वर्ग पर महाजनी-सभ्यता आदि विचारदृष्टियों को देखा जा सकता है । वहीं ओड़िया जगत में हिन्दी से इतर मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्ति, प्रवासन, विस्थापन, आदिवासी समाज को लेकर नवीन लेखन ने ओड़िया उपन्यास जगत में कई नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया है।

हिन्दी के प्रेमचंदोत्तर उपन्यास (1936-47) के दौर में मनोवैज्ञानिक उपन्यास (‘त्यागपत्र’, ‘कल्याणी’, ‘संन्यासी’, ‘पर्दे की रानी’), समाजवादी उपन्यास (‘बिल्लेसुर बकरिहा’, ‘दादा कामरेड’, ‘चढ़ती धूप’, ‘नई इमारत’, ‘बहता पानी’, ‘चक्की’) ऐतिहासिक उपन्यास (‘इरावती’, ‘गढ़कुंडार’, ‘लक्ष्मीबाई’, ‘चित्रलेखा’, ‘दिव्या’, ‘मधुर स्वप्न’) आदि इस दौर की

प्रमुख प्रवृत्ति रही वहीं ओड़िया उपन्यासों में इस दौर को स्वाधीनता-पूर्व और स्वाधीनता के युग का ओड़िया उपन्यास (1935-1947) कहा गया । इस में प्रगतिवादी उपन्यास ('चित्रग्रीव'-1936 इसमें साम्यवादी चिंतन से प्रेरित 'चित्रग्रीव' का चित्रण तथा मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की विलासिता को भी दिखाया गया है, 'लुहा र मनीष' (1947)) की परंपरा प्रारंभ होती है । साथ ही स्त्री-पुरुष संबंध, गाँधीवादी दर्शन (1942- पूजा र बली (लवण सत्याग्रह), आंदोलन परक उपन्यासों में चक्रधर महापात्र का 'रोडंग वक्सी' (1948) उपन्यास आता है जो 1817 में ओड़िशा में अंग्रेज शासन के विरोध में लड़ी गई पाइक लड़ाई तथा उसके नेतृत्वकर्ता जगबंधु विद्याधर भ्रमरवर राय के त्याग पर लिखा गया । स्वाधीनता-संग्राम को लेकर लिखे गए उपन्यासों की प्रवृत्ति ओड़िया साहित्य में प्रमुखता से उभर कर आती है । सच्चिदानन्द राउतराय का 'प्रतिभा' (1947) उपन्यास स्वाधीनता संग्राम में नारियों की भूमिका और नारी मुक्ति के प्रश्न को चित्रित करता है । सामाजिक कुप्रथा, जातीय भेदभाव और प्राकृतिक आपदा इस समय की अन्य महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही जिसमें - 'विद्रोह' (स्त्री-समस्या, बाल, विधवा और अनमेल विवाह को दिखाया गया है), 'शास्ति' में भयंकर सूखा, जाति, धर्म और वर्ग जैसे भेद भाव के प्रति प्रतिरोध देखने को मिलता है । 'भल पाइबा र शेषकथा' उपन्यास अस्पृश्यता पर लिखा गया । 'दादीबूढ़ा' और 'परजा' उपन्यास गोपीनाथ मोहंती का आदिवासी समाज पर लिखे गए बेहतरीन उपन्यासों में से एक है । इस दौर में ओड़िया उपन्यासों में प्रगतिशील दृष्टि अपनाने की वजह से उपन्यासों का केंद्र 'जन केंद्रित' रहा । इस दौर में दोनों ही भाषाओं के उपन्यासों में गाँधीवादी आंदोलन, प्रगतिवादी चेतना, स्त्री चिंतन, ऐतिहासिक उपन्यास की प्रवृत्ति रही ।

स्वातंत्र्योत्तर दौर में भारत-पाक विभाजन, गांधी की मृत्यु, कालाबाजारी, महंगाई, राजनीतिक षड्यन्त्र, मध्यवर्ग का उदय आदि पर विशेष रूप से लेखन कार्य भारतीय उपन्यासों में किया गया । यह यही दौर है जब हिन्दी की लेखिका उपन्यास साहित्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हुई स्त्री अस्मिता संबंधी चिंतन को सभी के समक्ष प्रस्तुत करती हैं । इस दौर में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास की भरमार रही - जैनेन्द्र, इलाचंद जोशी, डॉ. देवराज, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे जैसे अनेक रचनाकार मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति को आधार बना कर उपन्यास लेखन कर रहे थे । आंचलिक उपन्यासों की भी एक प्रवृत्ति इस दौर में देखी जा सकती है जिसमें फनीश्वरनाथ 'रेणु', देवेन्द्र सत्यार्थी, बलभद्र ठाकुर, राजेन्द्र अवस्थी, रामदरश मिश्र, श्रीलाल शुक्ल, शानी, राही मासूम रज़ा का नाम

प्रमुखता से लिया जा सकता है। अस्तित्ववादी और व्यक्तिवादी उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्ति भी इस दौर में देखी जा सकती है जिसमें अज्ञेय, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, देवराज, भगवती चरण वर्मा आदि के उपन्यासों को देखा जा सकता है। साम्यवाद अथवा समाजवादी उपन्यास की प्रवृत्ति इस दौर की प्रमुख प्रवृत्ति में से एक है। इसमें यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मी नारायण लाल, भीमसेन त्यागी, अमृतलाल नागर आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों को देखा जा सकता है। साथ ही इस दौर में हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास (वृंदावनलाल वर्मा), मानवतावादी उपन्यास (उदय शंकर भट्ट) तथा शैली की दृष्टि से जीवनी परक शैली (रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी) पर आधारित उपन्यासों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। साथ ही मिथकीय आधार पर उपन्यास लेखन की शुरुआत भी इसी दौर में होती है जिसमें नरेंद्र कोहली के उपन्यासों को देखा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर ओड़िया उपन्यासों में स्त्री-अस्तित्व को लेकर उपन्यास बहुत लिखे गए जिसमें कान्हू चरण महंती का 'का' उपन्यास, 'क्षण क्षण के आन'; विभूति पट्टनायक 'चपलछंदा', 'वधु निरुपमा'; प्रतिभा राय 'वर्षा, वसंत, वैशाख', 'अपराजिता', 'अरण्य', 'पूर्णतया' आदि उपन्यासों में स्त्री उत्पीड़न और पितृसत्तात्मक समाज में नारी की स्थिति को दिखाया गया है। इस दौर में दलित जीवन ('हरिजन' 1948, 'पल्ली जीवन', 'घनिवर्त'), आदिवासी जीवन ('शिव भाई' (1955), 'मूलिया पीला' (1951) 'वसुंधरा माटी' (कंध जनजाति)) मनोवैज्ञानिक उपन्यास ('नेपथ्य'-कृष्ण प्रसाद मिश्र), आंचलिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास ('नील शैल' (जगन्नाथ संस्कृति) 'चाँद' और 'चम्पा' (बौद्ध कालीन इतिहास), राजनीतिक उपन्यास ('विजयी' (1962) छात्र आंदोलन पर आधारित रहा), 'अंधदिगंत', 'तृतीय पर्व' (आपात काल) 'देवकी र कारावास' (आपात काल), 'मो स्वप्न र शहर' (राउरकेला के इस्पात कारखाना के निर्माण से युवा वर्ग की स्थिति, कृषक-शिल्प श्रमिक आंदोलन), 'नरकिन्नर', 'माटीमटाल'), सामाजिक उपन्यास (बाढ़ की समस्या ('मिलन' (1956)), शहरीकरण और नगरीकरण, मध्यवर्गीय जीवन) आदि को आधार बना कर उपन्यास लिखे गए। दोनों भाषाओं के उपन्यासों को देखने पर यह स्पष्ट हो पाता है कि दोनों में मनोविश्लेषणात्मक, आंचलिक, ऐतिहासिक, जीवनी परक शैली, मिथक, स्त्री अस्मितवादी चिंतन, आदिवासी जीवन, दलित जीवन, राजनीतिक उपन्यासों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। हिन्दी में ओड़िया उपन्यास से इतर अस्तित्ववादी, मानवतावादी तथा

समाजवादी उपन्यास इस दौर की प्रमुख प्रवृत्ति बन कर उभरती है जबकि ओड़िया उपन्यासों में ऐतिहासिक मिश्रित सांस्कृतिक उपन्यास, आंदोलनधर्मी तथा आपातकालीन उपन्यास, पर्यावरणपरक उपन्यास, वैज्ञानिक उपन्यास, डिटेक्टिव उपन्यासों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है ।

सन् 1980 के बाद लिखे गए उपन्यासों को समकालीन उपन्यास की संज्ञा दी गई । जिसमें आधुनिकता और उत्तराधुनिकता के संगम स्थल से हिंदी और ओड़िया में नवीन प्रवृत्तियों का अभ्युदय होता है । ये प्रवृत्तियाँ साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों को अपने में समाहित किये हुए हैं ।

सन् 1980 के बाद दोनों भाषाओं के उपन्यासों में कुछ प्राचीन और नवीन प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । कुछ प्रवृत्तियाँ जिनका आविर्भाव बहुत पहले हो चुका है किन्तु समय-समय पर उनमें परिवर्तन होने के कारण आज भी उनका स्थायित्व बरकरार रहा है जिसमें ऐतिहासिक उपन्यासों को देखा जा सकता है वहीं कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी रही हैं जो समय की अनुकूलता को देखते हुए कभी प्रबल हो उठती हैं तो कभी स्थिर रहती हैं जिनमें पौराणिक और मिथकीय रचनाओं को देखा जा सकता है । इस दौर में और कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी रहीं जो समकालीन समाज का ऐसा प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है जिससे जनसामान्य को रूबरू होना अनिवार्य है । इसमें वैश्विक आर्थिक परिवर्तन जैसे उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण ने न केवल समाज को प्रभावित किया बल्कि राजनीति, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, संचार माध्यम, तकनीकी चेतना को भी प्रभावित किया । साथ ही इस दौर की सबसे बड़ी विशेषता यह भी रही है कि जिन उपेक्षित समुदायों की सुगबुगाहट हमें सुनाई दे रही थी वे प्रखर रूप से अपनी आवाज बुलंद करते हैं । अतः 80 के दशक के बाद सबसे ज्यादा ऐसी राष्ट्रीय घटनाएं भी घटी जिसने मानवीयता को शर्मसार किया ही जिससे साहित्य में ऐसा मोड़ आता है जिसने साहित्य के विषय और शैली दोनों में ही परिवर्तन किया। दोनों ही भाषाओं में यह प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से उभर कर आती हैं।

कोई भी प्रवृत्ति साहित्य में एकाएक नहीं आ जाती इसके पीछे एक लंबी परंपरा रही है जिसे जाने बिना प्रवृत्तिपरक विकास को नहीं समझा जा सकता । हिन्दी में 1980 के बाद के दौर के बाद जहां किसानों की दयनीय स्थिति ('आदिग्राम उपाख्यान'-कुणाल सिंह; राजूशर्मा- 'हलफनामे'; 'फांस'-सजीव), उपेक्षित समुदाय और समस्या केन्द्रित साहित्य की प्रबलता- स्त्री अस्मिता के स्वर; स्त्री-पुरुष संबंध में टकराहट; दलित अस्मिता के स्वर;

आदिवासी अस्मिता; किन्नर विमर्श; कवीर वर्ग की अस्मिता और पहचान का मुद्दा; वृद्ध विमर्श; बाल विमर्श; पर्यावरण विमर्श; अल्पसंख्यक विमर्श, वैश्वीकरण के कारण गहराता संकट (राजू शर्मा- 'विसर्जन', अलका सरावगी- 'एक ब्रेक के बाद'; गिरिराज किशोर - 'स्वर्णमृग'; रवींद्र कालिया- 'ए.बी.सी.डी.:', प्रवासी लेखन, बाजारवाद का प्रभाव, विज्ञापनों की भूमिका, सूचना, तकनीकी और मीडिया, उग्र साम्प्रदायिकता का विकृत रूप ('कितने पाकिस्तान', 'काशी का अस्सी'-काशीनाथ सिंह, 'पहचान' -अनवर सुहैल;), विस्थापन (मीरा कान्त- 'एक कोई था', 'कहीं नहीं सा';), शरणार्थी ('मैं बोरिशाइल्ला'-महुआ माजी; क्षमा कौल- 'दर्दपुर';), कश्मीर समस्या (क्षमा कौल- 'दर्दपुर'; मनीषा कुलश्रेष्ठ - 'शिगाफ़'; चंद्रकांता - 'कथा- सतीसर';) मिश्रित संस्कृति आदि देखने को मिलती हैं। साथ ही ऐसी प्रवृत्तियाँ भी समकालीन समय में प्रचलित रहीं जो बहुत प्राचीन हैं, जैसे मिथकीय और पौराणिक उपन्यासों की धारा, धर्मान्तरण, ऐतिहासिक उपन्यास आदि।

ओड़िया उपन्यासों में वहीं ऐतिहासिक (सुरेन्द्र मोहंती - 'नीलाद्रि विजय' (1980) 'कृष्णावेणी र संध्या' (1985); शांति महापात्र - 'बुद्ध शरणं गच्छामी' (1983) 'आम्रपाली' (बौद्ध दर्शन), 'नूरजहां' (1990), 'सुल्तान अलाउद्दीन' (1990, 'स्वाधीनता र शेष सूर्य' (1994); विभूति पट्टनायक- 'शेष राती र सूर्य' - (बांग्लादेश की स्वाधीनता); मुरलीधर मल्लिक - 'रक्त साक्षर' (1980 महात्मा गांधी की मृत्यु और सिपाही विद्रोह पर) आदि। राजनीतिक उपन्यास में शांतनु कुमार आचार्य के द्वारा लिखित - 'शकुंतला' (1980), अनादी साहु के द्वारा लिखित 'जंगली शहर' उपन्यास निर्वाचन के समय राजनेताओं की स्थिति को दिखाने का प्रयास किया गया है। पौराणिक उपन्यासों को भी इस दौर की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है जिसमें - कान्हू चरण - 'सत्यवती' (1980), प्रतिभा राय - 'यज्ञासेनी' (1985), अनादि साहु ('जरासंध' (1990), 'वरुण' (1989), सुरेन्द्र नाथ सत्पथी ('रावण', 'शर्मिष्ठा', 'कर्ण', 'जोजन गंधा', 'कुंती', 'कृष्ण'; नरसिंह मिश्र - 'शकुनि' (1993)। इस दौर में सामाजिक उपन्यासों में समकालीन संघर्ष और शरणार्थी समस्या, अनुन्नत संप्रदाय - हरिजन संप्रदाय / दलित जीवन पर आधारित उपन्यास ('असवर्ण' - 1982), आदिवासी संप्रदाय में नारायण महापात्र - 'काड़े गोमांगो' (1981), 'कहानी सबुज उपत्याका र' (1985, कोरापुटिया आदिवासी); गोविंद दास - 'लामू' (1981); अनादि साहु ('मुंड मेखला' - 1982), भागीरथी नेपाक 'राउरकेला रे जात्री'। विफल दाम्पत्य जीवन 'आशावरी' (1980) पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव; 'अयमारंभ' (1981); विभूति पट्टनायक का 'जटिल संबंध'। नारी जागरण

पर सुलोचना दास- 'अनंतिका' (1988), प्रतिभा राय -'यज्ञासेनी'; कान्हू चरण- 'सत्यवादी'(1980), 'स्वप्ना' (1990) । विज्ञान आधारित उपन्यास - डॉ. नृसिंह चरण पंडा - 'दग्ध गोलाप र चीर वसंत' (1981); गोकुलनंद महापात्र -'पृथ्वी बाहारे मनुष्य', 'कृत्रिम उपग्रह', 'चंद्र र मृत्यु', 'मध्यान अंधकार', 'सूना र ओड़िशा' आदि उपन्यास लिखे गए । डिटेक्टिव उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्ति भी इस दौर में देखी जा सकती है । जीवनीपरक उपन्यास और पत्रात्मक-उपन्यास की प्रवृत्ति भी इस दौर में देखी जा सकती है ।

हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्ति दलित और आदिवासी जीवन पर केंद्रित उपन्यासों की रही है । 1980 के बाद यह प्रवृत्तियाँ उपन्यासों में एकाएक नहीं आ गईं जबकि हिन्दी और ओड़िया में आदिवासी जीवन की इसकी शुरुआत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारंभ हो जाती है और फिर 1980 के दशक में यह प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में सामने आती हैं । साथ ही स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि प्रारम्भिक उपन्यास गैर आदिवासियों के द्वारा ही लिखे गए । किन्तु इसमें गोपीनाथ महंती का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । उन्होंने केवल ओड़िया नहीं बल्कि भारतीय साहित्य में आदिवासी समुदाय पर लिखे गए, महत्वपूर्ण उपन्यास दिए एक-तरह से आदिवासियत की पहचान को निर्मित करने में उनका बहुत बड़ा स्थान रहा इसलिए आदिवासी जीवन को लेकर महाश्वेता देवी के साथ गोपीनाथ मोहनी का नाम भी स्मरण किया जाता है । मूल रूप में 1980 के दौर से पूर्व लिखे गए गैर आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी जीवन की संस्कृति, समाज तथा उसकी जीवन शैली देखी जा सकती है जबकि 80 के दौर के बाद उनके उपन्यासों का रुख आदिवासी समुदाय की सांस्कृतिक अस्मिता का सवाल, धर्मांतरण की समस्या, आदिवासी पहचान, आदिवासी भाषाओं का भविष्य या उनकी स्थिति, आदिवासी स्त्री की कार्य दक्षता या आत्मनिर्भरता, प्रकृति का हनन तथा संरक्षण का सवाल दिखाई देते हैं । रमणिका गुप्ता का 'मौसी' उपन्यास आदिवासी स्त्री की कार्य कुशलता, आत्मनिर्भरता, दिक्कों का आदिवासी स्त्री के प्रति व्यवहार/दृष्टि को दिखाया गया है । 'ग्लोबल गाँव के देवता' में 'असुर' जनजाति के इतिहास, जमीन अधिग्रहण, साहूकारों का शोषण, सांस्कृतिक विरासत के खत्म होने की संभावना, असुर जाति की पहचान के प्रश्न को भी इस उपन्यास में दिखाने का प्रयास किया है । 'जंगल जहां शुरू होता है' में थारु जनजाति की समस्याएं तथा उत्पीड़न, भूमि सुधार, रोजगार की समस्या, धर्म और राजनीति की भ्रष्टता तथा एक तरफ साहूकारों के द्वारा उनका शोषण तो दूसरी तरफ डाकुओं की ज़्यादतियाँ तो तीसरी तरफ सरकारों की आँखों

की किरकिरी बन के स्वयं के शांति और सुखद जीने की आकांक्षा को इस उपन्यास में दिखाने का प्रयास है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में साहूकार की शोषक संस्कृति को भी दिखाया गया है। 'पलास के फूल' उपन्यास में सरकारी विकास नीतियों के नाम पर भूमि-अधिग्रहण और आश्वासन को दिखाया गया है। साथ ही मुआवजे के नाम पर लूट, विस्थापन का दंश, आदिवासियों के मजदूर बनने की स्थिति को इस उपन्यास में दिखाया गया है।

वहीं ओड़िया आदिवासी उपन्यास में यह परंपरा 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ से रही है। ओड़िशा राज्य में लगभग 62 प्रकार की जनजातियाँ रहती हैं इसलिए यहाँ की विशाल संस्कृति का हिस्सा आदिवासी संस्कृति रहा है। इसलिए आदिवासी पर गहन अन्वेषण कर उपन्यास की रचना स्वतंत्रता से पूर्व भी देखी जा सकती है। स्वतंत्रता के बाद भले ही आदिवासी संबंधित उपन्यास कम लिखे गए किन्तु 1980 के बाद आदिवासी उपन्यासों को नई गति मिली। 'माटी र लुह' उपन्यास कलिंग घाटी नामक आदिवासी अंचल में आदिवासी आंदोलन और राजनीतिक षड्यन्त्र, पर्यावरण प्रदूषण और संरक्षण पर आधारित है। आदिवासी विस्थापन और सरकारी अधिग्रहण नीति के विफल परिणाम पर 'भरोसा र भिटा माटी' उपन्यास लिखा गया है। 'आदिभूमि' उपन्यास कोरापुटिया बोड़ा जनजाति की जीवन चर्या तथा उनके इतिहास और संस्कृति पर गहन अध्ययन करने के पश्चात् लिखा गया है।

अतः दोनों ही भाषाओं में गैर आदिवासियों के द्वारा लिखित उपन्यास ज्यादा रहे हैं जबकि हिन्दी भाषा में आदिवासी समुदाय उपन्यास लेखन में अपनी सक्रियता दिखा रहा है। वहीं ओड़िया साहित्य में यह स्थिति अभी अनुमानतः नहीं देखी गई है। साथ ही ओड़िया भाषा में आदिवासी समुदाय उपन्यास लेखन में सक्रिय न होने के कारण उनकी आंतरिक समस्याएं, पहचान, अपनी भाषा को बचाए रखने की पहल और अस्मिता जैसे प्रश्न उपन्यासों में नहीं देखे गए हैं।

दलित जीवन पर उपन्यास लेखन की शुरुआत सही मायने में 80 के दशक से होती है। इससे पूर्व दोनों ही भाषाओं में लिखे गए उपन्यास में दलितों को उचित सम्मान नहीं दिया गया और न ही उनकी आंतरिक समस्याओं को आधार बनाकर उपन्यास ही लिखा गया। दलितों की सहानुभूति और स्वानुभूति का प्रश्न को आधार बनाते हुए यही कहा जा सकता है कि 80 से पूर्व तथा दलित उपन्यासकारों ने सहानुभूतिपूर्ण उपन्यास ही लिखे हैं



। 80 के बाद हिन्दी और ओड़िया दोनों ही उपन्यासों में दलित और गैर दलित उपन्यासकार उपन्यास लिखते हैं किन्तु दोनों के उपन्यासों में दलित चेतना, अस्मिता, विद्रोह और आक्रोश, इतिहास में खुद को टटोलने की कोशिश दिखाई गई है । हिन्दी के 'छप्पर' उपन्यास में लेखक ने दलितों के सामाजिक और आर्थिक शोषण, दलितों में शिक्षा की आवश्यकता, अम्बेडकरवादी चिंतन आदि को दिखाया गया है । 'झलकारी बाई' उपन्यास इतिहास में दलितों के प्रति उपेक्षा और स्वतंत्रता संग्राम में दलित समुदाय तथा दलित स्त्री का विशेष योगदान को दिखाने की पहल है । सुशीला टाकभौरे का 'नीला आकाश' उपन्यास जातिभेद और वर्णवाद की पोल खोलते हुए दलित उन्नयन, अम्बेडकरवादी चिंतन, दलित मुक्ति की आकांक्षा, महाराष्ट्र के दलितों का शोषण और उत्पीड़न के कारण, सवर्णों के प्रति आक्रोश को दिखाया गया है । 'उधर के लोग' उपन्यास में जातिवादी हिंसा, सरकार की दलितों की समस्या पर चुप्पी, दलितों के मध्य पनपे जातिगत भेदभाव, छुआछूत की समस्या, शिक्षा की आवश्यकता, दलित समाज में एकता में कमी, आरक्षण की आवश्यकता ।

ओड़िया उपन्यास साहित्य की ओर अगर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि गैर दलितों के द्वारा लिखित उपन्यासों की संख्या अधिक है जबकि दलित उपन्यासकारों के द्वारा लिखित उपन्यासों की संख्या कम है । दलित लेखकों द्वारा लिखित उपन्यासों में 'पोड़ापोड़ी' प्रमुख है । 'पोड़ापोड़ी' उपन्यास बालंगीर में स्थित लाठौर दलितों के जातिवादी हिंसा तथा दलितों के गाँव का नरसंहार, दलितों के मंदिर प्रवेश का विरोध, दलित शिक्षा को लेकर गैरदलितों की उपेक्षित दृष्टि, अस्मिता बोध, मानसिक शोषण और प्रवासन की समस्या तथा दलित स्त्री शोषण आदि को दिखाया गया है । 'भेद' उपन्यास में जातिगत भेदभाव, दलितों की शुद्धिकरण के नाम पर ठगी, शिक्षा की आवश्यकता, छुआछूत, अम्बेडकरवादी चिंतन, बुद्ध दर्शन का प्रभाव आदि को दिखाया गया है । गैर दलित उपन्यासकारों में प्रगतिशील दृष्टि को लेकर लिखने वाले उपन्यासकार में विभूति पट्टनायक का नाम उल्लेखनीय है । उनके द्वारा लिखित 'असवर्ण' उपन्यास में उच्चजाति के कट्टर रूप, आरक्षण को लेकर मुख्य धारा की प्रतिक्रिया, दलितों का सामाजिक शोषण आदि का चित्रण है । वहीं गैर दलित उपन्यासकारों में ऐसे भी रचनाकार रहे हैं जिनकी सोच न प्रगतिशील है और न ही दलित समर्थक । 'अस्पृश्य' उपन्यास दलित विरोधी उपन्यास है, जिसमें आरक्षण का पुरजोर विरोध दिखाया गया है । अतः दोनों ही भाषाओं में लिखे दलित

उपन्यासों में दलित उपन्यासकारों और गैर-दलित उपन्यासकारों के बीच बहुत बड़ी फांक दिखाई देती है। दलितों के द्वारा लिखित उपन्यासों में जहां उनकी अन्तःवेदना, आंतरिक दृष्टि, गैर दलितों का उनके प्रति व्यवहार, अस्मिता, पहचान जैसे सवाल प्रमुखता से उभरते हैं वहीं गैर दलित उपन्यासकारों में इसका अभाव नजर आता है। साथ ही आज के दलित उपन्यासों में 'दलित समुदाय' के भीतर बंटे फिरके और एकता की कमी को भी लेखकों ने अपना विषय बनाया है। अतः दोनों भाषाओं के दलित उपन्यासों में यथार्थपरकता को बरकरार रखने की बरबस कोशिश देखी जा सकती है।

**‘स्त्री-जीवन-संघर्ष’** दोनों भाषाओं के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। यह प्रवृत्ति उपन्यास में प्रारम्भिक समय से देखी जा सकती है किन्तु नारी पर लिखने वाले अधिकतर पुरुष रहे जिनकी दृष्टि स्त्री के बाहरी समस्याओं को समाधान करने की रही। स्वतंत्रता के बाद आए स्त्री संबंधी उपन्यास साहित्य में स्त्री के आगमन के साथ विषयगत परिवर्तन अवश्य ही होते हैं किन्तु 70 के बाद पश्चिम में आये नारी आंदोलन तथा अपने हक के लिए उठाए गए कदम ने भारतीय नारियों के मध्य, अदम्य साहस भरने का कार्य किया। इससे पूर्व भारतीय साहित्य में यह प्रयास होते रहे हैं किन्तु मुखरता का यह रूप सामने 70 के बाद ही उपन्यासों में देखा जा सकता है और 80 के दशक तक नारी उपन्यासकारों की सक्रिय भागीदारी ने स्त्री-संघर्ष और अस्मिता के प्रश्नों को बड़ी बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया। 80 के दशक के उपन्यासों में स्त्री जीवन संघर्ष को व्यक्त करने में दोनों ही भाषा के उपन्यासकार पूर्ण रूप से सफल हो पाए हैं। दोनों भाषाओं के उपन्यासों में मूल रूप से स्त्री उपन्यासकार को लेकर ही स्त्री संघर्ष को आधार बनाया गया है। इसका कारण यह है कि स्त्री लेखिकाओं के द्वारा लिखित उपन्यास में स्त्री का अंतर्मन और अस्मिता का सवाल प्रमुखता से उभरे हैं जबकि पुरुष लेखकों के उपन्यासों में यह कमी देखी जा सकती है। ऊपर यह स्पष्ट भी किया गया कि स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति स्त्री जिस प्रकार कर सकती है वैसे पुरुष नहीं कर सकता। उत्तराधुनिक संदर्भ में देखें तो पुरुषों की दृष्टि स्त्रियों को लेकर कई मामलों में प्रगतिशील दिखाई देती है, जिसमें कोई दो राय नहीं है। किन्तु आज भी स्त्री मन को समझने में पुरुष प्रायः असफल ही दिखाई पड़ते हैं। उपरोक्त स्त्री उपन्यासों के अध्ययन ने यह स्पष्ट कर दिया कि समकालीन स्त्री संघर्ष की प्रवृत्ति अस्मिता केंद्रित रही है जिसमें स्त्री जीवन के ऐसे अनेक पहलुओं को लिया गया है जो आज के दौर में स्त्री के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। इन दोनों भाषाओं के उपन्यासों के अध्ययन के

क्रम में यह तो अवश्य स्पष्ट हो गया कि भले ही दोनों में भाषागत भिन्नताएं रही हों लेकिन विषय गत लेखन अर्थात् स्त्री मन को दोनों ही भाषा के उपन्यासों में बड़े ही सजीवता और ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया है। स्त्री उपन्यासकारों ने स्त्री-स्वातंत्र्य के साथ सामाजिक, आर्थिक, पर्यावरणीय आदि पहलुओं पर भी उपन्यास लिखे हैं इन्हें केवल स्त्री-अस्मिता तक सीमित नहीं किया जा सकता है। दोनों में प्रदेशगत भिन्नताएँ भले ही रही हों किन्तु स्त्रियों की समस्या प्रायः दोनों में समान है साथ ही पुरुषवादी समाज के परंपरावादी दृष्टिकोण में दोनों ही समाजों में समानता रही है। साथ ही इन उपन्यासों को पढ़ने के दौरान यह महसूस गया कि दोनों तरह के उपन्यासों में स्त्री सशक्तिकरण के मुद्दों को उठाया गया है। साथ ही यह भी देखा गया कि समय के परिवर्तन के साथ साथ समस्याएं भी बदली हैं। पहले समस्या चार दीवारी तक सीमित थी वहीं आज महिलाएं शिक्षित और कामकाजी होने के कारण समस्याओं की दिशा और स्थिति बदली है। दोनों भाषा के उपन्यासों की विशेषता यह है कि दोनों ही भाषाओं में परंपरावादी आदर्श को स्त्रियाँ तोड़ती हुई दिखाई देती हैं। जिसमें विद्रोही प्रवृत्ति की महिलाएं जैसे 'आवां' की नमिता पांडे, 'कठगुलाब' की स्मिता, 'जटिल संबंध' की सुचित्रा, 'यज्ञासेनी' की द्रौपदी आदि स्त्रियों को देखा जा सकता है। वहीं इन उपन्यासों में बोल्ड सोच रखने वाली नारियों का चित्र भी देखा गया है जिसमें सुचित्रा का संतान प्राप्ति पर स्त्री का अधिकार तथा व्यवस्था विरोधी रुपेली को देखा जा सकता है। साथ ही इन उपन्यासों में समकालीन समाज के आधुनिक पुरुषों की रूढ़िवादी सोच को भी चित्रित किया गया है। अंततः दोनों ही भाषाओं के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति समकालीन संदर्भों को समेटे हुए है तथा स्त्री को देखने की एक नई दृष्टि पैदा करती है साथ ही समकालीन समाज में जूझती आधुनिक स्त्री की छवि को भी प्रस्तुत करती है।

समकालीन समय में 'क्वीर' का मुद्दा साहित्य में प्रचलन में है। समय-समय पर उपन्यास साहित्य में किन्नर पात्र अवश्य देखे गए हैं किन्तु (LGBTIQ) एलजीबीटीआईक्यू जैसी अवधारणा पश्चिम की उपज है। भारतीय समाज में पौराणिक ग्रंथों में किन्नरों को भले सम्मान मिला हो किन्तु वास्तविकता अधिक क्रूर और अमानवीय है। LGBT (एलजीबीटी) शब्द पहले पहल 1990 के आस-पास अंग्रेजी भाषा में सुना जाने लगा तथा कुछ शताब्दी पहले से ही इसमें भी अनेक प्रकारों को सम्मिलित किया गया है। 377 धारा ने इस

समुदाय को अलग पहचान दी है । लेकिन आज भी समाज में इनको लेकर इतनी अच्छी धारणा लोगों में नहीं जाग पाई है ।

हिन्दी उपन्यासों में 'कवीर वर्ग' में से तीन वर्ग ज्यादा सक्रिय हैं जिन पर लेखन जोरों शोरों से हो रहा है । इसलिए ये तीन समुदाय (लेसबियन, गे और ट्रांसजेंडर ) का जीवन संघर्ष उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में उभरा है । वहीं ओड़िया साहित्य में एक उपन्यास 'असामाजिक' समलैंगिक स्त्री पर प्राप्त हो पाया है । किन्तु यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें समलैंगिकता का वह रूप सामने नहीं आता जिसे इस्मत चुगताई 'लिहाफ' कहानी में बहुत पहले ही व्यक्त कर चुकी हैं । इसमें सच्चाई को स्पष्टता से नहीं बल्कि छिपाते हुए ढंग से प्रस्तुत किया गया है । इसका एक कारण यह भी रहा कि ओड़िशा राज्य की संस्कृति इस व्यापकता को दिखाने में बाधित रही है । ट्रांसजेन्डर को लेकर अगर बात की जाए तो स्पष्ट है कि संभवतः अभी तक ट्रांसजेन्डर को लेकर कोई स्वतंत्र उपन्यास ओड़िया साहित्य में नहीं आए हैं । वहीं हिन्दी में ट्रांसजेन्डर, गे और लेसबियन को लेकर उपन्यास लिखे गए हैं । 'गुलाममंडी' उपन्यास में किन्नरों को देखने की तिरस्कार-दृष्टि, किन्नरों का दैहिक शोषण, जबरन किन्नर बनाने की समस्या, किन्नरों की तस्करी और जिस्म फरोशी आदि को दिखाने का प्रयास किया गया है वहीं आर्थिक समस्या से परेशान होकर हिजड़ा बनने वालों की बढ़ती संख्या, नाचने-गाने वाले हिजड़ों की कमी तथा जिस्म फरोशी में उनकी बढ़ती संख्या, किन्नरों की रीति-नीति, परंपरा और संस्कृति, लेसबियन और गे समाज के नारी-पुरुषों के स्वभाव और समस्याएं, किन्नरों को रोजगार की कमी आदि विषयों को 'तीसरी ताली' उपन्यास में दिखाया गया है । ये सारी समस्याएं तो इस दौर के इस विषय पर लिखे गए उपन्यासों की रही । 'पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा' उपन्यास में पुरुष या स्त्री से ट्रांसजेंडर बनने की जद्दोजहद तथा बिन्नी जैसे बालक को स्वीकार करने में समाज और परिवार की असमर्थता, आदि को लेखिका ने बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया है ।

दोनों भाषा के उपन्यासों को अध्ययन करने के उपरांत यह स्पष्ट होता है कि बाल जीवन पर हिन्दी और ओड़िया साहित्य में अन्य विधाओं में भले ही बहुत साहित्य बहुत पहले से लिखे गए हों किन्तु उपन्यासों की संख्या दोनों साहित्य में काफी कम है । आज जब 80 के दशक में जब सभी उपेक्षित वर्ग अपनी समस्या को लेकर अपनी अस्मिता दर्ज कर रहे हैं वहीं बाल-साहित्य में बाल-विमर्श की अवधारणा सामने आयी है ऐसे में उपन्यासों

में भी इसकी अनुगूँज सुनाई दे रही है । हिन्दी में ऐसे उपन्यास लिखने की परंपरा 21वीं सदी से ही प्रारंभ हो गई है जबकि ओड़िया साहित्य में बाल विमर्श जैसी अवधारणा ने ही जन्म नहीं लिया है । साथ ही यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि बाल उपन्यास की परंपरा कोई नई परंपरा नहीं है । बालकों या किशोरों के मनोरंजन के पहलुओं को आधार बना कर उपन्यास की रचना तो पहले से ही रही है किन्तु आज 21वीं सदी में यह एक प्रवृत्ति विशेष के रूप में इसलिए भी महत्वपूर्ण बन गई है क्योंकि इसमें बालकों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा बाजारवाद के बाद परिवारों में परिवर्तन से प्रभावित बाल वर्ग आंतरिक ढंग से संकुचित और अंतर्मुखी बनता जा रहा है जिसका प्रभाव उसके स्वाभाविक विकास और स्वस्थ दिमाग के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहा है । किन्तु इस प्रकार लिखे गए उपन्यासों की संख्या काफी कम है । 'उसके हिस्से की धूप' उपन्यास में कन्या जाति के प्रति कुत्सित मानसिकता तथा पुत्र प्राप्त करने की आकांक्षा में असंख्य बच्चों को जन्म देना, बाल मन की आकांक्षाएं, वृद्धा की मानसिक स्थिति, पिता का पुत्री के प्रति क्रूरतम-व्यवहार आदि को उपन्यास की कथावस्तु बनाया गया है वहीं ओड़िया उपन्यास 'कवर स्टोरी' में समकालीन समय में बालिकाओं के प्रति बढ़ते शारीरिक शोषण तथा पुरुष समाज की विक्षिप्त स्थिति को दिखाने का प्रयास है । अतः यह कहा जा सकता है कि दोनों ही भाषाओं में बाल उपन्यासों में मनोरंजनपरकता को आधार बना कर ज्यादा उपन्यास लिखे गए जबकि उनके मनोवैज्ञानिक पक्ष तथा उनकी समस्याओं पर कम साहित्य लिखा गया है । अर्थात् साहित्य की अन्य विधा की भांति उपन्यासों में बाल-विमर्श मुद्दा केन्द्रीयता के साथ नहीं उभर पाया है ।

वृद्ध जीवन की समस्या समकालीन समय के प्रमुख समस्याओं में से एक है । बुजुर्गों पर लेखन की शुरुआत तो पहले पहल अन्य विधाओं में हो चुकी थी किन्तु आज वैश्वीकरण के दौर में उपेक्षित वर्ग में इनको भी देखा जा सकता है । भारतीय समाज में बढ़ते एकल परिवार की अवधारणा तथा संयुक्त परिवार का विघटन ने बुजुर्गों के लिए समस्या उत्पन्न कर दी है । तथा आर्थिक उन्नति के कारण विदेशों में बसे नयी पीढ़ी ने अपने माँ-बाप को अकेलापन की त्रासदी सौंपी है । हिन्दी के 'गिलीगडु' और 'दौड़' उपन्यास में इसी अकेलेपन और शारीरिक शिथिलता या समस्या को दिखाने की कोशिश की गई है । वहीं ओड़िया के उपन्यास में भी एकाकीपन, शारीरिक अक्षुण्णता, शारीरिक उत्पीड़न और मानसिक अत्याचार, वृद्धाश्रम में बढ़ती वृद्धों की संख्या पर चिंता प्रकट की

गई है । दोनों ही भाषा के उपन्यासों में लगभग एक जैसी समस्याएं चित्रित हैं । किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि केवल वृद्धों पर लिखे गए उपन्यासों की संख्या ओड़िया साहित्य में बहुत कम हैं । साथ ही वृद्ध जीवन को लेकर ओड़िया साहित्य में अभी लेखन के स्तर पर वह प्रौढ़ता नहीं आयी है जबकि हिन्दी में ऐसे कुछ ही उपन्यास हैं जो वृद्ध साहित्य को समझने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं । साथ ही हिन्दी में एक ओर जहां वृद्ध विमर्श की अनुगूँज सुनाई देने लगी है वहीं ओड़िया की स्थिति इससे भिन्न है । हिन्दी में वृद्ध संबंधी विमर्शात्मक पहलुओं को आधार बना कर उपन्यास के स्तर पर केन्द्रीय प्रश्नों को उठाया जा रहा है जबकि ओड़िया उपन्यासों में वृद्धों को लेकर आज भी दो तरह का साहित्य प्रचलित है जिनमें वृद्धों की समस्याओं को लेकर बहुत कम लिखा गया है । हिन्दी के उपन्यासों को देखने पर यह स्पष्ट होगा कि वृद्ध जीवन एक प्रवृत्ति के रूप में हिन्दी उपन्यासों में प्रचलित हो रहा है वहीं ओड़िया उपन्यासों में वृद्ध जीवन पर अधिक लेखन की आवश्यकता है साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि ओड़िया उपन्यासों में वृद्धों की समस्या पर विमर्श को आधार बना कर देखने की कोशिश अभी नहीं हुई है अतः एक तरह से यह कहा जा सकता है कि ओड़िया उपन्यासों में वृद्ध जीवन संबंधी साहित्य सतही स्तर पर उपलब्ध है । संभवतः भविष्य में यह एक विशेष प्रवृत्ति का रूप धारण कर सकता है ।

किसान-जीवन को लेकर उपन्यास के प्रारम्भिक-दौर से लेखन कार्य होता रहा है । किन्तु प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या किसानों की समस्याओं में कोई कमी आयी है । क्या उनकी स्थिति पहले से बेहतर हुई है ? तब यही कहना पड़ेगा कि आज किसान के पास पहले से ज्यादा समस्याएं हैं । पहले किसानों की आत्महत्याएं की खबरें इतनी नहीं आती थीं जितनी की आज आती हैं । आज की सामाजिक और आर्थिक स्थिति ने किसान की रीढ़ की हड्डी ही तोड़ दी है जिससे वह जितना बाहरी रूप में प्रताड़ित है उतना ही मानसिक रूप से प्रताड़ित है । 90 के दशक के बाद आई नई आर्थिक नीति के कारण किसानों में जो असंतोष फैला है, यह इससे पूर्व के उपन्यासों में देखने को नहीं मिलता । साथ ही 90 के दशक में, किसानों का इस नीति के विरोध में किसानों का आंदोलन-साहित्य में विमर्श का रूप लेकर आता है । किसानों पर उपन्यास लेखन में विमर्श के मुद्दे 90 के दशक के बाद से जोर पकड़ने लगते हैं । इसलिए किसान जीवन समकालीन समय की एक मुख्य प्रवृत्ति बन कर उभरा है । भारतीय साहित्य में इसी विमर्श की अनुगूँज

दिखाई देती है किन्तु उसे कई प्रादेशिक साहित्य में विमर्श के रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। खास कर अगर ओड़िया साहित्य की अगर बात करें तो पाएंगे कि किसानों की समस्या पर बहुत सारी विधाओं में साहित्य लिखा गया है किन्तु इसे विमर्श के दायरे में देखने की पहल नहीं हुई है। साथ ही यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हिन्दी में जहाँ किसान की समस्याओं और आत्महत्या को लेकर बहुत सारे उपन्यास लिखे गए हैं। वहीं ओड़िया साहित्य में किसानों की आत्महत्या को लेकर उपन्यास की संख्या काफी कम है। किन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है कि ऐसा नहीं है कि किसान आत्महत्या या कर्ज की समस्या ओड़िशा के किसानों को नहीं है। बल्कि ओड़िशा सहित भारत के विभिन्न राज्यों में किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं है।

ओड़िशा में किसानों को आधार बनाकर पोस्को जैसे आंदोलन तो हुए हैं जिसमें उन्होंने अपना विरोध तक जाहिर किया है। किन्तु अभी तक उपन्यास में इस समस्या पर लेखन न के बराबर हुए हैं अर्थात् यह कहना गलत नहीं होगा कि इस संबंध में ओड़िया उपन्यास लेखन की आवश्यकता महसूसी जा रही है। साथ ही ओड़िया और हिन्दी के किसान जीवन संबंधी उपन्यासों के अध्ययन करते समय यह सामने आया कि समकालीन किसान जीवन की समस्याओं तथा सरकारों की असफल नीतियों और आत्महत्या के कारकों की पड़ताल जो हिन्दी के उपन्यासों जैसे 'फांस', 'आखिरी छलांग', 'अकाल में उत्सव' में देखने को मिलती है वह ओड़िया के उपन्यासों में देखने को नहीं मिलती। 'गलापुत्र' उपन्यास में किसान आत्महत्या के बाद परिवार की आर्थिक स्थिति तथा बिखराव को दिखाने का प्रयास किया गया है। साथ ही एक तरह से किसानों के जीवन पर समकालीन ठोस उपन्यास की आवश्यकता ओड़िया साहित्य में देखी जा सकती है।

वैश्वीकरण विश्व के बाजार का एकीकरण न होकर अमेरिका जैसे विकसित देशों के षड्यन्त्र की उपज है। आज जिसे हम वैश्वीकरण मान रहे हैं दरअसल ये अमेरिकीकरण का पर्याय है जिसने भारत को केवल आर्थिक रूप से ही प्रभावित नहीं किया बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और तकनीकी के क्षेत्र में भी प्रभावित किया है। वैश्वीकरण बाहरी और भीतरी दोनों ही पक्षों से हमारे जीवन में घुसपैठ कर चुका है। आज वैश्वीकरण का मूलाधार बाजार, बाजारवाद और उपभोक्तावाद है जिसमें मीडिया अहम् भूमिका निभा रहा है। आज देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आगमन, मॉल संस्कृति, खुले बाजार के नाम पर विकसित देशों के माल की खपत और भारत जैसे गरीब देश में निर्मित

माल की सही ढंग से खपत न हो पाना हमारी आर्थिक स्थिति को चरमरा देता है । आज वैश्वीकरण के कारण कृषकों की जमीन अधिक मात्रा में अधिग्रहण की जा रही है इससे उपजे विस्थापन, प्रवासन, शरणार्थी समस्या, पर्यावरण-प्रदूषण देखे जा रहे हैं साथ ही परिवार के संबंधों में ऊष्मा की कमी, स्त्री-पुरुषों के संबंधों में टकराहट, एकल परिवार की अवधारणा जिससे समाज में वृद्धों में बढ़ते एकाकीपन तथा बच्चों में उचित परवरिश की कमी आदि समस्याएं देखी जा सकती हैं । वहीं राजनीति में बढ़ता सांप्रदायिक उन्माद, इसकी ही उपज है । हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों में इन्हीं विषयों पर उपन्यास लिख कर जन-सामान्य को इससे अवगत करवाने की कोशिश जारी रही है । हिन्दी के उपन्यासों में जैसे 'स्वर्णमृग', 'एक ब्रेक के बाद' तथा 'दौड़' उपन्यासों में बाजारवाद तथा भूमंडलीकरण की त्रासदी को तीसरी दुनिया के देशों के स्तर पर दिखाया गया तथा इससे उपजे रिश्तों में बढ़ते कड़वाहट, अवसाद, एकाकीपन और घर में घुसता बाजार और उसमें विज्ञापनों की अहम् भूमिका को दिखाया गया है । 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' जैसे उपन्यास में दैहिक बाजार के नए रूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया । वहीं ओड़िया उपन्यासों में जैसे 'छाई आलुओ र खेड़' और 'सेई सबु दिन' उपन्यास में वर्तमान पीढ़ी की सोच तथा घटते मूल्यबोध, भारतीय परिवेश में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, संचार माध्यम की तीव्रता, पारिवारिक संबंधों में बढ़ती कड़वाहट आदि को चित्रित किया गया है वहीं 'ओ एकाकी' उपन्यास में दैहिक बाजार की बढ़ती स्थिति तथा जिगालो संस्कृति तथा उससे उपजा मानसिक अवसाद, पीड़ा आदि को चित्रित किया गया है ।

पर्यावरण और पारिस्थितिकी इस समय की प्रमुख प्रवृत्ति में से एक है । 1980 से पूर्व भी पर्यावरण पर बहुत उपन्यास लिखे गए हैं । पर्यावरण को लेकर लिखे गए उपन्यासों में प्राकृतिक -सौन्दर्य, आदिवासी उपन्यासों में पर्यावरण चिंतन, प्राकृतिक आपदाओं की समस्या तथा पर्यावरण -संरक्षण आदि विषय रहे हैं । हिन्दी उपन्यासों में मूल रूप से 80 के बाद आदिवासी उपन्यासों में प्राकृतिक समस्याओं और संरक्षण का चित्रण किया गया है साथ ही वैज्ञानिक कारकों से पर्यावरण और पारिस्थितिकी में आए बदलाव को भी दिखाने की पहल की गई है । 'कुइयांजान' उपन्यास उपभोक्तावादी संस्कृति के आगमन से जल का अधिग्रहण या प्रभुत्व और उसे बेच कर उसका दुरुपयोग जिससे भविष्य में मीठे पानी के स्रोतों में कमी तथा तीसरा विश्वयुद्ध पानी के लिए होने की संभावना को व्यक्त करता है और अंत में पानी को सुरक्षित रखने तथा उसके उपयोग में



सावधानी बरतने की बात लेखिका इस उपन्यास में करती हैं । 'मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में यूरेनियम खनन से पर्यावरण और वहाँ के लोगों पर पड़े दुष्प्रभाव को चित्रित किया गया है । वहीं ओड़िया उपन्यासों में आदिवासी संस्कृति में पर्यावरण चिंतन और संरक्षण तो स्पष्ट है ही किन्तु ओड़िशा राज्य तटवर्ती इलाका होने के कारण हर समय प्राकृतिक आपदा सूखा, बाढ़ और भयंकर तूफान की समस्या से ग्रसित रहा इसपर लेखन बहुत हुआ है । ओड़िया उपन्यास 'गलापुत्र' में जंगल संरक्षण की बात की गई है । अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि अगर यह प्रवृत्ति पहले भी इतनी क्रियाशील थी तो 80 के बाद ऐसा कौन-सा परिवर्तन आया जिससे अधिक उपन्यास लिखे गए और यह एक नवीन प्रवृत्ति के रूप में उपन्यासों में आयी । जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है कि 80 के बाद आये अस्मितावादी -चिंतन ने विमर्श की अवधारणा को प्रस्तुत किया जिसके कारण उपेक्षित समुदाय और समस्या केंद्रित विषय केंद्र में आए और विमर्श की शुरुआत हुई । साथ ही भारत में आयी वैश्वीकरण की नीति ने पर्यावरण और पारिस्थितिकी को बहुत नुकसान पहुंचाया इसलिए 90 के दशक के बाद उपन्यासों में यह विमर्श प्रमुख रूप से उभरा ।

प्रवासी उपन्यासों पर लेखन कार्य भले ही 80 के पूर्व ही प्रारंभ होते हैं । 'लाल पसीना' उपन्यास प्रवासी साहित्य को एक नया आयाम देता है । यहीं से हिन्दी के 'प्रवासी साहित्य' में प्रवासी-उपन्यास का सही मायने में विकास होता है इसके बाद 'पहला गिरमिटिया' उपन्यास प्रवासी जीवन संघर्ष और समस्याओं को लेकर चित्रित है । इस तरह 80 के बाद से यह उपन्यास की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन कर उभरी है । प्रवासी साहित्य को लेकर मूलतः दो तरह के उपन्यास लिखे गए एक जिसमें स्वयं द्वारा प्रवास जीवन की कहानी या अनुभव है वहीं दूसरे तरह की उपन्यासों में प्रवासी मजदूरों और उसकी समस्याएं रही हैं । इसको लिखने वाले प्रवासी भी दो तरह के रहे जो अल्पकालिक या बहुकालिक रहे । अर्थात् जो कुछ समय के लिए प्रवासी बने और कुछ वे लोग थे विदेशी भूमि में ही रह गए । फ़िजी, सूरीनाम और मॉरिसस जैसे देशों में रह रहे प्रवासियों को सही मायने में प्रवासी कहा जा सकता है । उनके उपन्यासों में भारत के प्रति अनुराग, प्रेम तथा अग्रिमैंट के बतौर लेने के कारण दासों जैसा सलूक या उनका जीवन संघर्ष दिखता है । अतः अल्पकालिक प्रवासन और प्रवासियों के साहित्य में अंतर दिखाई देता है । प्रवासी साहित्य को अध्ययन करते समय ऐसे अनेक समस्याओं से गुजरना पड़ता है । प्रवासी साहित्य फिर दो प्रकार के हो सकते हैं राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय । एक राज्य से दूसरे राज्य में बसने

वाला व्यक्ति भी प्रवासी कहा जाता है । अतः इस तरह अगर हिन्दी और ओड़िया के उपन्यासों की तुलना की जाए तो यह स्पष्ट होगा कि हिन्दी में जहां अंतर्राष्ट्रीय प्रवासियों पर ज्यादा लेखन हुआ है वहीं ओड़िया उपन्यासों में राष्ट्रीय स्तर पर प्रवासियों पर अधिक लिखा गया है और अंतर्राष्ट्रीय प्रवासियों पर कम लेखन हुआ है । साथ ही अल्पकालिक प्रवासन पर अधिक ओड़िया उपन्यास लिखे गए हैं जबकि हिन्दी में दोनों तरह के लेखन मिलते हैं । ओड़िया उपन्यास 'प्राची प्रतीची' में प्रवासन की समस्या तथा पाश्चात्य संस्कृति से तालमेल न मिला पाने की पीड़ा तथा वर्तमान पीढ़ी की सोच में अमेरिका जैसे देशों की सदस्यता और रुतबे की बढ़ती आकांक्षा है । हिन्दी में 'हवन' उपन्यास में वर्तमान समय में भारतीय प्रवासियों की सांस्कृतिक जद्दोजहद में अपनी सांस्कृतिक पहचान के साथ प्रसन्नता दिखाई देती हैं उनके हृदय में बसा भारत के प्रति अगाध प्रेम उन्हें बार-बार अपने देश के प्रति आकर्षित करता है ।

सांप्रदायिकता, शरणार्थी, कश्मीर और अल्पसंख्यक विमर्श के विभिन्न मुद्दों को हिन्दी और ओड़िया उपन्यासों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है । सांप्रदायिकता के संबंध में हिन्दी और ओड़िया दोनों ही भाषाओं के उपन्यासों की परंपरा पुरानी रही है । किन्तु बढ़ते सांप्रदायिकता के उग्र रूप को जहां हिन्दी उपन्यासों में स्थान बनाया है वहीं ओड़िया उपन्यासों में सांप्रदायिकता का वह उग्र रूप नहीं नजर आता । साथ ही यह कहना गलत नहीं होगा कि हिन्दी के उपन्यासों की तुलना में ओड़िया-उपन्यासों की संख्या बहुत कम है । ऐसा नहीं है कि देश में चल रहे सांप्रदायिक दंगे से ओड़िशा अछूता रहा है । सांप्रदायिक घटना के संदर्भ में देखें तो 1991 में भद्रक दंगा तथा 2007 में कंधमाल में क्रिसमस की हिंसा जिसमें चर्चों और ईसाई संस्थानों को जला दिया गया तथा 837 से भी अधिक परिवार बेघर हुए जिसमें 700 से अधिक घर जलकर क्षतिग्रस्त हो गए । ओड़िशा के कुछ स्थानों पर रामनवमी और मुहर्रम के समय हिन्दू मुस्लिम में भिड़ंत अक्सर देखी जाती है । ओड़िशा में गंभीर सांप्रदायिक विरोधी उपन्यासों की आवश्यकता महसूस होती है । वहीं अगर हिन्दी के उपन्यासों की बात की जाए तो यह मिलेगा कि प्रारम्भिक समय में कुछ उपन्यासकारों ने यह तो अवश्य स्वीकार किया कि सांप्रदायिकता देश के लिए हेय है किन्तु उनके उपन्यासों में इसका अभाव अवश्य दिखता है जिसमें चतुरसेन शास्त्री और शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासों को देखा जा सकता है । किन्तु बाद के समय में ऐसे बहुत सारे उपन्यासकार हुए जिन्होंने सांप्रदायिकता के विरोध में लेखन कार्य किया जिनमें कमलेश्वर

का 'कितने पाकिस्तान', दूधनाथ सिंह का 'आखिरी कलाम', गीतांजलि श्री का 'हमारा शहर उस बरस', भगवान दास मोरवाल का 'काला पहाड़', रवींद्र वर्मा का 'दस बरस का भँवर', अनवर सुहैल का 'पहचान', सच्चिदानंद चतुर्वेदी का 'पिघले चेहरे' आदि उपन्यासों को देखा जा सकता है। इन उपन्यासों को देखते हुए यही कहना होगा कि समय-समय पर सांप्रदायिकता के विभिन्न स्वरूपों को लेकर उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास में लेखन कार्य किया है साथ ही इसकी मुखालफत करते हुए इसे समाज और मानवतावाद के लिए घातक सिद्ध किया है।

भारत-पाक विभाजन ने शरणार्थी- प्रसंग को भारतीय उपन्यासों की कथाभूमि बनाया। इसका परवर्ती विकास -बांग्लादेश के अभ्युदय से विकसित हुआ। शरणार्थी-प्रसंग, स्मृतियों का कोलाज है। शरणार्थी प्रसंग को लेकर हिन्दी और ओड़िया दोनों ही भाषाओं में साहित्य लिखा गया है। हिन्दी में शरणार्थी-जीवन बड़ी गंभीरता के साथ प्रस्तुत है जहां उनकी समस्याएं तथा प्रताड़ना अभिव्यक्त हैं वहीं हिन्दी की अपेक्षा ओड़िया में इसकी संख्या कम होने के साथ-साथ विशेष रूप से लिखे गए शरणार्थी जीवन भी उपेक्षित हैं। शरणार्थी जीवन पर अगर बात की जाए तो यह स्पष्ट होगा कि ओड़िशा में बांग्लादेशी शरणार्थियों की संख्या काफी ज्यादा है। जिसमें अधिकांश लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इसलिए शरणार्थी-जीवन पर उपन्यास लेखन की आवश्यकता महसूस होती है। अनुसंधान करते हुए यह पाया गया कि 80 के दशक के बाद इस विषय पर ओड़िया उपन्यासों की संख्या नगण्य है। हालांकि हिन्दी साहित्य में भी शरणार्थी संदर्भ भले ही बहुत पुराना क्यों न हो किन्तु इसपर लेखन कार्य की शुरुआत इस दौर में जोरों-शोरों से हो रही है। 'मैं बोरिशाइल्ला' उपन्यास बांग्लादेशी शरणार्थियों की समस्या पर लिखा गया है और 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान तक' उपन्यास भारत-पाक के विभाजन के बाद की बढ़ती शरणार्थी समस्या को आधार बना कर लिखा गया है। ओड़िया उपन्यास 'चलापथे' उपन्यास बांग्लादेश से भागे दो प्रेमी युगल पर आधारित है। ओड़िया साहित्य में 80 से पूर्व भी बांग्लादेशी शरणार्थियों पर उपन्यास लिखे गए क्योंकि विभाजन के उपरांत ओड़िशा में भी बांग्लादेशी शरणार्थियों को बसाया गया था।

अल्पसंख्यक विमर्श राजनीतिक षड्यन्त्र से उपजा विमर्श है जो बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक जैसी दो अवधारणाओं को हमारे समक्ष लाता है। ये अवधारणाएं भले ही स्वाधीनता के बाद से भारत में प्रचलित हुईं किन्तु बढ़ते सांप्रदायिक उन्माद ने दोनों के

मध्य एक गहरी खाई को जन्म दिया है । जिससे एक समुदाय खुद को शक्तिशाली मानता है और दूसरा समुदाय खुद को असुरक्षित मानता है । दोनों के मध्य एक दूसरी सबसे बड़ी खाई धर्म, भाषा और संस्कृति की भी रही है जिसे सुरक्षित और बनाए रखने की जद्दोजहद हर समुदाय करता है । अल्पसंख्यकों के द्वारा इसी डर तथा असुरक्षा के बोध ने अल्पसंख्यक विमर्श को जन्म दिया है । हालांकि आज भी इसको लेकर काफी विचार-विमर्श हो रहे हैं किन्तु पूर्ण रूप से अल्पसंख्यक विमर्श की अवधारणा सामने नहीं आ पाई है । इस अवधारणा को मुस्लिम-विमर्श के अस्तित्व के आने के बाद पहचान मिली है । अल्पसंख्यक विमर्श बाहरी और आंतरिक दोनों ही समस्याओं को प्रस्तुत कर अपनी अस्मिता और पहचान के प्रश्न को खड़ा करता है । हिन्दी में ऐसे विमर्श केंद्रित बहुत कम उपन्यास लिखे गए हैं जिसमें 'पिघले चेहरे', 'पहचान', 'झीनी झीनी बीनी चदरिया', 'मदरसा', 'दर्दजा' और 'हलाला' उपन्यास को प्रमुखता से देखा जा सकता है । इसलिए 80 के बाद हिन्दी उपन्यासों की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह रही है । जबकि ऐसी अवधारणा और विषय को लेकर अब तक ओड़िया उपन्यासों की रचना नहीं हुई है ।

कश्मीर एक ऐसा ज्वलंत मुद्दा है जिस पर साहित्य लेखन बहुत जोरों-शोरों से चल रहा है । कश्मीर के इतिहास को टटोल कर देखने पर यह ज्ञात होगा कि कश्मीर सामासिक संस्कृतियों का संगम स्थल रहा है । राजनीतिक षड्यन्त्र के तहत कश्मीर धार्मिक दृष्टि से सबसे ज्यादा अशांत रहा । देश में बढ़ते उग्र सांप्रदायिकता का फायदा उठा कर पाकिस्तान ने अलगाववाद की चाल चली जिसने आतंकवाद का रूप धारण किया । 1985-90 कश्मीरी मिलिटेन्सी का रूप बदलता गया और उसने सांप्रदायिक रूप ले लिया । 1987 में हुए इलेक्शन में पैदा हुए असंतोष ने कश्मीरी पंडितों को टारगेट किया । कश्मीर की स्थिति इतनी खराब हो गई कि 1990 में कश्मीरी पंडितों के विस्थापन की कहानी शुरू हुई । कश्मीर में बढ़ते सांप्रदायिक हिंसा और उन्माद तथा वहाँ के कश्मीरियों पर चंद्रकांता जी ने 'कथा सतीसर' उपन्यास की रचना की । हिन्दी में 90 के बाद एक तरह से कश्मीर पर बहुत उपन्यास लिखे गए । अतः 90 के बाद की उपन्यासों की एक मुख्य प्रवृत्ति के रूप में इसे देखा जा सकता है । 'पाषाण-युग' और 'शिगाफ़' उपन्यासों में स्वाधीनता के बाद कश्मीर में बढ़ते आतंक को दर्शाया गया है । इन उपन्यासों में कश्मीरियों के मनोवैज्ञानिक चित्र को उभारने की कोशिश की है साथ ही कश्मीर के 'अल्पसंख्यक' हिन्दू पंडितों की दयनीय स्थिति, पहचान का संकट, विस्थापन की त्रासदी, आतंकवाद की समस्या को बड़ी

सजीवता से लेखकों ने इन उपन्यासों में प्रस्तुत किया है । वहीं ओड़िया उपन्यासों की इसी कमी को विभूति पट्टनायक चुप युद्ध चालीछी' उपन्यास में पूरा करते हैं । हालांकि यह अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी में जहां एक मुख्य प्रवृत्ति का रूप कश्मीर समस्या ने लिया है वहीं कश्मीर पर लेखन की कमी ओड़िया उपन्यासों में देखी जा सकती है । अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि यह प्रवृत्ति ओड़िया साहित्य के लिए एक प्रवृत्ति का रूप नहीं ले पाई है ।

## संदर्भ ग्रंथ सूची

(क)आधार ग्रंथ सूची

1. अकाल में उत्सव, पंकज सुबीर, शिवना पेपर बैक्स, सीहोर (म.प्र.), प्रथम संस्करण- 2016
2. असवर्ण, विभूति पट्टनायक, फ्रेंड्स पुब्लिशर्स, कटक, प्रथम संस्करण- 1982, चतुर्थ संस्करण - 2017
3. असामाजिक, सरोजिनी साहु, प्राची साहित्य प्रतिष्ठान, कटक, प्रथम संस्करण- 2011
4. अस्पृश्य, अजय महापात्र, पक्षीघर प्रकाशन, भुवनेश्वर, प्रथम संस्करण- 2015
5. आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, नया ज्ञानोदय पत्रिका, जनवरी, 2008, पृ.सं-75-104
6. आदिभूमि, प्रतिभा राय, आद्य प्रकाशनी, तुलसीपुर, कटक, प्रथम संस्करण -1993, चतुर्थ संस्करण-2015
7. आवां, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, आठवां संस्करण-2015
8. उधर के लोग, अजय नवरिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2008, पेपर बैक्स- 2013
9. उसके हिस्से की धूप, उषा यादव, सामयिक पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण -2018, संस्करण- 2019
10. ओ एकाकी, अनिल कुमार पाढ़ी, ओड़िशा बुक स्टोर, कटक, प्रथम संस्करण- 2017
11. कठगुलाब, मृदुला गर्ग, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र.सं- 1996, नौवां संस्करण -2016
12. कवर स्टोरी, सत्यप्रिय महालिक, टाइम पास, भुवनेश्वर, प्रथम संस्करण- 2007
13. कुइयांजान, नासिरा शर्मा, सामयिक पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण- 2017
14. गलापुत्र, डॉ. सच्चिदानंद कर, विजयिनी पब्लिकेशन, कटक, प्रथम संस्करण- 2010
15. गिलिगडु, चित्रा मुद्गल, सामयिक पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण -2019
16. गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान, कृष्णा सोबती, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2017, दूसरा संस्करण -2018

17. गुलाम मंडी, निर्मला भुराडिया, सामयिक पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण -2016
18. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2009
19. चलापथे, श्री दयालाल जोशी, कटक स्टूडेंट्स स्टोर, कटक, प्रथम संस्करण-2000,  
दूसरा संस्करण -2013
20. चाक, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1997, नौवां  
संस्करण -2013
21. चुप युद्ध चालिछी, विभूति पट्टनायक, कथा पत्रिका, 2020, पृ.सं-32-61
22. छाई आलुओर खेल, संयुक्ता महंती, शौर्य प्रकाशन, कटक, प्रथम संस्करण- 2011
23. छप्पर, जयप्रकाश कर्दम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994,  
नवीन सं-2017
24. जंगल जहां शुरू होता है, संजीव, राधाकृष्ण पेपर बैक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-  
2000, पेपर बैक्स दूसरी आवृत्ति -2015
25. जंगली, डॉ. आरती महान्त, चिन्मयी प्रकाशन, कटक, प्रथम संस्करण- 2011
26. जटिल संपर्क, विभूति पट्टनायक, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, कटक, प्रथम संस्करण- 2002,  
दूसरा संस्करण- 2013
27. झीनी झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण  
-1986, नौवां संस्करण - 2018
28. डूब, वीरेंद्र जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1991
29. तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2011
30. दर्दजा, जयश्री राँय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2016
31. दस बरस का भँवर, रवींद्र वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-  
2007
32. दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता, सुरेन्द्र वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम  
संस्करण- 2000 दूसरा संस्करण- 2016
33. दौड़, ममता कालिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति-2013
34. धर्मयुद्ध, सातकड़ी होता, विद्यापुरी, कटक, प्रथम संस्करण- 2011
35. नीलतृष्णा, प्रतिभा राय, आद्य प्रकाशनी, तुलसीपुर, कटक, प्रथम संस्करण -1981,  
दशम संस्करण-2016

36. नीला आकाश, सुशीला टाकभौरे, विश्वभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2013
37. पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण-2005
38. पलास के फूल, पीटर पॉल एक्का, सत्य भारती प्रकाशन, डॉ. कामिल बुल्के पथ रांची, 1982
39. पहचान, अनवर सुहैल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009
40. पाषाण युग, संजना कौल, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, संस्करण -2003
41. पासवर्ड, कमल कुमार, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण -2010, तीसरा संस्करण-2013
42. पिघले चेहरे, सच्चिदानंद चतुर्वेदी, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2018
43. पोड़ापोड़ी, वासुदेव सुनानी, पक्षीघर प्रकाशन, कटक, 2014
44. पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, सामयिक पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण -2019
45. प्रतिबंदी, सरोजिनी साहु, विद्यायपुरी, कटक, प्रथम संस्करण- 1999
46. प्राची प्रतीची, सुस्मिता बागची, सुचरिता प्रकाशन, भुवनेश्वर, प्रथम संस्करण- 2009
47. फांस, संजीव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण -2015, दूसरा संस्करण -2016
48. भरसार भिटाभाटी, श्री लक्ष्मीधर महंती, कटक स्टूडेंट स्टोर, प्रथम संस्करण- 2008
49. भिन्न एक सिद्धार्थ, श्रीमती सुकामिनी नन्द, कटक स्टूडेंट्स स्टोर, कटक, प्रथम संस्करण- नवंबर, 2010
50. भेद, अखिल नायक, पश्चिमा पब्लिकेशन, भुवनेश्वर, प्रथम संस्करण- 2010, दूसरा संस्करण -2014
51. वीरांगना झलकारी बाई, मोहनदास नैमिशराय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003
52. मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ, महुआ माजी, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 2012
53. माटी र लुह, अन्नदा प्रसाद राय, विद्यापुरी, कटक, प्रथम संस्करण- 2007
54. मौसी, रमणिकागुप्ता, नीलकंठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
55. यज्ञासेनी, प्रतिभा राय, आद्य प्रकाशनी, तुलसीपुर, कटक, प्रथम संस्करण -1985, 95वां संस्करण-2017



56. शाल्मली, नासिरा शर्मा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण- 2013
  57. शिगाफ़, मनीषा कुलश्रेष्ठ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010, पेपर बैक्स -2012
  58. सेई सबु दिन, सहदेव साहु, सुधा प्रकाशन, कटक, प्रथम संस्करण- 2014
  59. स्वर्ण मृग, गिरिराज किशोर, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2012
  60. हलाला, भगवानदास मोरवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
  61. हवन, सुषम बेदी, हिन्दी पॉकेट बुक्स, गुडगाँव, हरियाणा, प्रथम संस्करण- 2014
- (ख) सहायक ग्रंथ सूची
1. 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं.- 2016
  2. 21वीं शती का हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
  3. Development and displacement in India: Reforming the Economy towards Sustainability, kalim Siddiqui, IOP Publishing Ltd.
  4. Discovery of India, Jawaharlal Nehru, Penguin, 1945
  5. आज का भारत राजनीति और समाज, सं-बासुकी नाथ चौधरी, युवराज कुमार, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2013
  6. आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनुज लुगुन, अनन्या प्रकाशन, दिल्ली, 2015
  7. आदिवासी दुनिया, हरिराम मीणा, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2012
  8. आदिवासी विमर्श : अवधारणा और आंदोलन, कुमार कमलेश, तेज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
  9. आदिवासी समाज, साहित्य और राजनीति, केदार प्रसाद मीणा, अनुजा बुक्स, 2016
  10. आधुनिक ओडिया शिशु साहित्य, संकलन- कैलास चंद्र टीकायतराय, वीरेंद्र महंती, ओडिया साहित्य अकादमी, भुवनेश्वर, 2015
  11. आधुनिक हिन्दी समीक्षा की प्रवृत्तियाँ, डॉ. विद्या चौहान, संचयन, कानपुर
  12. आधुनिकता के आईने में दलित, सं- अभय कुमार दुबे, वाणीप्रकाशन, नई दिल्ली, 2002

- 13.उत्तर आधुनिकता: साहित्य और मीडिया, ऋषभ देव शर्मा, गुर्रमकौंडा नीरजा, जगत भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015
- 14.उपन्यास और लोकतंत्र, मैनेजर पाण्डेय वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
- 15.उपन्यास का पुनर्जन्म, परमानन्द श्रीवास्तव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
- 16.उपन्यास समय और संवेदना, विजय बहादुर सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
- 17.उपन्यास साहित्य में दलित समस्या एवं समाधान, श्यौराज सिंह बेचैन, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014
- 18.ओड़िआ साहित्य विविध प्रसंग, डॉ. अजय कुमार पट्टनायक, ओड़िशा साहित्य अकादमी और शबनम पुस्तक महल, कटक, 2009
- 19.ओड़िया उपन्यास आरंभ रु आजिजाएँ, डॉ. जितेन्द्र नारायण पट्टनायक, ग्रंथ मंदिर, कटक, 2014
- 20.ओड़िया उपन्यास रे लोक-उपादान, डॉ. मिहिर कुमार साहू, ओड़िशा बुक स्टोर, कटक, 1995
- 21.ओड़िया उपन्यास, डॉ. कृष्णचरण बेहेरा, फ्रेंड्स पब्लिकेशन, कटक, 2013
- 22.ओड़िया उपन्यासों रे आदिवासी जीवनचर्या, डॉ. सुलोचना दास, विद्यापुरी, कटक, 2015
- 23.ओड़िया कथासाहित्य : नारीवाद, प्रो. सविता प्रधान, मिटा बुक्स, कटक, 2015
- 24.ओड़िया गल्प उपन्यास र नवदीगंत, डॉ. आदिकान्त साहू, ग्रंथमंदिर, कटक, 2011
- 25.ओड़िया दलित साहित्य, सं- बासुदेव सुनानी, ईशान-अंकित प्रकाशनी, भुवनेश्वर, 2014
- 26.ओड़िया शिशु साहित्य, संकलन- उत्कल साहित्य समाज, विद्यापुरी, कटक, 2014
- 27.ओड़िया साहित्य ओ आदिवासी संस्कृति, ओड़िशा साहित्य अकादमी, भुवनेश्वर, 2004
- 28.ओड़िशा र आदिवासी, रवींद्र मोहन सेनापति, विद्या भारती, कटक, 2006
- 29.कवितावली, तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण-2017
- 30.कामायनी, जयशंकर प्रसाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- 31.किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन, रामाज्ञा शशिधर, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश, 2012
- 32.छः माण आठ गुंठ, फकीर मोहन सेनापति, फ्रेंड्स पब्लिशर्स, कटक, 2015

33. तुलनात्मक अध्ययन भारतीय भाषाएं और साहित्य, सं-भ. ह. राजूरकर, राजमल बोरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
34. दलित साहित्य का स्वरूप विकास और प्रवृत्तियाँ, डॉ. गुणशेखर, शिल्पायन, दिल्ली, 2012
35. पर्यावरण और समकालीन हिन्दी साहित्य, डॉ. प्रभाकर हेब्बार इल्लेत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
36. पीपल के बहाने, 'धर्म ही बलि का बकरा क्यों', विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, 2001
37. प्रवासी साहित्य, जोहनसबर्ग से आगे, कमल किशोर गोयनका, नई दिल्ली, 2015
38. बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक और हिन्दी उपन्यास, डॉ. राम विनोद सिंह, निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2012
39. बीसवीं शताब्दी में विश्व इतिहास के प्रमुख मुद्दे: बदलते आयाम एवं दिशाएँ, सं- अनिरुद्ध देशपांडे, मृदुला झा, प्रतिभा चावला, आकार बुक्स, दिल्ली, 2021
40. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य : मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति संस्करण 2012
41. भारत का इतिहास (1707-1950), डॉ. ए.के. चतुर्वेदी, एस.बी.पी.डी पब्लिकेशन्स, उत्तराखंड, 2020
42. भारत नेहरू के बाद, रामचन्द्र गुहा, पेंगुइन बुक्स, हरियाणा, 2012
43. भूमंडलीकरण और उत्तर-सांस्कृतिक विमर्श, सुधीश पचौरी, प्रविण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
44. भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, समय से संवाद, नीरू अग्रवाल, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2017
45. भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास, पुष्पपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
46. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य : डॉ. रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
47. विमर्श का तीसरा पक्ष, डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह, रविकुमार गोंड, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, 2016

- 48.विश्वज्ञान संहिता, हिन्दी विकास समिति, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1981
- 49.वृद्धावस्था विमर्श, चंद्रमौलेश्वर प्रसाद, परिलेख प्रकाशन, नजीबाबाद, प्रथम संस्करण-2016
- 50.शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, लोकभारती पेपर बैक्स, इलाहाबाद, 2008
- 51.संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह 'दिनकर', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011
- 52.समकालीन विश्व का इतिहास 1890-2008, अर्जुन देव, इंदिरा अर्जुन देव, ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2009
- 53.समकालीन हिन्दी उपन्यास, एन. मोहनन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
- 54.समकालीन हिन्दी साहित्य में पर्यावरण विमर्श, सं-डॉ. ए. एस. सुमेष, अमन प्रकाशन, कानपुर, 2016
- 55.समकालीन हिन्दी साहित्य विचार और विमर्श, संजय चौहान, आशा बुक्स दिल्ली, 2018
- 56.समकालीन हिन्दी साहित्य विविध विमर्श, प्रो. श्रीराम शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- 57.समाज शास्त्र : अवधारणाएँ एवं सिद्धांत, जे.पी.सिंह, तृतीय संस्करण, दिल्ली, 2013
- 58.समाज शास्त्र परिचय, राम गणेश यादव, ओरिएंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली, 2014
- 59.सूरसागर (भाग-1) : संपा. नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय सं.1952, पद (185), पृष्ठ (60)
- 60.हजारी प्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध, सं- नामवर सिंह, नैशनल बुक ट्रस्ट, 2020
- 61.हिंदी उपन्यास : एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- 62.हिंदी दलित साहित्य का विकास, प्रमोद कोव्रत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
- 63.हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ. शिव कुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, 2011
- 64.हिन्दी उपन्यास एक अंतर्गता, रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2016
- 65.हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013

- 66.हिन्दी उपन्यास समय से संवाद, रोहिणी अग्रवाल, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा,2016
- 67.हिन्दी का प्रवासी साहित्य, डॉ. कमल किशोर गोयनका, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, 2011
- 68.हिन्दी बाल विमर्श और बाल साहित्य, उषा यादव, राजकिशोर सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
- 69.हिन्दी बाल साहित्य और बाल विमर्श, सं-उषा यादव, राजकिशोर सिंह, सामयिक प्रकाशन, 2013
- 70.हिन्दी साहित्य : समकालीन परिप्रेक्ष्य, डॉ. प्रमोद कोवप्रत, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2015
- 71.हिन्दी साहित्य का इतिहास और उनकी समस्याएँ, योगेंद्र प्रताप सिंह, वाणी प्रकाशन, 2011
- 72.हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिपरक इतिहास, सभापति मिश्रा, विनय प्रकाशन, कानपुर, 1994

#### कोश

1. Word master, Orient Blackswan Privat Limited, 2009, Delhi, page no-793
2. झारखंड एनकीकलोपेडिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
3. भारतीय साहित्य कोश, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1981
4. मानक हिंदी कोश, प्रथम खंड, रामचंद्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग,1965
5. राजपाल हिंदी शब्दकोश, हरदेव बाहरी, राजपाल एंड संज़, दिल्ली, 2017
6. वर्डमास्टर, ओरिएंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली, 2010
7. संस्कृत हिंदी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1986 पृ.सं.-675
8. समांतर कोश, हिंदी थिसारस, अनुक्रम खंड, अरविन्द कुमार, कुसुम कुमार, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1997

9. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, 2009
10. हिंदी शब्द सागर (छठा भाग), प्र.संपादक-श्यामसुंदर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1920
11. हिंदी साहित्य कोश भाग-1, धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 2013

#### पत्र-पत्रिकाएं

1. अपनी माटी, किन्नर विमर्श, अंक 32, जुलाई -2020
2. बनसजन आख्यानों में अखिलेश, राजीव कुमार, नई दिल्ली, अंक-11, जनवरी-जून 2015
3. बहुवचन, भारतीय साहित्य में कश्मीर विशेषांक, प्रभात प्रकाशन, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, अंक 64-65-66 जनवरी-सितंबर, 2020
4. वाङ्मय पत्रिका, अब्दुल बिस्मिल्लाह: मूल्यांकन के विविध आयाम, डॉ. एम.फ़ीरोज अहमद, अलीगढ़, अक्टूबर-दिसंबर-2015
5. वाङ्मय पत्रिका, आदिवासी साहित्य : दशा और दिशा, विशेषांक -2, एम.फ़ीरोज अहमद, अलीगढ़, अक्टूबर-2013- मार्च-2014
6. स्मारिका, 10 वां विश्व हिन्दी सम्मेलन, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, सं-मोहन पूरी, 10-12 सितंबर, 2015, भोपाल
7. हंस, सत्ता विमर्श और दलित (खंड 2), दलित विशेषांक, सं-राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, 1 जनवरी 2020,

#### वेब-सामग्री

1. [http://Aajtak.in/india-today-hindi/indiatoday-special-report/story/muslim-society-supreme-court-halala-polygamy\\_quran//1014606//](http://Aajtak.in/india-today-hindi/indiatoday-special-report/story/muslim-society-supreme-court-halala-polygamy_quran//1014606//) 2018-07-09
2. <http://brainly.in/question/222859710.01.2018>
3. <http://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B5%E0> 15-03-2020
4. <http://hi.m.wikipedia.org> 10-05-2022
5. <http://hindi.indiawaterportal.org/article/visthapana-matlaba-jaindagri-kaa-ujad-jaana03/09/2013>
6. <http://Hindi.news18.com/blogs/dipak/sukhlal-death-hunger-477069//> 01-10-2018
7. <http://Hindicurrentaffairs.adda247.com/india-jumps-6-places-on-world-banks-logistic-perfomance-index-rank-38/24t//> 04-2023
8. <http://Karmabhumi.Org/kabir-delusion//> (कबीर के दोहे)

9. <http://www.dictionary.com/browse/trend?s=t>
10. <http://www.hindi2dictionary.com/प्रवृत्ति-meaning-hindi.html>
11. <https://deshbandhu.co.in/vichar/old-age-knock-in-hindi-novel-literature-76786-2>
12. [https://hi.m.wikipedia.org/wiki/सामाजिक\\_स्तरीकरण](https://hi.m.wikipedia.org/wiki/सामाजिक_स्तरीकरण)
13. <https://hi.oxforddictionaries.com/परिभाषा/प्रवृत्ति>
14. <https://www.drishtiias.com/hindi/daily-updates/daily-news-analysis/ncrb-report-on-farmers-suicide>
15. <https://www.vocabulary.com/dictionary/trend>
16. [www.bbc.com/hindi/india/2009/08/090810four\\_wives\\_muslim](http://www.bbc.com/hindi/india/2009/08/090810four_wives_muslim)
17. [www.hindisamay.com/content/4911/1/रोहिणी-अग्रवाल-आलोचना-समकालीन-हिन्दी-और-पारिस्थितिकीय-संकट.csp](http://www.hindisamay.com/content/4911/1/रोहिणी-अग्रवाल-आलोचना-समकालीन-हिन्दी-और-पारिस्थितिकीय-संकट.csp)
18. [www.jansatta.com/politics/in-present-gandhis-vision-of-swadeshi-is-a-universal-concept-is-lost/432484/](http://www.jansatta.com/politics/in-present-gandhis-vision-of-swadeshi-is-a-universal-concept-is-lost/432484/)
19. [www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103](http://www.philoid.com/epub/ncert/11/247/khec103) (2015-16)
20. [www.raj-bhasha-hindi.blogspot.com/2011/05/blog-post\\_05.html?m=1](http://www.raj-bhasha-hindi.blogspot.com/2011/05/blog-post_05.html?m=1)
21. [www.scotbuzz.org/2017/05/manvatavad.html?m=1](http://www.scotbuzz.org/2017/05/manvatavad.html?m=1)
22. [www.scotbuzz.org/2019/07/sampraday.html?m=1](http://www.scotbuzz.org/2019/07/sampraday.html?m=1)
23. [www.Vle.du.ac.in/mod/book/view.php?id=ggoo&chapterid=16146](http://www.Vle.du.ac.in/mod/book/view.php?id=ggoo&chapterid=16146)
24. [www.wikipedia.com/भ्रष्टाचार](http://www.wikipedia.com/भ्रष्टाचार)
25. द वायर, 15 फरवरी, 2019 <http://m.thewirehindi.com/article/india-ranked-81-in-transparency-international-corruption-index/35015>
26. नासिरा शर्मा के उपन्यास 'शाल्मली' के बहाने स्त्री विमर्श पर चर्चा – रोहिणी अग्रवाल (shabdankan.com)30-12-2016
27. भारत की पर्यावरण नीति – <https://hi.Vikaspedia.in/rular-emergy/policy-support/16/04/2020>

# परिशिष्ट



# अपनी माटी



परिचय ▾ सम्पादकीय ▾ विमर्श ▾ विधाएँ ▾ विविधा ▾ विशेषांक ▾ ताज़ा अंक सम्पादक : माणिक एवं जितेन्द्र यादव

मुख्यपृष्ठ > 26

## ‘अपनी माटी’ 26 अंक अनुक्रमणिका

Unknown ७ रविवार, फ़रवरी 25, 2018

त्रैमासिक ई-पत्रिका

**अपनी माटी**

(ISSN 2322-0724 Apni Maati)

वर्ष-4, अंक-26 (अक्टूबर 2017-मार्च, 2018)

UGC Approved Listed issue S.No. 6009 (Arts & Humanities)

## अनुक्रमणिका

### सम्पादकीय

- साधु, ओझा, संत

### वैचारकीय

- जाति वर्ग एवं जेंडर के बरक्स लोक में गल्प और यथार्थ का द्वंद्व/ राहुल
- आधुनिकता के आईने में भारत/डॉ. मीनाक्षी जयप्रकाश सिंह
- वैश्वीकरण: अवधारणा, अर्थ और आयाम/धीरेन्द्र प्रताप सिंह
- मानवता के सिंचक 'अम्बेडकर'/डॉ. संगम वर्मा

### मुलाकात

- महुआ माजी से रविन्द्रकुमार मीना की बातचीत
- मारीशस के लेखक रामदेव धुरंधर से गोवर्धन यादव की बातचीत
- आलोचक डॉ. निर्मला जैन से विशाल कुमार सिंह की बातचीत

### कहानी

- अभागिन/अमित कुमार चौबे
- गृह-त्याग/डॉ. पुष्पा सिंह
- बेचारी भाग्या/रेखा

### आधी दुनिया

- 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में बाज़ार और स्त्री छवि/आलोक कुमार शुक्ल
- घरेलू हिंसा का प्रश्न और मीरा कांत का नाटक 'अंत हाज़िर हो'/पूजा रानी
- स्त्री चिन्तन में स्त्रियाँ और श्रम/ शिवानी कन्नौजिया

## विशेष

- भीमा कोरेगांव संग्राम बनाम दलित चेतना/डा. मुकेश कुमार
- प्रिया वरियर तुमने ऐसा क्या किया कि मशहूर हो गई! /सुधा सिंह

## विमर्श

- संजीव का आदिवासी लेखन/ ज्योति कुमारी मीणा
- विमर्शों की कसौटी पर 'टोपी शुक्ला'/मोहम्मद हुसैन डायर
- रणेन्द्र के उपन्यास और आदिवासी जीवन का यथार्थ/ निशान्त मिश्रा
- हिंदी दलित कविता का स्वरूप/ सन्दीप कुमार
- अस्मिता एवं अकेलेपन के संकट से जूझता तृतीय लिंगीय समुदाय/स्वाति
- प्रवासी जीवन एवं गिरते नैतिक मूल्य/प्रणु शुक्ला
- अल्पसंख्यक-विमर्श और अनवर सुहैल का साहित्य / जिनित सबा
- हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन/डॉ. अभिषेक कुमार पाण्डेय

## मीडिया

- 'आदिवासी विमर्श' और दाना मांझी के परिप्रेक्ष्य में मीडिया की भूमिका/शाहीन बानो

## आलेखमाला

- उदय प्रकाश की कहानियों में उपभोक्तावादी संस्कृति/डॉ. अजीत कुमार दास
- महावीर प्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती'/प्रदीप त्रिपाठी
- हिंदी साहित्य पर बौद्ध धर्म-दर्शन का प्रभाव /प्रांशु समदर्शी
- अदम गोंडवी के काव्य में सामाजिक अस्मिता का प्रश्न
- अकाल-दर्शन में 'क्रांति-दर्शन' की खोज/पीयूष राज
- परिधि की कविता का 'केन्द्र' से संवाद/डॉ. भीम सिंह
- मुक्तिबोध का रचना प्रक्रिया संबंधी चिंतन/ डा. राकेश कुमार सिंह
- भोजपुरी क्षेत्र के किसान आंदोलन/योगेश कुमार सिंह

## कविता

- दीपशिखा की कविताएँ
- गरिमा सिंह की कविताएँ
- राहुल तोमर की कविताएँ
- गौरव भारती की कविताएँ
- सिद्धार्थ कुमार की कविताएँ

## समीक्षा

- 'टुकड़ा-टुकड़ा जीवन' आत्मकथा में दलित नारी अस्मिता/डी. अरुणा
- 'पिछले पन्ने की औरतें': बेड़िया औरतों की समस्याएं/स्तुति राय
- उत्तर औद्योगिक समय में 'मोहन दास' /डॉ प्रकाश कृष्णा कोपर्डे
- ओशो और उनके निजी जीवन के प्रसंग/अमित कुमार सिंह
- पहाड़ के उस पार राजधानी है/धनंजय धनुष
- किसान जीवन की विडंबना और 'विषकन्या'/कंचनलता यादव

## शोधमाला

- 'मत्स्यगंधा' (असमिया) उपन्यास लेखन की पृष्ठभूमि /बर्नाली नाथ
- दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना/ संध्या गैरोला
- महाकाव्य के रूप में प्रसाद की कामायनी का वैशिष्ट्य/ रेनू सिंह
- 'मुंडा' एवं 'गोंड' जनजातीय का तुलनात्मक साहित्य और सांस्कृतिक-मूल्य/राठोड़ सुरेश

# अपनी माटी 'ISSN 2322-0724 APNI MAATI'

चित्तौड़गढ़, राजस्थान से प्रकाशित ई-पत्रिका


[निबंध](#)
[आलेख](#)
[शिक्षा](#)
[किसान विमर्श](#)
[बातचीत](#)
[खी विमर्श](#)
[आदिवासी विमर्श](#)
[दलित विमर्श](#)
[कहानी](#)
[कविता](#)
[समीक्षा](#)
[व्यंग्य](#)
[फीचर](#)
[फोटो](#)

[नवीनतम रचना](#)

26

['अपनी माटी' 26 अंक अनुक्रमणिका](#)

26

[सम्पादकीय: साधू ओझा संत/ जितेन्द्र यादव](#)

26

[शोध आलेख: जाति वर्ग एवं जेंडर के बरक्स लोक में गल्प और यथार्थ का द्वंद्व/ राहुल](#)

[Home](#) × [26](#) × [अनवर सुहैल](#) × [अपनी माटी ई-पत्रिका](#) × [अल्पसंख्यक विमर्श](#) × [आलेख](#) × [शोध](#) × [शोध: अल्पसंख्यक-विमर्श और अनवर सुहैल का साहित्य / जिनित सबा](#)

## शोध: अल्पसंख्यक-विमर्श और अनवर सुहैल का साहित्य / जिनित सबा

□ 26, अनवर सुहैल, अपनी माटी ई-पत्रिका, अल्पसंख्यक विमर्श, आलेख, शोध,

### अल्पसंख्यक-विमर्श और अनवर सुहैल का साहित्य



समकालीन आलोचना में 'विमर्श' शब्द उत्तर-आधुनिक सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। यह पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी के 'डिस्कोर्स' के समानार्थक रूप में हिंदी में प्रचलित है। इस शब्द का विकास सन् 1325-75 ई. के बीच हुआ। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले मिडिल इंग्लिश में 'डिस्कौर्स' (discours) के रूप में हुआ। बाद में लैटिन के मध्य प्रान्त में यही 'discours' ने 'discourse' का रूप ले लिया जो कि वर्तमान में उसी रूप में प्रचलित है।

“‘डिस्कोर्स’ के लिए फ़ादर कामिल बुल्के ने अपने ‘अंग्रेजी हिंदी शब्दकोश’ में... हिंदी समानार्थी शब्द दिए हैं :- भाषण, प्रवचन, प्रबंध, निबंध आदि। इन संज्ञाओं के क्रिया पद हैं- भाषण देना, बोलना। धार्मिक प्रवचन के लिए अंग्रेजी में ‘डिस्कोर्स’ शब्द चलता है। अंग्रेजी में यह धार्मिक प्रवचन, भाषण के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है और आज भी होता है।” हिंदी में भी ‘विमर्श’ शब्द का बहुत प्रचलन होने लगा है। इसको लोकप्रिय बनाने का श्रेय

प्रोफेसर सुधीश पचौरी को है। क्रिसबार्करने विमर्श को इस प्रकार परिभाषित किया है –“विमर्श, ज्ञान की वस्तुओं का बोधगम्य तरीके से परिकल्पना करते हैं, संरचना करते हैं, निर्माण करते हैं, साथ ही तर्क के अन्य तरीकों को बोधगम्य बनाते हैं।”

### अल्पसंख्यक-विमर्श

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक विकास-यात्रा को देखें तो समकालीन साहित्यिक –लेखन का झुकाव जन-समुदाय केन्द्रित हुआ है। यह परिपाटी अमेरिका से चली है जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर अधिक बल दिया जाता है। सर्वप्रथम हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि ‘अल्पसंख्यक कौन?’ ‘अल्पसंख्यक’ की अवधारणा में ‘संख्या’ पर बल दिया गया है। जिसमें बहुसंख्यक की अपेक्षा, जिनकी आबादी कम हो। अल्पसंख्यक की अवधारणा का दूसरा छोर-‘भाषाई एवं सांस्कृतिक’ भी होता है। इस अवधारणा को भी सिद्धांत के रूप में मान्यता सर्वप्रथम यूरोप में मिली। बहरहाल जो भी हो ‘अल्पसंख्यक-विमर्श’ एक नया विमर्श है जो अल्पसंख्यक वर्ग की ज्वलंत समस्या को लेकर उभरता है। पश्चिम में इस विमर्श की शुरुआत स्पेन से होती है और धीरे-धीरे पूरे विश्व में स्थापित हो जाती है। कार्ल-माक्स ने ‘जेविश-क्वेश्चन’(1844) को सर्वप्रथम सिद्धांत: उठाया था। उसका विकास पश्चिम में भिन्न-भिन्न विचारकों ने किया था। जैसे - गीलेसदेलयूजे और फेलिक्सगुअतरी।

भारत में अल्पसंख्यक सम्बन्धी दो प्रावधान भारतीय संविधान में निदिष्ट किये गए हैं –(1) भाषाई,(2)धार्मिक।

भाषाई-स्तर पर अनेक जन-समुदाय अल्पसंख्यक हैं। धार्मिक-स्तर पर मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी एवं जैन को मानने वाले समाहित किये गए हैं। अल्पसंख्यक-विमर्श ऐतिहासिक अनिवार्यता से जुड़ा हुआ पहलू है।

वास्तव में अल्पसंख्यक को जानने, समझने और परिभाषित करने की प्रक्रिया का नाम ‘अल्पसंख्यक-विमर्श’ है। अल्पसंख्यक हैं कौन; उनका सम्बन्ध किस देश-प्रदेश से है; उनकी भाषा-बोली क्या है; देश के साथ उनके धर्म, मजहब का क्या ताल्लुक है; उनके आचार-विचार,



सलाहकार एवं संरक्षक डॉ. राजेश चौधरी



अपनी माटी ई-पत्रिका

संस्थापक: माणिक



अपनी माटी ई-पत्रिका

सम्पादक: जितेन्द्र यादव

तीज-त्यौहार क्या होते हैं; खुद अल्पसंख्यक लेखक, कलाकार, चिन्तक अल्पसंख्यकों के बारे में क्या सोचते हैं; गैर-अल्पसंख्यक रचनाकार की अल्पसंख्यक के प्रति दृष्टि क्या है, इन सबको परिभाषित करता है- 'अल्पसंख्यक-विमर्श'।

## हिंदी में अल्पसंख्यक वैचारिकी का विकास

हिंदी साहित्य में 'अल्पसंख्यक-वर्ग' की भी एक वैचारिक भूमिका अवश्य है। पर 'अल्पसंख्यक' वैचारिकी का कैसे और किस तरह विकास हुआ ? यह एक बहुत उलझा हुआ प्रश्न है, यह समस्या हमारे सामने तब उभरती है जब 'अल्पसंख्यक' वर्ग का चुनाव कर उसकी परंपरा या वैचारिकी के विकास को तलाशना होता है। क्योंकि कुछ 'अल्पसंख्यक' वर्ग जैसे -जैन, बौद्ध, सिख हैं, जो कभी बहुसंख्यक हिन्दू-वर्ग का हिस्सा हुआ करते थे, वे अभी उनसे अलग हो चुके हैं और उन्हें भी अब 'अल्पसंख्यक-वर्ग' का दर्जा दिया जाता है। बहरहाल जो भी हो आदि काल से ही 'अल्पसंख्यक' वर्ग के साहित्य का प्रस्थान बिंदु देखने को मिलता है चाहे वह बौद्ध-साहित्य हो, जैन-साहित्य हो, सिख-साहित्य या मुस्लिम-साहित्य। हिंदी साहित्य के इतिहास में भी 'अल्पसंख्यक-विमर्श' की शुरुआत हो चुकी है। अगर 'अल्पसंख्यक' की वैचारिक परंपरा की नींव तलाश की जाएगी तो यह परंपरा आदि काल से सरहपा, शबरपा, गोरखनाथ, शालिभद्र सूरी, अमीर खुसरो, से होते हुए भक्ति काल में कबीर, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, गुरु गोविन्द सिंह, से होते हुए आधुनिक काल में बदीउज्जमा, राही मासूम रजा से होते हुए नासिरा शर्मा, अनवर सुहैल तक फैली हुई है। वागर्थ पत्रिका के अंक में समीक्षक भारतभारदवाज लिखते हैं –“प्रसिद्ध चित्रकार लियोनार्दो दा विंची की रहस्यमयी कृति मोनालिजा की तरह आज भी अमीर खुसरो की ये पंक्तियाँ – **‘गौरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केश, चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देश’** का पाठ और व्याख्या आलोचकों को उलझाती है। इसी तरह जायसी की 'पदमावत' न केवल हिंदी साहित्य की एक अनमोल विरासत है बल्कि बहुमूल्य धरोहर भी... कबीर को हम कैसे भूल सकते हैं! वे तो लोकमानस में गहरे पैठे हुए हैं उसी तरह रहीम भी।” प्रो. गोपाल राय आधुनिक काल में राधाकृष्ण दास के उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' से मुस्लिम समाज का साहित्य में प्रवेश को स्वीकार करते हैं। प्रेमचन्द भी 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों में हिन्दू-मुसलमान संबंधों पर बात करते हैं। पर यदि आधुनिक अल्पसंख्यक लेखकों पर गौर करें तो सबसे पहले बदीउज्जमा के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' और 'सभापर्व' आते हैं। उसी तरह "राही मासूम रजा का उपन्यास 'आधा गाँव यदि एक तरफ देश की विभाजन की त्रासदी का हिस्सा है तो दूसरी तरफ उस आधे गाँव का किस्सा भी है, जो हिन्दू-मुसलमानों में बंटा हुआ है।" यही परंपरा शानी से होते हुए अब्दुल बिसमिल्लाह, असगर वजाहत, मंजूर एहतेशाम, इसराइल, नईम, जाबिर हुसैन, आबिद सुरती, हसन जमाल, हबीब कैफी, आलम शाह, नासिरा शर्मा, मेहरुन्निसा परवेज से होते हुए अनवर सुहैल तक पहुंची है। अतः देखा जाय तो आधुनिक काल में एक बड़ा फलक मिल रहा है मुस्लिम रचनाकारों को जो कि 'अल्पसंख्यक' समुदाय का सबसे ज्यादा पीड़ित वर्ग है। 'अल्पसंख्यक' वर्ग के और भी समुदाय हैं जो कि मुस्लिम 'अल्पसंख्यक' की तरह जर्जरित अवस्था में नहीं हैं। इस विमर्श की पहल तो मुस्लिम रचनाकारों ने की है पर धीरे-धीरे 'अल्पसंख्यक' वर्ग के अन्य रचनाकार भी इस विमर्श को आगे बढ़ाने में सहयोग कर रहे हैं। अतः कुछ समय बाद जरूर 'अल्पसंख्यक' वर्ग का एक मुकम्मल चित्र हमारे सामने उपस्थित होगा।

## हिंदी में अल्पसंख्यक-विमर्श के रचनाकार

राही मासूम रजा, बदीउज्जमा, अब्दुल बिसमिल्लाह, मंजूर एहतेशाम, असगर वजाहत, नासिरा शर्मा और मेहरुन्निसा परवेज आदि बहुत बड़े अल्पसंख्यक रचनाकार हैं, जिन्होंने मुस्लिम परिवेश को आधार बना कर लिखा है। जैसे-राही मासूम रजा ने विभाजन के पश्चात की त्रासदी, सांप्रदायिक दंगे, मुस्लिम-संस्कृति और हिन्दू-मुस्लिम के संबंधों को आधार बनाकर साहित्य-लेखन किया है। बदीउज्जमा भी देश-विभाजन को गलत बताते हैं। उनका मानना है कि-पाकिस्तान का बनना न बनना कोई महत्व नहीं रखता। अंग्रेजों की कुटिल राजनीति का पर्दाफाश करते हुए विभाजन के मूल में अंग्रेजों की भूमिका को स्वीकारते हैं (छाकों की वापसी, सभा पर्व)। अब्दुल बिसमिल्लाह ने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान युद्ध, इंदिरा गाँधी के समय में कांग्रेस का विभाजन, बांग्लादेश का उदय, नक्सलवाद आदि को अपने लेखन का आधार बनाया है। मंजूर एहतेशाम ने साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर सुलझी हुई प्रगतिशील दृष्टि से विचार किया है। धार्मिक कट्टरता, पाकिस्तान का प्रश्न, अंग्रेजों की कुटिल राजनीति और उनके चलते हिन्दू-मुसलमानों में बढ़ती दूरी, समाज के पिछड़ेपन के कारणों को देश-विभाजन के मूल में माना है। असगर वजाहत ने मुस्लिम समाज के अपने अन्तर्विरोध और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को केंद्र में रख कर अपनी रचनाएँ की हैं। नासिरा शर्मा ने ईरान की कथा, मध्यवर्गीय मुस्लिम शिक्षित स्त्री का संघर्ष, विभाजन की त्रासदी, धर्म और सम्प्रदाय की राजनीति को आधार बनाया है। मेहरुन्निसा परवेज का केन्द्रीय विषय मध्यवर्गीय नारी-जीवन की त्रासदी है। वे प्रेम, विवाह, तलाक, अवैध सम्बन्ध, परित्यक्ता नारी का अकेलापन, नारी जीवन की विवशता का मार्मिक चित्र साहित्य में उपस्थित करती हैं।

## अनवर सुहैल के दृष्टि में अल्पसंख्यक

“अल्पसंख्यक एक अपूर्ण या अमित करने वाला शब्द है...समय में कुछ की संख्या को अल्पसंख्यक मानना मेरे हिसाब में गलत है। जिस प्रदेश में या जिस नगर में आप बहुतायत में हों और समग्रता के आधार पर की गयी गणना के अनुसार खुद को अल्पसंख्यक मानें तो ये गलत प्रतीत होता है। जैसे कश्मीर के मुसलमान खुद को अल्पसंख्यक कहें या फिर पुराने हैदराबाद के मुसलमान या पुरानी दिल्ली के मुसलमान खुद को अल्पसंख्यक कहें तो मुझे ये स्वीकार नहीं है...ये मुसलमान तो अपनी परिवेशगत आबादी के पचास प्रतिशत से ज्यादा के लोग हैं इन्हें अल्पसंख्यक का दर्जा कैसे दिया जा सकता है ?” अतः अनवर सुहैल अल्पसंख्यक का निर्माण समय देश के आधार पर नहीं बल्कि राज्य के आधार पर करने के पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि देश के उपेक्षित लोगों पर गयी जिनकी वह वकालत करते हैं।

## अनवर सुहैल के साहित्य में अल्पसंख्यक-विमर्श

भारत में अल्पसंख्यक-वर्ग के समक्ष निम्नांकित चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं जिनकी अभिव्यक्ति अनवर-सुहैल के साहित्य में समसामयिक परिदृश्य के साथ अभिव्यक्त हुई हैं-1. असुरक्षा की भावना 2. पहचान का संकट 3. फिरकों में बंटा इस्लाम 4. सामाजिक संरचना में जाति-गत भेदभाव (i) अशराफ (ii) अजलाफ (iii) अरजाल या पसमांदा 5. संस्कृति के विलय का डर 6. मुस्लिम स्त्री के लिए दोहरे मापदंड 7. मीडिया की नजर



अपनी माटी ई-पत्रिका

सह सम्पादक: सौरभ कुमार



अपनी माटी ई-पत्रिका

तकनीकी सम्पादक: शेखर चंगेरिया



अपनी माटी ई-पत्रिका



में अल्पसंख्यक 8.राष्ट्रीयता पर संदेह 9.भूमंडलीकरण और अल्पसंख्यक 10.आतंकवाद और अल्पसंख्यक 11.आर्थिक और शैक्षिक बदहाली।

अनवर सुहैल के साहित्य में अल्पसंख्यक वर्ग के उपरोक्त बिन्दुओं की अभिव्यक्ति सशक्त रूप में हुई है। इनकी कुछ प्रकाशित किताबें हैं :-

(अ)कविता संग्रह :- 'और थोड़ी सी शर्म दे मौला'(2007), 'संतों काहे की बेचैनी'(2009)

(आ)कहानी-संग्रह:-'ग्यारह सितम्बर के बाद'(2006), 'चहल्लुम'(2009)'गहरी-जड़ें'(2014)

(इ)उपन्यास :-'पहचान'(2009), 'सलीमा'(2014)।

अनवर सुहैल भारतीय मुसलमानों की जिंदगी पर पढ़ने वाले समसामयिक प्रभावों को गहराई से पकड़ते हैं। उनके साहित्य में भारतीय सामाजिक-संरचना के भेदभाव को मुस्लिम समाज के परिप्रेक्ष्य में स्वर मिला है। इसके अलावा मुस्लिम स्त्री का सवाल उनके साहित्य में प्राथमिक रूप से अभिव्यक्त हुआ है। समकालीन राजनीति के कारण अल्पसंख्यक वर्ग की छवि किस रूप में चित्रित की जा रही है उसके विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति इनके साहित्य में हुई है। यह छवि एक तरफ एकमुश्त वोट बैंक के रूप में है। दूसरी तरफ असुरक्षित और जरूरत मंद नागरिक के तौर पर है। तीसरी ओर लड़ाकू, संघर्षशील और मूलगामी विचारों को लेकर है। चौथी ओर मध्यवर्गीय मुस्लिम शिक्षित वर्ग की सोच और उसके जीवन पर पढ़ने वाले प्रभावों को दर्ज करने वाली है, इन सबका उद्घाटन भी इनके साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने अल्पसंख्यक-वर्ग की आंतरिक वास्तविकता एवं अंतर्विरोध को प्रमाणिकता से अभिव्यक्त किया है।

अल्पसंख्यक वर्ग की मनोदशा, असुरक्षा की भावना, उसकी राष्ट्रीयता पर संदेह, उसके खान-पान, रहन-सहन पर रोक-टोक एवं उसके दायम दर्जे की स्थिति का रेखांकन इनके साहित्य में हुआ है। इसके लिए लेखक केवल बाहरी कारकों को जिम्मेदार नहीं मानता बल्कि उसके साथ-साथ स्वयं मुस्लिम समाज में दकियानूसी विचारों और कट्टरता को समान रूप से जिम्मेदार मानता है। मीडिया द्वारा अल्पसंख्यक विशेषकर मुस्लिम वर्ग की आतंकवाद के पर्याय के रूप में छवि बनाने की खुल कर आलोचना करता है। जैसे- 'ग्यारह सितम्बर के बाद' कहानी को देखा जा सकता है। 'पहचान' उपन्यास में खोती हुई पहचान को नई पहचान में परिवर्तित करने की बात रचनाकार करता है।

इनका साहित्य 'पसमांदा-समाज' (जो पीछे छूट गया हो, दलित मुसलमान) के जीवन की अभिव्यक्ति करता है। यह भारत के दलित मुसलमान का वास्तविक चेहरा है। 'कुंजड-कसाई' कहानी में विवाह में बरते जाने वाले जातीय भेदभाव की कलाई खोली गयी है। विभाजन के बाद मुस्लिम-समाज का कुलीन वर्ग एवं मध्यवर्ग पाकिस्तान चला गया। जिस तबके ने भारत-पाक विभाजन का मुखर विरोध किया, उसकी राष्ट्रीयता पर संदेह कैसे किया जा सकता है ? लेकिन उनकी आर्थिक एवं शैक्षिक बदहाली को ठीक करने का कार्य हमारी सरकारों ने क्यों नहीं किया ? क्या यही समान नागरिक भागीदारी या सामाजिक लोकतंत्र है ? इन सवालों को अनवर सुहैल कहीं मुखर और कहीं सूक्ष्म रूप से अपने साहित्य में व्यक्त करते हैं।

अनवर सुहैल के साहित्य की सबसे बड़ी विशिष्टता है कि वे पक्षपात न करके वस्तु-स्थिति और वास्तविकता को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इनकी 'कहन-शैली' या कहने की शैली या प्रस्तुतिकरण प्रभावकारी है। जैसे- "अकल वालों को अकल दे मौला /इल्म वालों को इल्म दे मौला /धर्म वालों को धर्म दे मौला /और थोड़ी-सी शर्म दे मौला।" रचनाकार ने जन के जीवन के प्रति अपनी पक्षधरता व्यक्त की है। इस रूप में इनका जनवादी रुझान दिखाई देता है।

समकालीन हिंदी-लेखन में गहन शोध-परकता, विषयगत वैविध्य और हिंदी भाषा का पाठ व्यापक क्षेत्रीय पुट लेकर अभिव्यक्त हो रहा है। इन तीनों की अभिव्यक्ति अनवर सुहैल के साहित्य में हुई है। अनवर सुहैल 'सामासिक –संस्कृति' (composite culture) के सन्दर्भों को पकड़ते हैं। जिसमें 'नीला हाथी' कहानी का प्रधान पात्र कल्लू हिन्दू मत के लोगों के लिए मूर्तियाँ बनाने का कार्य करता है। यह उसकी अभिरूचि एवं आर्थिक आजीविका सेसम्बंधित है। लेकिन उसके समुदाय के कट्टर लोगों द्वारा बनाए गए दवाब को वह कैसे सहता ? उसकी पीड़ा, दंश और चुभन को रचनाकार ने संवेदनात्मक स्तर पर सूक्ष्मता से व्यक्त किया है।

नेहरू-युग को कैसे रचनाकारों ने महिमामंडित या ग्लोरिफाई किया था उसकी सम्यक आलोचना रचनाकार ने कोयलांचल क्षेत्र में मूल वासियों के विस्थापन और उनकी संस्कृति में अप-संस्कृति के समाविष्ट होने के रूप में की है। यह इनका कार्य-क्षेत्र और मातृभूमि भी है। अतः लेखक ने व्यवस्था के विकास के मॉडल पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। कोयलांचल में बढ़ते अपराध, राजनीति, पुलिस और माफियाओं द्वारा जनता की जिंदगी कैसे दुश्वार हो रही है उसकी अभिव्यक्ति लेखक ने की है।



ज़िनित सबा

'आधा-आसमान और आधी-जमीन' की हकदार स्त्री के बारे में इस्लाम हक तो देता है लेकिन उनका व्यवहार में आना 'सूली ऊपर सेज पिया की किस विध मिलनों होए' की तरह है। क्योंकि धर्म के ठेकेदार, बिचौलियों,मौलबी और काज़ी स्त्री के हक को पुरुष के हक से दायम दर्जे पर रखते हैं और उसके साथ दोहरे-मापदंड अपनाते हैं। 'सलीमा' उपन्यास की सलीमा मूलगामी विचारों को छोड़ कर प्रगतिशील रूख एख्तियार करती है। पारिवारिक-विघटन, अर्थ का दवाब और नैतिक पतन को लेखक ने सलीमा के व्यक्तित्व के हवाले से व्यक्त किया है। 'सलीमा' उपन्यास में लेखक ने अर्थ का बढ़ता जीवन में महत्व और बाकी रिश्तों के गौण होने को समकालीन जीवन में आये बदलाव के रूप में ईमानदारी से व्यक्त किया है। 'चहल्लुम' कहानी में मुस्लिम समाज में व्यक्ति के मरने के बाद 'इद्दत'(40 दिनों तक घर में बंद रहने की प्रथा) मनाने की प्रथा है। यह ऐसी प्रथा है जिसका कोई आधार नहीं है। ऐसी प्रथाओं की वजह से आधुनिक जीवन जीने वाले शिक्षित मध्यवर्गीय मुस्लिमों का जीवन बाधित हो रहा

पाठकों का ऑनलाइन अपडेट्स



हमारी ई-पत्रिका का ताज़ा अंक



अपनी माटी ई-पत्रिका का ठीक पिछला अंक

अनुक्रमणिका: 'अपनी माटी' का 25वाँ अंक 'किसान'  
 Manik Chittorgarh Nov 11, 20

संपादकीय: 'किसान विशेषांक/गजेन्द्र पाठक व अभिषेक'  
 Manik Chittorgarh Nov 11, 20

भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में उपेक्षित किसान/कुशवाहा  
 Manik Chittorgarh Nov 11, 20

किसान, आंदोलन और साहित्य/ डॉ. भीम सिंह  
 अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

भारत के किसान आंदोलनों का इतिहास/ वर्तमान सन  
 इकरार अहमद  
 Manik Chittorgarh Nov 11, 20

बाबा नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' में अभिव्यक्ति  
 जीवन/सिद्धार्थ पात्र  
 Manik Chittorgarh Nov 11, 20

21वीं सदी के प्रथम दशक की हिन्दी फिल्मों में किसान  
 जीवन/अनिल कुमार  
 अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20



शोधार्थी, हिंदी विभाग  
मानविकी संकाय  
हैदराबाद विश्वविद्यालय,  
हैदराबाद  
सम्पर्क  
zinitisaba33@gmail.com  
9492263706

है।लेखक ने इस कहानी में विशेषकर छत्तीसगढ़ में इस प्रथा के प्रचलन के मुद्दे को रेखांकित किया है। वस्तुतः हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण भारत के मुसलमानों में यह प्रथा आज भी जारी है।

'पहचान'नयी तकनीक आधारित दुनिया में 'पहचान' तकनीक के सहारे भाषा को जोड़ने पर बल देने वाली रचना है। अल्पसंख्यक वर्ग को भी नयी टेक्नोलॉजी के माध्यम से अपनी अभिनव 'पहचान' बनानी होगी जिसका रास्ता आधुनिक शिक्षा एवं तकनीक आधारित कौशल से निकलता है। यहाँ लेखक का जीवन-दर्शन अभिव्यक्त हुआ है

जिसमें अल्पसंख्यक युवाओं को दिशा एवं ज्ञान दोनों लेखक ने दिए हैं। यह उपदेशात्मक रूप में नहीं है। समकालीन-सृजन में समस्या तो इंगित की जाती है लेकिन विकल्प एवं समाधान देना लेखक का उद्देश्य भी होना चाहिए। अनवर सुहैल ने यह समाधान और लेखकीय दायित्व-बोध दोनों को एक साथ निभाया है।

#### संदर्भ-

- 1.वाक् (नये विमर्शों का त्रैमासिक 2007,अंक 3)पत्रिका ,पृ.सं.-225
- 2.वाक् (नये विमर्शों का त्रैमासिक 2007,अंक 3)पत्रिका ,पृ.सं.-229
- 3.वागर्थ, मई, 2004
- 4.वागर्थ, मई, 2004
- 5.अनवर सुहैल के साक्षात्कार से

अपनी माटी (ISSN 2322-0724 Apni Maati)

वर्ष-4,अंक-26 (अक्टूबर 2017-मार्च,2018)

चित्रांकन: दिलीप डामोर

Tags # 26 # अनवर सुहैल # अपनी माटी ई-पत्रिका # अल्पसंख्यक विमर्श # आलेख # शोध

## RESPONSIVE ADS HERE

Share This

35

[http://www.apnimaati.com/2018/02/blog-post\\_73.html](http://www.apnimaati.com/2018/02/blog-post_73.html)



About अपनी माटी,चित्तौड़गढ़

#### Newer Article

आलेख: प्रवासी जीवन एवं गिरते नैतिक मूल्य/प्रणु शुक्ला

#### Older Article

आलेख: हिन्दी कविता में आदिवासी जीवन/डॉ. अभिषेक कुमार पाण्डेय

#### RELATED POST

View More

26

26

26

26

26

26

शोध आलेख:जाति वर्ग एवं जेंडर के बरक्स लोक में गल्प और यथार्थ का द्वंद्व/ राहुल

Manik Chittorgarh Nov 25, 2018

शोध आलेख:विमर्शों की कसीटी पर 'टोपी शुक्ला'/मोहम्मद हुसैन डायर

Manik Chittorgarh Feb 25, 2018

शोध आलेख: अस्मिता एवं अकेलेपन के संकट से जुड़ाता तृतीय लिंगीय समुदाय/स्वाति

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Feb 25, 2018

पुरखों की कविता में किसान

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

महाराष्ट्र राज्य के किसानों के साथ आरले श्रीकांत और कुशा की बातचीत

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

किसान जीवन की कठण कथा - 'कॉस' (संजीव)/भा प्रजापति

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

किसान आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि/सुरील कुमा

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

नवउदारवाद और किसानों की दुर्दशा/डॉ. अमृत प्रजाप

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

'बदलते सामाजिक परिदृश्य और किसान' /दिवाकर दि

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

भारतीय किसान जीवन और समकालीन परिदृश्य/प्रदी

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

कृषक जीवन की त्रासद महागाथा:किसान का कोड़ा/

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

किसान आन्दोलन के अग्रणी नेता सहजानंद सरस्वती/

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

धरोहर:सूर का काव्य और किसान-जीवन/ मेनेजर पाण

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

बातचीत:राजनेता व किसान नेता योगेन्द्र यादव से वृजे

जितेन्द्र यादव की बातचीत

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

धरोहर:किसानों-पत्रों के लिए / राहुल सांकृत्यायन

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

धरोहर:किसानों के दोस्त और दुश्मन / स्वामी सहजान

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

धरोहर:किसान क्या करें ? नेताओं पर कड़ी नजर रखें /

सहजानन्द सरस्वती

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

धरोहर:हनुमानो किसान / प्रेमचंद

Manik Chittorgarh Nov 11, 20

प्रेमचंद और किसान विमर्श/डॉ. मीनाक्षी जयप्रकाश सि

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

गोदान: किसानों की त्रासदी की महागाथा/ बबली गुर्ज

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

पूरा की रात' : हल्कू अभी जिन्दा है/ प्रमोद कुमार याद

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

प्रेमचंद का किसानबोध /वंशीलाल

अपनी माटी,चित्तौड़गढ़ Nov 11, 20

# अपनी माटी



परिचय ∨ सम्पादकीय ∨ विमर्श ∨ विधाएँ ∨ विविधा ∨ विशेषांक ∨ ताज़ा अंक सम्पादक : माणिक एवं जितेन्द्र यादव

मुख्यपृष्ठ > 35-36

## अनुक्रमणिका : 'अपनी माटी' का 35-36वाँ अंक(संयुक्तांक)

सम्पादक, अपनी माटी ७ शनिवार, जुलाई 31, 2021

अपनी माटी (ISSN 2322-0724 Apni Maati) अंक-35-36, जनवरी-जून 2021, चित्रांकन : सुरेन्द्र सिंह चुण्डावत

UGC Care Listed Issue 'समकक्ष व्यक्ति समीक्षित जर्नल' (PEER REVIEWED/REFEREED JOURNAL)

### अनुक्रमणिका : 'अपनी माटी' का 35-36वाँ अंक(संयुक्तांक)



#### सम्पादकीय

- जनाब! किसान के लिए पूस की रात कभी खत्म नहीं होती / जितेन्द्र यादव

#### धरोहर

- क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं? / प्रेमचंद

#### बतकही

- दलित साहित्यकार प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन से डॉ. माणिक की बातचीत

#### वैचारिकी

- भारतीय किसान : मिथक बनाम यथार्थ / प्रो. गजेन्द्र पाठक
- प्रवासी भारतीयों का सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष / घनश्याम कुशवाहा
- बाबासाहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर के चिंतन में धर्म / डॉ. भारती सागर
- कबीर के राम / डॉ. अभिषेक रौशन
- मानव-नियति के प्रश्न और 'परिंदे' / डॉ. बीना जैन
- जयशंकर प्रसाद की कहानियों का सौन्दर्यबोध / भरत

#### संघर्ष के दस्तावेज

- 'तिरस्कृत' में दलित चेतना / डॉ. गंगा सहाय मीणा

- संत्रास, कुंठा, घुटन और महानगरों का अम्बेडकरवादी लेखन / डॉ. कर्मानंद आर्य
- दलितों के संघर्ष का जीवंत दस्तावेज 'सलाम' / डॉ. आलोक कुमार
- पेरियार ललई सिंह के नाटकों में ब्राह्मणवादी-व्यवस्था का खंडन / विजय कुमार
- ओमप्रकाश वाल्मीकि के कविता कर्म का आन्तरिक यथार्थ / अमृत लाल जीनगर और डॉ. विदुषी आमेटा
- दलित सौन्दर्यशास्त्र और मलखान सिंह की कवितायें / डॉ. रविता कुमारी
- हिन्दी दलित कविता आलोचना : दशा और दिशा / सन्दीप कुमार
- ओड़िया दलित उपन्यासों की छवि / जिनित सबा

## हूल-जोहार

- बाघ और सुगना मुण्डा की बेटों: स्त्री चेतना - डॉ. विजय कुमार रंजन
- आदिवासी कविताओं में चित्रित आदिवासी समाज और स्त्री अस्मिता / लालुराम

## समानांतर दुनिया

- फ़िल्म 'शूद्र द राइजिंग' : शूद्र उत्पीड़न की महागाथा / डॉ. अनिल कुमार
- हिन्दी-मलयालम साहित्य और सिनेमा में कवीर विमर्श : एक झांकी / डॉ. निम्मी ए.ए

## विरासत

- बौद्ध ग्रंथ 'धम्मपद' में तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का स्वरूप / कृष्ण कुमार साह
- कबीर की प्रासंगिकता : वर्तमान संदर्भ / डॉ. उमा देवी
- साहित्य, समाज एवं संस्कृति का अंतःसंबंध - डॉ. अर्चना त्रिपाठी
- दक्षिण-पूर्व एशिया में प्राचीन भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य का समीक्षात्मक अध्ययन / डॉ. प्रशान्त कुमार और गौरव सिंह
- न्यू मीडिया कला में पर्यावरण कला एवं पर्यावरणवाद / मुकेश कुमार शर्मा
- उर्दू का भाषा के रूप में विकास / विक्रम सिंह बरेठ

## लोक का आलोक

- पाबूजी का लोकदेवत्व / डॉ. राजेन्द्र कुमार सिंघवी
- 'गवरी' में ऐतिहासिक खेल 'राणा पूंजा भील' : कलात्मक दृश्य बिम्ब / डॉ. संदीप कुमार मेघवाल
- हिन्दी कहावतों में लोक-जीवन / डॉ. ज्योति यादव

## हिन्दी की बिंदी

- भारतीय नवजागरण के आईने में हिन्दी और अनुवाद / धीरज कुमार
- वेब मीडिया एवं भाषा अध्यापन / डॉ. भाऊसाहेब नवनाथ नवले
- कामताप्रसाद गुरु और किशोरीदास वाजपेयी एक तुलनात्मक विवेचन / चतराराम
- छायावादी कविताओं के बहाने 'लंबी कविताओं' के शिल्प पर बहस / राजेश कुमार यादव

## अनकहे-किस्से

- देह का उत्सव मनाती प्रियंवद की कथा-नायिकाएं / विष्णु कुमार शर्मा
- तमस उपन्यास की भाषिक संवेदना / प्रदीप कुमार एवं डॉ. सुनीता रानी घोष
- एस. एल. भैरप्पा के उपन्यासों के वर्ण्य विषय / प्रो. राजेन्द्र पाल सिंह 'जोश' और केवल कुमार
- मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में विषय-वैविध्य / वंदना पाण्डेय
- 'शिखर और सीमाएं' उपन्यास में चित्रित पूर्वोत्तर, प्रेम और पितृसत्ता / चिन्मयी दास
- नई आर्थिक नीतियों से 'डूबते' गाँव का हलफनामा / नुसरत ज़बीन सिद्दीकी
- प्रतिरोध और प्रतिशोध का स्वर / तुल्य कुमारी
- सुरमई हरीतिमा / डॉ. अनुपमा श्रीवास्तव



मुख्यपृष्ठ &gt; 35-36

## शोध : ओड़िया दलित उपन्यासों की छवि / ज़िनित सबा

२ सम्पादक, अपनी माटी ७ शनिवार, जुलाई 31, 2021

### ओड़िया दलित उपन्यासों की छवि / ज़िनित सबा

#### शोध-सार :

भारतीय साहित्य में दलित साहित्य का एक प्रमुख स्थान है। यह साहित्य तथाकथित सभ्य लोगों की उस दृष्टि का परिचायक है, जिसमें वर्ग को सदैव उपेक्षित किया गया है। कई वर्षों के संघर्ष के बाद आज दलित साहित्य अपने स्वरूप को प्रकट कर पाया है। जहां पूरे देश में शब्द का प्रचलन है, वहीं आज भी ओड़िशा में दलित के लिए 'हरिजन' शब्द का ही प्रयोग है। आज भी आम ओड़िशा भाषी दलित शब्द से नहीं है। कुछ एक ओड़िया रचनाकार साहित्य में 'दलित' शब्द को प्रचलन में लाने का प्रयास कर रहे हैं। ओड़िया में दलित विमर्श नया है। कविताओं और कहानियों की तो भरमार रही है किन्तु ओड़िया उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। उपन्यास में यथार्थपरक दृष्टि मनुष्य के जीवित स्वरूप से दिखाने में ज्यादा सहायक सिद्ध है। इसलिए ओड़िया साहित्य अत्यधिक दलित उपन्यासों की मांग करता है। साथ ही यहाँ यह बहुत दुःख हो रहा है कि ओड़िया दलित साहित्य पर गंभीर आलोचना की आवश्यकता रही है। ओड़िया उपन्यासों के अध्ययन के क्रम में मुझे कोई आलेख नहीं मिला जो ओड़िया उपन्यासों के विकासक्रम और उसका मूल्यांकन प्रस्तुत करता हो। इस आलेख में ओड़िया दलित समाज को प्रस्तुत करने के साथ ओड़िया साहित्य में दलित साहित्य का विकास, ओड़िया दलित साहित्य को देखने की कसौटी, ओड़िया उपन्यासों में के समक्ष समस्याएं और चुनौतियाँ, दलित साहित्य के विकास की संभावनाएं, ओड़िया दलित विमर्श की अनुगूँज आदि को प्रस्तुत करने का किया गया है। यह आलेख भारतीय दलित साहित्य में ओड़िया दलित साहित्य के योगदान को प्रस्तुत करता है।

**बीज-शब्द :** समाज, दलित, दलित अस्मिता, आंदोलन, दलित विमर्श, ओड़िया दलित साहित्य, ओड़िया दलित उपन्यास।

#### मूल-आलेख

भारतीय साहित्य में दलित साहित्य का एक प्रमुख स्थान है। यह साहित्य तथाकथित सभ्य लोगों की उस दृष्टि का परिचायक है, जिसमें वर्ग को सदैव उपेक्षित किया गया है। कई वर्षों के संघर्ष के बाद आज दलित साहित्य अपने स्वरूप को प्रकट कर पाया है। अनुसंधान करने स्पष्ट हुआ कि अस्मिता की लड़ाई ने दलित वर्ग में अदम्य साहस भरा है, जिसके परिणाम स्वरूप हमारे पास ऐसा दलित साहित्य आया जिसे करने की बरबस कोशिश की गई है। भारतीय साहित्य में दलित साहित्य के विकास के बीज मराठी साहित्य में ढूँढे जा सकते हैं। यह कहना गलत होगा कि मराठी साहित्य से विकसित दलित साहित्य से पूरा भारतीय साहित्य प्रभावित हुआ है। साथ ही यह कहते हुए हम यह नहीं भूल रहे दलित आंदोलनों की इसमें बहुत बड़ी भूमिका रही है।

ओड़िया साहित्य भी दलित चेतना से अछूता नहीं रहा। ओड़िया साहित्य में दलित साहित्य का विकास 21वीं शताब्दी से हुआ। भले ही विकास अन्य भाषाओं के दलित साहित्य से काफी बाद में हुआ। किन्तु वर्तमान के संदर्भ में ओड़िया दलित साहित्य में विभिन्न विधाओं में प्रचलन में लेखन जारी है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अन्य दलित साहित्य की भांति ओड़िया दलित साहित्य का विकास भी कविता से है। वासुदेव सुनानी का 'अस्पृश्य' कविता से ओड़िया दलित कविता की शुरुआत होती है। यह कविता संग्रह 2001 में प्रकाशित हुआ।

दलित साहित्य का सही मायने में विकास माना जा सकता है। ऐसा नहीं है कि दलित जीवन से सम्बन्धित साहित्य ओड़िया में इससे पूर्व नहीं गया किन्तु दलित आलोचना में स्वानुभूति और सहानुभूति के सवाल खड़ा होने पर यह सिद्ध किया गया कि दलितों के द्वारा लिखित सारा दलित साहित्य है। इसलिए इसका प्रस्थान यही से मानना न्यायोचित होगा।

किसी भी साहित्य में कोई भी स्वर अचानक उपस्थित नहीं हो जाता, इसके पीछे विकास की एक परंपरा अवश्य होती है। ओड़िया सारा इसी परम्परा को तलाश करते हुए पाया गया कि ब्राह्मणवाद के विरोध में चर्या कवि सरहपा, तुड़पा, डोम्भिपा, शबरपा, भुशुकपाद आदि ने लिखा। मध्य युग में शूद्रमुनि सारला दासब (15वीं शताब्दी), बलराम दास (15वीं शताब्दी) से होते हुए संत कवि भीमभोई (1850-185 ब्राह्मणवाद का विरोध किया गया है। इस काल तक ओड़िया में शूद्रों के द्वारा लिखित साहित्य को महत्व प्राप्त था। ओड़िया साहित्य की स विशेषता यह है कि प्रारंभिक चरण में शूद्रों के द्वारा लिखित साहित्य को केवल स्वीकार नहीं किया बल्कि उनके द्वारा लिखित साहित्य को स गया। लेकिन उत्तरोत्तर दलितों के द्वारा लिखित साहित्य का महत्व कम होने लगा तथा सही मायने में उनकी रचनाओं की आलोचना तक गयी। जिसके कारण लोक सामान्य के पास उनका साहित्य नहीं आ पाया। भले ही ओड़िया साहित्य में समय-समय पर ब्राह्मणवाद के विरोध बुलंद किये गए। किन्तु ओड़िया दलित साहित्य के बीज को संत कवि भीमभोई से ही ढूँढा जा सकता है। जिस प्रकार हिंदी में दलित साहित्य और कबीर का स्थान है उसी प्रकार ओड़िया दलित साहित्य में भीमभोई का स्थान है।

बहरहाल प्रारंभिक रचनाओं को देखते हुए ओड़िया भाषा के सर्व आलोचकों ने 'दलित साहित्य' के सम्बन्ध में कहा कि यहाँ दलित व ओड़िया में दलित जैसा कोई प्रसंग है ही नहीं तब इस तरह के साहित्य को शामिल करके विवाद क्यों किया जा रहा है। साथ ही यह भी कहा साहित्य किसी जाति विशेष का नहीं है, इसलिए साहित्य को दलित साहित्य कह कर भाग-भाग न किया जाए। दलित साहित्य के आगमन सर्व विचारकों ने दलित साहित्य के विरोध में कई आलोचना की। किन्तु समय के परिवर्तन के साथ ओड़िया के लोग भी ब्राह्मणवादी शिकार होते गए। ओड़िया में दलितों के प्रति शोषण बढ़ता गया तथा उनके प्रति उपेक्षा के भाव ने ओड़िया में दलित साहित्य को जन्म दिया। शोषण होगा वह अपनी अभिव्यक्ति तो करेगा ही। यह बड़ी दुःख की बात है कि ओड़िया के 'दलित साहित्य' लेखन पर एक तरह से विरोध प्रक गया। यहाँ तक की अखबार और पत्र-पत्रिकाओं में इसके विरोध में कई लेख भी लिखे गए। इस तरह ओड़िया दलित साहित्य को कई वि सामना करना पड़ा।

दलित साहित्य के अन्य विधाओं की तरह दलित उपन्यासों का लेखन प्रारंभ हुआ। किन्तु ये बड़ी दुःख की बात है कि ओड़िया में दलित बहुत कम लिखे गए। दलित सम्बंधित उपन्यास कुछ सर्व उपन्यासकारों ने भी लिखे हैं। लेकिन इसे दलित साहित्य के अंतर्गत रखा जाना चा नहीं, यह एक बहुत बड़ा सवाल है। इस सम्बन्ध में सुप्रिया मलिक 'दलित साहित्य : एक आलोचना' लेख में लिखती हैं- "आधुनिक युग में गै साहित्यकारों की रचना, जिसमें दलित चरित्र, चित्र, परंपरा और संस्कृति को विकृत और वीभत्स करने का प्रयास जारी रहा है ऐसे में इन दलित साहित्य के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।"<sup>[1]</sup> अतः इससे स्पष्ट है कि ओड़िया में भी दलित साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति जैसे केंद्र में हैं। आलोचक सुप्रिया मुख्यतः दलितों के द्वारा लिखित दलित साहित्य के पक्षधर हैं। आगे वह लिखती हैं- "वर्तमान ओड़िया में खड़ा ह विवाद है- गैर दलित साहित्यकारों के द्वारा लिखित दलित सम्बन्धी रचनाओं को 'दलित साहित्य' के रूप में विवेचना करना, ये एक असम्भव है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट है कि दलितों की अनुभूति, स्मृति और आत्मपरिचय ही दलित साहित्य का उत्स है। गैर दलितों की रचना केवल आधारित है। उसमें अनुभूति, प्राण, हृदय की भाषा नहीं है केवल मस्तिष्क की भाषा का प्रयोग करके रचित रचनाएँ भाषा और शैली की दृष्टि और सुखात्मक हो सकते हैं किन्तु भाव और चेतना की दृष्टि से सही नहीं हैं, इसमें ब्राह्मणवादी साहित्यकार गोपीनाथ मोहंती के 'परजा' और का उदाहरण लिया जा सकता है।"<sup>[2]</sup>

ओड़िया के दलित उपन्यासों के अध्ययन के क्रम में ये देखा गया कि ओड़िया साहित्य के उपन्यासों में पहले पहल साहित्य में दलित पा रूप से आये। उसमें लेखक मूलतः सर्व होने के कारण दलितों के प्रति उनकी दृष्टि अच्छी नहीं रही। बाद में 'हरिजन' (1948) (गोपीनाथ उपन्यास दलितों को आधार बनाकर लिखा गया। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि दलित जीवन पर लिखित साहित्य दलित सारा श्रेणी में नहीं आ सकता। स्वानुभूतिपूर्ण साहित्य को अगर महत्व दिया जाए तो इस उपन्यास को दलित उपन्यास नहीं माना जा सकता क्योंकि सर्व हैं और उन्होंने सहानुभूतिपूर्ण साहित्य लिखा है। साथ ही इस उपन्यास को दलित उपन्यास क्यों नहीं माना जा सकता इसका चित्रण मलिक भी करती हैं- " 'हरिजन' उपन्यास में दलित पुरुष चोर, शराबी, डाकू जैसे खल-चरित्र/खलनायक के रूप तक ही सीमित हैं। दलि यौनिकता का प्रतीक है। वह मर्यादा और अमर्यादा के अन्दर फर्क नहीं कर पाती है। वह केवल एक देह तृष्णा है। वह मन और विवेकहीन र मात्र है। पुनी, जेमा, टभा, रंग, कजलमति जैसे मेहतरानी से आरम्भ हो कर यशोदा तक सभी अज्ञानता वश पुरुष के यौन क्षुधा को परितृप्त क परिमाणतः यशोदा नौकरानी बनती है और जेमा जन्म देती है अविनाश की पुत्री पुनी को। जिसके पीछे सामाजिक स्वीकृति नहीं है। पुनी भी स्वे सर्व अघोर के साथ सम्बन्ध बनाती है। ...ऐसा की अविनाश के संपति लालच ने मेहतर समुदाय के बस्ती को भी आग लगा देने के बावजू अघोर की अपेक्षा करती है। ...परजा और हरिजन उपन्यास साहित्यिक मानसिकता से ही लिखा गया है। इसमें दलित चेतना का प्रश्न नहीं

इस प्रकार देख सकते हैं 'हरिजन' उपन्यास में भले ही दलितों के लेकर उपन्यास लिखा गया है लेकिन इसमें दलित चेतना और अस्मिता का रहा है। इसमें दलित पात्र आक्रोश व्यक्त नहीं करता, बल्कि परिस्थिति और पीड़ा से ही उभर नहीं पाता है। इसी परम्परा में विभूति पट्टना 'असवर्ण' उपन्यास 1982 में प्रकाशित होता है।

इसके बाद दलित उपन्यासों की शुरुआत दलित लेखकों के द्वारा होती है। अभी तक ऐसे तीन उपन्यास ही उपलब्ध हो पाए हैं, जिसके दलित हैं। अखिल नायक (भेद), वासुदेव सुनानी (पोड़ापोड़ी), सत्यप्रिय महालिक (कवर स्टोरी), (दलित बच्ची का बलात्कार से सम्बंधित)। ये 3 मूलतः दलित चेतना पर आधारित हैं, जिनमें दलितों का आक्रोश और अम्बेडकरवादी विचारधारा प्रस्तुत है।

ओड़िशा में ही नहीं बल्कि भारत में आये दिन दलितों पर शोषण की खबरें छपती रहती हैं। आधुनिक समाज में बढ़ती सजगता ने जैसे दाँ प्रति बढ़ते शोषण को और बढ़ावा दिया है। भले ही दलितों के प्रति हो रहे शोषण का विरोध किया जा रहा है, लेकिन उनके प्रति हो रहे शायद ही कमी आई हो। कभी-कभी उन्हें दलित होने के कारण सवर्ण बस्ती से बाहर कर दिया जाता है तो कभी उनके घरों में आग लगा दी जाती है। कभी-कभी उन्हें बेदम पीटा जाता है, आये दिन इसकी चर्चा अखबारों में मिलती है। 2012 में ओड़िशा के बलांगीर में स्थित लाठोर में दलित दुर्गापूजा में शामिल होने के कारण 38 दलित परिवारों के घर में आग लगा दिया गया। इसी यथार्थ घटना पर 'पोड़ापोड़ी' उपन्यास आधारित है हिन्दू समाज में स्थित जाति-प्रथा के नाम पर कट्टरता और बर्बरता को प्रस्तुत किया गया है। उपन्यासकार इस उपन्यास में पश्चिम ओड़िशा में दलितों के घर जलाने के पीछे कारणों की भी पड़ताल करते हैं। आगे वह स्पष्ट करते हैं कि घर जलाने के पीछे यही कारण रहा कि- दलित, सवर्ण समाज के उच्च जातियों की परंपरा को अपनाने लगे थे। सवर्ण समाज को यह शंका होने लगी है कि कहीं दलित उनकी बराबरी करने लगे। इस उपन्यास में कुछ दलित पात्र गणेश, विकास, मानस, सुरेश सवर्णों की तरह दुर्गा पूजा और देवी देवताओं को पूजने लगते हैं। अपने मंदिर का निर्माण करते हैं। क्योंकि सवर्ण मंदिरों में उनका प्रवेश निषेध है। सत्ता में स्थित सरकार भले ही अपना उल्लू सीधा करने के लिए दलितों के मंदिर की मांग को पूरा करते हुए हनुमान मंदिर का निर्माण करवाते हैं किन्तु सवर्ण समाज इसका विरोध करता है बाद में उस मंदिर में उनका प्रवेश वर्जित हो जाता है। दलितों में शिक्षा की बढ़ोतरी से भी सवर्ण समाज खुश नहीं है क्योंकि दलित हर उस चीज़ पर प्रश्न खड़ा करेगा जिससे वह वंचित रहता आया है। सवर्ण अपनी वर्चस्ववादी शक्ति को खोता देख परेशान थे जिसका हल उन्होंने दलितों का घर जला कर कि इससे एक बात यह स्पष्ट हो गयी कि दलितों में आये अस्तित्वबोध और अपने प्रति हो रहे शोषण के प्रति विरोधात्मक स्वर ने सवर्णों को और क्रूर और जातिवादी बना दिया है। वे दलितों की प्रगति से खुद को हीन भावना से ग्रस्त मानने लगे हैं। इसलिए दलितों को अनेक तरह से दबाते हैं। समय की गतिशीलता के कारण दलितों के समक्ष नयी चुनौती आ रही है सबसे बड़ी चुनौती खुद को सुरक्षित रखने के स आत्मविश्वास और अस्तित्वबोध को बचाए रखने की रही है। अतः यही कहना होगा कि समकालीन परिदृश्य में दलितों के शोषण के पैमाने बढ़ रहे हैं, इसलिए जरूरत है इस राजनीति को समझने की।

सवर्ण मूल रूप से दलितों का शोषण उसी रूप में करने के आकांक्षी हैं जिस तरह वे करते आये हैं। दलितों में आये बदलाव ने सवर्ण मान को गहरी चोट पहुंचाई है जैसे- "वास्तव में जो गणा लोग उसके सामने खड़ा नहीं हो पाते थे, एक घाट में नहा नहीं पाते थे, रास्ते में साथ न चला पाते थे, छींक आने पर छींक नहीं पाते थे, थूक आने पर उसे पी जाते थे, केस या मुकदमा होने पर उनके परामर्श के बिना कुछ नहीं कर पाते थे। रास्ते में चलते समय झुक कर प्रणाम करते थे। वे फिर ऐसा दंड विधान कर सकते हैं? उनके (दलित) निर्देश पर कान पकड़ कर एक पैर बढ़ा होना पड़ेगा?....इस तरह दयनीय एवं दंड विधान करने के बाद गणा लोग उन्हें और न खातिर करेंगे और न सम्मान पूर्वक उनसे बातें कर सकेंगे। इस उपन्यास में एक तरह से भूमंडलीकरण के दौर में दलितों पर पड़ने वाले जातिवाद के प्रभाव को दिखाया गया। साथ ही ऐसे समय में कैसे दलितों का साथ नहीं दे रहा है इसका भी चित्रण किया गया है-चित्र कहता है- "अरे ये बातें मुझे भी नहीं मालूम थी कि गलती हमारी ही बूढ़े उम्र में यह समझ पा रहा हूँ कि ये सारी गलती हमारी ही है। देख! दिल्ली से अनुसूचित जनजाति के अध्यक्ष आये थे। हमारे सभी के जले देखा, प्रायः अनेक लोगों के साथ बातचीत की। राज्य सरकार की तरफ से भी अनेक अधिकारी आये थे। उन्होंने कहा कि हम गणा (दलित) नहीं रह पाए, हर वक्त उच्च जाति का होने के लिए कोशिश करते रहे।"<sup>[1]</sup> एक तरह से कह सकते हैं कि लोगों की पूर्वाग्रह तथा धार्मिक कट्टर प्रशासन की ढील के कारण ही दलितों पर हो रहे शारीरिक शोषण बढ़े हैं।

प्रवासन की विकराल समस्या दलितों के समक्ष नयी चुनौती है, जिसके मूल में उनका शोषण और भेदभाव की समस्या रही है। वे जीवन और अस्तित्व रक्षा के लिए एक जगह से दूसरी जगह प्रवासित हो रहे हैं। इस उपन्यास में मकारू इस प्रवासन के दंश को झेलता है इसी शोषण से प्रताड़ित हो कर अपना गाँव छोड़ कर शहर जाता है। उपन्यासकार इसके जरिये स्पष्ट करते हैं कि इस भेदभाव या शोषण को के लिए प्रवासन ही एक मात्र उपाय नहीं है। क्योंकि चाहे गाँव हो या शहर दलितों की स्थिति कहीं अच्छी नहीं है। एक समय था अम्बेडकर ने को शहरों की ओर लौटने का इशारा किया था लेकिन आज शहर भी दलितों के शोषण के मामले में पीछे नहीं है। किन्तु यह अवश्य कहा जा स कि गाँव की अपेक्षा शहरों में दलितों के शोषण के पैमाने बदले हैं। यहाँ उपन्यासकार ये भी स्पष्ट करते हैं कि दलितों के प्रति गैर दलितों की कोई इजाफा नहीं हुआ है।

‘भेद’ उपन्यास ओड़िशा में स्थित भेद-भाव की स्थिति को प्रस्तुत करता है। ये भेद-भाव दलितों के लिए कितना पीड़ा दायक है चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि भारतीय समाज में व्यक्ति विशेष से अधिक जाति का महत्व है भेद ही दलितों के शोषण का कारण है। जिसकी वजह से दलित प्रताड़ित होता रहा है। दलितों का मानसिक और शारीरिक शोषण तो होता ही लेकिन ‘भेद’ उपन्यास में दलितों के आर्थिक शोषण की पोल खोली गयी है। ‘भेद’ उपन्यास में कथा की शुरुआत दो सवर्ण और दलित बच्चों के से होती है। उपन्यासकार इन दोनों के जरिये सवर्ण समाज के दकियानूसी नियम-कानून की पोल खोलते हैं। सवर्ण समाज दलितों को अछूत तो है ही साथ ही शुद्धिकरण जैसे दकियानूसी नियमों का भी अनुपालन करता है। दलितों से शुद्धिकरण के नाम पर पैसे ऐंठे जाते हैं जो उन सबसे बड़ी समस्या होती है। लाल्टू के पिता दीनबंधु दुरिया से गाँव के पंच कहते हैं- “युवराज (सवर्ण) की जो जाति चली गयी है उसे फिर से लाने के लिए जो खर्च होगा वह कौन देगा? खर्च भी कितना? जातिभाइयों (सवर्णों के लिए) के भोज के लिए पंद्रह माण चावल, दो माण दाल, तेल-मशाला - कम से कम दो सौ रुपए।”<sup>[vi]</sup> यह यहाँ स्पष्ट है कि धर्म के नाम पर तो उनका शोषण होता ही है लेकिन सवर्ण समाज आर्थिक भी उनका शोषण करता है।

वर्तमान में दलितों के समक्ष चुनौती शिक्षा सम्बंधित भी है। पहले दलितों को शिक्षा का अधिकार नहीं था अब शिक्षा मिली है तो उनके शोषण बढ़े हैं। शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ती भेदभाव के कारण आज भी कुछ दलित बच्चे शिक्षा से वंचित हैं। उनमें से कुछ शिक्षा अर्जन कर भी लेकिन उनको अनेक प्रताड़नाओं का शिकार होना पड़ता है। दलितों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण सवर्ण समाज उनकी शिक्षा पर कटाक्ष करता नीचा दिखाने का प्रयास करता है। वाया वकील कहता है- “जो भी हो सेठ, घर गन्दा होने पर डोम लोग जिस तरह से चीड़ जाते हैं वह कहा सकता! और दो अक्षर क्या सीख लिया मानों वेद उपनिषद् उनकी मुँह जुबानी है! मानो जो जहाँ रहना चाहिए वह वहाँ न रह कर ऊपर उठ और इंद्रचन्द्र (देवी-देवता) को मानेंगे? ....दो अक्षर क्या पढ़ लिया इससे क्या तुम ब्राह्मण बन जाओगे?...सात जन्म छोड़ कर सौ जन्म तपस् पर भी क्या सूअर, गाय बन सकता है? त्रेता युग में तुम्हारी बिरादरी के शम्बूक को ब्राह्मण बनने की तपस्या करने के कारण उसकी हत्या के स्वयं प्रभु श्रीरामचन्द्र ने उसका धड़ और सिर अलग कर दिया था।”<sup>[vii]</sup> इसलिए दलित धार्मिक ग्रंथों का विरोध करते आये हैं। वे ‘मनुस्मृति’ विरोध करते हैं क्योंकि ये ग्रन्थ ही उनके शोषण के प्रमुख कारक हैं। इसलिए इस उपन्यास में दलितों का आक्रोश भी उपस्थित है। “कौन से लिखा है कि डोम जाति के लोग मंदिर नहीं जा सकते? वह शास्त्र तुमने लिखा या तुम्हारे बाप दादाओं ने या तुम्हारे चौदह पुरुषों ने। जले शास्त्र का रौव दिखाता है। हम क्या शास्त्र नहीं पढ़े हैं! बड़े ठाकुर जगन्नाथ चंडालनी की निंदा करने के कारण बारह घरों में भिक्षा मांगे थे। शास्त्र में नहीं लिखा है?”<sup>[viii]</sup>

## निष्कर्ष :

कह सकते हैं कि वैश्वीकरण के दौर में ओड़िशा के दलितों के समक्ष नयी चुनौतियाँ आ रही है। देश में दलितों के मध्य जाति-भेद की और एकता की कमी इस समय की सबसे बड़ी चुनौती है। उनके समक्ष समस्याएँ तो पहले भी थीं लेकिन शोषण के पैमाने बदले हैं। दलितों को जाने आरक्षण को लेकर सवाल इस समय की दूसरी चुनौती है जिससे सवर्ण वर्ग आतंकित और आसक्त दोनों हैं। इसलिए आरक्षण के नियम अन्य वर्गों को भी दिए जा रहे हैं, अब तो सवर्ण वर्ग भी इससे वंचित नहीं है। ऐसे में सरकार दलितों के उन्नयन के लिए कौन से कार्य कर यह स्पष्ट है। यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि समाज आधुनिक नहीं उत्तर आधुनिक हो गया है लेकिन क्या सही मायने में आधुनिकता आज भी ऐसे मध्यकालीन लोगों की कमी नहीं है जिनकी सोच में रती भर फर्क पड़ा हो। आज भले ही शिक्षित वर्ग भेदभाव जैसी चीजों को नव लेकिन क्या सचमुच में ये कम हुआ है। क्या आज भी सवर्णों के रसोई में दलितों का प्रवेश हो पाया है? क्या उनको मंदिर में प्रवेश मिल पा इस रूप में देखा जाए तो दलित साहित्य के समक्ष कई मुद्दे उपस्थित हो पाए हैं और उपरोक्त ऐसे कई मुद्दे हैं जिन पर लेखन अपेक्षित है।

## संदर्भ

[i] ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-263

[ii] ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-260

[iii] ओड़िया दलित साहित्य, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-263

[iv] पोड़ापोड़ी, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.-162

[v] पोड़ापोड़ी, वासुदेव सुनानी, पृ.सं.- 196

[vi] भेद, अखिल नायक, पृ.सं.-29

[vii] भेद, अखिल नायक, पृ.सं.- 52

[viii] भेद, अखिल नायक, पृ.सं.-65



ज़िनि

अ

हिन्दी विभाग, आसिका विज्ञान महाविद्यालय, गंजाम, ओड़िशा, 7

[zinitsaba33@gmail.com](mailto:zinitsaba33@gmail.com), 94922

अपनी माटी (ISSN 2322-0724 Apni Maati) अंक-35-36, जनवरी

चित्रांकन : सुरेन्द्र नि

UGC Care Li

'समकक्ष व्यक्ति समी'

( PEER REVIEWED/REFEREED J

Tags 35-36 ज़िनि सबा दलित विमर्श शोध UGC Care Listed Issue



LINKS TO THIS POST

POST A COMMENT

टिप्पणी डालें

< और नया



यह 'अपनी माटी संस्थान' चित्तौड़गढ़ ( पंजीयन संख्या 50 /चित्तौड़गढ़/2013 ) द्वारा संचालित और UGC Care List Approved त्रैमासिक ई-पत्रिका 'अपनी माटी' है जिसका ISSN नंबर 2322-0724 Apni Maati है। कला, साहित्य, रंगकर्म, सिनेमा, समाज, संगीत, पर्यावरण से जुड़े शोध, निबंध, साक्षात्कार, आलेख सहित तमाम विधाओं में समाज-विज्ञान और साहित्य संबंधित रचनाएँ छपने और पढ़ने हेतु एक मंच है। कथेतर साहित्य छापने में हमारी रुचि है। यहाँ साल में चार सामान्य अंक प्रकाशित होते हैं। इसके अलावा कभी-कभी विशेषांक भी छपते हैं। यह गैर-व्यावसायिक और साहित्यिक प्रकृति का सामूहिक प्रयासों से किया जाने वाला कार्य है। हमारा पता 'कंचन-मोहन हाऊस, 1, उदय विहार, महेशपुरम रोड, चित्तौड़गढ़-312001, राजस्थान' है। अन्य जरूरी प्रश्न हो तो 9001092806 (Jitendra) पर Only Watts App करके सम्पर्क कर सकते हैं, यहाँ कॉल पर बात नहीं होगी। हमारा ई-मेल पता [apnimaati.com@gmail.com](mailto:apnimaati.com@gmail.com) यह रहेगा। चु जमा पत्रिका ठीकठाक है इसे बेहतर बनाने का जिम्मा लेखकों और पाठकों पर ही है।



## (ख) संगोष्ठी







समय या ज्योतिषं

# बहुका वाणिज्य एवं कला महाविद्यालय

NAAC - पुनःप्रत्यापित, कावीगुड़ा, हैदराबाद

एवं

## हिन्दी हैं हम विश्व मैत्री मंच, हैदराबाद

के संयुक्त तत्वावधान में

दो दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी संगोष्ठी - दिनांक 14-15 दिसम्बर 2018

**विषय : हिन्दी भाषा, साहित्य एवं भारतीय संस्कृति: वैश्विक परिदृश्य**

### प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि सुश्री / श्री / श्रीमती / डॉ. / प्रो. स्निहित सुब्बा, हैदराबाद विश्वविद्यालय

(सोधपत्र विषय: नवपट्टा उपन्यास में वैश्वीकरण-संदर्भ)

दिनांक 14-15 दिसम्बर 2018 को हिन्दी भाषा, साहित्य एवं भारतीय संस्कृति: वैश्विक परिदृश्य विषय पर आयोजित दो दिवसीय

अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी संगोष्ठी में सत्राध्यक्ष / आलेख - प्रस्ताता / सत्र-संचालक / प्रतिभागी के रूप में भाग लिया।

*[Signature]*  
डॉ. डी. विद्याधर  
संगोष्ठी संयोजक

*[Signature]*  
श्री राजेश अग्रवाल  
संगोष्ठी निदेशक

*[Signature]*  
डॉ. के. सोमेश्वर राव  
प्राचार्य



AS PER THE  
UNIVERSITY POLICY,  
ANTI-PLAGIARISM  
SCREENING IS NOT  
REQUIRED FOR THE  
REGIONAL  
LANGUAGES



Librarian  
Indira Gandhi Memorial Library  
UNIVERSITY OF HYDERABAD  
Central University P.O.  
HYDERABAD-500 046.